

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

RAJHISCO



PROCEEDING VOLUME XXVII

GOVERNMENT COLLEGE, AJMER

JANUARY - 2012

- ❑ *Published by :*
Prof. S.P. Vyas
Secretary, Rajasthan History Congress
Department of History
J.N.V. University, Jodhpur

- ❑ *To be had from :*
Sh. P.M. Mohnot
Hony. Treasurer, Rajasthan History Congress
67, Mahaveer Nagar, Pali

- ❑ *Price :*
Rs. 250/- only

- ❑ *Computer Typesetting :*
Jangid Computers, Jodhpur

- ❑ *Printed at :*
Nagnechiya Offset Printers, Jodhpur

Preface

It gives me immense pleasure in presenting the Proceeding volume of the **Twenty Seventh Session** of Rajasthan History Congress, organised by **Government College, Ajmer**, from **7-8 January, 2012**.

I deem it a great privilege to place before members of the Rajasthan History Congress and the general readers, scholars and researchers the volume of the proceedings of the 27th session of Rajasthan History Congress, held at the Campus of Government College, Ajmer from 7-8 January, 2012. I hope that these research papers will provide new source material also. In placing the scholarly papers, chronology has been adhered to as far as possible. A good number of papers of outstanding merit were presented at this session, breaking new ground and adding much to our knowledge on Rajasthan History.

I am grateful towards Prof. Sunita Ali Zaidi for delivering the Presidential Address and I believe that under her presidency we will be able to make more improvements in the institution of Rajasthan History Congress. I have no words to express my gratitude towards Prof. Amar Singh for his valuable discourse on Harappan Culture and Its Archeological Importance for the History of Rajasthan. He was speaking for Prof. Gopinath Sharma Memorial lecture. I also extend warm welcome to Prof. S.N. Dubey, who will preside over the 28th session of Rajasthan History Congress.

My thanks are due to Dr. P.M. Mohnot, Treasurer, Rajasthan History Congress for undertaking the responsibility of preparing and bringing out this volume. Despite all care, mistakes are bound to creep in. I hope readers will overlook them. I appreciate the co-operation and support given by Dr. P.R.Arya, Prof. Vinita Parihar, Dr. Manorama Upadhaya, Dr. Meghna Sharma, Dr. Anil Purohit and Mr. Abhishekh Purohit for helping in speedy publication of the proceedings of the Congress. Thanks are also due to Mr. Bhanwar Suthar (Jangid Computers, Jodhpur) for computer work and M/s. Nagnechiya Offset Printers, Jodhpur for printing the volume in record time.

Prof. S.P. Vyas
Secretary,
Rajasthan History Congress

सचिव प्रतिवेदन

अध्यक्ष महोदय, मुख्य अतिथि, 27 वें अधिवेशन की अध्यक्ष प्रो. सुनिता जैदी, समस्त माननीय सदस्य एवं प्रतिभागी मेरे लिये यह अत्यधिक हर्ष का विषय है कि राजस्थान की प्राचीन ऐतिहासिक नगरी अजयमेरु में राजस्थान इतिहास कांग्रेस के 27 वें अधिवेशन का आयोजन दिनांक 07-08 जनवरी 2012 को किया जा रहा है। इस हेतु मैं राजकीय महाविद्यालय, अजमेर का तथा स्थानीय सचिव डॉ. सुरेश अग्रवाल का हृदय से आभारी हूँ। मैं अब आपके समक्ष 27 वें अधिवेशन का प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूँ, जिसका आयोजन दिनांक 07-08 जनवरी 2012 को किया गया था।

उद्घाटन समारोह का आयोजन दिनांक 7 जनवरी 2012 को किया गया। मुख्य अतिथि राजस्थान लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, डॉ. हबीब खान गौरां ने कहा कि इतिहासकारों की किसी भी प्रदेश के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इतिहास सदैव तथ्यपूर्ण होना चाहिये। कार्यक्रम के अध्यक्ष यू. आई. टी. के चैयरमैन श्री साहनी ने अपने उद्बोधन में इतिहास के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अजमेर में इतिहास कांग्रेस के आयोजन पर बधाई दी एवं सफलता की कामना की। इससे पूर्व महाविद्यालय के प्राचार्य द्वारा स्वागत उद्बोधन दिया गया तथा स्थानीय सचिव डा. सुरेश अग्रवाल द्वारा अधिवेशन की रूपरेखा पर प्रकाश डाला। डॉ. एस.पी. व्यास द्वारा 26वें अधिवेशन की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई।

27वें अधिवेशन की अध्यक्षता प्रो. सुनिता जैदी अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जामिया मीलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ने अपना आसन ग्रहण करते हुए, 26वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. रवीन्द्र कुमार शर्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मार्गदर्शन हेतु उनका आभार व्यक्त किया। उन्होंने मध्यकालीन इतिहास में राजपूताना एवं मुगल संबंधों के विविध आयामों पर प्रकाश डाला।

आयोजित सत्रों में 150 से अधिक विभिन्न पत्रों का वाचन हुआ। राजस्थान इतिहास कांग्रेस में युवा इतिहासकारों के लगातार बढ़ती हुई भागीदारी इसकी बढ़ती लोकप्रियता का संकेत है। उद्घाटन समारोह में राव गणपतिसिंह चितलवाना पुरस्कार डॉ. जिब्राइल को तथा प्रो. पेमाराम पुरस्कार डॉ. एन. बैजामिन को प्रदान किया गया। प्रो. गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान प्रो. अमरसिंह द्वारा दिया गया। उन्होंने

अर्कियोलोजिकल एविडेन्स ऑफ हडप्पा सिविलाईजेशन फ्रॉम राजस्थान पर अपना शोधपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किया। दिनांक 8.01.2012 को प्रातः 10.30 बजे कार्यकारिणी सभा का आयोजन किया गया उसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये:-

1. सर्वप्रथम 26 वें अधिवेशन के प्रस्तावो (मिनिट्स) को अनुमोदित किया गया।
2. समिति द्वारा 26 वें अधिवेशन के Outgoing अध्यक्ष प्रो. रविन्द्रकुमार शर्मा के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया गया तथा Incoming अध्यक्ष प्रो. सुनिता जैदी का स्वागत किया गया।
3. 26 वें अधिवेशन में प्रोसीडिंग्स को ISBN नम्बर दिलवाने हेतु प्रस्ताव रखा गया था। इस संबंध में प्रो. एस. पी. व्यास ने बताया कि ISBN नम्बर हेतु प्रयास प्रारम्भ किये जा चुके हैं, एवं आवश्यक कागजात प्रस्तुत किये जा चुके हैं, आशा है कि 27 वें अधिवेशन की प्रोसीडिंग्स के छपने तक इसमें ISBN नम्बर मिल जायेगा।
4. समिति द्वारा डॉ. मीना गौड़ के द्वारा donation प्राप्त करने हेतु किये गये प्रयासों की सराहना की गई।
5. अध्यक्ष प्रो. सुनिता जैदी ने सुझाव दिया कि संस्था को आर्थिक मजबूती प्रदान करने के लिये एक Corpus fund बनाया जाये और इन्हीं में से prize paper का अवार्ड एवं स्कालरशिप दी जानी चाहिये।
6. Corpus fund हेतु डॉ. अनिला पुरोहित ने 21000/- रुपये देने की घोषणा की तथा कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों ने भी इसमें इच्छानुसार donation देने की घोषणा की। यह प्रस्ताव भी रखा गया कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस के सदस्यगण भी इच्छानुसार इसमें सहयोग करें।
7. प्रो. विनिता परिहार का प्रस्ताव था कि Best paper prize का चुनाव screening committee द्वारा जैसा पूर्व में किया जा रहा है, वैसे ही किये जाये। साथ ही जब तक इस हेतु 4 से 5 प्रविष्टियां ना हो तो इस पर विचार नहीं किया जाये।
8. प्रो. सुनिता जैदी ने शोध पत्रों की गुणवत्ता को स्थापित करने कि बात कही और डॉ. शशि देवड़ा ने भी कहा कि वे ही शोध पत्र छापे जाये जो screening committee द्वारा स्वीकृत किये गये हो।
9. डॉ. अनिला पुरोहित का यह सुझाव था कि cash prize के साथ एक प्रमाण पत्र तथा स्मृति चिन्ह भी विजेता को राजस्थान इतिहास कांग्रेस की तरफ से दिया जाना चाहिये।
10. आर. टी. आई. से उत्पन्न हो रही कठिनाइयों का देखते हुए यह सुझाव रखा गया

कि उपस्थिति प्रमाण पत्र उन्हें ही दिया जाये जो वास्तव में अधिवेशन में उपस्थित हो तथा पत्र प्रस्तुतीकरण का प्रमाण पत्र शोध पत्र कर प्रति पर ही दिया जाये। इस संबंध तक डॉ. अनिला पुरोहित का सुझाव था कि Delegates की उपस्थिति प्रत्येक सत्र में ली जानी चाहिये।

11. Joint paper प्रस्तुतिकरण की स्थिति में credit प्रथम नाम वाले को ही दिया जायेगा। प्रमाण पत्र दोनों के नाम से जारी किया जायेगा।
12. जो शोध पत्र अधिवेशन में प्रस्तुत नहीं किये जाये उन्हें प्रोसीडिंग्स में स्थान नहीं दिया जाये।
13. डॉ. अनिला पुरोहित ने सुझाव दिया कि कम से कम life members को स्थाई Identity numbers जारी किये जाये। समिति द्वारा इसे स्वीकार कर लिया गया।
14. डाक व्यवस्था के सुचारू ना होने से अधिवेशन आयोजन की सूचना समय पर नहीं मिल पाती। अतः यह निश्चित किया गया कि समस्त सूचनाएं पहले राजस्थान इतिहास कांग्रेस की वेबसाईट पर डाल दी जायेगी। इसके अतिरिक्त इन्हे डाक से भी भेजा जायेगा। इस हेतु समस्त सदस्यों से अनुरोध है कि वे अपना ई-मेल आई.डी जरूर लिखवा दे अथवा जोधपुर स्थित कार्यालय को प्रेषित कर दे।
15. प्रो. सुनिता जैदी ने सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने हेतु मुहिम चलाने की बात कही। इस पर सचिव प्रो. एस. पी. व्यास ने कहा कि आप सभी को जान कर यह प्रसन्नता होगी कि हम प्रगति के पथ पर चलते हुए 450 से अधिक सदस्यों को अपने साथ जोड़ चुके हैं।
16. प्रो. सुनिता जैदी ने राजस्थान इतिहास कांग्रेस के लगातार बढ़ते हुए आयाम एवं सफलता हेतु सचिव प्रो. एस. पी. व्यास एवं कार्यकारिणी के सदस्यों के प्रयासों की सराहना की। इस संबंध में डॉ. तेजेन्द्रवल्लभ व्यास एवं डॉ. अनिल पुरोहित के योगदान की प्रशंसा की गई।
17. 28 वें अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में प्रो. एस. एन. दूबे का नाम प्रो. एस. पी. व्यास द्वारा रखा गया, इसे second प्रो. मीना गौड़ द्वारा किया गया तथा समिति ने इसे सर्वसमति से पारित कर दिया।
18. अध्यक्ष प्रो. सुनिता जैदी ने विद्यमान कार्यकारिणी के प्रयत्नो एवं राजस्थान इतिहास कांग्रेस में भागीदारी हेतु सभी सदस्यों के योगदान को प्रशंसनीय बताया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस के प्रत्येक सदस्य के प्रयासों से आज कांग्रेस सफलता को प्राप्त कर रही है।

19. कार्यकारणी समिति द्वारा राजकीय महाविद्यालय अजमेर के प्राचार्य एवं समस्त स्टाफ का हार्दिक आभार प्रकट किया, विशेष रूप से विभाग प्रभारी डॉ. सौभाग्य गोयल तथा स्थानीय सचिव डॉ. सुरेश अग्रवाल को बधाई दी गई। समिति सदस्यों ने कहा कि उनके परिश्रम का परिणाम है कि 27 वें अधिवेशन का अयोजन अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा सका है। इस हेतु वे सभी साधुवाद के पात्र हैं।

20. अन्त में कार्यकारणी समिति द्वारा, कार्यकारणी के सदस्य डॉ. प्रभात स्वामी एवं सदस्य डा. एन. के. माथुर के असामयिक निधन पर शोक प्रस्ताव जारी किया।

इन प्रस्तावों का अनुमोदन साधारण सभा में सर्वसम्मति से किया गया। समापन समारोह के मुख्य प्रो. बी. एल. शर्मा, कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने पदाधिकारियों तथा आयोजकों को बधाई दी तथा यह कहा कि यदि इतिहास के प्रति दृष्टिकोण समुचित हो तो इतिहास समुचित ही बन जाता है। विशिष्ट अतिथि प्रो. नरेश दाधीच कुलपति, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा, ने कहा कि राजनितिक विज्ञान तथा इतिहास में परस्पर स्थाई संबंध है। इतिहास का विकास तभी सम्भव है जब तक इतिहास है। कार्यकारणी एवं साधारण सभा द्वारा डॉ. सुरेश अग्रवाल को कांग्रेस के सफल आयोजन हेतु धन्यवाद ज्ञापित किया गया। इस प्रकार कांग्रेस का 27 वां अधिवेशन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

प्रो. एस.पी. व्यास

सचिव, राजस्थान इतिहास कांग्रेस

अनुक्रमणिका

1. Presidential Address - 27th Session -Professor Sunita Zaidi	...	1
2. A Reflection on the Socio-Political Scenario of Protohistoric Rajasthan (With Special Reference to Ganeshwar-Jodhpura Culture) -Vineet Godhal	...	15
3. The Early Career of the Mçlavas in Rajasthan -Meghna Goyal	...	23
4. The Institution of <i>Panchkula</i> in Early Medieval Rajasthan - Rashmi Upadhyaya	...	33
5. Epigraphic Evidences for Tughlaqid Nobles and their Constructional Activities in Rajasthan and Gujarat - Fazeela Shahnawaz	...	43
6. <i>Jihri</i> at Bayan : A Study in Mughal Architecture -Dr. M. K. Pundhir	...	54
7. Traditional Irrigation System in Pre-Medieval Period -Mrs. Bindu Tiwari & Dr. M. L. Sharma	...	61
8. Man Singh as a Mughal Representative & State Ruler – A Brief Study -Deepak Choudhary	...	65
9. Institution's Making, Students and Mass Mobilisation in Eastern U.P. before 1942 -Dr. Umashanker Singh	...	71
10. Role of Women in Water Conservation -Dr. D. P. Goswami	...	77
11. Tradition of pre-census estimation of population in Rajasthan -Dr. Jibraeil	...	82
12. Tax on Cattle and the Estimation of Their Population in Jodhpur (A case study of Jodhpur Hukumat ri jamabandi bahi V.S 1850) -Kanchan Lawania	...	90

13. Role of Untouchables in the Freedom Movement: A Case Study of the Bairawas in Rajasthan -Pradeep Kumar Yadav	...	99
14. Revenue Statistics of Jaipur State during the 18 th Century : A Case Study of Pargana Naraina -Pushpendra Singh	...	107
15. Impact of Aligarh Movement in Rajasthan: A Study of the Contribution of All India Muslim Educational Conference -Naiyer Azam & T. Ahmad Sheikh	...	112
16. Role of Damodar Das Rathi in the Freedom Struggle of India -Peeyush Bhadviya	...	126
17. Jaipur Mechanical Transport Company : a Chronological Study -Sucheta Sangwan	...	130
18. Influence of Sufism on the Socio-Cultural life of Rajasthan; with Special Reference to Shaikh Hamiduddin of Nagaur -Dr. Parwez Nazir	...	135
19. The Persona of Sawai Singh of Pokhran -Abhimanyu Singh Arha	...	144
20. Dayanand and his Concept of 'Niyoga' -Dr. Meghna Sharma	...	148
21. The Organisation of Artisans in Building Construction: A Case Study of Jaipur -Farhat Kamal	...	157
22. Analysis of Anti-British Ferment and Causes of the Revolt of 1857 in Rajasthan -Prof. Brij Kishore Sharma	...	169
23. The role of the Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare in Jodhpur- with special reference to Baby Week Celebration -Prof. Vinita Parihar	...	176
24. राजस्थान की मूर्तिकला में सहस्रलिंग - दक्षिणी पूर्वी राजस्थान का शिल्प वैशिष्ट्य -डॉ. शिल्पी गुप्ता	...	184
25. ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सौहार्द में योगदान -डॉ. सुरेश अग्रवाल	...	189

26. अलवर राज्य की भूराजस्व व्यवस्था में मेवों का योगदान -डॉ. बाबूलाल खटीक	...	193
27. मध्यकालीन राजस्थान के प्रशासन एवं सैनिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका -डॉ. याकूब अली खान	...	201
28. भारतीय सामाजिक परिवेश : मध्यकालीन राजस्थान के संदर्भ में -दीपशिखा लवानिया	...	211
29. 19 ^{वीं} सदी के किशनगढ़ राज्य में शिक्षा का विकास -डॉ. अविनाश पारीक	...	215
30. महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय कालीन व्यक्ति चित्र -डॉ. सुशीला शक्तावत	...	219
31. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में अजमेर-मेरवाड़ा में आर्य समाज का योगदान -प्रोफेसर वी. के. वशिष्ठ	...	225
32. मेवात अंचल में किसान आन्दोलन (नीमूचाणा हत्याकाण्ड 1925 ई. के विशेष संदर्भ में) -कैलाश चन्द सैनी एवं डॉ. फूलसिंह सहारिया	...	238
33. महाराजा सूरजमल के उत्तराधिकार-निर्धारण विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य-एक पुनरावलोकन -प्रो. शिव कुमार भनोत	...	245
34. बीकानेर राज्य की संस्कृति के तत्व : प्रमुख त्यौहार व मेले (1818-1949) -राजेश पंवार	...	255
35. बीकानेर के व्यापारी वर्ग का निष्क्रमण और उसके कारण -सुनीता स्वामी	...	262
36. अर्बुदमण्डल में प्रचलित मुद्रा व्यवस्था एवं माप -डॉ. रवीन्द्र टेलर एवं वीरेन्द्र शर्मा	...	270
37. महामन्दिर आसण तालके आयस श्री मोतीनाथजी के आसण की हथबही का सांस्कृतिक महत्त्व -एक अध्ययन -डॉ. ज्योत्सना व्यास	...	274
38. राजस्थान में प्रचलित एवं मान्य ब्याज दरें तथा विधियां (1750 ई.-1850 ई.) -डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत	...	280
39. अलवर राज्य में लघु उद्योग एवं उनका विकास (1775 ई. से 1948 तक) -डॉ. फूलसिंह सहारिया	...	287

- | | | | | | |
|--|-----|-----|--|-----|-----|
| 40. रियासतकालीन टोंक का स्थापत्य : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन
-अनुराग विजय, डॉ. एच.सी. जैन एवं प्रो. आर.के. वर्मा | ... | 293 | 52. कला-क्षेत्र में जयपुर रियासत का योगदान
-डॉ. किरन सरना एवं कु. प्रगति तिवारी | ... | 373 |
| 41. अलवर रियासत में प्रशासन का विकास-ब्रिटिश प्रभाव के विशेष संदर्भ में
-डॉ. रमेश चन्द खण्डूरी एवं जगतसिंह मीना | ... | 299 | 53. राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज और उसका ऐतिहासिक महत्व (1947 ई. तक)
-डॉ. एन.के. चतुर्वेदी एवं डॉ. राकेश कुमार दूबे | ... | 381 |
| 42. बीकानेर राज्य में संगीत व नृत्य-महाराजा गंगासिंह के सन्दर्भ में
-गोपाल कृष्ण व्यास | ... | 309 | 54. 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में राजस्थान में औसर-मौसर (मृत्युभोज) की व्यापकता तथा उसके उन्मूलन हेतु प्रयासों का अध्ययन
-सुमेस्ता | ... | 389 |
| 43. रियासतकालीन राजपूताने के पारगमन सैनिक अभियान के संदर्भ और स्रोत -डॉ. डी.सी. चौबे एवं डॉ. एन.के. शर्मा | ... | 314 | 55. स्वतन्त्रतापूर्व पश्चिमी राजस्थान के उद्योग
-श्यामलाल | ... | 398 |
| 44. बीकानेर के अनजाने राष्ट्र के स्वतन्त्रता सेनानी : शौकत उस्मानी
-डॉ. महेन्द्र पुरोहित | ... | 319 | 56. ढोलन कुंजकली : राजस्थानी (ढोल जाति की) संस्कृति
-अर्चना शर्मा | ... | 402 |
| 45. साहित्य एवं ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में बीकानेर की शोध संस्थाओं का योगदान - एक ऐतिहासिक विश्लेषण
-कनिका भनोत | ... | 327 | 57. मेवाड़ रियासत में पान संस्कृति
-प्रो. मीना गौड | ... | 405 |
| 46. बीकानेर समाज की धड़ व्यवस्था (जाति व्यवस्था का प्रकार) का एक ऐतिहासिक अध्ययन
-डॉ. मुकेश हर्ष | ... | 336 | 58. विजयदान देथा के कथा साहित्य में राजस्थानी संस्कृति ममता मलिक | ... | 411 |
| 47. बीकानेर क्षेत्र में जातिवाद एवं छुआछूत के विरुद्ध स्वामी केशवानन्द (1883-1972 ई.) का योगदान
-डॉ. तमन्ना सिंह | ... | 340 | 59. महारानी किशोरी : राजनीतिक कौशल एवं उपलब्धियाँ
-डॉ. राकेश कुमार शर्मा | ... | 417 |
| 48. विकिरण चिकित्सा : एक ऐतिहासिक अध्ययन (बीकानेर का विशेष संदर्भ)
-डॉ. अनिला पुरोहित एवं सुशील मोयल | ... | 352 | 60. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'गुलाबड़ी' उपन्यास में लोक संस्कृति एवं नारी चेतना
-नीतू सिंह चौहान | ... | 426 |
| 49. बीकानेर राज्य में रेल यातायात का विकास (1887-1943 ई.)
-डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन | ... | 354 | 61. राजस्थान की फड़ चित्रकला एवं रामेश्वर सिंह
-प्रो. पुष्पा दुल्लर एवं कु. कावेरी देशवाल | ... | 432 |
| 50. बीकानेर राज्य में किसानों की ऋणग्रस्तता व सरकारी नीतियाँ (1887 ई.-1947 ई.) -डा. मयंक गुप्ता | ... | 362 | 62. जैसलमेर की ऐतिहासिक हवेलियों के भित्तिचित्र (पटुवा हवेली के संदर्भ में)
-घनश्याम गोस्वामी | ... | 438 |
| 51. सिरोही के देवड़ा राजवंश की उत्पत्ति
-उदयसिंह देवड़ा | ... | 366 | 63. सरिस्का क्षेत्र के प्रमुख तीर्थस्थल (विशेषकर नीलकंठ मंदिर)
-डॉ. अंशुल शर्मा | ... | 442 |
| | | | 64. राजस्थानी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता ढोला मारू रा दूहा
-सुनीता वर्मा | ... | 447 |

65. फतेहपुर दुर्ग व लक्ष्मणगढ़ दुर्ग : एक तुलनात्मक अध्ययन -पूनम लूनीवाल	451
66. राजस्थान की लोक कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण -कु. सुरभि गोयल	... 457
67. श्रीगंगानगर में पर्यटन की दशा एवं संभावनाएं डॉ. तौफिक हुसैन	... 462
68. अलवर राज्य और प्रमुख मेले -अशोक कुमार बैरवा	... 468
69. पश्चिमी राजस्थान के लोक संगीतकार-लंगा -डॉ. शिखा	... 472
70. चांग (ब्यावर) गाँव की ऐतिहासिकता -डॉ. एम. एल. शर्मा	... 477
71. अजमेर जिले का एक ग्राम - जूनियाँ -डॉ. किरन सरना एवं कु. रेणु शर्मा	... 481
72. राजस्थानी इतिहास और संस्कृति के उत्थान में डॉ. नारायण सिंह जी भाटी का योगदान -तरूणा दाधीच	... 485
73. वर्तमान राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में महिला कलाकार -डॉ. किरन सरना एवं कु. दीप्ति जैन	... 491
74. मारवाड़ में कर व्यवस्था : प्रशुल्क, नमक, आबकारी के विशेष संदर्भ में (सन् 1885 से 1900 तक) -डिम्पल प्रजापत	... 498
75. मारवाड़ के सिक्के - एक अध्ययन -डॉ. तेजेन्द्र वल्लभ व्यास	... 502
76. जोधपुर के अद्भुत समाधि स्मारक : देवल -डॉ. अनिल पुरोहित	... 509
78. आधुनिक मारवाड़ में रणिवास के आभूषण -अनुराधा टाक	... 514
79. बीकानेर रियासत के प्रमुख मंत्री व अधिकारी -जगदीश नारायण ओझा	... 518

80. राष्ट्रीय आंदोलन के गैर पारम्परिक स्रोत- जनकाव्य (अलवर के विशेष संदर्भ में) -डॉ. अनुराधा माथुर	... 522
--	---------

SUMMARY (सारांश)

1. Depiction of Intricate design in rock art of Sanan in District Churu of Rajasthan and Central India : A Comparative Study -Madan Lal Meena & Vineet Godhal	... 527
2. Administrative reforms Under Maharana Bupal Singh -Dr.Deepshika Chundawat	... 528
3. राजस्थान के सांस्कृतिक और व्यापारिक विकास में लोकोत्सव एवं मेलों की भूमिका -डॉ. सुनीता कमल एवं डॉ. वेद प्रकाश	... 529
4. जल प्रबन्धन एवं अंतर जलीय प्रणाली में मेवाड़ महाराणाओं की भूमिका -डॉ. शिल्पा मेहता	... 530
5. सांस्कृतिक एवं आर्थिक अध्ययन -गरिमा माथुर	... 531
6. राजस्थान में महिला नेतृत्व : ऐतिहासिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य -दिव्या सिंह	... 533
7. संस्कृति की धरोहर हैं- राजस्थानी लघुचित्रकला -डा. बीना कौशिक	... 536
8. वैदिक संस्कृति एवं राजस्थानी संस्कृति की वस्त्र-आकल्पन कला में समानताएँ -डॉ. किरन सरना एवं कु. अभया राज	... 537
9. दक्षिणी राजस्थान के उत्खनित पुरास्थल (मेवाड़ के विशेष संदर्भ में) -आसिफ हुसैन एवं सचिन दीक्षित	... 539
10. पुरातत्व का पर्यटन में महत्त्व (राजस्थान के विशेष संदर्भ में) -आसिफ हुसैन एवं आफताब हुसैन	... 543
11. विजयदान देथा के कथा-साहित्य में लोक-संस्कृति -अनीता	... 544

12. डीडवाना में निरंजनी सम्प्रदाय के प्रमुख स्मारक -डॉ. अरुणा सोनी	...	547
13. रणछोड़भट्टकत राजप्रशस्ति महाकाव्य की ऐतिहासिकता -गिरिजा कुमारी	...	550
14. कुचबंदिया जन-जाति के विभिन्न व्यावसायिक गौत्र -डॉ. राजशेखर पुरोहित	...	552
15. 'गुलाबड़ी' उपन्यास में लोक संस्कृति -दानचा तोंगलुक	...	554
16. प्रतापगढ़ क्षेत्र का सांस्कृतिक विकास, विहंगावलोकन निधी कोमल	...	556
17. सांगानेर का ऐतिहासिक वस्त्र छपाई उद्योग -ममता रोकाना	...	560
18. झालावाड़ राज्य के सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण में पं. रामनिवास शर्मा सौरभ का योगदान -अर्चना द्विवेदी	...	561
19. मालव सिक्कों द्वारा प्रदर्शित पूर्व कालिक राजस्थान के सामाजिक धार्मिक जीवन के पहलू -डॉ. यशवीरसिंह	...	562
20. अमर शहीद श्री सागरमल गोपा -डॉ. श्रीमती सुमेर पटेल	...	563
21. मॉडल गाँव के कतिपय अप्रकाशित ताम्र-पत्र -डॉ. जे.के. ओझा एवं डॉ. प्रियदर्शी ओझा	...	564
22. राजस्थान में अनुसूचित जातियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि -राधा कुमारी	...	568
23. बीकानेर राज्य में रेल यातायात का विकास (1887-1943 ई.) -डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन	...	570
24. बीकानेर राज्य की संस्कृति के तत्व : प्रमुख त्योहार व मेले (1818-1949) -राजेश पंवार	...	571
25. महान कूटनीतिज्ञ जालिमसिंह झाला (1739 ई. से 1824 ई.) -डॉ. पीताम्बर दत्त शर्मा	...	572
26. 18वीं शताब्दी के हाड़ौती अंचल के मेलों का धार्मिक व सांस्कृतिक महत्व -डॉ. ज्योत्सना श्रीवास्तव	...	573

27. मालानी के धार्मिक पर्यटन-स्थल -डॉ. सन्तोष कुमार	...	575
28. रतनगढ़ हवेलियों के भित्तिचित्रों में पाश्चात्य संस्कृति— एक ऐतिहासिक धरोहर -कविता दाधीच	...	575
29. 18वीं सदी में बीकानेर राज्य के चर्मकारों की स्थिति जीवन एवं उनका सामाजिक आर्थिक योगदान -भावना शर्मा	...	576
30. बीकानेर राज्य में स्वायत्तशासी काल एवं विकासशील काल की अपराध दर का तुलनात्मक विश्लेषण -अमृतपाल कौर	...	578
31. चित्तौड़ दुर्ग में वर्चस्व का संघर्ष एवं शक्तियों का ध्रुवीकरण -अरविन्दसिंह तेजावत	...	579
32. काचरिया पीठ की स्थापना एवं उसका सांस्कृतिक स्वरूप -डॉ. नीलम शर्मा	...	580
33. सांस्कृतिक इतिहास लेखन में परम्परा का योगदान -जसवन्त शर्मा	...	581
List of Members	...	583

Presidential Address - 27th Session

Professor Sunita Zaidi

Dear colleagues, friends and delegates,

Last year when I attended the XXVIth session of the Rajasthan History Congress at Pali, some friends came up and congratulated me for my election as the next President of the Congress. I was amazed because it was an unexpected honour for me. For this, I am deeply touched and thankful to all the members and particularly the executive members of the Rajasthan History Congress for having bestowed this distinction on me.

I am also delighted to let you know that I am the successor to the renowned historian Professor Satish Chandra who presided over the VIIIth session of the Congress at Ajmer in 1975. Professor Satish Chandra is known for his rational, scientific and secular approach to the study of the historical past. I have tried to follow in his footsteps. I am also beholden to the land of Ajmer where my revered teacher Dr. Aminuddin, formerly of Dungar College, Bikaner, was born and brought up. He is one of the teachers who inspired me to study history.

One other reason for my happiness is the venue chosen by the Congress. Ajmer, as we know, is known for its unique position in the Indian history of Rajasthan. It was a place from where the whole of Rajasthan was controlled by the central power. It was the capital city of Prithvi Raj Chauhan, and it was also a resident city of the governors (subedars) of the Mughals as well as the British Viceroys of the colonial power.

Culturally, Ajmer represents the traits of Indian culture known as unity in diversities. Pushkar has its own significance in the Indian cosmology. It is the only place where the temple of Lord Brahma exists. Ajmer is also known for the Chishti saint, Khwaja Moinuddin. It was a silsilah known for its liberal outlook and accommodating

nature for all the different religious visions of the people. Thus, the Chishti Sufis followed the tariqa of inclusion of other religious outlooks and created space for themselves in other religions. Because of this inclusive vision, their following spread all over India. The Chishti saints played a significant role in controlling fanaticism and restraining orthodoxy. They identified with the Indian heritage of tolerance and provided space for every religious faith. Consequently with the passage of time, the tomb of the saint began to attract people from all over the Indian sub-continent. Thevenot writes, "This Raja was Mahometan, as his Predecessors had been; and besides a great many ancient marks of Mahometanism, that were in that country in his Time; the famous Cogea Mondy , who was in reputation of sanctity amongst the Mahometans, was revered at Ajmer; and from all Parts, they came in Pilgrimage to his Tomb: It is a pretty fair Building, having three courts paved with marble; whereof the first is extremely large, and hath on one side, several Sepulchres of false Saints; and on the other, a Reservatory of Water, with a neat Wall about it. The second court is more beautified and hath many Lamps in it. The third is the loveliest of the three; and there the Tomb of Cogea Mondy is to be seen in a Chappel whose door is adorned with several Stones of Colour, mingled with Mother of Pearl. There are besides, three other smaller Courts, which have their Waters and Buildings for the convenience and lodging of Imans, who are entertained to read the Alcoran".

Thus, Ajmer became a pilgrimage centre and people from all over India visited the dargah at the time of urs, that is, death anniversary of the saint. Both Pushkar and Ajmer emerged as places of religious tourism in today's parlance. There are several other historical reasons for which Ajmer is celebrated. After the battles of Dharmat and Samugarh, the famous battle between the orthodox Aurangzeb and the liberal Dara Shikoh was fought at Deorai, a hillock near Ajmer. This battle decided the future kingship of India. Strategically, Dara Shukoh's forces had occupied a better position at the top of the Deorai hill, while the forces of Aurangzeb were at the low lying area of the hill. However, Aurangzeb diplomatically exploited the situation in his favour. He deployed the forces of the hill chief, Raja Rajrup of Mau-Nurpur, and they, being experts in

climbing hills, attacked the forces of Dara Shikoh from the rear. The latter was caught unawares and got defeated. Eventually, Aurangzeb became the king of the Mughal Empire.

Let me share one more historical snapshot with you. This is related to the environment of seventeenth-century Ajmer. In the vicinity of Ajmer, there was a natural fascinating site which attracted Jahangir. In his own words, "There is a ravine in the neighbourhood of Ajmer that is very beautiful. At the end of this ravine a spring appears which is collected in a long and broad tank, and is the best water in Ajmer. This valley and spring are well known as Hafiz Jamal . When I crossed over this place I ordered a suitable building to be made there, as the place was good and fit for developing. In the course of a year a house and grounds were made there, the like of which those who travel round the world can not point out. They made a basin 40 gaz by 40, and made the water of the spring rise up in the basin by a fountain. The fountain leaps up 10 or 12 gaz. Buildings are laid on the edge of this basin, and in the same way above, where the tank and fountain are, they have made agreeable places and enchanting halls and resting-rooms pleasant to the senses. These have been constructed and finished off in a masterly style by skilled painters and clever artists. As I decided that it should be called by a name connected with my august name, I gave it the name of Chashma-i Nur, or the fountain of light. In short, the one fault it has is this, that it ought to have been in a large city, or at a place by which men frequently pass. From the day on which it was completed I have often passed Thursdays and Fridays there",

It suggests how the natural environment of Ajmer has changed drastically. However, I would like to draw attention that Ajmer over all, as described in contemporary sources, should be revived. Besides Chashma-i Nur and Deorai, there are many unknown or lesser known historical buildings in Rajasthan which should be brought under the ambit of the growing market of the tourism industry. These buildings are certainly important from a heritage and cultural point of view, but these are also important to understand civil engineering and other technological developments. To sustain and develop history as a discipline in the academic milieu and the masses, we have to keep pace with the new emerging aspects of history. I am happy to

know that the Central University is going to be established not very far from Ajmer. There, a Centre of Tourism and Heritage Studies can be established. The study of history would not only enrich our knowledge of the historical past but would also link it up with more contemporary issues and generate employment among several young, trained graduates in different branches of an ever expanding tourism industry.

Coming out of Ajmer, let us cast our attention on the people of Rajasthan, whose origins and evolution have continued to absorb scholarly attention. Generally, it is perceived that the Rajputs of Rajasthan, particularly the main Rajput ruling families, are aborigines or the original inhabitants of Rajasthan. But it is not so. The main ruling clans like Sisodias, Rathores, Kachawahas and Bhatias migrated from other parts of India and established their political hegemony in the different regions of Rajasthan. But it does not mean that prior to them there were no Rajputs in Rajasthan. The socio-economic processes were going on to form a social category of Rajputra or Rajputs. This historical process of the formation of Rajputs has been lucidly demonstrated by B.D. Chattopadhyaya. However, these Rajputs known as Gurjara-Pratiharas, Guhilas, Cahamanas , remained local landed magnates. The growing feudal process from tribalism was a process from below and, in such a process, the Rajputs came to Rajasthan and established their political hegemony. This process is, as phrased by D.D. Kosambi, 'feudalism from above'. Nevertheless, this process of assigning and acceptance of sovereign power or authority was with a mutual understanding and was, therefore, peaceful. It was a social contract between the migrant political authority and the local aborigines. The sovereign power took the responsibility of protecting the life and property of their riaya/praja and, in return, the latter consented to pay land revenue (bhog) and other taxes to the chief. Symbolically, it was formalized and sanctified by applying a tika on the forehead of every succeeding chief in their territory. In Bikaner, every succeeding Rathore chief was given a tika by a Godhara Jat. Similarly, the Sisodia chief of Mewar was applied the tika by a Bhil at the time of succession. In Amber-Jaipur, a Meena performed the ritual of marking the tika on the forehead of the newly incumbent of the

State. The process of formation of States continued. There were inter- and intra- conflicts between the emerging States and also within the tribe. They fought for the Raj gaddi (throne). This conflict marks the frequent cases of patricide and fratricide. Such cases reduced to almost nil when Akbar introduced a new system of enrolling the local landed aristocrats including the Rajput chiefs of Rajasthan in the Mughal bureaucracy. Like any other racial group, the Rajput chiefs also became *banda-i dargah* in the Mughal bureaucratic court. Now the supreme sovereign power rested with the Mughal king. Thus, being the sovereign power, the Mughal emperors exercised their authority of deciding the successor of the deceased chief of a Rajput clan. It was clearly exhibited by Jahangir in case of succession in the Kachawaha clan of Amber. In July 1614 AD, when Raja Man Singh died, the line of succession was changed within the family by Jahangir. To understand Jahangir's perception of deciding the chiefship of the tribe, it is appropriate to reproduce the original passage from the *Tuzuk-i Jahangiri*. Jahangir writes, "On the 5th Amurdad (July 1614) came news of the death of Raja Man Singh..... After his death in that service (in Deccan), I sent for Mirza Bhao Singh who was his legitimate heir. As from the time when I was prince, he had done much service with me, although the chiefship and headship of their family, according to the Hindu custom, should go to Maha Singh, son of Jagat Singh, the Raja's eldest son, who had died in the latter's life time, I did not accept him, but I dignified Bhao Singh with the title of Mirza Raja and raised him to the mansab of 4000 personal (*zat*) and 3000 horse (*suwar*)". Thus, it becomes clear that the Mughals, being the sovereign power, had the right to decide about the successor of the deceased Raja. However, one important point to remember is that the chiefship remained within the ruling clan and the family of the deceased Raja. As in the case of deciding the successor of Jaswant Singh, Aurangzeb did not deviate from the policy of his predecessors: in fact, it was internal dissention in the Rathore ruling family of Jodhpur that was the deciding factor. The interest of Amarshahi sardars and the Jaswantshahi sardars clashed with each other and this created a problem for Emperor Aurangzeb. Rani Hadi and the Jaswantshahi sardars were not ready to accept the change of line of succession from Jaswant Singh to Amar Singh's lineage. Earlier,

during Shahjahan's reign, as per the Rathore family tradition of giving the tika to a son born of a favourite wife of the deceased Raja Gaj Singh, Jaswant Singh was assigned the gaddi of Jodhpur. Shahjahan created separate watan that is, Nagor for Amar Singh. Thus, Amar Singh had his own clout of sardars and Jaswant Singh had left his own. In this light, if we see the decision of Aurangzeb to assign the chiefship of Jodhpur to Inder Singh, grandson of Amar Singh who was the nearest relation of the ruling family of Jodhpur, it was not deviation or break of tradition to confine the chief-ship in the lineage of the ruling family. The problem grew acute when Rani Hadi and the Jaswantshahi nobles became adamant not to accept Inder Singh as chief of Jodhpur. Accepting Inder Singh as the chief of Jodhpur meant establishing the dominance of the Amarshahi sardars and undermining the position of the Jaswantshahi sardars. Consequently, Rani Hadi and her sardars were ready to allow Aurangzeb to annex Marwar in the Mughal Empire, and not ready to accept Inder Singh as their chief at any cost.

The next concept which needs reconsideration and interrogation is that of the watan jagir or autonomous territories of the chiefs of Rajasthan. It is generally understood that the chiefs who joined the Mughal service were recognized as autonomous chiefs. They were assigned their erstwhile chiefdoms as their watan jagirs and continued to enjoy the freedom to run their own administration. However, the recent micro and indepth study of Persian as well as Rajasthani sources have put forward different views. The centre considered their dominions as an integral part of the empire and assigned the full or part of the revenues of their erstwhile territories as *tankwah jagir* or ordinary jagir. It was not different from the jagirs assigned to Turani, Irani and other nobles. A minor difference seems to be that a very small part of the revenues of the tappa where the fort-cum-palace of a chief was situated, was assigned as the watan, also known as watan jagir in Mughal terminology. It is also made clear that even a part of the revenues of the watan were adjusted in their salary vouchers.

When the fort-cum-palace, recognised watan jagir as the permanent residence of a chief, emerged as an institution in 1605, then there were expectations from the non-zamindar nobles who

wanted to have permanent residences or watans, for themselves. Jahangir, soon after his accession, considered their demand as justified and the permanent residence was created for them also. It was known as *altamgha* or *altun tamgha jagir*. Jahangir records in his autobiography, "As it was my desire that many of the Akbari and Jahangiri officers should obtain the fruition of their wishes, I informed the *bakhshis* that whoever wished to have his birthplace made into his jagir should make a representation to that effect, so that in accordance with the Chingizi canon (*tura*) the estate might be conveyed to him by *al tamgha* and become his property, and he might be secured from apprehension of change. Our ancestors and forefathers were in the habit of granting jagirs to everyone under proprietary title, and adorned the farmans for these with the *al tamgha* seal, which is an impressed seal made in vermilion (i.e. red ink). I ordered that they should cover the place for the seal, with gold-leaf (*tilaposh*) and impress the seal thereon, and I called this the *altun tamgha*".

Thus in *altamgha* or *altun tamgha jagir* and *watan jagir*, the native place of a noble was given on permanent basis. The basic characteristic of these assignments was permanent nature of the assignment, therefore, these two terminologies were interchangeable. In Rajasthan, a case of *altamgha jagir*, that is, assignment is of the *Qaimkhanis* of Fatehpur-Jhunjhunu.

One more important aspect of our study of Rajasthan history is the formation of the states. As we know the formation of the state in an ongoing or continuous process, but for the Rajput States, whose chiefs had joined the Mughal service, the process of state formation was arrested. Their states had become a part of the Mughal empire. Many subordinate sardars of their erstwhile territories, who had joined the Mughal service, were treated independently by the Mughal Chancery. Their loyalty shifted from their own tribal chief to the Mughal emperor. A case indicating the changing nature of loyalty is of Ram Das Kachawaha and Raisal Darbari. In the succession tussle between Jahangir and his son prince Khusrau, Ram Das and Raisal sided with Jahangir instead of joining Man Singh for the cause of succession of prince Khusrau. Khusrau being Man Singh's nephew (his sister's son) and son-in-law of Mirza

Aziz Koka was favoured by them. Ram Das and Raisal were the in-charge of the imperial treasury (*khizana-i amirah*). On Aziz Koka's advice, Man Singh with the help of Ram Das wanted to seize the imperial treasury, but Ram Das refused to hand over the keys of the treasury to Man Singh. On Man Singh's threat and being reminded of his status, Ram Das most respectfully but firmly replied, 'You (Man Singh) are my Maharaja but I am in the service of Jahangir'. Thus, it suggests clearly that as per the tribal customs and traditions, Ram Das recognised Man Singh as his overlord, but being in the Mughal service, his loyalty was with Jahangir. It is also to be pointed out that the tribal and parochial outlook was changed to broadly world vision. Thus, the nature of relationship also changed from tribal-cum-feudal to bureaucratized-cum-centralized-power. The regional interests and outlook were integrated into the centre and the interests of the centre were integrated at the local level.

Bureaucratization and Centralization of Power

Before joining the Mughal service under Akbar, there was no basic change in the traditional nature of relationships between the regional chiefs and the central power. Under the Sultans and the Sur Kings of Delhi and Agra, there was no basic change in the outlook of the local chiefs and the central power. After the defeat and acceptance of the Sultan's suzerainty, the local chiefs were left free to run their own administration. The hallmark of subordination was to pay tribute (*peshkash*) and to remain loyal to the victor. However, under Akbar, this kind of relationship changed into *banda-i dargah*. Now, there was complete bureaucratization of power in terms of offices and territorial divisions. In 1580, the Empire was divided into twelve subas; Ajmer was one of these. An official territorial hierarchy was created. Secular principles (*zawabit*) were enacted and the people were governed by these rules and regulations. There were also *dastur ul amals* dealing with the administrative or fiscal regulations. Financial, fiscal and military men-power records were prepared and maintained. *Ain-i Akbari* is a celebrated example to this effect. To facilitate the administration at the local level, such kinds of records were maintained in the Rajasthani local dialects. *Marwar-re pargana-ri vigat* and *arsattas* in particular show how the process of centralization was operating

from above to the lower levels of tappas. Similar to the records of Ain-i Akbari, we do find documents in the Anoop Sanskrit Library, Bikaner .

Detailed identification from a noble (mansabdar) to a rozinadar soldier was also kept. It seems pictorial identity, particularly of the mansabdars, was also maintained. Portraits of many nobles are found in the painting collections of the Mughal period. The following evidence proves without doubt that the Mughal Chancery kept portraits of all the Mughal nobles as a mark of their identity. In 1613, Ram Das Kachawaha and other nobles annoyed Jahangir by retreating from a battle in the Deccan; Jahangir expressed his anger by making remarks on each of the portrait of the nobles who had taken to flight. When Raja's portrait was taken up, he took it in his hand in the open Darbar and said, 'You were a servant of Raisal at a tanka a day, my father cherished you and made you an Amir. It is a disgrace for a Rajput to run away (from the field of battle)'.

The Rajput nobles were deputed to serve in any part of the Mughal Empire. They made significant contributions in the expansion of the Mughal Empire. On rendering meritorious services, they were rewarded in various ways. One of the important rewards was enhancement of their status in the Mughal bureaucratic hierarchy. By increasing the mansab, and particularly the suwar rank, employment was generated among peasants and other supporting professions who also became soldiers. Thus, the soldiers, along-with their employers and others, brought back surplus to their respective native villages. This prosperity and affluence can be seen in the light of the monuments constructed by these nobles. Most of the buildings of Amber-Jaipur, Jodhpur and other parts of Rajasthan were constructed during this period. During the end of Akbar's period, the Junagarh brick fort of Bikaner was built by Raja Rai Singh of Bikaner. The brick manufacturers were brought from Sind; they are known as pajabgir which is a Persian word. They settled behind the fort of Bikaner and the locality is still called Pajabgiron ka Mohalla. A similar kind of migration and settlement can be traced for one more artisan caste, that is, the choongars (lime-makers) of Biknaer. The famous artisans of dyeing, the rangrez of Sanganer, came with Raja Man Singh of Amber from the north-west of

Hindustan, it is claimed by the present descendents of the original migrants. Thus, oral history carries weight for the construction of a people's history. We do find the references of palki (palanquin) bearers belonging to Bengal and Bihar employed by the Kachawaha nobles in their infantry contingents. Sajindas from Kashmir and musicians from the Gwalior Gharana were also brought to Amber. Bahis, preserved in the State Archives of Rajasthan, Bikaner, contain the references of Deccani Brahmans and Goswamis known for their profession of music and dance, who came with the chiefs of Bikaner and settled there. It is also important to point out that they brought their socio-cultural traits and traditions with them. These few examples suggest how Rajasthan was made culturally rich by these migrants. Thus, the study on migration and immigration is an important field to carry out. Here, I would also like to point out that the flourishing position of the Rajputs of Rajasthan inspired the people of the Himalayan hills to claim themselves as the descendents of the Rajputs of Rajasthan. Many converted muslim Rajputs of Uttar Pradesh legitimized their Rajput identity by linking their genealogies with the Rajputs of Rajasthan. These are historical aspects which are to be probed at a micro level. We have enough material to work on genealogies. The pothis of Bhats are important source material to work out different aspects of demography of communities and castes. It is an important but neglected aspect of social history. Students from Rajasthan, because of their knowledge of local dialects and easy accessibility to the Bhats and different and varied source material, can carry out research in these areas, efficiently. ICHR, ICSSR, UGC and the State government should come forward and create separate funds to support such projects by procuring and preserving the valuable source material. If we want to save our heritage from extinction, it is the imperative duty of the above indicated agencies and others to provide liberal financial assistance to the scholars working on these projects. For preservation and conservation, a nodal agency and a branch can be established in the State Archives of Rajasthan, Bikaner.

When we talk about social history, it is relevant to make some concise observations on writing the new socio-cultural history of Rajasthan.

After long spell of writings on political and economic history, it is time to concentrate on the writing of socio-cultural history. An important source for construction social history is popular literature. Rajasthan's contribution to producing and publishing literary works is enormous. It was considered significant from a linguistic and literary point of view. However, it also throws immense light on different aspects of history, and particularly the socio-cultural history. It is the only source which helps us to construct a people's history. Here, we shall appreciate and be beholden to all those scholars and donors (particularly Marwari business communities) who collected and published such literary works. I can recall academic magazines like, Vishambhara, Maru Bharti, Vaichariki, Shodh Patrika, Parampara and Vardha which have extensive material on socio-cultural history. It is an appropriate occasion and platform to pay tributes to late (Dr.) Manohar Sharma whose pioneering contribution, particularly to Vaat Sahitya (story literature) helps us to construct the social history of Rajasthan. From a story containing in his book, Rajasthani Vaat Sangrah one comes to know that the Rajput chiefs began to join Sultan Alauddin's (1296 AD - 1316 AD) service. Dr. Narayan Singh Bhati also deserves to be appreciated for his academic legacies which we cherish. Dr. Hukam Singh Bhati is one among many others who are carrying the tradition forward by editing and thus introducing the original Rajasthani sources to construct a new history of Rajasthan.

Eighteenth-century Rajasthan

The eighteenth century, particularly the second half of the eighteenth century, is an important period in India's history. There are visible signs of the decline of the central power. It was a time of crisis for the ruling and elite classes—they were facing the crisis of survival itself. The Rajput chiefs and nobles had no option except to come back to their watans, (native places), and to resume the reconstruction of their erstwhile states. A fresh relationship between the ruler and the subjects was to be evolved or framed. How these constructed relationships created conflicts and readjustments among these classes is an important area of research. Now like the Mughal central government, they had to maintain detailed records of the state revenues. The *arsattas* of Jaipur and the *bahis* of Bikaner are

examples of such records. However, an important aspect of the history of eighteenth-century Rajasthan to probe is whether the people of the new states became more prosperous than they were under the Mughal power or whether there was no difference for the common man under both the regimes or did the condition of the people become more precarious and miserable under the new regime and the colonial hegemony? These are issues which need thorough investigations. Nevertheless, one can see the repercussions of the eighteenth century in the early nineteenth century. The clauses of the treaties contracted between the chiefs of Rajasthan and the British colonial power clearly suggest the changing nature of relationship between the central colonial power and the indigenous states. Resentment against the British colonial power became volatile during 1857. One finds information of common men and subaltern sardars reacting out against the British residents of the states. In Jodhpur, the Aauwa battle against the British forces, masses raiding and torching the British residency in Kota and subsequently killing the surgeon Saddler and the physician Briton along with his two sons suggest it was a mass consciousness and movement against the colonial power. How the British were rescued from the anger of the masses and given refuge by the chief of Mewar was a clear cut and open message to the British power and their allies that they would not be tolerated at any cost. How Tantya Tope and his team members were supported secretly by the people of Mewar is worth citing here. Four thousand Bhils are known to have joined Tantya's forces. It is also pointed out in contemporary sources that Tantya and his party had plenty of cash and jewellery but lacked food provisions and cloths. They were ready to pay Rs. 1 for a roti but even then it was not available.

The following example throws light how a common and ordinary man felt the joy of liberty when freed from feudal and colonial atrocities. When there was revolt against the colonial power in the South west of Rajasthan, Qayam Din, a Churigar (bangle manufacturer) rebelled. He was joined by the weavers of Adhana. An ordinary weaver named Alira went to the village chief Rawat Deep Singh and urged upon him, 'his correct and proper full name is Ali Yar Khan and in future, he should not be called Alira but Ali Yar

Khan. He also commanded the Rawat to depute some one to carry his baggage to join the armed forces of the Churigar. The Rawat amazingly said that till yesterday you were carrying the baggage of our sepoys on your head, now why are you shying away from carrying your own baggage? On this Alira chided and went away'.

We also know that several persons were charged as rebels and mutineers and were imprisoned. Many of them managed to run away from the prisons. Many files preserved in the State Archives of Rajasthan, Bikaner, throw light on the arrest warrants, about their whereabouts and investigations by the police. Thus, it is a rich source material to know more about the participation of the People of Rajasthan, in the freedom struggle beginning from 1857 to 1947.

Dear friends, I am very grateful to you for listening to me. I have covered very few aspects focussing on the history of Rajasthan. With your support, I would like to suggest that there should be a fresh beginning of writing a new history of Rajasthan, encompassing new historiographical trends emerging at a global level such as, environmental issues, health, gender and power, identity, history of ideas and so on. The responsibility of this task should be taken by the organisers of the Rajasthan History Congress. The traditions established by the founder members like Professor R.P. Vyas to sustain and to promote the cause of the writing progressive and scientific history can be further carried on by the organisers of the Rajasthan History Congress. A major part of this task can be achieved with the availability of finances, and for this, the Human Resource Development ministry, Ministry of Culture and Rajasthan Government should come forward to provide funds liberally.

Thank you.

References

1. Khwaja Moin ud din Chishti.
2. Employed
3. Hafiz Jamal was the name of the saint Moinud-din Chishti's daughter. It lies at the back of the Taragarh hill, and is now commonly called Nur Chashma. Sir Thomas Roe visited the place. Tuzuk-i Jahangiri, Vol. I, p. 269.
4. See, B.D. Chattopodhyaya, 'Origin of the Rajputs: The Political, Economic And Social Processes in Early Medieval Rajasthan', in *The Indian Historical Review*, vol. III, No. 1, 1976, pp. 66-68.

5. Thomas Hobbes, Jean-Jacques Rousseau and in India Abul Fazl talk about such kind of social contract. Abul Fazl calls it '*Rawa-i Rozi*', see Athar Ali, 'The State in Islamic Thought in India', in *Mughal India: Studies in Polity, Ideas, Society and Culture* (collected articles) pp. 124-125, OUP, 2006.
6. Ram Das came from a very humble background. With the support of Man Singh, Ram Das got entry into the Mughal service.
7. While collecting research material for my Ph.D. dissertation on '*Mughal Administration of the Suba of Ajmer*', I came across such documents in the above library.
8. *Rajasthani Vaat Sangrah* : A selection, by Manohar Sharma and Shreelal Nathmalji Joshi, of Rajasthani folk tales, Sahitya Akademi, New Delhi, 1984.
9. How the former subordinate *sardars* of the Amber-Jaipur who had joined Mughal service or came directly under the hegemony of the Mughal State, refused to accept the over-lordship of the chiefs of Jaipur is interesting to probe. To resolve this cause of conflict, C.U. Wills was commissioned to investigate the matter and submit the report.

A Reflection on the Socio-Political Scenario of Protohistoric Rajasthan

**(With Special Reference to Ganeshwar-Jodhpura Culture)
Vineet Godhal**

The site of Ganeshwar (27°40.87' North Lat., 75°49.1' East Long.) was discovered on 30th November 1977 by R.C. Agrawala and late Shri Vijai Kumar . Subsequently the site was excavated by the State Department of Archaeology in between 1979 and 1987 for several seasons . This village is located in the Neem Ka Thana tehsil of Sikar district, lies 15 km southwest of Neem Ka Thana railway station, with a deposit of 4.15 meter thick belonging to two different cultural periods namely mesolithic and chalcolithic without any hiatus in between. The site of Ganeshwar approximates 10 hectares in the size and about 505 meters in elevation. There are four reports of excavations at Ganeshwar are published in Indian Archaeology- A Review , which provides the initial information observed by the excavators. The excavations have uncovered the evidence for circular hut outlines and floors paved with river pebbles and schist slabs, most likely quarried from the nearby rocks .

Another site named Jodhpura (27°31' North Lat.; 76°5' East Long.) is located in the district of Jaipur in the tehsil of Kotputli, a large site (5-10 hectares) located 98 km from Jaipur on Jaipur-Delhi highway. The site is also known as Ghartool Ghat; was first excavated by the Department of Archaeology and Museums for understanding the stratigraphic context of Black and Red Ware and Painted Grey Ware levels . The mound is located to the east of river Sabi. During the excavation at Jodhpura, houses measuring 4 X 3.5 meters were excavated, associated with bricks (size 18 X 11 X 6 cm and 30 X 26 X 7 cm), fragments of copper, terracotta and stone beads were observed from this level by the excavators. At Jodhpura the cultural deposit varies from 1 meter to 2.10 meter is free from water logging and other types of disturbances and five cultural periods, extending from protohistoric period to the end of

Sunga-Kushan period is represented by the occurrence of chalcolithic pottery. More than 200 chalcolithic sites of Ganeshwar-Jodhpura culture have so far been reported by the scholars. Yet no any site is excavated on a large scale though we have no any proper idea about the proper settlement of this culture.

Socio-Political Organization

A society, however, may be ontologically independent of, and utterly irreducible to, the qualities of constituent individuals; it may act to oppress. More broadly, a society is an economic, social or industrial infrastructure, made up of a varied collection of individuals. Members of a society may be from different ethnic groups. The word society may also refer to an organized voluntary association of people for religious, benevolent, cultural, scientific, political, patriotic, or other purposes. Human societies are often organized according to their primary means of subsistence. Social scientists identify hunter-gatherer societies, nomadic pastoral societies, horticulturalist or simple farming societies, and intensive agricultural societies, also called civilizations. Some consider industrial and post-industrial societies to be qualitatively different from traditional agricultural societies.

Chiefdoms are regionally centralized organizations of local communities. Where the rank of an individual is determined by his genealogical distance from the highest ranked member of the society - the chief; and the rank of the local community depends upon the rank of its highest ranking member, or local chief. The order is based on a hierarchical series of social and territorial groups - the village, the district, and the chiefdom. Thus, the highest ranking member of each local community is the local chief or headman; the highest ranking local chief is the district chief, and the highest ranking district chief is the paramount chief. This division can be reflected in a division of settlement size with a distinct gradient in size between local and regional centers. Rulers and ruled alike were caught up in a social fabric of mutual obligation reinforced by the dual threads of economic interdependence and kin allegiances. Chiefs at all levels had broad rights of request for food, goods and services, while being generally responsible for the group's welfare. Each chief, sub-chief, or village headman served as the local leader as well as the conduit for decisions made at higher levels. These decisions involved him in

the recruitment of labour for socially beneficial projects, the organization of religious festivals, and the mediation of disputes between group members or defense against enemies.

No any attempt has so far been made in India to infer about the socio-political organization of proto-historic culture of Ganeshwar people. The first attempt was made by Dhavalikar about the proto-historic cultures of India on the basis of the excavations at Inamgaon.

According to him, there are two categories of the chalcolithic sites; regional centres and villages which reflect a two level settlement pertained to hierarchy. We may collect important evidences from the burials and grave goods for determine the social stratification from the archaeological sites . Although no any burial was excavated from Ganeshwar and Jodhpura, other factors like structural remains, storage facility and other material found within the site may be used to define the social and economical conditions.

The most important evidence pointing towards a stratified society at Jodhpura is the hierarchical settlement pattern, dominated by the mud brick structures. Probably this was the residence of the chief , but due to the excavation of a limited area, no any further details is available of surrounding of this mud brick structure. It may be belonging to any individual with some large storage facilities. Storage jars were also collected from this area. As evident from the excavations at Ganeshwar three stone platforms in three successive phases were raised for protecting their settlement from floods . Later structures like mud platform with partitions storage pits house floors were found. The partition shows evidence of a frugal lifestyle with small rooms and round structures dominated by post holes pointing towards temporary occupation. These could be the houses of small farmers or other members of lower strata of their society.

Culture is a term in anthropology which comprises everything from the traditional manner in which people produce cook or eat their food, the way in which they plan their houses; or arrange them on the surface of the land; to social moral and religious value which are generally accepted by men and also habitual methods by means of which satisfaction is gained in respect of the higher qualities of the mind.

Indian society is divided into various groups since Prehistoric times. Each group has its own independent specific specialties which developed as nations in future. These nations were built with the construction of several social organizations, that demonstrate the methods of life, are diverse. The base of the Indian history and culture is highly ancient. Apparently if a certain perspective, the construction of the Indian society was started during the Mesolithic age. At this time primitive man was passing through the era of art. In upper palaeolithic period man was living in groups for hunting the giant animals and use the remaining time in the field of art. Economy was based on hunting of animals, birds, honey collection and also fishing. The human being of this period did not know about agriculture and animal husbandry's fact. Invention of agriculture and animal husbandry was started in Mesolithic period in some region while some was inhabited in later period. Social organization or social institution refers to a group of social positions, connected by social relations, performing a social role. A social relation or social interaction refers to a relationship between two, three or more individuals or a social group. On the basis of these factors some scholars have divided the societies into four categories named as Band, Tribe, Chiefdom and Early State.

A Band society is the simplest form of human society which consists of a small kin group, no larger than an extended family or clan; it has been defined as consisting of no more than 30 to 50 individuals with a loose organization. Their power structure is often egalitarian and has informal leadership; the older members of the band generally are looked to for guidance and advice and decisions are often made on a consensus basis, but there are no written laws and none of the specialized coercive roles (e.g., police) typically seen in more complex societies. Bands' customs are almost always transmitted orally. Formal social institutions are few or non-existent. Religion is generally based on family tradition, individual experience, or counsel from a shaman. All known band societies hunt and gather to obtain their subsistence.

Tribe viewed historically or developmentally, consists of a social group existing before the development of, or outside of, states. Many anthropologists use the term to refer to societies organized

largely on the basis of kinship, especially corporate descent groups. Some theorists hold that tribes represent a stage in social evolution intermediate between bands and states. Other theorists argue that tribes developed after, and must be understood in terms of their relationship to states. Considerable debate takes place over how best to characterize tribes. Tribes reflect a way of life that predates, and is more "natural", than that in modern states. Tribes also privilege primordial social ties, are clearly bounded, homogeneous, parochial, and stable. Thus, many believed that tribes organize links between families (including clans and lineages), and provide them with a social and ideological basis for solidarity that is in some way more limited than that of an "ethnic group" or of a "nation". Anthropological and ethno-historical research has challenged all of these notions.

Chieftdom is a type of complex society of varying degrees of centralization that is led by an individual known as a chief. In anthropological theory, one model of human social development rooted in ideas of cultural evolutions describes chieftdom as a form of social organization more complex than a tribe or a band society, and less complex than a state or a civilization. The most succinct definition of chieftdom in anthropology belongs to Robert L. Carneiro : "An autonomous political unit comprising a number of villages or communities under the permanent control of a paramount chief". Chieftdoms are characterized by pervasive inequality and centralization of authority. At least two inherited social classes (elite and commoner) are present (Ancient Hawaiian Chieftdoms had as many as four social classes), although an individual might change social class during a lifetime by extraordinary behavior. A single lineage/family of the elite class becomes the ruling elite of the chieftdom, with the greatest influence, power, and prestige. Kinship is typically an organizing principle, while marriage, age, and gender can affect one's social status and role. A single simple chieftdom is generally composed of a central community surrounded by or near a number of smaller subsidiary communities. All of these communities recognize the authority of a single kin group or individual with hereditary centralized power, dwelling in the primary community. Each community will have its own leaders, which are usually in a tributary and/or subservient relationship with the ruling elite of the primary community. A complex chieftdom is a group of simple

chieftdoms controlled by a single paramount center, and ruled by a paramount chief. Complex chieftdoms have two or even three tiers of political hierarchy. Nobles are clearly distinct from commoners and do not usually engage in any form of agricultural production. The higher members of society consume most of the goods that are passed up the hierarchy as a tribute.

Reciprocal obligations are fulfilled by the nobles carrying out ritual that only they can perform. They may also make token, symbolic redistributions of food and other goods. In two or three tiered chieftdoms, higher-ranking chiefs have control over a number of lesser-ranking individuals, each of whom controls specific territory or social units. Political control rests on the chief's ability to maintain access to a sufficiently large body of tribute, passed up the line by lesser chiefs. These lesser chiefs in turn collect from those below them, from communities close to their own center. At the apex of the status hierarchy sits the paramount.

Anthropologists and archaeologists have demonstrated through research that chieftdoms are a relatively unstable form of social organization. They are prone to cycles of collapse and renewal, in which tribal units band together, expand in power, fragment through some form of social stress, and band together again. They had a complex social hierarchy consisting of kings, a warrior aristocracy, common freemen, serfs and slaves.

The number of structural levels within such chieftdoms appears to be equal, or even to exceed those within the average state, but they have a different type of political organization and political leadership. Such types of political entities do not appear to have been created by the agriculturists .

The evolution of the Ganeshwar village reflects a gradual process of transformation of the semi-nomadic Mesolithic hunter gatherers to a completely sedentary chieftdom society around 2500 BC, which also observed at Balathal . Here (Ganeshwar) and in Jodhpura, in the beginning of period III, the site's prosperity increased with the flimsy wattle and daub circular huts of period II being replaced by rectangular stone structures. We also have the evidences of mud brick structures. These features suggest the presence of a central authority. The material exported out of this region is copper

and finished good made of this metal. The export and import would be controlled by any authority or a system for managing the finance and availability of labour. The presence of specialized craft items like arrowheads, celts, fish hooks, bead material and different types of pottery suggest a ranked society.

References:

1. Agrawala, R.C. 1978a. Archaeological Discoveries at Ganeshwar, Rajasthan. *Archaeological Studies III*: 72-75; 1978b. Copper Celts and an Indus Arrow Head from Kulhade ka Johad, District Sikar, Rajasthan. *Man and Environment II*: 123; 1979a. More Copper Finds from Rajasthan. *Man and Environment III*: 91-92; 1979b. Three Copper Objects from Ganeshwar. *Journal of the Oriental Institute XXVIII*, No. 3-4: 159-60; 1981a. Recent Explorations in Rajasthan. *Man and Environment Vol. V*: 59-63; 1984. Ganeshwar Culture-A Review *Journal of the Oriental Institute XXXIV*, No. 1-2: 89-96.
2. Kumar, Vijai. 1985. Ganeshwar-Jodhpura Culture: The Antecedents of Copper Age in India. *The Researcher XIV-XV*: 5-15.
3. Agrawala, R.C. 1979b. Op. cit.; Agrawala, R.C. and Vijay Kumar. 1993. Ganeshwar-Jodhpura Culture: New Traits in Indian Archaeology. In *Harappan Civilization: A Contemporary Perspective*, ed. Gregory L. Possehl, 125-135. Delhi: Oxford & IBH Publishing Co.; *Indian Archaeology-A Review*: 1988-89: 76-78.
4. *Indian Archaeology-A Review*: 1981-82: 61-62; 1983-84: 71-72, 95-98; 1987-88: 101-102; 1988-89: 76-78.
5. Ibid.
6. *Indian Archaeology-A Review*: 1981-82: 61-62; 1983-84: 71-72, 95-98; 1987-88: 101-102; Hooja, R. and Vijai Kumar. 1995. Aspects of the Early Copper Age in Rajasthan. *South Asian Archaeology Proceedings of the 13th Conference of the European Association of South Asian Archaeologists* (Eds. Raymond Allchin and Bridget Allchin). New Delhi: Oxford and IBH: 323-339.
7. *Indian Archaeology-A Review*: 1972-73: 29-30.
8. Ibid
9. Kumar, Vijai. 1977. Excavations at Jodhpura. *Journal of the Rajasthan Institute of Historical Research 15(1)*: 28-33; *Indian Archaeology-A Review*: 1972-73: 29-30.
10. Dhavalikar, M.K., H.D. Sankalia and Z.D. Ansari (ed.) 1988. Excavations at Inamgaon, Poona: Deccan College.
11. Sinha, Shweta. 1998. Study of Chalcolithic Social Organization in Central India with Special Reference to Balathal. Unpublished M.A. Dissertation,

Deccan Coolege, Pune; Deshpande, Shweta Sinha. 1998-99. Chalcolithic Social Organization in Central India: A Case Study of Balathal. *Puratattva 29*: 50-59.

12. *Indian Archaeology-A Review*: 1981-82: 61-62.
13. Carneiro, R. L. 1981. The Chieftdom: Precursor of the State. In *The Transition to Statehood in the New World*, (Eds. G. D. Jones and R. R. Kautz), 37-79. Cambridge, UK - New York, NY: Cambridge University Press.
14. Kradin, Nikolay N. 2000. Nomadic Empires in Evolutionary Perspective. In *Alternatives of Social Evolution* (Eds. N.N. Kradin, A.V. Korotayev, Dmitri Bondarenko, V. de Munck, and P.K. Wason). 274-288. Vladivostok: Far Eastern Branch of the Russian Academy of Sciences; 2002. Nomadism, Evolution, and World-Systems: Pastoral Societies in Theories of Historical Development. *Journal of World-System Research 8*: 368-388; 2003. Nomadic Empires: Origins, Rise, Decline. In *Nomadic Pathways in Social Evolution* (Eds. N.N. Kradin, Dmitri Bondarenko, and T. Barfield), 73-87. Moscow: Center for Civilizational Studies, Russian Academy of Science.
15. Deshpande, Shweta Sinha. 1998-99. Op. cit.

The Early Career of the Mālavas in Rajasthan

Meghna Goyal

When Alexander invaded India the Mālava tribe, the Malloi of the Classical writers, was living in the Punjab where it earned undying fame by its brave resistance to the mighty Greek conqueror. After some time, probably in the Indo-Greek period, it migrated to Rajasthan where it settled in the Ajmer-Tonk-Mewar region with Mālavanagara (modern Nagar or Kārkoṭanagara in the former Jaipur state) as its capital. In the second century A.D. it had to accept the overlordship of the Kārdamaka Śakas of the house of Chashtaṇa, but became independent in the beginning of the third century A.D.¹ when the power of the successors of Rudradāman began to decline. According to the Nandsa Yūpa inscriptions, freedom and prosperity had returned by that year to the country of the Mālava people as a result of the brilliant achievements of the Mālava chief Nandi Soma who performed the *Ekashashthirātra* sacrifice, most likely to declare the independence of the Mālava republic.

According to most scholars from 226 A.D., the date of the Nandsa record, the Mālavas enjoyed independence till the imposition on them of the Gupta overlordship by Samudragupta sometime in the middle of the fourth century A.D.² But, according to S.R. Goyal,³ in the third century A.D. they for some time briefly fell under the Nāga influence. The Bhāraśiva-Nāgas of Padmāvati (Padma Pawaya, in M.P.) were eastern neighbours of Mālavas and the name Kārkoṭanagara of the Mālava capital suggests that this city for some time had become intimately associated with the Kārkoṭas or the Nāgas when it might have acquired this name. In view of this fact D. C. Shukla suggested that “sometime in the third-fourth century A.D., that is, after the end of the Kushāṇa domination and before the rise of the Guptas, the Bhāraśiva-Nāgas of Padmāvati who performed ten Aśvamedhas and established a powerful empire, brought the Mālavas of Rajasthan under their hegemony.”⁴ But, according to S.R. Goyal, “the Nāga domination over the Mālavas, if a historical fact, must have been short lived. Actually, it was the period when the Mālavas

were making their influence felt in the greater part of Rajasthan and even in the region south of it. It is indicated by the use of their era in the records of the third and fourth centuries found from Bijayagadh (in old Bharatpur state) in the north-eastern Rajasthan to Mandasor in the south.”⁵

That the gradual expansion of the Mālavas led to the emergence of several independent or semi-independent states ruled by the people of Mālava stock is easily proved. The first and the most important of such Mālava states was the one which had become independent under the leadership of Śrī Soma or Nandi Soma sometime before 225 A.D. Nandi Soma, it is said, was born in the Mālava *varṇśa* and belonged to the clan of the Sogins. His family claimed to be as famous as the royal stock of the Ikshavākus. It ruled over parts of Udaipur tract as is indicated by the discovery of its inscriptions from Nandsa.

Another branch of the Mālavas were the Maukharis known for the Badva inscriptions of 238 A.D. In the Gupta age the Maukharis were looked upon as Kshatriyas. In the Barabar Cave Inscription of Anantavarman Maukhari it is said that he was ‘the lamp of the Kshatriya family.’⁶ Similarly, in the Nagarjuni Hill Cave Inscription he describes his grandfather Yajnavarman as ‘the abode of all the dignity of the Kshatriyas’.⁷ Thus, it is certain that the Maukharis looked upon themselves as Kshatriyas. E. A. Pires was of the opinion that they belonged to the Lunar branch of the Kshatriyas. For this he relied on the statement of Bāṇa, the author of the *Harshacharita*, according to whom the marriage of Rājyaśrī, the sister of Harsha, with Grahavarman Maukhari ‘united the two brilliant lines of Pushyabhūti and Mukhara, whose worth, like that of the Sun and the Moon houses, is sung by all the world.’ According to Pires, here Bāṇa meant that the Pushpabhūti (Pushyabhūti) and Maukhari houses belonged respectively to the Solar and Lunar branches of the Vedic Kshatriyas.⁸ But now it is regarded as almost certain that the Pushyabhūtis were Vaiśyas, the combined testimony of Yuan Chwang and of the author of the *Ārya Mañju Śrī Mūla Kalpa* has proved it indubitably.⁹ As a matter of fact in this passage Bāṇa did not connect the Pushyabhūtis and the Maukharis with the Solar and the Lunar Kshatriyas; he merely compared them with the two well-known Kshatriya ruling dynasties famous in history and literature both.

More information on the origin of the Maukharis is provided by the Haraha record of Īśānavarman (554 A.D.). According to S. R. Goyal, this epigraph, when studied along with a verse of the *Sāvītryupākhyāna* of the *Mahābhārata* conclusively proves that the Maukharis were a branch of the Mālava tribe which was itself a branch of the Madras.¹⁰ According to the Haraha record, the Maukharis were the descendants of the hundred sons whom the king Aśvapati obtained through the grace of Vaivasvata,¹¹ while, according to the *Mahābhārata*, the Madra king Aśvapati obtained one hundred sons called the Mālavas through his queen Mālavī as a result of a boon granted by Yama to the king's daughter Sāvitrī.¹² These two facts were juxtaposed for the first time by N. R. Ray.¹³ But unfortunately he did not quote the verse of the *Mahābhārata* rightly—he changed the word 'Mālavā nāma' to 'Mālavānam'. It made D. C. Sircar to comment: "That Mālavī, the wife of Aśvapati, was a girl belonging to the tribe of the Mālavas is also proved by the *śloka* quoted from the *Mahābhārata* by Mr. Ray."¹⁴ Thus, the impression became widespread among scholars that it was Mālavī, the queen of Aśvapati, who belonged to the Mālava tribe, while actually the *Mahābhārata* makes her the mother of the Mālavas. Later, when this mistake became known Sircar also accepted this reading and interpretation of the *Mahābhārata* passage.¹⁵ Thus, the combined testimony of the Great Epic and the Īśānavarman's record proves that the Mālava tribe and the Maukharis were of the same stock and originally belonged to the Madra country.

It is likely that a third branch of the Mālavas established itself in the old Bharatpur state. The existence of this branch is indicated by a pillar inscription found at Bijayagadh near Bayana which records the erection of a sacrificial *yūpa* on which this very inscription was engraved by the king Vishṇuvardhana on the completion of a Puṇḍarīka sacrifice. Its date is 428. According to Fleet, the script and the find-spot of this inscription indicate that we must refer its date to the Mālava era with the result of 371-72 A.D.¹⁶ The alternative possibility that this era was the era of the Śakas goes against the script of this record. Further, there is no evidence to justify the assumption that the Śaka era was prevalent in this part of the country in the Gupta age. Furthermore, the names ending in *vardhana* (viz., Vishṇuvardhana, the king of this epigraph and of Yaśovardhana, his father) were quite popular among the Mālavas. The

grandfather of Nandi Soma of the Nandsa inscription had the name Bhrguvardhana, the kings of the Mandasor in the sixth century had *vardhana* ending names, viz., Ādityavardhana, Dravyavardhana and Vishṇuvardhana and the family of the Mahārāja Gauri of the Mandasor inscription of 490 A.D. included kings having the names Rāshṭravardhana and Rājyavardhana. Therefore, it may be tentatively presumed that Varikā family, to which Vishṇuvardhana belonged, was an offshoot of the Mālava stock. Unfortunately, no further evidence has come to light in favour or against this hypothesis.

An important family of the Mālava stock, called the Aulikaras, migrated southward and settled down in Mandasor region of western Malwa, formerly a part of the kingdom of the Kārdamaka Śakas. In the middle of the fourth century A.D., it accepted the overlordship of the Guptas but continued to use the era of its own tribe, viz., the Kṛta era.

The expansion and disintegration of the Mālavas in the post-Gupta age is also indicated by the existence of several localities named Mālava in the various parts of the country, though it is not necessary to assume that the Mālavas existed as a political force in all of them. The *Mahābhārata* knows the three-fold division of the Mālavas, viz., the Mālavas of eastern, western and northern regions. Tārānātha, a medieval Tibetan historian, speaks of a Mālava in Prayāga area and a village named Mālava actually exists to this day in Fatehpur district near Allahabad. Then, there was a region called Mālava in the Western Ghats which seems to be associated with the present Malavan in the Ratnagiri district. A late inscription states that Daṇḍanāyaka Anantapāla, a feudatory of Chālukya Vikramāditya VI, defeated the 'Sapta Mālavas' upto the Himalayas. But all these regions which were called Mālava were not necessarily connected with the Mālavas, the republican people of Rajasthan.

But, as argued by S.R. Goyal, the expansion of the Mālavas brought their inherent weakness to the fore. It is obvious that republican form of government is most unsuited for imperialistic ambitions. There are extremely few cases in the ancient history of the world where a republican state succeeded in establishing an empire, and all these cases were the result of exceptional circumstances which are not easily repeated. As pointed out by Goyal, "That exactly was the weakness of the Lichchavis

against Ajātaśatru. They could, at the most, hope to repulse the invader whenever he came; they could not put an end to his recurring invasion by annexing his kingdom. The very nature of their political organisation precluded this possibility. On the other hand, once their resistance failed, they could be made a part of the expanding Magadhan empire. This was what actually happened. Similar was the case of the Mālavas and other republican tribes of the third-fourth century A.D. They could not become expansionist. For them expansion meant either abandonment of republicanism or their disintegration into several political entities.¹⁷

Thus, it appears that in the third-fourth century A.D. the Mālavas of Rajasthan became divided into several political entities. This was the direct result of their expansion. It is well-known to the students of political theory that a republican tribe cannot follow an imperialist career without losing its homogeneity. Its expansionist career was bound to increase its internal crisis through which, together with many other republican tribes of the period, it was passing. The republican tribes of Rajasthan, like tribes of other regions, were gradually realizing that they could not hold their own against the onslaughts of their mighty neighbouring kings. Hence, they were consciously or unconsciously absorbing the elements of monarchical form of government. For example, in eastern India though the Lichchhavi relations of the Guptas had a republican or tribal constitution (since the word *Lichchhavayah* occurs on the reverse of the Chandragupta-Kumāradevī type of coins), it is almost certain that the father of Kumāradevī was a hereditary chief, for, otherwise how could the son of Kumāradevī (or Kumāradevī herself) inherit the state of his maternal grandfather? Similarly, the head of the Yaudheya state arrogated the regal title *Mahārāja* along with another title *Mahāsenapati* though his post was perhaps elective. In the same way, among the Mālavas the leadership had passed into the hands of persons like Nandi Soma in the beginning of the third century A.D., who, in the Nandsa Yupa inscriptions, describes himself as well as his father Jaya Soma and grandfather Bhṛguvardhana and great grandfather Jayat Sena as *rājarshis*. He claims that his family 'hereditarily' led the state armies in times of war and organised civil administration in times of peace. It is quite obvious that when the headship of a state thus passed into the hands of such hereditary presidents who were military leaders and sometimes claimed

royal titles, it could hardly be distinguished from monarchies. This gradual transition of the Mālavas and other tribes from republicanism to monarchical government was symptomatic of their inner crisis which must have rendered them internally weaker. No wonder, therefore, if they could not put up a brave resistance to the attempts of Samudragupta to bring them within his sphere of influence.

The Mālavas were the earliest Indian people who used an era which has been identified with the Vikrama-Samvat of 58 B.C. Some historians believe that the Mālavas themselves started this era to commemorate some important event in their history, probably the foundation of their republic in Rajasthan. But, according to D. C. Sircar, it was originally a Parthian era which the Mālavas seem to have adopted from the Śakas in the Punjab and carried it to their new home in Rajasthan.¹⁸ It gradually came to be known as 'Kṛta' which, according to one view, was the name of an illustrious Mālava leader who may have secured the independence of the republic from the domination of the Kushānas, sometime about the middle of the second century A.D. But, according to D. C. Sircar, 'Kṛta' was really the Sanskritised form of a Scytho-Parthian word or name.¹⁹

The copper coins attributed to the Mālavas have been discovered in large numbers at Nagar and the neighbouring region.²⁰ In 1871-73 Carlleyle alone gathered more than six thousand coins at Nagar, while, at Rairh, also in the former Jaipur state, some Mālava coins were discovered along with a seal of 'the Mālava-janapada'. Their shape is usually round, though some of them are square or rectangular as well. They use the Brāhmī script in the legends but in some cases the legend reads from right to left. It apparently shows the impact of the Kharoshthī script. It seems that the Mālavas brought this practice from the Punjab. Such type of coins may easily be attributed to a comparatively earlier age. However, the numismatists assigned the Mālava coins to the period between 150 B.C. and the earlier part of the fourth century A.D.²¹

Numismatists regard the Mālava coins as 'the most curious and enigmatical' in the whole range of Indian coinage. They are divided into three classes, the first of them bearing the legends *Mala*, *Malaya*, *Mālaya*, *Mālava*, *Malava*, *Mālava jaya*, *Mālavāna jaya* (and its variants *Malavana jaya*, *Mālavana jaya*, *Malavahna jaya*, etc.), *Mālavagaṇasya*, *Mālaya*

sujaya, *Mālavānām jayaḥ* or *Mālavagaṇasya jayaḥ*, etc., which remind us of similar legends on the coins of the Yaudheyas and the Ārjunāyanas. Their weight and size vary. These Mālava coins have the lion, bull, stag, elephant, 'fantail' peacock, tree-in-railing, palm leaf, lotus, vase with leaves, king's head, human bust, female with left hand on hip, squatting male figure, hill (*chaitya*), *triśūla*, wavyline, *nandipada*, solar symbol, Ujjain symbol and other objects as their reverse design. As the human bust is rarely found on tribal coins, the Mālavas probably copied it from the Kshatraps coins. On some of these coins the word *Mālavānām* has been read as *Mālavahna* while there are others on which the legend has to be read from right to left. They are probably imitations of the genuine Mālava coins. Some of them are in some cases a little above half an inch in diameter and their weight is generally between 10.5 and 40.3 grains. But most of the specimens are small and light, one measuring only .2 inch in diameter and weighing only 2.5 grains.²²

The two other classes of coins are ascribed to the Mālavas mainly because they were found along with the Mālava coins and resemble the latter in fabric. The coins of the second class, which are generally small and light and are among the smallest coins in the world (one measuring only .2 inch in diameter and weighing 1.7 grains), do not bear any legend while those of the third category have meaningless legends in which the name of the Mālavas cannot be normally traced. According to D. C. Sircar, the coins of the second and third classes are mere imitations of the Mālava coins and are not the genuine monetary issues of the Mālava state.²³

The meaningless legends on the third class of coins ascribed to the Mālavas are regarded as puzzling by the many numismatists. They read these legends as follows : *Bhapaṃyana*, *Gajava*, *Gojara*, *Harāya*, *Jāmaka*, *Jāmaḥ*, *Jamapaya*, *Magacha*, *Magaja*, *Magajava*, *Majupa*, *Mapaka*, *Mapaya*, *Mapajaya*, *Maraja*, *Masapa*, *Pacha*, *Paya*, *Yama*, etc. Smith suggested that these are the names of certain foreign rulers who issued the coins in question. But Allan rightly pointed out that these coins are too late for the Śakas, and too early for the Hūṇas. Further, none of these so-called names has any resemblance to a Śaka or Hūṇa name. K.P. Jayaswal thought that many of the legends begin with *ma* and suggested that it is a contraction of the title *Mahārāja*.²⁴ Bhandarkar took the letter *ma* as the abbreviation not of *Mahā* or *Mahārāja* but of the tribal

name *Mālava*, and interpreted the remaining letters also as contractions of words like *gaṇa*, *jaya*, etc. For example, taking *ga* for *gaṇa* and *ja* for *jaya* *Magaja* would thus stand for *Mālavagaṇasyajayaḥ*. Bhandarkar, therefore, tried to improve upon the suggestion of Jayaswal.²⁵ But he could not explain such letters as *chha*, *pa*, *bha* and *sa* on whose meaning he did not throw any light. But, according to Allan, even if the letter *ma* is taken to stand for *Mahārāja*, the remaining letters of the legends do not offer any intelligible or satisfactory name. Allan explained the meaningless legends as futile attempts to reproduce parts of *Mālavānām jayaḥ* found on the first group of the Mālava coins referred to above.²⁶ According to D.C. Sircar, in ancient and medieval India minting of coins was largely in the hands of goldsmiths, so that some of the coins with meaningless legends may be supposed to have been issued by inefficient goldsmiths side by side with the regular Mālava coins minted by others. He is inclined to believe that "when the Mālavas were no longer in a position to issue their own coins after their subordination by the Guptas, for sometimes local goldsmiths minted the imitation coins in order to meet the requirements of the people of the area in question, who were used to the Mālava coinage."²⁷ Against the suggestion of Sircar, K. K. Dasgupta argued that the theory that in the second-fourth century A.D., the period of the coins in question, 'the Mālavas were no longer in a position to issue their own coins' is unacceptable. He has pointed out that the Nandsa inscription explicitly shows that in the third century A.D. the Mālavas were in a flourishing stage as a republican tribe, their country being referred to as *Mālava-gaṇa-vishaya*. Further, the performance of a Vedic sacrifice like the *Ekashashthirātra* intended for the prosperity of the country shows that the Mālavas were at the time in no difficulty to issue copper coins. In other words, there is no reason to believe that in the second-third century A.D. the Mālavas were not in a position to issue their own coins. Not only that, it is also not certain whether these coins were 'imitation' of the 'genuine' Mālava money.²⁸ We, therefore, feel that in the present state of our knowledge it is not easy to solve the problem of the Mālava coins.

References:

1. Cf. *The Age of Imperial Unity*, Bombay, 1953, p. 164; *EI*, XXVII, pp. 252 ff. For the advent and expansion of the Mālava tribe in the land lying to

- the north of the confluence of the Ravi and the Chenab in the fourth century B.C. to the Ajmer-Tonk-Mewar region of Rajasthan later on in the fourth century A.D. see relevant chapters of S.R. Goyal's *Prāchīna Bhārata kā Itihāsa*, three volumes, Meerut, 1988.
2. *A New History of the Indian People*, Vol. VI: *The Vākāṭaka-Gupta Age*, Lahore, 1944, p. 34; Sharma, Dasharatha, *Rajasthan Through the Ages*, Vol. I, Bikaner, 1966, p. 52.
 3. Goyal, S. R., in *Proceedings of the Rajasthan History Congress (PRHC)*, Vol. VI, Beawar Session, 1973, p. 15.
 4. Cf. Shukla, D.C., *Early History of Rajasthan*, Delhi, 1978, pp. 71-72.
 5. Goyal, *op. cit.*, p. 16.
 6. Fleet, J. F., *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, Calcutta, 1888 (repr., Varanasi, 1963), p. 223; Goyal, S.R., *Prāchīna Bhāratiya Abhilekha Saṁgraha*, Vol. III, Meerut, 1987, p. 48.
 7. *Ibid.*, p. 227; Goyal, *Abhilekha Saṁgraha*, p. 49.
 8. Pires, E.A., *The Maukharis*, Madras, 1934, pp. 11-12.
 9. Cf. Devahuti, D., *Harsha*, Oxford, 1970, pp. 58, 72 n., 109; Goyal, Shankar, *Harsha; A Multidisciplinary Political Study*, Jodhpur, 2006, Ch. 4.
 10. Goyal, S.R., in *PRHC*, Vol. V, Ajmer Session, 1972, p. 18.
 11. सुत शतं लेभे नृपोऽश्वपतिर्व्वेवस्वताद्यद् गुणोदितम् ।
तत्प्रसूता दुरित-वृत्ति रुधो मुखराः क्षितीशाः क्षतारयः ॥3 ॥2
—Sircar, D.C., *Select Inscriptions*, Vol. I, Calcutta, 1965, p. 386;
Goyal, *Abhilekha Saṁgraha*, pp. 56 ff.
 12. पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ।
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ॥
— *Mahābhārata*, BORI, III, 281.58.
 13. *Indian Culture*, Vol. I, p. 299.
 14. *Ibid.*, p. 683.
 15. Sircar, *op. cit.*, p. 386, fn. 1.
 16. Fleet, *op. cit.*, p. 251.
 17. Goyal, in *PRHC*, VI, *op. cit.*
 18. Sircar, *op. cit.*, p. 6.
 19. *Ibid.*
 20. On Mālava coins see, e.g., Smith, V.A., *Catalogue of the Coins in the Indian Museum*, Calcutta, Oxford, 1906, pp. 161-64; Allan, J., *Catalogue of the Indian Coins in the British Museum*, *Ancient India*, London, 1936, pp. civ-cviii; Sharan, M. K., *Tribal Coins : A Study*, New Delhi, 1972, pp. 148-214; Chakrabarti, Manika, *Malwa in Post-Maurya Period : A Critical Study with Special Emphasis on Numismatic Evidences*, Calcutta, 1981, pp. 190-210; Goyal, S.R., *Indigenous Coins of Early India*,

- Jodhpur, 1994; pp. 169-74; Goyal, Shankar, *Ancient Indian Numismatics: A Historiographical Study*, Jodhpur, 1998, Ch. 3; Bakker, Hans T. (ed.), *The Vākāṭaka Heritage : Indian Culture at the Crossroads*, Groningen, 2004, pp. 26-27.
21. Carlleyle and Cunningham ascribed the Mālava Coins to the period between 250 B.C. and 250 A.D. However, Rapson and Smith believed that the initial date is not earlier than 150 B.C. Allan and, following him, Sircar suggest that the letter *ma* in the legend on the Mālava coins shows an 'Early Gupta' form; consequently, they should be dated to the period between the second century A.D. and the earlier part of the fourth century A.D. See Goyal, S.R., *op. cit.*, p. 170.
 22. Cf. Sircar, D.C., *Ancient Malwa and the Vikramāditya Tradition*, Delhi, 1969, p. 9.
 23. *Ibid.*
 24. Jayaswal, K. P., *Hindu Polity*, Bangalore, 1955, p. 218.
 25. Cf. Bandarkar, *ABORI*, XXIII, p. 224.
 26. Allan, *op. cit.*, pp. civ ff.
 27. Sircar, *op. cit.*, p. 11.
 28. Dasgupta, K.K., *JNSI*, XXVIII, i, pp. 52-54.

The Institution of *Panchkula* in Early Medieval Rajasthan

Rashmi Upadhyaya

The *panchkula* had a definite place in rural-urban spectrum of the early medieval period. The Pratihara records mention a local body called by different names such as *uttarsabha*, *gosthi* and *panchkula*. Siyadoni inscription mentions the term five times in the same sense suggesting that the five members of the assembly were appointed by the provincial head and they had their deliberations in the town hall called *mandapika*. The *panchkula* indirectly represented the state, being described as *tadasthita* (supervised by the ruler) and *tanniyukta* (appointed by the ruler) in the records of the Pratihara and post Pratihara periods respectively. In Anavada inscription the *panchkulas* are referred as directly appointed by the king. Bhinmala stone inscription of Udaisimha (VS.1306) also refers them as appointed by the ruler. Under the Chauhans the *panchkula* wielded enormous influence. According to Sanchor inscription of VS.1345/AD.1288 the *panchkula* being directly appointed by *Maharajakula* Samantasimhadeva exercised a great deal of local authority. The State official *selahatha* is also referred in the inscription to have supervised the amount of land revenue fixed in kind in association with the *panchkula*.

It may not be altogether ignored that the members of *panchkula* committee were elected by the residents of a town or village for the management of certain departments. Sometimes the town-elders known as *nagarmahallakas*, who were the representatives of the people, maintained public peace being closely associated with judicial proceedings under the *panchkula*. D.C. Sircar equates *panchkula* with the institution of *chaturjataka*, which was the administrative board of four under the Paramaras and Chaulukyas like *chauthiya* of Rajasthan. In his view the expressions like *astakul-adhiharana*, *gram-astakul-adikarana*, *mahattarady-astakul-adhikarana* mentioned in east Indian inscriptions of Gupta and post Gupta period also equate with

the *panchkula*. Under the Kalachuris the *panchkulas* decided civil and criminal cases and also imposed fines. In some cases the rules for their guidance were laid down by the state. Similar role was played by the *panchkulas* in Rajasthan as evident from the foregoing details.

As a local body managing administrative functions, the internal organisation of the *panchkula* committee was closely supervised by the state administrative officials in association with the *mahamatyas* who in turn were ministers of the department known as *srikarna*, along with *samastamudravyapar* (entire business of the seal). In some of the medieval inscriptions of Rajasthan the *panchkulas* are mentioned along with the *mukhyamatyas* of the rulers. Another officer designated as *baladhikrita* also issued orders to the officers of lower rank in consultation with the *panchkulas*. The *panchkula* had also been in close connection with the officials like *kottapala* and the feudal dignitaries like *samantas* and generally guided them in matters of administration. Sometimes, they appear to be working under *mahamandalesvar*.

It appears that in both towns and villages the administrative system was managed by the royal officials with the assistance of the *panchkulas*. Sometimes, the highest administrative officers such as *mahamatyas*, *baladhipas*, *rajaputras*, *mahamtakas* etc. were constituted as its members besides the selected persons of towns and villages. Under the Kalachuris the elected *mahattaras* were the members of *panchkula* committee and the head or president of committee was known as *mahattama*. Sometimes the *mahattamas* are also called *panchkulikas* and the chief member of the committee was known as *mahapanchkulika* as mentioned in Kahla plate of Sodhdeva Kalachuri of VS. 1135. An inscription in Isvara temple at Positara in Sirohi district belonging to the reign of *Maharajakula* Samantasimha, the Sonigara Chahamana of Jalor though fragmentary, refers to the *mahamtaka* and another one as members of the *panchkula*. It appears that the members of the *panchkula* committee were certainly some selected persons consisting of village elders and sometimes the administrative officers such as *mahamatyas* and *mahamtakas* etc.

The *panchkulas* were also known as the in-charge of *devakarna* (department looking after temples) and *dharma-dhikarana* (judicial department). They are often mentioned as

directly holding the charge of *devakarna* and granting certificates of sale and concession to the traders. The management of other departments might have had also been in the hands of the *panchkulas*, especially elected for their administration. That the management of the temples was also in the hands of the *panchkulas* is evident from the Veraval inscription of Kumarapala which reports to have entrusted the management of Somanath temple to the *panchkula*. Such instances were also not wanting in Rajasthan during early medieval period. Sometimes the members of a certain committee known as *gausthika* was also governed by the *panchkulas*. According to Sevadi inscription (VS.1192) *gausthikas* were entrusted with the management of the temples. Another institution known as *bhataka*, associated with the temples also worked under the *panchkulas*. The *bhataka* used to look after wages of the members of workers in the temple. Such references are available in the inscriptions of Ghatiala and Ratanpur. The *panchkulas* are often mentioned to have entrusted with the task of restoring the temple etc. in a particular locality. *Prabandhacintamani* refers that king Kumarapala conveyed the news of building of the temple of Somnath to his teacher Hemachandra by showing the letter of *panchkula* which contained the declaration to its restoration.

Five was the usual number of the members of the *panchkula* committee, on account of which they were known as *panchkulas*. However in special circumstances their number was likely to be decreased or increased. Siyadoni inscription refers that during the reign of *Maharaja* Durbhata and *Maharaja* Niskalanka, the affairs of town were managed by *panchkula* committee, which consisted of two members. The Nadol inscription of *Maharajadhiraja* Rayapala (VS.1198), refers that the eight wards of Dhalop village sent two representatives each and appointed one of them as *madhyaka* ie. their chief. The signatures of these sixteen, who undertook to police the territory within their jurisdiction, were to be regarded as the signatures of all people (*sarvaloka*). Such a representative body provided sanction to some new deed or impost. The inscription thus reveals that the term *pancha* in words like *panchakula* or *panchamandali* had no exact numerical significance. The strength of the town committee was sixteen at Dhalop. It seems to have varied according to the size of the town. The usual

administrative work in most cases was carried on by *panchkula* or committee of five.

Important deeds were usually written in the presence of the *panchkulas*. Larlai stone inscription, dated VS.1233/AD.1176 refers that during the reign of *Maharajadhirja* Kelhanadeva, his brother Kirtipala's sons named Rajaputra Lakhanapala and Abhayapala, who were the *bhoktri* (proprietors) of Sinanava *grama* in conjunction of queen Mahibaladevi, for the purpose of *devyatra* of Sri Shantinath granted one *haraka* of barley mixed wheat out of his own share of revenue at Bhadiyauva in the presence of the *panchkulas* of village for attaining spiritual merit. The Mangalana stone inscription of Jayatrasimha (VS. 1272) refers that while Shamsuddin of Ghur family was ruling over Joginipur (Delhi), Vallanadeva held sway over Ranthambhor. Under him *Maharajputra mahamandalesvara* Jayatrasimhadeva caused a step well to be built near Mangalana at Hari Durjjodhan (a village four miles for Mangalna in Jodhpur district). He levied some cesses (1 *sei* of *korada* corn on each plough, 1 *karsha* of oil on each oil mill (*sei karsha* were measures of weight equivalent to nearly 15 seers and 1 *tola* respectively) for the purpose of providing food in charity (*sadavrat*) to the hungry passersby and light to the wayfarers. With a view to the continuity of these donations, the responsibility was placed in the hands of *panch* or trustees of the village. The names of the trustees are given as Jajaya, Lohara, Alhana, Bhopatiya, Devadhara.

Besides the registration of grants, the administration of justice was the chief purview of the *panchkulas*. The judicial office headed by the *panchkula* was managed by the *mahamtakas*, who took active part in administrative activities being the direct representatives of state as high officials, probably for keeping a vigil on the activities of *panchkulas*. *Samaraiicchakaha* accounts, while kings treasury was looted the judicial investigations were carried out by a joint committee of the *karanikas* and *panchkula*. The *panchkulas* in this committee represented the popular elements while the *karnikas* acted as the officials of the state probably as supervising the functions of the *panchkula*. The same work also enumerates that once in a case of dispute regarding the ownership of certain gold ingots between the two parties, the members of *panchkula* committee were sent forth to fetch a sample of ingots in question.

The identity of the owner was established by them. Then the king accompanied by the *panchkula* proceeded to the spot in order to hand over the ingots to the rightful owner, after being duly counted by the *panchkulas*. Similarly *Brihatkathakosha* narrates an incident according to which a buffalo being suspected of stealing grass brought before the *panchkula*, which decided that she should undergo the ordeal of carrying a red hot ball of iron. In towns also the administration of justice was under the jurisdiction of the *panchkula* committee, which took decisions after investigating into the matter. After the confirmation of crime the reports were submitted to the ruler by the *karanikas*. Dhuretti plates of Triokyamalla of KE 963 mentions a *panchkula-dharmadhikarana*, which meant as the judicial department managed by a *panchkula*.

The *panchkula* used to collect taxes also. *Nitivakyamrita* of Somadeva Suri refers them as the holders of revenue department, each member as having different tasks or assignments such as one receiving the offered amount, the second recording it in register, the third sealing it, the fourth depositing it in treasury and the fifth exercising general supervision. *Lekhpaddhati* documents mention the *panchkula* as an administrative institution representing five headmen of notable families in villages while in cities and towns it incorporated *panchmukhnagar* (five town headmen), who were usually informed out regarding important events and took initiatives in solving out criminal matters of a particular town. The work of collection of taxes was executed through the *mandapikas*. The *panchkulas* in Gujarat and western Marwar regions in some cases also collected the amount of road tax and other cesses imposed on the merchants. In one case as mentioned in a document of *Lekhpaddhati* of VS. 1533 the *panchkulas* also acted as in-charge of custom house (*mandapika*) and gave transit clearance to a merchant with his goods and carriages. *Prabandhacintamani* narrates the case of a *panchkula* who came from Kanyakubja (Kanauj) for drawing tribute from the land of Gujarat, which had been given by the king of that country to his daughter in marriage as gift. The said *panchkula* had collected wealth from that country for six months and after completing the task returned to his own country with 24 lakh of silver *drammas* and four thousand well bred horses. The text also narrates that the said *panchkula* was murdered

by one person named *yuvaraj*, an arrow bearer of *panchkula* at a *ghat* named Saurashtra. A *panchkula* is also referred herein to have collected tax from the persons going on a pilgrimage for Somnath. He is said to have tormented the pilgrims on account of his not having received the tax due to the king and the pilgrims were made to return weeping. Later, on the request of Mynalladevi the tax was remitted. The king Siddharaja by summoning the *panchkula* made a declaration of giving up tax, the annual income from which was 72 lakh *drammas*, for the spiritual welfare of his mother. The members of *panchkula* committee were often provided a specific amount of money as perquisite for their duties performed to the state. According to a document in *Lekhpaddhati* the *panchakulas* were provided 216 *drammas* as perquisite together with 3000 *drammas* as the main head of revenue by a *rajputra*, who was a sub-assignee of *ranaka's* villages in a certain locality.

The *panchkula* also acted as witness in case of the grants of land etc. The Larlai stone inscription of Kelhanadeva (VS. 1233) records a grant made in presence of the village *panchkula*. The inscriptions from some temples refer that the donor at times made gifts by addressing the officers and the *panchkula*. Another Bhinmal inscription of Chachigadeva dated VS. 1328 refers that *Maharajkula* Chachigadeva of Jalor, a Sonigara Chahamanra ruler donated some amount of money for the daily service (*anga, bhoga, puja, naivedya*) of God in the temple of Ahudesvara in the presence of the *panchkulas*. The exact amount of donation is not revealed owing to the fragmentary portion of the inscription. Another inscription at Bhinmal of the same ruler inscribed in VS. 1316 refers that during the victorious reign of Chachigadeva this inscription was codified under the supervision of Siha etc. *panchkulas*, appointed by him. The inscription refers to a donation of 20 *drammas* made by the residents of village Jajadauligrama in Srimalvesha and provides direction for the maintenance of this custom in future also. Two other inscriptions belonging to the reign of *Maharajkula* Chachigadeva from Tua in Sirohi district have been recovered. The first dated in VS. 1324 (AD.1267) refers to the carving of a figure in Maheshvara *grama* by a person with the approval of *mahamtaka* Jaka. The next inscription dated VS. 1326 /AD. 1269 seem to record some grant in the same village with the approval of *panchkula* headed by *mahamtaka* Jaka. The village

Mahesvara may best be identified with Mer, an uninhabited place near Tua. Another inscription dated VS. 1333, *asvin vadi* 14 refers that during the victorious reign of *Maharajakula* Chachigadeva, kayastha Subhata and Chattaka Karmasingh in the presence of Gajsingh etc. made a cash endowment for offerings to God Mahavira. The present persons *selahatha* and *panchkulas* ordered that this donated amount of money should not be misused. Nadlai stone inscription of Rayapala (VS.1189), speaks of a religious benefaction made by Rudrapala and Amritpala, sons of *Maharajadhiraja* Rayapala of Chahamana dynasty, in conjunction with their queen mother Manaladevi consisting of two *palikas* from oil machine (*ghanaka*) for the Jaina saints in and outside of Nadlai; for which the five persons, including a *rauta*, named Ttimata, a Vanik named Posari, Lakshmana headed Nagasiva, a *bhandari*, and one unreadable name, and *graminakas* are referred as witnesses. The five persons mentioned therein were apparently the *pancha* of the village. Sanchor Stone inscription of Samantasimha of VS.1345 refers while the *pancha* consisting of *Mahamta* Hira etc of merchant community, who were appointed by Samantasimha himself were exercising local authority, some local people of the town made a perpetual endowment consisting of 8 *visalpriya drammas*. For it the villagers indulged in agriculture agreed to give 1½ *kalasas* of *munga* annually. *Selahatha*, an official was requested to look after this matter. The token of approval was given by the sign manuals of at least four Meharas, of whom three were the donors and fourth was *Selahatha*. The Meharas, who made the endowment and *Selahatha*, one of the officials were mainly consisting of these *panchas*.

Sometimes the functions of the *panchkula* were taken in to the hands of the *mahajanas* or village elders. That the *mahajanas* delegated their functions to the *panchkula* as their representative is clear from Nadlai stone inscription of Rayapala VS.1200, which refers that *rauta* Rajadeva made some kind of religious benefaction on the occasion of the *rathyatra*, for the sake of his mother not in the presence of the *panchas* (five leading members) but in the presence of *mahajanas*, villagers and people of the province.

In some cases the *panchkula* committee itself issued grants. An inscription dated VS. 1223 from Sirohi describes Ranasimha as

the king of Chandravati, the capital of the Paramara kingdom of Abu and records some grants of *arahattas* and *drammas* made to the god Kaleshvara in Ajari by the *pancha* (*panchkula*) consisting of Jagaddeva and others. In the Juna stone inscription of *Maharaja* Samantasimhadeva VS.1302 *Mahamta* Chirasela, Velaula, the *Bhandari* Migala and others are referred as directly appointed by the king to draw up documents, were probably the members of *panchkula* committee. These members made a religious endowment at Bahadameru to God in the temple of Adinath. The grant consisting of a *paila* from every incoming or outgoing caravan exceeding ten camels and twenty bullocks was to be distributed between the two gods. The *panchkulas* or the five persons mentioned above imposed ten *bhimapriya vimsopakas* as fine which was to be charged from the caravans. The approval to this order was given by *mahajanas* or the leading members of that place. Here *mahajanas* were referred generally and not under the direct administration of the king. Hathundi inscription (Nadol mandal, Jodhpur district) (VS. 1335) refers that the members of the *panchkula* including *Mahamta* Sajan, *Mahamta* Udhan singh and Devasimha etc. donated 24 *drammas* every year to the temple of God Mahavira from the income of *mandapika* of Sevadi. The inscription does not mention the name of any ruler. Another inscription in the same location dated VS. 1336 records a further grant of 12 *drammas* by a *shresthika* and stipulates that the grant of total 36 *drammas* including the 24 *drammas* mentioned in earlier inscription should be made every year by the *panchkulas* of Sevadi to God Mahavira. Similarly Hathundi inscription dated VS. 1356, *chaitravadi* 4 refers that during the reign of *Maharajakula* Sri Samantadeva, Sri Karnadeva appointed by him made a grant of 40 *drammas* to Mahavia temple. The *panchkulas* ordered for the maintenance of this practice regularly in future. Another inscription at Hathundi dated VS. 1345, *bhadva badi* 9 refers that during the reign of *maharajakula* Sri Samantasimhadeva in the Nadol *mandal* Sri Lal who was appointed as *sri karana* (clerk) by the king and the other *panchkulas* made donation of some land. The inscription thus refers that *sri karana*, a direct nominee of the state was also a member of *panchkula* committee. A Jain inscription of Chichigadeva dated VS. 1333, *magh sudi* 1, refers that during the reign of victorious reign of *Mahamandalesvara* Chachigadeva the

panchkulas granted a piece of cultivable land measuring 2 *halas* for the service of God Parshvanath at Ranapur. The witness was *mahamatya* Sri Jakha, who was himself a *panchkula* other than the *panchkula* donors mentioned in the inscription. The *mahamatya* was probably appointed by Chachigadeva for this purpose. He perhaps presided over the meetings of the committee. The inclusion of the names of *mahamatyas* amongst the members of *panchkula* committee leads to the conclusion that this institution was directly associated with central administration.

The above survey reveals that the institution of *panchkula* represented a semi democratic government wherein the subjects can be said to have enjoyed a substantial amount of self-government as the local body. It had an effective voice in the management of affairs of state being a coherent organism represented by the people and governed by the state.

References:

- 1 B.N.Puri ,*The History of the Gurjara-Pratiharas*,Bombay,1975,p.113.
- 2 Ibid.
- 3 Dashrath Sharma, *Rajasthan Through The Ages*, Vol.I (Hereafter RTA), Bikaner, 1966, p.351.
- 4 *Indian Antiquary*, Vol.XLI,pp.20-21.
- 5 *Epigraphia Indica* (Hereafter EI), Vol. XI , pp.55-57.
- 6 Ibid.,pp.,58-59.
- 7 S.R.Sharma, *Society and Culture in Rajasthan*, (c.AD.700-900), Delhi, 1996, p.218.
- 8 D.C.Sircar, *Studies in the Political and Economic Systems in Ancient and Medieval India*, Delhi,1974,pp.80-83
- 9 *Corpus Inscription Indecorum*, Vol. IV.(Hereafter CII)
- 10 P.Prasad, *Lekhapaddhati, Documents of State and Every Day Life from Ancient and Early Medieval Gujarat*, New Delhi, 2007, p.10.
- 11 *Proceedings of Seminar on Medieval Inscriptions* ,Deptt.of History,AMU,Aligarh,1974,p.37.
- 12 Ibid., p.11.
- 13 RTA ,p. 354.
- 14 P.Prasad.op.cit.,p.11.
- 15 CII, Vol.IV,Cxlv,also see.nos.74,134.
- 16 *Annual Report on Indian Epigraphy*, (Hereafter ARIE), 1964-65,B-591.
- 17 P.Prasad, op.cit.,p.12.
- 18 *Proceedings,o p.cit.,p.38.*
- 19 Ibid.

- 20 *Prabandhacintamani* of Merutunga, tr. C.H. Tawney, New Delhi, 1982, p.126.
- 21 Ibid.p.129.
- 22 CII, Vol, IV, cxlv.
- 23 EI, Vol.I,pp.162ff.
- 24 EI Vol.,XI, pp.39-41.
- 25 Ibid.,pp.49-50.
- 26 *Indian Antiquary*,Vol. XII,1872-1933,pp 86-87.
- 27 P.Prasad.,p.13.
- 28 S.R.Sharma,op.cit.,p.216.
- 29 Ibid.
- 30 P.Bhatia,op.cit.,p.237,fn.5.
- 31 Ibid.,p.235.
- 32 CII, Vol.,cxlv,no.72,L.9.
- 33 Ibid.,cxliv,fn.15.
- 34 P.Prasad,op.cit.,12-13,50.
- 35 Ibid.,p.21.
- 36 Ibid.
- 37 *Prabandhacintamani*,Op.cit.,p.18.
- 38 Ibid.,p.84.
- 39 P.Prasad.,Op.cit.,p.14.
- 40 Ibid.
- 41 EI,Vol.,XI,p.49.
- 42 G.L .Shrimali,*Rajasthan Ke Abhilekh(Marwar Ke Sandarbh Mei)*,Vol.I, Jodhpur,2000,pp.234-35.
- 43 Ibid.,pp.317-18.
- 44 ARIE,1963-64,B.447.Jakha was also serving as *mahamatya*.See.p.10.
- 45 Ibid,B.448.
- 46 Shrimali.,op.cit.,pp.238-39.
- 47 EI,Vol., XI, 35
- 48 Ibid.,pp.58-9,61-2.
- 49 Ibid.,p.41
- 50 P.Bhatia,Op.cit.,p.174.
- 51 EI, Vol.,XI.,pp.59-60.
- 52 ARIE,1976-77,c4256,also see, Proceedings , op.cit,p.38.
- 53 ARIE,1976-77,c.4257.
- 54 Shimali,op.cit.,p.253.
- 55 Proceedings,op.cit.,p.38.
- 56 Shrimali,op.cit.,p.238.

Epigraphic Evidences for Tughlaqid Nobles and their Constructional Activities in Rajasthan and Gujarat

Fazeela Shahnawaz

Epigraphs as a valuable and authentic source supported much in reconstruction of various aspects of history. The inscription not only collaborate the historical works rather it adds some more new information. Much information has been preserved in the epigraphs about the state officials, both of high and low ranks, who have remained obscure in the contemporary historical works.

The fourteenth Century epigraphs found both in Persian and Arabic languages, mentions the purport of the record, construction of a structure, name of the patron with particular date and year. The reference of the reigning Sultan, the provincial governors and local officials find prominent place. Thus, these records furnish valuable data regarding the administrative machinery headed by the nobles. However, this paper seeks to highlight the contribution of the Tughlaqid nobles and other officials of Rajasthan and Gujarat, especially in the field of building constructions.

Epigraphic evidences show that the Tughlaqid nobles accelerated the constructional activities on a large scale. As a result, both kinds of buildings, religious and secular, were constructed by them. Contemporary accounts referred to a well organized building department under the Tughlaq Sultans. The chief architect was designated as *Shahna-i-Imarat* and *Mir-i-Imarat*. The chief architect, with support of the other officials and skilled workers was responsible to look after the civil engineering works. However, the building department was probably headed by Malikzadah Ahmad bin Ayaz¹ as *Shahna-i-Imarat* (the Chief Architect) and Malik Ghazi Shahna as *Mir-i-Imarat* (Chief Architect) during the Tughlaqid period. Considering their skilled efforts, they were awarded with a golden staff.² The deputies of *Mir-i-Imarat* were also awarded a golden mace.³ Technical branch of the building department, such as

masonry, carpentry and stone cutting was headed by a skilled superintendent. Plans of buildings prepared by the building department were examined by the finance department (*Diwan-i-Wazarat*), and then adequate funds were allotted to the architects.⁴

Another architect of the Tughlaq period was Malik Zahir-ul-Juyush,⁵ who was the main architect of Khurramabad, though no trace of this palace has survived.⁶ He was an architect of great skill who introduced four-iw?n plan for Sultan's Jami Mosque. It seems that he was an Iranian architect employed by the Sultan.⁷ Khan-i-Jahan Maqbul⁸ and his son Junan Shah,⁹ Wazirs of Sultan Firuz Shah were also responsible for the construction of large number of mosques, some of which have survived.¹⁰

Since the Sultans themselves were involved in the construction activities, the Tughlaqid nobles and officials also followed the royal practice and constructed buildings at a large scale at different places. Thus, the Jami Masjid Epigraph of Broach records that it was constructed by Daulat Shah Muhammad Butmari during the time of Sultan Ghiyasuddin Tughlaq Shah.¹¹ He was variously mentioned in Ghaznavi Masjid (Broach) inscription as Daulat Shah Muhammad Butmari.¹² and in Jami Mosque (Cambay) Epigraph as Dawlat Shah Muhammad al-Butahari.¹³ The third inscription from Broach records the construction of *Idgah* out of his personal property.¹⁴ The epigraph also records his title *Malik u'sh Sharq*, thus it appears that he was at that time the Governor of Gujarat. However, Daulat Shah Muhammad Butmari was an important noble mentioned by Zia Barani as Malik Fakhr'ud Din Dawlat Shah Busahari/ Dastari attached to the court of both Sultans Ghiyasuddin Tughlaq and his successor Muhammad bin Tughlaq.¹⁵ Isami also records that he served Sultan Ghiyasuddin and Muhammad bin Tughlaq successively, accompanying the former in his Lakhnauti expedition and the latter in Multan expedition.¹⁶

Epigraph from Topkhana Mosque, Jalor (Rajasthan) records its construction by Shaban Hasan Qizilbash who was the *Muharrir* (revenue officer) and *Gumashta* (Commissionary) at Jalor.¹⁷ Contemporary sources are silent about him. Construction of a mosque is recorded by Hamid Ahmad when Malik Taju'd Duwal Ahmad Ayaz was the governor.¹⁸ The name of Hamid Ahmad is not traceable in historical texts, but Barani mentions one Taj u'd Din

with the name Ahmad in the list of notable grandees of the reign of Qutbuddin Mubarak Khalji.¹⁹ A Jami mosque and a *Sarai* (Inn) at Bhadgaon (Baroda district) were constructed by *Mihtar-i-Sarai* (Inn keeper) Malik Sumbul.²⁰ Another official Salih Sultani who was *Buqchadar*²¹ (Knapsack-bearer) is recorded for the construction of a mosque in Veraval (Patan District).²² Official ranks of Salih find no mention in the chronicles. Ibn Battuta referred *Buqchadar* as a servant holding charge of a silk stuffs and a box containing ornaments.²³ A mosque at Dholka was constructed by Mafkharu'l Umara Muqarrab-u'd Daulat wa'd Din Hilal Maliki during the governorship of Malik Maliku sh-sharq Ruknuddin Daulat wa'd Din Qutlugh *Sardaidar-i-Khass*.²⁴ It is difficult to trace the identity of these persons from the chronicles, but from the name and titles it appears that he was the Governor of the province of Gujarat.

An interesting epigraph from Karakhari (in Baroda) states that an order was issued to Malik Muzaffar by the Sultan Muhammad bin Tughlaq for the construction of a mosque.²⁵ The construction of a mosque by *Kotwal* of Khambayat (Cambay) whose name is lost but the title *Quran Khwan* is clearly mentioned in an epigraph from Cambay.²⁶ Contemporary chronicler Barani, in his list of Firuz Shah Tughlaq's nobles mentions Malik Qabul Amir-i-Majlis with the title *Quran Khwan*, but does not give any detail.²⁷ Afif added Barani's information that Malik Qabul (*Quran Khwan Amir-i-Majlis*) was the *Muqti* of Samana.²⁸ Yahya Sirhindi further elaborates that Malik Qabul bore the designation of *Sarpardadar* and was dispatched against the Mongols by Firuz Shah Tughlaq.²⁹

There is an epigraph from Patan recording the construction of a mosque by Husain.³⁰ It is difficult to establish the identity of this person, but the second epigraph dated in the following year, mention Husain son of Amir-i-Miran Balkhi, who constructed a Jami mosque at Patan.³¹ This Husain is identical with Malik u'sh Sharq Nizam ul Mulk Husain³² who was the son of Amir-i-Miran Balkhi, the celebrated minister of Firuz Shah. Further Barani and Yahya mentions that he was among the nobles who declared their loyalty to Firuz Shah when Khwaja Jahan set up a rival to the throne of Delhi on the death of Muhammad bin Tughlaq and became *Mustaufi-i-mamalik*.³³ Afif elaborates that he was appointed Governor of Gujarat but later he was removed from the post on account of his

failure in arranging supplies for the Sultan.³⁴ But soon after, he was appointed *Naib-Wazir* (Deputy Prime Minister). Since he was married to the sister of the Sultan, thus he enjoyed high privilege of taking a seat alongside the *Wazir* in the audience hall.³⁵

Inscription from Jami mosque at Dholka commonly known as Tanka Masjid records the construction of the said edifice during the reign of Firuz Shah by great Malik Ikhtiyar u'd Daulat wa'd Din Mufarrah Sultani, the royal *Dawidar* (Royal Ink Stand Bearer) out of his personal money.³⁶ Second inscription from the same mosque records that he held the post of *Naib-i-Iqta* of Khambayat (Cambay).³⁷ Further, the content of the third inscription are same as those of previous two inscriptions with the difference of the poetical description of the material of its construction i.e. clay, mortar and bricks.³⁸ Epigraph from the *Idgah* (Cambay) also records its construction by Malik Mufarrah Sultani. It also mentions his title and post.³⁹ According to Yahya Sirhindi he was the Deputy Governor of Gujarat consequent to the death of Shamsuddin Damghani. After the death of Mailk Yaqub Sikandar Khan, the newly appointed governor, he was confirmed in the governorship and continued to hold that high office until his death in the battle with Zafar Khan. Yahya also mentions him as the Amir of Cambay.⁴⁰

However, Malik Mufarrah Sultani, the Royal Ink-Stand Bearer has been mentioned as the governor of Gujrat in an inscription whose sub-ordinate official by Haji Muslih Shirazi,⁴¹ not recorded in the chronicles, had constructed a mosque. Another epigraph from Cambay stating the construction of a mosque by Abdullah son of Jamaluddin son of Sad-ud Din Hariri, also mentions Malik Mufarrah Sultani entiled Ikhtiyar-ud Daulat wa'd Din, holding the post of *Dawidar-i-Khass* as the *Muqti* of Cambay.⁴² Similarly he is mentioned as the Governor of Gujarat in an epigraph stating its construction by Ahmad son of Wajih son of Hasan al-Quraishi.⁴³

At Patan also a noble Malik-i-Azam Muazzam Fakhr-ud Daulat wa'd Din son of Khan-i-Azam Sher Khan Mahmud Bek is recorded for the construction of a mosque.⁴⁴ Malik's father Sher Khan Mahmud Bek was an eminent noble of Firuz Shah.⁴⁵ Another celebrated Governor of Gujarat under Firuz Shah, Zafar Khan Farsi has been recorded in an epigraph in connection of the construction of a Jami mosque in Una village (Junagarh district). Epigraph

recorded him as Muhammad entitled Taj, a native of Persia, who received the title of Zafar Khan.⁴⁶ The name of this noble is find mention in the works of Barani, Afif and Yahya Sirhindi.⁴⁷ Another epigraph from Kapadwanj (Kaira district, Gujarat) states that a Jami mosque was constructed during the reign of Firuz Shah by great noble Zafar Khan, when he was the Governor of that place.⁴⁸

The name of the Commander-in-Chief (*Sipahsalar*) Muhammad Firuz of Dhansur under Firuz Shah appears in the Ladnun (Rajasthan) inscription. At Ladnun a Jami mosque was constructed by him while Malik Dailan was the Deputy Administrative Officer.⁴⁹ According to Afif, Malik Dailan was an important commander in the army of Firuz Shah and had accompanied the Sultan in his expedition against Shamsu'd Din of Bengal.⁵⁰ He was later appointed the *Shiqdar* (governor) of Hisar Firuza, a city which was designed and its construction was supervised by Firuz Shah himself.⁵¹ Barani and Afif both mentioned him as the *Amir-i-Shikar*.⁵²

Epigraph from Khirni Masjid (Dholka) states that Malik Sharfu'd Daulat wa'd Din Suhrab Zafar Khani entitled Malik Mafkhar ul Khawas who was *Sarpardadar* (chief curtain bearer) constructed the mosque.⁵³ This epigraph, unfortunately, does not provide further information about the exact post held by Malik Suhrab. His soubriquet Zafar Khani tends to indicate that he was a senior official under Zafar Khan or his son Dariya Khan, also entitled Zafar Khan, who was appointed to the Governorship of Gujarat on his father's death.⁵⁴ Another epigraph found from the *Idgah* in Mosampura (Gogha district, Gujarat) referred to its construction by Kamal Hamid during the Governorship of Khan-i-Azam Zafar Khan, son of Wajih-ul-Mulk during the reign of Nusrat Shah.⁵⁵

A prominent noble of Firuz Shah, Shamsu'd Din Damghani has been recorded for the construction of a mosque in Baroda. Epigraph mentions his title as Maliku'sh Sharq.⁵⁶ Afif mentions this Shamsu'd Din Damghani, Governor of Gujarat, who revolted during the reign of Firuz Shah.⁵⁷ Yahya Sirhindi, Nizamuddin Ahmad and Ferishta further informed that he offered Sultan Firuz Shah forty lakhs of tankas per year along with hundred elephants, two hundred Arab horses and four hundred slaves against the tax of Gujarat. On this condition he was appointed as the Governor of Gujarat in place of Zafar Khan but when he was unable to fulfill all conditions he

revolted.⁵⁸ A fragmentary inscription from Chatsu (Jaipur district) refers to a free slave ('*Atiq*) of Khwaja Jahan for the construction of a mosque.⁵⁹ The latter can be none other than the well known prime minister of Firuz Shah, Khwaja Hasan Ahmad Ayaz.⁶⁰ As to the former, it may be inferred from the phrase 'on behalf of the Malik u'sh Sharq' that he was in charge of *pargana*.

According to the epigraph from Mangrol the construction of a mosque was started and completed during the reign of Firuz Shah through the efforts of Izzuddin son of Aram Shah.⁶¹ The identity of this person official is unknown. His name finds no mention in the contemporary and later chronicles. However Barani mention one Izzudin Haji as *Dabir* (secretary) in his list of nobles of Sultan Muhammad and Firuz Shah.⁶² Yet it is difficult to ascertain that Izzuddin referred with inscription was the same as mentioned by Barani. It seems probable that he was the local Governor or official during that period. Similarly nothing is found in the contemporary records about Kabir son of Khwajgi son of Minhaj-an-Nasihi, who is mentioned in an epigraph of Didwana (Jodhpur district) as a builder of a mosque.⁶³

Another epigraph from Mangrol mentions that a mosque was caused to be built by a noble, Makhdumzada Malik Abdul Malik son of Husan in the reign of Firuz Shah.⁶⁴ Nothing is known about this official except that he was posted at Mangrol in some official capacity. Epigraph from Ladnun records the construction of a mosque locally called Hazirawali Masjid by Alauddin Mubarak alias Jai Singh son of Bhoja Mohil during the governorship of Malik Ikhtiyar'ud Din Chupan son of Usman.⁶⁵ Historical accounts neither mention the name of Ladnun, its officials nor Malik Ikhtiyar'ud Din Chupan (*Malik'ush Sharq*) and the builder of the mosque Alauddin alias Jai Singh. However, both these nobles find place in the memoir of a saint Shaikh Ahmad Khattu of Sarkhej in Gujarat.⁶⁶ One more epigraph from Rajasthan corresponding the reign of Mahmud Tughlaq refers to the chaos and hardships created by the invasion of Timur and to the desertion of the place by people who fled to Thangarh for refuge. It further states that after the establishment of peace through the efforts of Iqbal Khan, mosques were reconstructed and the fort rehabilitated.⁶⁷

Besides the religious structures, construction of secular structures like forts, wells, step-wells, *sarai* (inns) by the Tughlaq nobles and officials have been recorded in the epigraphs. A number of inscriptions record the construction of forts by these nobles. Inscription from Navsari (Baroda) states the erection of a fort by Malik Ibrahim during the reign of Muhammad bin Tughlaq.⁶⁸ Another epigraph from Mangrol records that Zafar Khan son of Wajih ul Mulk was *muqti* of Gujarat on behalf of Sultan. He had appointed Malik Badr-i-Banjhal as his deputy in Sorath. In turn his deputy at Mangrol was Malik Shaikh son of Taj, who constructed there a strong fort (*Hisar*) in 1400-1401 A.D.⁶⁹ Nothing is known about both Malik Badr-i-Banjhal Governor under Zafar Khan and his deputy at Mangrol Malik Shaikh son of Taj.

The epigraphical gallery of Victoria Hall Museum at Udaipur contains only one Persian inscription which was found from fort of Chittor. The epigraph mentions Asadu'd Din Arsalan as the builder of some construction, the nature of which is not known.⁷⁰ One more epigraph from Chittorgarh (Chittor) refers the construction of a *Sultan Sarai* (Inn) of pleasing appearance built by Malik Asadu'd Din Governor of Khizrabad (Chitor).⁷¹ Malik Asadu'd Din Arsalan was apparently the nephew of the Sultan Ghiyasuddin Tughlaq who had appointed him to the post of *naib-i-barbak* in 1320 A.D.⁷² The historical works do not furnish much detail of his career although he must have held an important position. Another *Sarai* (Inn) at Bhadgaon (Baroda district) was constructed by Malik Sumbul who was *Mihtar-i-Sarai* (Inn keeper).⁷³

Another inscription from Bari Khatu (Rajasthan) does not provide any clue to the nature of building. It simply states that a 'building' was constructed and this could mean any edifice, including the *Dargah* of Saint Muhammad Qattal, during the governorship of Malik ul Umara Saifu'd Daulat wa'd Din Nanak Sultani, the *akhurbek-i-maisara* and the *muqti* of the *ma'mura* (district) of Ajmer. The work was carried out under the supervision of Muayyad son of Siraj son of Fakhr, who was the secretary or accountant (*muharrir*) of the same district.⁷⁴ The official is evidently identical with Malik Nanak Sultani who held the post of *akhurbek-i-maisara* under Alauddin Khalji.⁷⁵ We have one more reference that states that during the reign of Nusrat Shah, Zafar Khan the great minister

held the governorship of Gujarat. Malik Yaqub (of *Tamim* origin) who administered the *Shiqq* of Sorath on behalf of the latter laid a new foundation. There was a strong city wall at Mangrol but the *halaqa* (chains) of the doors were not of iron. Consequently Malik got them made of steel and covered these gates with iron of which two hundred *mans* per panel were utilized. This work was carried out under the direct charge of Malik Yaqub's brother Malik Musa, *Kotwal* of the town.⁷⁶ About these two officials we do not find any mention in historical records.

A number of inscriptions record the construction of tanks, wells and step wells. A fragmentary record states that the excavation and construction of a tank called *Firuz Sagar* was done during the governorship of Malik ul Umara Firuz, son of Muhammad, *Shahna-i-bek* (Chief Superintendent) of the *paigah-i-khaas* (royal stables) and *muqti* of the region by Taj ud Daulat wa'd Din entitled *Khalaf u'l Mulk*.⁷⁷ Malik ul Umara Firuz is untraceable, but he may be a high ranking noble under the Tughlaqs. Another bilingual epigraph from Sambhar (Jaipur district) records the construction of a step well by Bam Dev son of Nathu son of Ganga Dev during the governorship of Malik Kamal ud Daulat wa'd Din Ahmad Khurram.⁷⁸ The personages referred in the inscription deserve mention. Malik Kamalu'd Din Ahmad is mentioned as the Governor of the region, but contemporary historical records are silent. Epigraph from Petlad (Cambay) records the construction of a well in the town of Petlawadar (Petlad) by Haji Ismail son of Usman Shirazi for public use. The builder also obtained a grant of twenty *khumbas* of land from Sayyid-ul-umara, Badrud Din Abu Bakr, Amir-i-Kuh, Muqti of Petlawadar for its upkeep so that the public, local or outsider may drive comfort and rest therefrom. Also enjoins upon the future Amirs, Maliks and Hakims (governors) to continue the grant of the said land.⁷⁹ One Malik Muzaffar ordered for the construction of a well in the village Karakhari (Baroda district) which was constructed by Moka Mehta.⁸⁰

Conclusively, the epigraphs record much valuable information related with the Tughlaqid nobles and their sub-ordinate officials posted in Rajasthan and Gujarat. The inscriptions further highlight the interest of these nobles in construction of various monuments, religious as well as secular, in the provinces of Rajasthan and Gujarat in the reign of the Tughlaq Sultans of Delhi.

References:

1. Zia Barani, *Tarikh-firuzshahi*, ed. Sir Syed Ahmad Khan, Aligarh, 2005, pp. 454, 424, 527; Ibn Battuta, *Rehla*, Eng. tr. H. A. R. Gibb, *The Travels of Ibn Battuta (1325-1354)*, Vol. III, pp. 654-655; Isami, *Futuh-us-Salatin*, ed. A. S. Usha, Madras, 1948, pp. 386, 412, 413, 420; Badaoni, *Muntakhab-ut-Tawarikh*, ed. Maulvi Ahmad Ali, Calcutta, 1868, pp. 227, 237; Abha Rani, *Tughluq Architecture*, Varanasi, 1991, pp. 87-88.
2. Afif, *Tarikh-i-Firuzshahi*, ed. Maulavi Ahmad Ali, Calcutta, 1891, p. 331; Eng. tr., R. C. Jauhri, *Medieval India in Transition*, Delhi, 2001, p. 188; Abha, *Tughluq Architecture*, pp. 88-89, 98; R. Nath, *History of Sultanate Architecture*, Delhi, 1978, p. 60; R. C. Jauhri, *Firuz Shah Tughluq*, Agra, 1968, pp. 160-161.
3. Ibid., p. 331; Eng. tr. p. 188.
4. Ibid., p. 331; Eng. tr., p. 188; Jauhri, *Firuz Tughluq*, pp. 160-161.
5. Barani, *Tarikh*, p. 454.
6. Nath, *Sultanate Architecture*, p. 55-56; Abha, *Tughluq Architecture*, p. 54.
7. Abha, *Tughluq Architecture*, p. 88.
8. Afif, *Tarikh*, pp. 397, 405, 422.
9. Ibid., p. 426.
10. Abha, *Tughluq Architecture*, pp. 22, 25. These mosques are Jami Masjid at Kotla Firuzabad (1354), Kali Masjid (1370) at Nizamuddin, Kalan Masjid (1375) in Shahjahanabad, Khirki Masjid and Begumpuri Masjid (1387).
11. Dr. M. Nazim, *Inscriptions from Bombay Presidency*, in *Epigraphia Indica (Arabic and Persian Supplement)*, 1933-34, pp. 25-26.
12. *EIAPS*, 1933-34, p. 26
13. Ibid., 1957-58, pp. 29-34; *Annual Reports on Indian Epigraphy*, Hyderabad, Government of Adhra Pradesh, 1956-57, D-42, p. 114
14. Ibid., 1933-34, p. 27.
15. Barani, *Tarikh*, pp. 424, 454.
16. Isami, *Futuh-us-Salatin*, pp 412, 435.
17. *EIAPS*, 1949-50, p. 32; *Corpus Inscriptionum Iranicarum*, Vol. 49, Rajasthan, ed. International Committee, London, p 46.
18. Ibid., 1955-56, p. 89; *ARIE*, 195-53, C-138; *Corpus Inscriptionum Bhavnagari*, Antiquarian Department, Bhavnagar State, Bombay, 1889, pp.4-5
19. Barani, *Tarikh*, p. 379
20. Q. M. Moneer, *Two Unpublished Inscriptions of the Time of Muhammad bin Tughlaq*, *EIAPS*, 1939-40, pp. 23-26
21. Officer incharge with directing some domestic duty in royal household.
22. *EIAPS*, 1957-58, pp. 38-39; *ARIE*, 1954-55, C-170, p. 92; *Corp. Insp. Bhavnagari*, pp. 5-6.
23. Ibn Battuta, *Rehla*, p. 208.
24. *EIAPS*, 1957-58, pp. 40-42; *ARIE*, 1954-55, C-7, p. 76.
25. *ARIE*, 1963-64, D-85, p. 125
26. *EIAPS*, 1962, pp. 5-7; *ARIE*, 1956-57, D-36, p.113
27. Barani, *Tarikh*, p. 527
28. Afif, *Tarikh*, pp. 454-55
29. Yahya Sirhindi, *Tarikh-i-Mubarakshahi*, ed. Hidayat Husain, Calcutta, 1931, p. 127
30. *EIAPS*, 1962, pp. 7-8; *ARIE*, 1954-55, C-81
31. Ibid., 1962, 8-9; *ARIE*, 1954-55, C-77, p. 82
32. Yahya, *Tarikh*, p. 120, 131
33. Barani, *Tarikh*, p. 582; Yahya, *Tarikh*, pp. 120, 124.
34. Afif, *Tarikh*, p. 219-220; Yahya, *Tarikh*, p. 131; Nizamuddin Ahmad, *Tabaqat-i-Akbari*, Nawal Kishore edition, Lucknow, 1875, p. 117
35. Ibid., pp. 280, 419
36. *EIAPS*, 1962, pp. 9-10; *ARIE*, 1954-55, C-8, p. 77
37. Ibid., pp. 10-12; *ARIE*, 1954-55, C-9
38. Ibid, pp. 12-14; *ARIE*, 1954-55, C-10
39. Ibid., pp. 20-21; *ARIE*, 1959-60, D-134, p. 148
40. Yahya, *Tarikh*, pp. 133, 138
41. *ARIE*, 1973-74, D-6, p. 128
42. *EIAPS*, 1962, pp. 19-20; *ARIE*, 1956-57, D-50, p. 115
43. Ibid., 1962, pp. 26-27; *ARIE*, 1956-57, D-56, p. 116
44. Ibid., 1962, pp. 14-15; *ARIE*, 1956-57, D-98, p. 120
45. Barani, *Tarikh*, pp. 583, 545; Afif, *Tarikh*, pp. 86-87; Yahya, *Tarikh*, pp. 119, 120-122
46. *EIAPS*, 1962, pp.15-17; *ARIE*, 1954-55, C-160, p. 91; *Corp. Insp. Bhavnagari*, pp. 3-4; Major J. W. Watson, *Indian Antiquary*, A Journal of Oriental Research, Delhi, Vol. VIII, 1879, p. 182
47. Baran, *Tarikh*, p. 583; Afif, *Tarikh*, pp. 137-142, 156, 158, 162, 206-07, 225, 133-135; Yahya, *Tarikh*, pp. 126, 131.
48. *EIAPS*, 1962, pp. 17-18; *ARIE*, 1954-55, C-47, p. 80
49. Ibid., 1949-50, pp. 18-19; *Corp. Insp. Iranicarum, Rajasthan*, p. 62
50. Afif, *Tarikh*, pp. 117
51. Ibid., p. 128
52. Barani, *Tarikh*, p. 527; Afif, *Tarikh*, 318
53. *EIAPS*, 1962, pp. 18-19; *ARIE*, 1954-55, C-11, p. 77
54. Afif, *Tarikh*, pp. 225, 499; Nizamuddin Ahmad, *Tabaqat*, p. 117
55. *EIAPS*, 1962, pp. 37-38; *Corp. Insp. Bhavnagari*, pp. 7-8; *ARIE*, 1954-55, C-23
56. Ibid, 1939-40, pp. 1-2
57. Afif, *Tarikh*, pp. 493-501

58. Yahya, *Tarikh*, p. 132; Nizamuddin Ahmad, *Tabaqat*, p. 117; John Briggs, *History of the Rise of Muhammadan Power in India*, Calcutta, 1929, Vol. I, pp. 455-56
59. *EIAPS*, 1967, pp. 20-22
60. Barani, *Tarikh*, pp. 538-542; Afif, *Tarikh*, pp. 50-55; Yahya, *Tarikh*, p. 120
61. *EIAPS*, 1962, pp. 24-26; *Corp. Insp. Bhavnagari*, p. 11; *ARIE*, 1954-55, C-151, p. 90
62. Barani, *Tarikh*, pp. 455, 528
63. *EIAPS*, 1949-50, pp. 20-21; *ARIE*, 1969-70, D-134, p. 91; Z. A. Desai, *Published Muslim Inscriptions of Rajasthan*, Jaipur, 1971, p. 59.
64. *Ibid.*, 1962, pp. 30-32; *ARIE*, 1954-55, C-135; *Corp. Insp. Bhavnagar*, pp. 13-14
65. *Ibid.*, 1972, pp. 23-31; *ARIE*, 1969-70, D-161, p. 93; *Corp. Insp. Iranicarum, Rajasthan*, p. 63; Desai, *Pub. Mus. Insp. of Raj.*, pp. 100-101, no. 318
66. Memoir of Shaikh Ahmad Khattu entitled *Mirqat'ul Wasul ila'allahi wa'r rasul*, cf. Z. A. Desai, *EIAPS*, 1972, pp. 23-31. Shaikh states that it was in the course of one such visit that he had met Malik Chupan at Nagaur. He further states that when he once accompanied Baba Ishaq to Ladnun, Baba was entertained by Malik Alauddin, the newly converted muslim whose previous name was Jai Singh and who was the chief (muqaddam) of the said town.
67. *ARIE*, 1963-64, D-309, p. 149
68. *EIAPS*, 1939-40, pp. 23-26
69. *Ibid.*, 1962, pp. 38-40
70. *Ibid.*, 1955-56, pp. 67-68.
71. *Ibid.*, 1955-56, pp. 68-70; *ARIE*, 1955-56, D-127, p. 71
72. Barani, *Tarikh*, p. 428
73. *EIAPS*, 1939-40, pp. 23-26
74. *Ibid.*, 1967, pp. 11-17; *ARIE*, 1962-63, D-198, p. 193; *Corp. Insp. Iranicarum, Rajasthan*, p. 58.
75. Isami, *Futuh-us-salatin*, pp. 301-302, 303.
76. *EIAPS*, 1962, pp. 32-37; *ARIE*, 1954-55, B-513, C-136.
77. *Ibid.*, 1967, pp. 8-10; *ARIE*, 1962-63, D-194, p. 193
78. *Ibid.*, 1955-56, pp. 57-60; *ARIE*, 1955-56, D-137, p. 72
79. *ARIE*, 1975-76, D-114, p. 145; *Epigraphia Indo Moslemica*, 1915-16, p. 17
80. *Ibid.*, 1963-64, D-85, p. 125.

Jijhri AT BAYANA : A STUDY IN MUGHAL ARCHITECTURE

Dr. M. K. Pundhir

Jijhri, a medieval tomb building is existing on the southern periphery of the town of Bayana. Bayana is situated between 26°55' north of latitude and 77°18' east of longitude at 45 milometres to the south west of Bharatpur District of Rajasthan and its distance from Agra is 76 kilometres. It can be located on the left bank of Gambhiri which is a seasonal River. Presently Bayana is a sub division and tehsil headquarter of District Bharatpur.

Epigraphs have established the antiquity and historicity of Bayana. Inscription dating back to the period preceding the Ghorian Conquest referred the Bayana as 'Sripatha' but during medieval period Persian chronicles renamed as Bayana. Sripatha's identification as Bayana could be possible because of the Lodi bilingual inscription found in the vicinity of Bayana. During the early Medieval period, before the foundation of Agra, Bayana held very strategic position and was an important administrative unit. But after the foundation and later establishment of Mughal capital at Agra, Bayana started to lose not its strategic significance but its administrative status had shifted to Agra. Furthermore in the administrative reorganization done by Akbar in 1580 A.D., sarkar of Agra was formed after taking many parganas from the sarkar of Bayana. After the conquest and consolidation of Mughal empire in Rajputana and Malwa, Bayana lost further its strategic importance and it was reduced to a status of pargana and brought under the sarkar of Agra. Though, its economic significance to some extent remained intact, as internal trade routes were passing through Bayana.

In the course of time a large number of monuments were built by rulers of different dynasties and Bayana grow up as a flourishing town. These monuments are mainly composed of fortified townships, mosques, gateways, *sarais*, waterworks, residential

palaces, tomb buildings, etc. Baring few, most of the monuments are in dilapidated condition and desperately need preservation and conservation.

Present Paper ventures to study a Tomb Building locally known as Jhajri in art historical perspective. Further the object is to analyze the characteristic features of its architecture and building technology used in this tomb building and draws some conclusion.

The structure of Jhajri is aligned on north south axis and is existed on a square platform with a raised plinth. It is composed of square chamber with an entrance porch on southern side. The chamber is a square measuring 9 by 9 metres and built on the pillars forming a perfect *Baradari* i.e. a pillared pavilion with twelve openings having three openings on each side.

All the facades are same in dimensions and decoration. Each façade consists of three openings which are topped with dropping broad leaves and parapets above. Corners of the building were built in the form of piers which are square on plan. Its each side is of 1.2 metres. To form three openings on each side two rectangular pillars were used. Central inter columnar space measures 2.15 metres while the span of flanking openings are of 1.5 metres span. These pillars are rectangular on plan with .35 metre by 1.20 metres where short side forms the façade and longer side forms the thickness of the wall containing three openings. Exteriorly all sides containing three openings were built of the trabeate principle, by using pillars, brackets and lintels where the brackets are typically Akbari corbelled ones. The pillars are composed of base inscribed with gavaksh motif, square shaft in middle and cushion type abacus above.

Interiorly the tomb building was provided arcuate construction. Meaning by in the same wall exteriorly trabeated three openings were built while inside these three openings were provided arched openings. These arched openings in thickness cover the part of the wall equal to .30 metre and remaining .90 metre used for making exterior trabeated openings. Interior arched opening are .20 metres less than that of exterior trabeated openings. The whole structure has been surmounted by a bigger dome. Inside in the phase of transition squinch arches were used for converting square into an octagon and then octagon into sixteen sided to bear the circular

dome. All the arches used inner side, are pointed and four centred. Inside the corner space has been converted into a bigger alcove by placing arch diagonally on the quoins of the central arch of the side. Thus with these corner alcoves, mortuary chamber became octagonal inside. These corner alcoves have three openings one wider towards inner side of the chamber and two smaller one on the two sides of the structure of the building. Inner side octagon thus has eight arched openings fixed in rectangular frame of same size and dimensions. The spandrels of the arches were embellished with floral motifs fixed in sockets. With this type construction the tomb building is square on plan exteriorly while it is octagonal on plan inside. All the openings are closed with stone lattice work which was fixed at the outer side. Only entrance has been provided on the southern side in the centre which opens in a porch.

An entrance porch was built on the raised plinth equal to that of the main mortuary chamber. The porch has been supported on the southern side on two square pillars which are surmounted by corbelled brackets which in turn supported the lintels. The outer sides brackets are meant to support the broad dropping eaves provide on three sides i.e. south, east and west. The porch is flat roofed.

The tomb building was surmounted by a broad dome which was based on raised octagonal drum. The octagonal drum provides the elevation to the dome on one hand and inner side accommodates the different phases of transition. The dome has crowned with inverted lotus petals and its finial is composed of *kalash* pots of different size arranged in ascending order from the top.

There exists a crypt under the tomb building. It was square on plan measuring 6.2 metres on each side exactly following the dimension of the building existing above. It has oblong niches in the entire four walls where southern side niche facilitate the entrance and it opened into a small oblong chamber which was built exactly under the entrance porch of the Tomb building following the same measurement. The side niches exist in the centre of each wall with 2.15 metres of span and .80 metre in depth. These niches built exactly below the central arched openings of the Tomb building existing above. There built four square pillars forming a square bay in the

centre of the underground crypt. Each side measures 2.15 metres where pillars forming the bay placed at the distance of 2.15 metres from each other. These pillars were constructed to bear the burden of the flat roof of the crypt. In this pillared central bay once existed the grave which was erased out some time later? But still evidence in the form of a rectangular sunken place is existed there. The height of the roof of the crypt from the floor is 2.5 metres. The whole crypt was made underground except .65 metre which was the plinth of the structure of Tomb building emerges from the platform. Entrance to this crypt has been constructed in the form of covered passage on the south side. The length of the covered passage is 10.80 metres and its width is 2.15 metres with a height of 1.90 metres. The passage then opens into an oblong chamber measuring 2.15 by 1.62 metres. This chamber has been provided approached from western side. An approach was in the form of eight steps descending from the platform on which the main structure of Tomb Building was built. The riser and tread of the steps are .25 metre and .30 metre respectively. The underground crypt has no suffocation as ventilators are provided in the upper part of the walls which have been exposed in the centre of the plinth of the eastern, western and northern side while on the southern side a ventilator was given in the plinth of the entrance porch which in turn providing light and remove suffocation of the entrance chamber of the crypt built beneath the entrance porch of the Tomb Building.

From the decoration point of view the building can be considered built on the Principle of Austerity. Whatever decoration found in this building is in the form of lattice work and corbelled brackets and the crowning elements of the dome. Stone Lattice or jali was used on large scale to close the openings of the Tomb Building. These jali has been hewn out in different geometrical and floral designs. Such type of Stone 'jali' perforated with different designs have been fixed in the ventilators built in the plinth of the Tomb Building to provide light and relieve the suffocation of the underground crypt. Another type of decoration existing in this building was found in the form of calligraphy on the stucco. It was found on the squinch arches in the phase of transition.

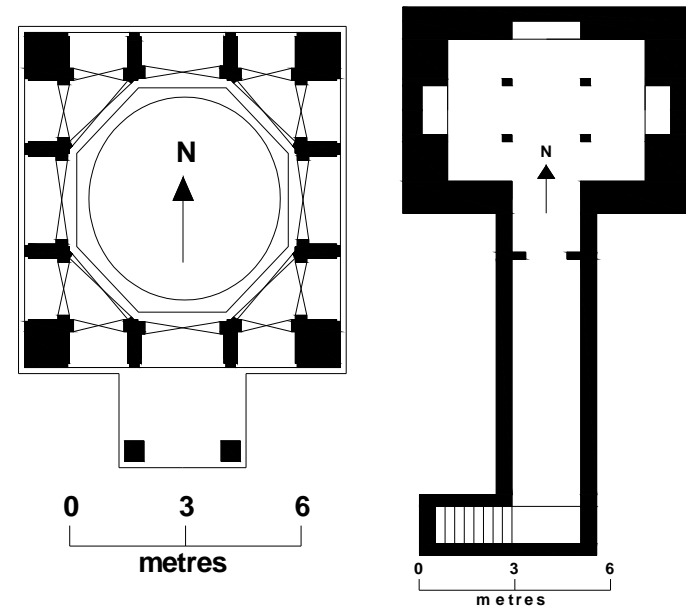


FIGURE-I

References:

1. Locally it is known as *Jijhri* or *Jhajri*.
2. Joshi, J.P., Krishna Deva and B.R.Meena, *Inventory of Monuments and Sites of National Importance: Jaipur Circle*, Vol. II, Part 1, New Dehli, 2006, p.37.
3. K.K.Sehgal, *Rajasthan District Gazetteers: Bharatpur*, Jaipur, 1971, p. 476.
4. *Inventory of Monuments and Sites of National Importance*, p.37.
5. K.K.Sehgal, *Rajasthan District Gazetteers: Bharatpur*, Jaipur, p. 475.
6. Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum: Inscryption of Early Gupta Kings*, Vol. III, Varanasi, 1963P.27 and PP. 253-54.
7. Ibid.
8. Hasan Nizami, *Taj-ul-Maasir*, tr. By Elliot and Dowson in *History of India as told by its own Historians*, Vol. II, Allahbad, 1964, p. 226. Cf. Minhaj us Siraj, *Tabaqat -I Nasiri*, Vol. I, ed by A.H. Habib, Kabul, 1864, p. 311.
9. Abul Fazl, *Ain -i Akbari*, trans. By H.S.Jarrett and revised by J.N.Sarkar, Vol.-II, third edition, reprint, New Delhi, pp. 191-93,cf. Rajeev Bargoti,

- Bayana: A Concept of Historical Archaeology*, Jaipur, 2003, PP. 138-139.
10. Ibid.
 11. K.K.Sehgal, *Rajasthan District Gazetteers: Bharatpur*, Jaipur, p. 58.
 12. Ibid.
 13. See Figure- I.
 14. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a).
 15. See Figure- I and Plate- I, (c) along with Plate-II, (a).
 16. See Figure- I.
 17. Ibid.
 18. Ibid. also see Plate- I, (a) & (b).
 19. See Plate-I, (a), (b) & (c).
 20. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a) & (c).
 21. See Figure- I and Plate-I, (b) and Plate- II, (c).
 22. See Figure- I and Plate-I, (a), (b) & (c).
 23. See Figure- I and Plate- I, (b).
 24. See Figure- I.
 25. See Plate- I, (a), (b) & (c).
 26. See Plate-I, (b) & (c) and Plate- II, (b) & (d).
 27. See Plate- III, (a) & (b) and Plate- IV, (a) & (b).
 28. See Figure- I and Plate- III, (a) & (b).
 29. Ibid.
 30. See Figure- I.
 31. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a).
 32. See Plate-II, (a) & (b) and Plate- IV, (a).
 33. Ibid.
 34. See Figure- I and Plate- III, (a) and Plate- IV, (b).
 35. See Figure- I.
 36. See Figure- II and Plate- III, (a).
 37. See Figure- II. Also see Plate- III, (a) & (b) and Plate- IV, (a).
 38. Ibid.
 39. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a).
 40. See Figure- II and Plate-I,(c) and Plate- II, (a).
 41. See Plate-I, (c) and Plate- II, (a).
 42. See Plate-II, (a), (b) & (d).
 43. See Plate- II, (b).
 44. See Plate-I, (c) and Plate- II, (a).
 45. See Plate-I, (a), (b) & (c).
 46. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- III, (a) & (b).
 47. See Plate-I, (a), & (c) and Plate- II, (a).
 48. See Figure- II.

49. Ibid.
50. See Figure- II.
51. See Figure- II along with Figure- I.
52. See Figure- II.
53. Ibid.
54. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a).
55. See Figure- II.
56. Ibid.
57. Ibid.
58. Ibid.
59. Ibid.
60. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a) & (b).
61. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a) & (b).
62. See Plate- II, (a) & (b).
63. See Plate-I, (a), (b) & (c) and Plate- II, (a) & (b).

Traditional Irrigation System in Pre-Medieval Period

Mrs. Bindu Tiwari & Dr. M. L. Sharma

The history of human civilization marked by a series of land marks innovations from time to time. Some of these have acted as primary factor in moulding the path of human evolution, access to the knowledge and know now of producing food, that is, agriculture is the most prominent among these, it is well known fact that man kind, owing to its basic instinct of getting a sure and secured supply of food invented agriculture.

In course of time, a societal form of living began among these primitive group of people and thus came the need for growing larger quantity of food crops from a limited land area. Thus irrigated agriculture was invented.

The Harappans seem to have built an efficient irrigation system in the outer areas of their influence, whereas there is no evidence of such a system of core area because archaeologists have concentrated more on prosperous, urban centres like Mohanjodaro and Harappa and have neglected small rural settlements. In the Mesopotamian civilisation and bank of the Tigris and Euphrates still have evidence of the initial attempt of irrigated agriculture, practiced by the races settled there.¹

Evidence of irrigated agriculture in the Indian subcontinent date back to the chalcolithic period Inamgaon area of the western state of Maharashtra has an interesting pre-historic mud embankment structure with a stone foundation.²

In the *Rigveda* we get reference like these the chief of the Aryans, Indra was employing some *Ribhu's* – (Master craftsmen or irrigation engineers) to dig out canals on all the four side irrigating crops from the nearest river.³

Rigveda mention about *Ghatachakra* and *Asmachakra* which is commonly known as the persian wheel, which minimized human labour and increased efficiency through mechanical irrigation

we also find mention about irrigation from well, known as *Avat* and *Uths*⁴ and water carries to field through small canals called *Sushira*.⁵

From the *Arthashastra* of *Kautiliya*, the advisor of the legendary ruler Chandra Gupta we get a vivid description about the polices, administration, people, law and such. In those days irrigation facilities mostly state owned though private irrigation facilities too were not uncommon. The chapter entitled the activity of heads of departments *Kautiliya* says : “He should build irrigation system with natural sources or with water to be brought in from elsewhere. To others who are building these, he should render aid with land, roads, trees and implements and also give aid to the building of holy places and park, if one does not participate in the joint building of an irrigation work, his labourers and bullocks should be made to do his share of work and he should share the expenses but will not receive any benefits from it. The ownership of the fish, duck and green vegetables in the irrigation works should go to the king.”⁶

In another chapter concerning judges, he says:

“In case of damage to the ploughing or seeds in another field by the use of reservoir, channels or a field under water, they shall pay compensation in accordance with the damage. In case of mutual damage to fields under water parks and embankments, the fine shall be double the damage”.⁷

The terms used in the original text relating to water harvesting system are several – *Setu* for embankment or dam for storing water; *parevaha* for channel; *tataky* for tanks; *nadyayatana* for water from a river; *nadinibandhayatana* for a structure dependent on a river such as a dam; *Khata* for well *Kautiliya* mention two types a of *Setu* – the *sahodaka*, where there is a natural spring or flow of water, and the *aharyodaka* which is a sort of storage tank with water brought in to it through channels.⁸

It shows that in Mauryan period irrigation system was planned and very well developed.

Kushan King Kanishka (78 A.D. – 107 A.D.) was the most well known ruler of this dynasty, the whole of north west India and a large part of the middle gangetic plain was part of kingdom agriculture was extensively practised here and *brick lined wells* were the common mode of irrigation during this period.⁹

The Sangam Literature (300-600 A.D.) gives detailed description of the Tamil dynasties of Pandya, Chera Chola, Pallava,

Chalukya, Rashtrakuta and their contribution to their subject. King of all these dynasties took a great deal of interest in promoting agriculture. The Kadambas and Gangaking ruled Mysore state has taken keen interest to develop water reservoirs.¹⁰

Chola kings known for their enormous contribution to public works. Irrigated agriculture got such a great boost during this period. Raj Raja Chola, founder emperor of the Chola Kingdom and his successors promoted extensive building of anicuts across the principal rivers to harness water for irrigation purpose. This was the revolutionary approach to augment agricultural production in their kingdom.¹¹

We found the chain tanks in Andhra Pradesh and Karnataka, large storage reservoirs were constructed in continuous series like links of an imaginary chain in the large river valley regions.¹²

In the arid region of Rajasthan, water harvesting is deeply rooted in its social fabric. In Rajasthan the state, the Jagirdar did not create any water body for the people. All water bodies made by the erstwhile kings, Jagirdar, Chiefs and chieftains were reserved for their personal use. The local people have also created numerous water bodies.

In Rajasthan, there are various traditional water resource systems – *Nadi*, *Talab*, *Johad*, *Sagar*, *Bera*, *Toba*, *Dehriya*, *Sarovar* just to name a few. But each of these is a definite system. So when an average villager talks about *Nadi* he has a clear idea of what is being referred to, how water is collected in *Nadi*, how the area was selected how *agor* was prepared and what are the ground rules which govern the *Agore*. The people of Rajasthan have fair knowledge of geological parameters of the area.¹³

The arid part of Rajasthan is a near rainless desert, in some areas, rainfall scarcely averages more than 120 mm. The most important sources of irrigation were wells and *Talab* (tanks). Most of the small tanks were useful for the production of wheat crops in their beds. Another method of rain water harvesting for irrigation purpose practised in the Jaisalmer region was known as *Khadeen*. It is generally believed that Paliwal Brahmins who settled in Jaisalmer during the early medieval times developed *Khadeens* were basically bunds created in the path of nullah or seasonal stream. The height of the bund was kept low so as to retain only limited water which could dry up in two or three months. The bund also led to the

deposition of silt which ultimately formed the bed of the tank. This dried tank bed was used to produce rabi crop. Another advantage of keeping the height of the bund low was that the overflowed water could be utilized for another *Khadeen* downstream, which would enhance land available for cultivation.¹⁴

We examined that in the pre-medieval period everywhere Indians had a planned and maintained irrigation system. In ancient times ruling elites actively supported the development of water reservoirs for irrigation purpose but it is also true without the active participation of various sections of society it would have been a difficult task. The commoners played an important role in water conservation. In Vedas, Smriti, Arthashastra damage to irrigation works was considered a heinous crime. The villagers themselves were also aware of the need of protecting irrigation work. The village community were managing the irrigation system of their village and were not dependent on central government.

References :

1. Agrwal Anil and Sunita Narayan : Dying Wisdom Centre for Science and Environment 1999, Page 207
2. Bagchi, K.S. : Irrigation in Indian History of Potentials of Social Management, Page 6
3. Rigved R iv 4,1,7
4. Rigved 10, 10, 17
5. Rigved 8.69.12
6. Gairola, Vachaspathi : Arthashastra Chokhmbha Vidhyabhwan Varanasi, Page 18
7. Gairola, Vachaspathi : Arthashastra Chokhmbha Vidhyabhwan Varanasi, Page 79. 81
8. Kangle, R.P. : The Kautiliya Arthashastra, University of Mumbai, 1963, Part I, II
9. Sarkar, D.C. : E.V.I., Page 154, 155
10. Bagchi, K.S. : Irrigation in Indian History of Potentials of Social Management, Page 9
11. Ibid, Page 11
12. Ibid, Page 11, 13
13. Mishr Anupam : Aaj Bhi Khrai Hai Talab, Gandhi Shanthi Prasthan, New Delhi 200, Page 12-16
14. Mishr Anupam : Rajat Ki Bundai, Rajasthan Granthagar, Jodhpur 200, Page 65,66

Man Singh as a Mughal Representative & State Ruler – A Brief Study

Deepak Choudhary

Man Singh a mighty ruler & a brave general of Amer was born on 21st December, 1550 A.D. at Mozamabad⁽¹⁾. He was the eldest son⁽²⁾ of Raja Bhagwant Das and his senior most Queen Rani Bhagmati Panwar. Bhagwant Das send his son Man Singh in mughal service on 13th February, 1562 A.D.⁽³⁾ Man Singh gave 52 years of his life to mughal empire and died at Elichpur on 6th July, 1614 A.D. During his time period he served as the Governor of three provinces – Kabul, Bihar & Bengal. Kachhawas & Amer State expanded geometrically under his rule.

Man Singh participated & fought in many battles from mughal side. Man Singh also participated in the siege of Ranthambhor in February, 1569 & ruler Surjan Hada made overtures for peace through Bhagwant Das & Man Singh⁽⁴⁾. Man Singh also participated in Gujarat Campaign in November, 1572 and showed his presence at the battle of Surat in February, 1573⁽⁵⁾. States of Idar & Dungarpur were also conquered by Man Singh for Akbar. During his way back he also met Rana Pratap in June, 1573 on Bank of Udai Sagar where he was warmly received but curtly treated by Rana. He made an unsuccessful attempt to persuade him to accompany the Mughal Court⁽⁶⁾.

Abul Fazal gives us the list of generals send by Akbar in Eastern provinces to suppress the rebellion of Daud Khan & Man Singh stands second after Bhagwant Das in that list. Daud Khan soon fled to Bengal. Man Singh stayed in Bihar & returned to the capital with Akbar in January 18, 1575⁽⁷⁾. Akbar when failed to make victory over Maharana Pratap by peaceful means then he appointed Man Singh Commander in Chief of the Mughal Army⁽⁸⁾ against Maharana Pratap. However appointing Man Singh on this post was not liked by few Muslim Nobles at the Court⁽⁹⁾.

In battle of Haldighati yet Man Singh fought with bravery against Rana Pratap but he could only gain the town of Gogunda for Akbar on the cost of heavy loss of life's⁽¹⁰⁾. Man Singh was at Gogunda till the end of September, 1576 after his hard won victory at Haldighati. He failed to capture or kill the Rana and his army could not get sufficient provisions & the supply line between Gogunda & Ajmer was blocked⁽¹¹⁾. In September, 1576 Akbar reached Ajmer to direct & supervise campaigns against Pratap, soon Man Singh was called back and on reaching Mughal Court at Ajmer he & Asaf Khan was forbidden to enter the Royal Court for some time⁽¹²⁾. It shows that failure of Man Singh at Haldighati filled Akbar with warth.

But after some time Akbar realised that Man Singh was not at fault against Rana Pratap at Haldighati. There were some circumstances & geographical conditions responsible for his failure. Within few days he took Man Singh & Asaf Khan to favour⁽¹³⁾. Man Singh was soon deputed to the Mughal Army sent against Rana Pratap in October, 1577. In 1581 Akbar marched towards Kabul & Man Singh was appointed Commander of the Vanguard Mughal Army. Many Kachhawas & other Rajput rulers & leaders also participated in the battle but they were not merely personal attendants of Emperor but were real leaders with their independent military ranks⁽¹⁴⁾. Man Singh fought bravely & got success.

On 22nd September, 1581 Man Singh was appointed as the Commander of the Indus Region⁽¹⁵⁾ & soon he was directed to proceed towards Kabul in August, 1585, to reassure people of Akbar's Justice & comfort Mirza Hakim's Survivors. Man Singh entered Peshawar and moved towards Khyber Pass (which was closed by Raushaniya fanatics) & reached Kabul in November, 1585. Shah Begh fled from the city. Man Singh gave charge of city to his son Jagat Singh & returned to meet Akbar and accompanied him at Attock⁽¹⁶⁾ in December, 1585. In December, 1585 Man Singh was again sent to Kabul & was entrusted with task of suppressing the Raushaniya sect to make road through Khyber Pass safe & he did the work with efficiency, he also hastened to defend the fort of Ali Masjid & Raushaniyas were driven out with heavy slaughter. It was a wonderful & glorious victory for Kachhawas⁽¹⁷⁾.

As a reward he was appointed Governor of Kabul in April, 1586 & was given the task of suppressing and punishing Raushaniyas⁽¹⁸⁾. Yusufzais & Raushaniyas were suppressed and Kabul was annexed to Mughal Empire Man Singh was transferred to Bihar in March, 1587 and was given task to defeat Tarikis, Afridis & Orakzais. Soon Tarikis were defeated by Man Singh at Dar Samand and they fled towards Bangash in August, 1587⁽¹⁹⁾. All the time during his posting in North West Frontier (1585-87) it was full of difficulties & challenges. He proved himself as a successful general⁽²⁰⁾.

When Man Singh was appointed Governor of Bihar from December, 1587 to March, 1594 A.D.⁽²¹⁾ During this time he deal with recalcitrant petty chiefs, as well as Pathans and Afghans who rose in revolt against mughals. At that time there were three important Zamindars in North Bihar (1. Raja Gajpat of Hajipur, 2. Raja Puranmal of Gidhaur, 3. Raja Singram of Kharagpur) & besides one in Shahabad, Chotanagpur & areas of South Bihar⁽²²⁾. Soon the Zamindars of North Bihar surrendered before him & returned to Patna in March, 1590 A.D., while Man Singh was busy & engaged with Ruler of Hajipur & forcing him to relinquish his Chieftainship the rebels of Bengal conquered Patna but Man Singh's son Jagat Singh defended Patna & was able to establish peace & order in Bihar. At this time Akbar was at Lahore & he received portion of rich booty & comprehensive report send by Man Singh in April, 1590⁽²³⁾.

After getting a heavy success in Bihar Man Singh turned towards Orissa in 1590. It was a major political decision made by Akbar. At this time Sayeed Khan was Governor of Bengal and Man Singh has also worked under him as a junior officer not very long ago⁽²⁴⁾. Orissa was the adjoining province of Bihar which also had been the abode of the rebellious Afghans. Man Singh was entrusted this task because he had a sound experience of the rebel Afghans of North West Frontier region. Within a short time period Man Singh succeeded in rooting out the rebellious Afghans of Orissa, but as soon as he returned to Bihar, the treaty between him & Nasir Khan (Ruler of Orissa) did not lasted long and after the death of Isa Khan (the Wakil of late Qutlu Khan) his sons Violated the treaty.

On 3rd November, 1591 Man Singh marched towards Orissa to chastise the rebels & force them to sue for peace & the Afghans were defeated. Some time after this event Usman Khan surrendered and it was followed by Raja Ram Chandra of Khurda in June, 1592 A.D.⁽²⁵⁾, but this victory did not bring peace to the Mughals in Eastern Provinces because now Afghans had established their power in Eastern part beyond Brahmaputra River⁽²⁶⁾.

Man Singh proved himself at Orissa & he presented Akbar three sons of the rebel chiefs of Orissa and two great nobles, namely Kashi Parida & Purushottam. His dedication & bravery led him to the reward of governorship of Bengal in March, 1594 & Saeed Khan (Governor of Bengal) was transferred to Bihar. Man Singh and other Kachhawas received their fiefs in Bengal⁽²⁷⁾. Man Singh's appointment in Bihar & Bengal was the beginning of the longest & most glorious chapter in his life & records of Kachhawa achievements. From this time Amer became one of the best known & most prosperous among the semi autonomous states of the country. Man Singh united ability with courage & genius with strenuous action. He administrated the provinces excellently and the refractory became obedient⁽²⁸⁾.

During the time of Man Singh as Governor of Bengal the Mughal Suzerainty in the region was very shaky & the situation demanded the presence of a man of sterling qualities & great abilities. A large number of military personnel was placed under the charge of Man Singh and many of them were given Jagirs in Bengal. He was also made Ataliq (guardian) of prince Salim. Jagir maintenance was allotted to him in Bengal⁽²⁹⁾.

During his five years stay in Bengal he dealt heavy blows on recalcitrant Zamindars. His son Durjan Singh was killed fighting against opponents⁽³⁰⁾ (Isa Khan), (whereas his sons Himmat Singh and Jagat Singh died of diarrhea & cholera in March, 1597 and October, 1599 respectively). Two of his opponents Masoom Khan Kabuli & Isa Khan died in May & September, 1599, both of them were the architects of opposition of Mughal Rule in Bengal⁽³¹⁾. Man Singh established Law & order in Bengal by extirpating the refractory Afghans & by bringing Cooch Behar⁽³²⁾ under mughal influence (He married Abla Devi sister of Laxmi Narayan Ruler of

Cooch Behar). Man Singh left for Ajmer in June, 1599⁽³³⁾ on Akbar's order to keep an eye on Salim & during this time his grand son Maha Singh worked in Bengal as his Deputy⁽³⁴⁾.

As soon as Man Singh left Bengal, Afghan rebellions started raising their heads so he came back to suppress the refractory Afghans under the leadership of Usman and Sajawal. Soon Man Singh started a campaign near Sherpur Atai, he routed Afghans in February, 1601 & pursued them till Shuja & Saeed (Sons of Masum Khan Kabuli & Lachim Qanshal) surrendered and Bengal rebellion came to an end⁽³⁵⁾. Man Singh also reduced Dacca's ruler Kedar Rai to submission & made Dacca his headquarters. He marched towards the rebels till they were finally defeated by the year 1604 A.D.⁽³⁶⁾

In August, 1604 Akbar called Man Singh from Bengal & he reached Royal Court of Emperor in March, 1605. Akbar congratulated him for his work at Bengal & he was very pleased with Man Singh. He was rewarded with a Mansab of 7000 Zat & 6000 Sawar⁽³⁷⁾. At this time he was at the height of glory & power. He became one of the most dominant & powerful grandee of the Imperial Court in 1605⁽³⁸⁾ (He was given the title of Mirza Raja). After the death of Akbar he was started pushing back and as a result he became a second rate Commander during the time of Jahangir. He was sent back to Bengal as a Subedar & was given the rank of Pancha Sawar⁽³⁹⁾.

Man Singh's this period at Bengal was not very satisfactory for him. In year 1607 he married his grand daughter (daughter of Jagat Singh) to Jahangir. In some years the Jagir's of Man Singh at Rohtas were terminated⁽⁴⁰⁾. In 1609 Man Singh was ordered to proceed to Deccan⁽⁴¹⁾ but he was not given effective powers & his role as a general was insignificant. "Left to his own sources and in supreme command Raja Man Singh might have been able to achieve more"⁽⁴²⁾ & he died at Elichpur on 6th July, 1614 A.D. Man Singh was a brave warrior, successful Commander of the Army. The Stamp of his Chivalry was established from Attock to Cuttack⁽⁴³⁾.

References:

1. Madhya Kalin Rajasthan Ka Itihas – Dr. V.S. Bhargava, P. 172
2. Nensi Ki Khayat-I, P. 291

3. Akbarnama-II, P. 244
4. Akbar the Great by Dr. A.L. Srivastava-I, P. 124
5. Raja Man Singh of Amer by Dr. R.N. Prasad, PP. 30-31
6. Raja Man Singh of Amer by Dr. R.N. Prasad, P. 32
7. Akbarnama-III, P. 157
8. Akbar by Von Noer-II, PP. 244-45
9. Muntakhab-ul-Tawarikh-II, P. 233
10. The Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, P. 35
11. Mewar & Mughal Emperors by Dr. G.N. Sharma, PP. 106-107
12. Akbar the Great by Dr. A.L. Srivastava-I, P. 213
13. Akbarnama-III, P. 175
14. The Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, P. 43
15. Akbarnama-III, P. 372
16. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 66
17. Vanshavalli of Jaipur Archives, P. 40
18. Maasir-ul-umara-II, P. 49
19. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 69-70
20. Akbarnama-III, P. 520-521
21. Akbarnama-III, PP. 801-999, 1211 & 1251
22. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, P. 306
23. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, PP. 72-73
24. The Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, P. 103
25. Kachhawas Vanshavalli, F. 46 b
26. The Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, P. 106
27. Akbarnama-III, PP. 997 & 999 (Eng. Trans.)
28. Akbarnama-III, P. 872
29. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 76
30. Akbarnama-III, P. 1093
31. The Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, PP. 108-109
32. Raja Man Singh of Amer by Dr. R.N. Prasad, P. 94
33. Kachhawas under Akbar & Jahangir by Kr. Refaqaat Ali, PP. 109-110
34. Akbarnama-III, P. 763
35. Akbarnama-III, PP. 756-58, 763-70
36. Akbarnama-III, PP. 808-809, 821, 824 & 827
37. Akbarnama-III, PP. 1256-57
38. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 82
39. Masir-i-Jahangiri-II, P. 36
40. Tuzuk-i-Jahangiri, P. 16 (Eng. Trans.)
41. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 84
42. History of Jaipur State by Dr. M.L. Sharma, P. 85
43. Ishwari Vilas Cantos-23 & 25

Institution's Making, Students and Mass Mobilisation in Eastern U.P. before 1942

Dr. Umashanker Singh

When people cutting across different strata participate in a movement, we call it a mass movement. A movement acquires a mass character only when it expresses the creative genius and energies of the people. According to E.J. Hobsbawm; the History of the common people as a special field of study begins with the history of mass movements in the eighteenth century. He believes that Michelet is the first great practitioner of grassroots history: the great French Revolution is at the core of his writing.

This paper deals how institutions and students were helpful in mobilizing the masses in Eastern U.P. before the commencement of Quit India Movement of 1942. The genesis of modern institution in Eastern UP could be traced back with the establishment of the Sanskrit college at Benares in 1792. This college was started to train legal advisors for the British. The Orientalists versus Anglicists debate between 1782 and 1835 was significant. The controversy ended in favour of anglicists who were in favour of English education. The years that followed 1854 found the establishment of the Department of Public instruction in all provinces, universities in Calcutta, Bombay and Madras and steady increase in the number of schools and colleges all over India. Allahabad, Benares and Lucknow developed as an educational centre in Eastern UP. The institutions grew in number and strength with the new territorial acquisitions in U.P. Shifting of capital from Agra to Allahabad in 1857 forced government to start new institution to train additional India personnel needed for administration. In 1872, a college was started in Allahabad and in 1887, Allahabad University was approved. Joseph E. Dibona describes the stages of growth of some educational institution in U.P. The foundation-stone of Banaras Hindu University was led on February 4, 1916 by Charles Baron Hardinge of Penshurst who was Viceroy and Governor-General of

India. This historical event took place in presence of Sir James Meston, Lieutenant Governor of UP and the office bearers of Hindu University Society. Many great people gave lecture on this occasion. Gandhi spoke on anarchical methods and repressive administrative measures adopted by British ruler. The audience appreciated his lecture very much. Mrs. Annie Besant, Mr. J. Krishnamurti, Dr. Bhagwan Das and Madan Mohan Malaviya were instrumental for Banares Hindu University. Earlier they had worked together to build up the Central Hindu College. Mrs. Besant's dictum was, "touch not the king's penny, for it is always very dangerous to do so," and she refused to take any financial assistance from the government for her school and college although Lt. Governor after Lt. Governor asked to accept government assistance. Mrs. Besant purpose in founding this school and college was to instill in the minds of the youth of the land, pride in their past, love for their religion and to rouse their self-respect, so that they may be a free people. In 1916 Central Hindu College was transferred to the Banaras Hindu University.

This was the time when Mahatma Gandhi with South African experience (1893-1914) was trying to make a place for himself in the Indian politics. He was acting as a greatest risk manager of the 20th century with his tools eg. Non-violence or ahimsa and satyagraha. It was personally constituted, deeply-felt and worked-out philosophy owing something to Emerson, Thoreau and Tolstoy. In 1916 Central Hindu College was transferred to the Banaras Hindu University.

Indian politicians before Gandhi had tended to oscillate between moderate 'mendicancy' and individual terrorism basically because of their social inhibitions about uncontrolled mass movements. Gandhiji was evolving such as a model so that it could be acceptable to all including business groups as well as to the locally dominant sections of the peasantry. The doctrine of ahimsa lay at the heart of the essentially unifying, 'umbrella-type' role assumed by Gandhi and the Gandhian congress, mediating internal social conflicts, contributing greatly to joint national struggle against foreign rule. He wrote 'Hind Swaraj' in 1909 and had propagated his views that the real enemy was not British political domination but the whole of modern industrial civilization. Thus he became favourite for all of them who were affected by the growth of capitalism.

Rowlatt Satyagraha, Khilafat and non-cooperation movement gave opportunity to Mahatma Gandhi to become father – figure overnight. According to Manmath Nath Gupta, he was very astute, clever and knew his job very well. He had a very good knowledge of popular psychology. In 1920 he visited Benares quite a few times. A meeting of thirty thousand people took place in Town Hall. The audience included doctors, teachers, girls, women and other Hindus and Muslims. They were from petty bourgeois and proletariat classes. Rich men like Shiv Prasad Gupta, the owner of *Aaj* and the famous writer Babu Bhagwan Das were presents in the meeting. Gandhiji asked students to leave government schools and colleges to take part in non-cooperation movement. He asked every one not to cooperate with the government. Later Maulana Mohammad Ali, Shaukat Ali, Swami Satyadev, Motilal Nehru and Jawaharlal Nehru also visited Benares and encouraged the people to take part in the freedom movement. In leadership of Acharya Kripalani first batch of 40-50 students left B.H.U. and started Gandhi Ashrama to propagate the freedom movement in Eastern U.P. Taking inspiration from Gandhiji, Shiv Prasad Gupta and Dr. Bhagwan Das started Kashi Vidyapith on 10th Feb 1921. The main aim of this institution was to train the students for political freedom of India. To produce good literature Shiv Prasad Gupta started the *Jnana Mandal* which issues the daily Hindi paper *Aaj* from Benares. This paper helped in propagating the freedom movement among the masses. Later Birbal Singh left B.H.U. with 70-80 students to join the Kashi Vidhyapith. National schools on the pattern of Vidyapith were also started in Ahemdabad, Bihar, Pune, Calcutta and Lahore. National schools were started in each districts of U.P. Kashi Vidyapith in Benares became the fulcrum of freedom movement in Eastern U.P. Shiva Prasad Gupta, Dr. Bhagwan Das, Sri Prakasa, Acharya kripalini, Shri Birbal Singh, Lal Bahadur Shastri, Tribhwan Narain Singh, Kamalpathi Tripathi, B.V. Keskar, Acharya Narendradeva, Dr. Sampurnanand, Chandra Shekhar Azad, Yagya Narayan Upadhyaya, Shiv Vinayak Mishra, Krishna Chandra Sharma, Yogeshwar Bhattacharya, Rajaram Shastri, Algu Rai Shastri, Chandrashekhara Pandey, Ramnath Lal Suman, Vishwanath Sharma, Bajrangbali Gupta, and Vichitra Narain Sharma were prominent leaders, teachers and students of Kashi Vidyapith movement in Eastern U.P. They

frequently visited the villages and tried to up rise the masses about the congress programme under the leadership of Mahatma Gandhi.

Prior to the passing of the Charter Act of 1853, few Indians were interested in politics. They started the earliest political body on October 31st and called it the British Indian Association. The India League was started by Mahatma Shishir Kumar Ghosh in 1875. Anand Mohan Bose established the “student association”. Surendranath Banerjee was of the opinion that the seed of politics must be sown among the students community in the interest of the country. Later students were actively associated with the freedom movements and their services were utilized by the Indian National Congress and other parties. The object of attaining independence from an alien rule was so predominant in the minds of those students who came forward to join the National Movement with all their energies, some even at the cost of their studies, career and lives.

Although students had started taking part in national politics since 1905 but Gandhi’s non-cooperation movement in 1920-21 re-inspired them on large scale. Thus the student movement received a new lease of life. For an important section of the students there was no going back to the old life of stagnation. Political struggle, they realized was a whole time occupations. This period, therefore saw the birth of many students’ organisation in different parts of the country. In the Punjab, Punjab Naujawan Bharat Sabha was established by Bhagat Singh and his friends, in Bengal there grew up two organizations: The All Bengal Students’ Association (ABSA) pioneered by the Anushilan party and Bengal Provincial Students Association (BPSA) set up by the Jugantar party.

Years rolled away with increasing number of students for attaching themselves to one party or the other in all provinces. All India congress of students was organized to coincide with Lahore Congress of December 1929. After that close contacts developed between congress – sponsored youth leagues and non-congress groups eg. Naujawan Bharath Sabha (hereafter NBS) or Young India Party. The NBS was founded in 1926 as a revolutionary nationalist youth organisation by Bhagat Singh, leader of the Hindustan Socialist Republican Army (hereafter HSRA), and Munshi Ahmed Din, future leader of Punjab CSP.

Starting in 1928, recruitment to the new-formed congress volunteer corps or Hindustani Seva Dal (hereafter HSD) resulted in the entry of large numbers of radical youth cadres into the congress. Later the HSD was organized on a national scale under the supervision of Bose and J. Nehru, then general secretary of the AICC. Its purpose was to provide the congress with a disciplined mass cadre in anticipation of an anti-government agitation such as the congress left desired. Its composition reflected both the radicalization of congress youth and the growing politicisation of the educated lower middle classes. Swami Sampurnanand, who had a background of close contact with prominent communist and radicalist, acted simultaneously as the chief provincial organizer of the U.P. youth league, NBS and HSD, and was later a founder-leader of the UP CSP.

The civil disobedience movement of 1930s made another call on the service and sacrifice of the students. They gave a good account of themselves in this struggle also. This period marked an important stage in the history of the student movement. So long the students depended solely on the political leaders for advice and guidance. When the leaders were clapped behind prison bars, the students found themselves in the wilderness. This underlined the importance of an all India body for the students. Accordingly All India Students Federation was set up in 1936 and its first conference was held at Lucknow under the presidentship of Mr. Jinnah, Pandit Nehru inaugurated the conference. It is interesting to note that it was at this conference that besides political activities, a programme for the welfare of the students was chalked out. The different provincial students' organisations were directed by the AISF to set up college and school unions for the first time. Problems like mass literacy, reduction of fees etc. also received attention. All these activities helped in enhancing the political consciousness among the masses and prepared them for the final upsurge of 1942.

References:

1. E.J. Hobsbawm, *On History*, (London, 1997), p. 203.
2. Anil Rajmwale, *History of Student Movement in India*, (Delhi, 2001), p.6.
3. V. Sankaran Nair, *Role of Students in Freedom Movement*, (Delhi, 1990), p. 1.

4. Op. cit.
5. Joseph Dibona, *Change and Conflict in the Indian University*, (Bombay, 1973), p. 21.
6. S.L. Dar, and S. Somaskandan, *History of the Banaras Hindu University*, (Varanasi, 1966), p. 350.
7. Shri. Prakasa, *Oral History Transcript*, Acc No. 103, Nehru Memorial Museum and Library (hereafter NMML, pp. 9-10).
8. Op. cit
9. Ibid. p. 6.
10. Sumit Sarkar, *Modern India (1885-1947)*, (Delhi 1983), p. 179.
11. Ibid, p. 180.
12. NMML, Manmathnath Gupta., oral history transcript, acc. No. 174, p. 8.
13. Ibid. pp. 10-11.
14. NMML, Bribal Singh (Acharya), *Oral History transcript*, Acc. No. 149, p-1.
15. Sri Prakasa, op.cit., p. 29.
16. Birbal Singh, op.cit., p. 5.
17. S. K. Ghosh, *The Student Challenge around the World*, (Calcutta, 1969), p.27.
18. Surendranath Banerjee, *A Nation in Making: Being the reminiscences of fifty years of public life*, Calcutta, 1963.
19. *The Dynamics of Student Agitation*, Vishwa Yuwak Kendra, (Delhi, 1973).
20. NMML, J.P. Papers, 1st Installment, File No. 154, p. 183.
21. V. Karnani & P. Xes Ozha: *What is wrong with the student movement in India*, J P Papers, 1st Installment, File No. 154, NMML, p.184.
22. S.C. Bose, *The Indian Struggle*, 120-42, (London, 1964) pp. 164-5.
23. Zareer Masani, *Radical Nationalism in India, 1930-42: The Role of the All India Congress Socialist Party*, Unpublished thesis, University of Oxford, Microfilm, Acc No. 2355, NMML, p. 13.
24. P. Sitaramayya, *The History of the Indian National Congress*, Vol. I, (Bombay, 1935) p. 359.
25. U.P. Police, *Political who's who* (Lucknow, 1936) on the following: Kedarnath, N.K.D. Vashishta, K.D. Malaviya, K.N. Ramanna, G.S. Chaube, P.Y. Deshpande, R.P. Gupta, Thakur Malkhan Singh, Gopinath Sinha, Ranvir Singh, Surendranath Pande, C.B. Kantak, Chandrashekhar and Sampurnanand.
26. J.P. Papers (1st Instalment), op.cit., p. 184.
27. Ibid. p. 184.

Role of Women in Water Conservation

Dr. D. P. Goswami

Women along with men from times immemorial have formed an integral part of social structure. Her role in the various walks of life has contributed to the evolution of values which have counted for, what may be described, all round progress. In the ancient period women wielded considerable influence in society and played significant role in various walk of life. They helped their husbands with their wise counsel in moments of crises; they did not hesitate even to take up arms to protect the life of their family and honour of their country.

Since the ancient times there are instances of dowager queens successfully ruling their kingdom.¹

Even in the Rajput period administrative training was imparted to promising girls of ruling families.² Women took keen interest in the construction and supervision of buildings.

Many medieval texts and inscriptions mention that a person who constructs a pond well or step well attains a high merit than one performing a sacrifice where offerings to gods only benefit the priests a well or step well bestows benefits to all thirsty creatures.³

Women played important role in digging wells and step wells. They were not behind the man in co-operating to fulfill the needs of the society. Some of the royal and common ladies who were kind, generous, religious and benevolent spent a considerable portion of their personal allowance in charity. We have many examples of ladies who contributed for society's needs no matter they were rich or poor.

From times immemorial water has played an important role to sustain life on this planet.

In Indian culture and civilization, right from the times of Vedas to the Epic Age of Ramayana and Mahabharata, water has been correlated to God the almighty and has been revered so much so

that we address our rivers as "Maa" e.g. "Ganga Maiya" etc. We Indians regard rivers so pious because they are the main source of life be it for drinking, irrigation purposes and also for performing holy rites.

Construction of well included under Purtdharma:

Women (and widows) were entitled to spent on purta objects, though they were not authorised to perform ista dharma, modern decision have gone so far that a Hindu widow whose power of alienating for secular purposes property inherited from her husband are very limited, has been held to possess greater power of alienation if the alienation be made for the spiritual benefit of her deceased husband and dedications by her of a small fraction of the property for the continuous benefit of the soul of the deceased owner have been upheld.⁴

Such work of public utility has been highly recommended from very ancient time. Refers to the smirti rules about charitable object which are based on such sruti passages 'O Agni who art ancient and king thou art to the man who desires to offer a sacrifice like prapa a puskarni is mentioned'.⁵

According to our ancient scriptures one who digs a well (for the public) has (the rewards of) half his sins being destroyed when the water begins to flow forth one who dedicates a pond is for ever happy (free from thirst) and allains the world of varuna.⁶

From very ancient times the procedure of dedicating a well or tank to the public has been settled in Sankhyayana it is mentioned.⁷

The importance of water was felt in the ancient times equally this fact be realised by the data available in our scriptures which enumerates innumerable such incidents where not only the affluent members of the society but also the common man was zealously keen to built tanks and reservoirs and dig wells. The women in this field were more enthusiastic then the men. The reason behind it can be one, that the lighter sex is always more religious and god fearing in their nature. Second in Indian culture and civilization, it has always been considered that one who exerts and arranges the facility of providing water to humans as well as animals, definitely does the most pious act, which is levelled at the peak of all religious and holy acts.

These are the reasons why we have many such examples of not only important ladies of the society but also poor and commoners who though lacked huge finances but had the faith, belief and zeal to do something for the society and they contributed in building tanks, wells, step wells, water huts, reservoirs.

These acts of social welfare were conducted by women from all walks of life, belonging to all communities.

For example Marriam-uz-Zamani Jehangir's mother, built a "Baodi" (step well) in Jasul Pargana costing about twenty thousand rupees in those times.⁸

Noorzehan's charity was well known throughout the Mughal Empire she built many *Sarais* (rest house) and wells near Sikandrabad.⁹

Jahanara Begum, was not in any manner behind in her charity works. She was also a noted builder of fairly high esteem. She is known to have built a huge caravan sarai along with a beautiful reservoir to provide rest and solace to the merchants on their business trips.¹⁰

The chalukya queens were not only academically highly educated, but were skilled in martial arts administrative ethics and social work also, that's why chalukyias built temples, lakes, tanks, inns etc. through out their kingdom to uplift the lives of the commoners.¹¹

Rajasthan a desert land has always felt the need and scarcity of water from times immemorial. Therefore women here have contributed in saving and conserving every single drop of rain water. To attain their purpose, ladies of high and low birth, have always given their whole in building such bodies, tanks kunds, nadi's, zohads kinds etc. where water could be preserved and stocked (stored) easily.

The society in Rajasthan has also reciprocated these deeds of social welfare by giving honour to these ladies.

Some of such prominent ladies of Rajasthan can be enumerated as such - Rani Ummed wife of Raoganga of Jodhpur who built the Padamsagar.¹²

Ramrasedai wife of Maharana Rajsingh got the "Trimukhi Baodi" built in 1675 in Debari Udaipur. Like wise Rajsingh's daughter,

Baiji Raj constructed the huge reservoir which is famous as "Baiji Ka Kund".¹³

Similarly Bund's Maharani Bhawal Devi wife of Bhavsingh is credited to have constructed a very artistic Baodi¹⁴ likewise Majisa's Baodi in Banswara was also constructed by a lady of high esteem of royal family. There is a beautiful tank adjacent to Chomu bus stand built by the women folk of royal family.¹⁵ The Chouhan Rani of Dausa built a three storied Baodi about 7 km. from the main road at Alloda village.¹⁶ Similarly a Triple storied Baodi at Achroal, Jaipur also has a scripted monument accrediting the building of the Baodi to the royal Kachawa womenfolk.¹⁷

Besides the royal and affluent womenfolk the commoner ladies also did not lag behind in giving their contribution in conserving water and building wells, bodies, tanks etc. the Bandi Kui of Jaipur was built by a "Bandi" (Lady attendant).¹⁸

Similarly the Kotan Ki Baodi constructed by a lady weaver, Chamna Baodi of Shahpura was built by a protege of Raja Ummed Singh of Shahpura.¹⁹ Like wise the beautiful carved entrance door of Gadissar Talab Jaislmer was also built by one such protege.

It is said that water is life. Humanity can survive on this planet only if we leave ample quantity of water for our generations to come. Women being the axis of not only the family but also of the society. Therefore it can be concluded that women should play an active and dominating role in saving every single drop of water. We should also motivate all the people of this world men and women all to build and promote means of water preservation.

References :

1. Mishra Rekha, Women in Mughal India Mushiram Manoharlal, Oriental Publishers Delhi, 1965, p. 4, 56.
2. Arora Sashi, Rajasthan Mai Nari Ki Sthithi , Tarun Publisher, Bikaner - 1981, p. 3.
3. Agarwal Anil, Agarwal Sunita, Dying Wisdom Centre of Science and Environment, Delhi - 1999, p. 144.
4. Kane Dr. P.V., History of Dharmasastra, Bhandarkar oriental Research Poona - 1974, Vol. II, Part II, Chapter 26, p. 112.
5. Rigved, X. 107, 10.
6. Vishnu Dh.s (Chapter 91. 1-2), P.V. Kane, p. 890.
7. V.Z. (S.B.E. Vol. 29, page 134-135), P.V. Kane, p. 890.

8. Rogers and Beveridge Tuzuk-e-Babri, Vol. II, p. 117.
9. Francisco Pelsaert, Jahangir's India (Translated by W.H. More Land), Cambridge - 1925, p. 225.
10. Tavernier, Vol. I, p. 49.
11. Roy Kum Kum, Women in Early India Societies, Manhor Publication, Delhi - 1999, p. 287.
12. Vyas Gopal, Rajasthan Ke Itihas Ki Shodh Vividhtha or Vivechna, Ankur Publication, Udaipur - 2008, p. 140.
13. Vyas Gopal, Rajasthan Ke Itihas Ki Shodh Vividhtha or Vivechna, Ankur Publication, Udaipur - 2008, p. 141.
14. Puravaibhav Hadoti, Javahar Kila Kendra, 2011, Rajasthan Sarkar, p. 52.
15. Singh Dr. Ragnevendra, Jaipur Kai Athihasik Smarak Aur Shilalekh, Tara Prakashan, Jaipur - 1994, p. 5.
16. Singh Dr. Ragnevendra, Jaipur Kai Athihasik Smarak Aur Shilalekh, Tara Prakashan, Jaipur - 1994, p. 56.
17. Singh Dr. Ragnevendra, Jaipur Ke Athihasik Smarak Aur Shilalekh, Tara Prakashan, Jaipur - 1994, p. 69.
18. Kavi Raj Shyamal Das, Vir Vinod, Rajyantrlya Udaipur, History of Mewar, Part II, p. 1261.
19. Gupta Mohan Lal, Ajmer Zile Ka Sanskritik Aur Athihasik Adhiyan, Rajathani Granthagar - 2004, p. 150.
20. Mishr Anupam, Aaj Bhi Khre Hai Talab, Gandhi Shanthi Prathishthan, 2000, Delhi, p. 34.

Tradition of pre-census estimation of population in Rajasthan

Dr. Jibraeil

The development of Rajasthan Historiography is an interesting theme in various traditions and it attracts the scholars who are affianced to investigate the regional documents. In this connection, an attempt is made to have a close look on the nature and character of the principal sources which provide scanty direct as well as indirect information about population in historical perspective and socio-economical structure in Rajasthan from seventeenth century onwards.

It is interesting to note that the demographic history is defined as the statistical study of the human population. In some respect, of course, the demographic regime associated with the size of India's population during the 17th-18th century which increasingly attracted the attention of historians¹. In this context, endeavour to estimate the population, particularly for the pre-census period, requires careful scrutiny of the available data. No census of a comprehensive nature seems to have been organized before the British rule². One can therefore rely only on the indirect data available in the archival records. The sources on which we are heavily relied are: the Nainsi's Khyat and Vigat; Arhsatta, Yadidasti, Toji-do-varkhi-bajetalke, Sava bahi, James Tod's Annals and Antiquities and modern works especially of S.P. Gupta and B.L. Bhadani.

In this regard, the present study for the pre-census estimation of population is based on the house-plough count, tax collection such as Jhumpari, Kholadi, and Dhuwan and also count of houses by James Tod.

(I)

Nainsi, in his Vigat and Khyat offers some very useful statistical data which enable us to attempt an estimate of population of a limited region, namely Marwar by the middle of the 17th century.

Two kinds of data are provided by Nainsi for this exercise for the period 1654-63: First, the number of ploughs for a number of villages, and Secondly, the total number of houses counted in almost all pargana-headquarters of a number of towns of Marwar, which help us to know the size of the urban population. Some times he also records the number of houses in a village, but such figures are rare and incomplete, too, since the number of houses recorded generally seems to have belonged to the superior castes or the rich people. The size of the rural population can, therefore, be estimated only on the basis of the number of ploughs furnished by Nainsi.

(II)

Arhasatta document provides information about Jhumpari Tax³. We can work-out the population on the basis of tax collection from the Jhumpari (house/hut). For instance; In pargana Naraina (AD 1730), the total number of Jhumparis on which the tax was realized was 823, out of which 14 huts belonged to the *begarias* (the depressed castes, subject to begar or forced labour)⁴. If 823 huts multiplied by 5 (assumed conventional rate), the total population comes to 4114, while the population of *begarias* comes to 70(14x5). A document *Yadidasti haqiqat hal bail jubani patel patwari pargana Chatsu* also provide a significant data regarding the castes, ploughs and number of peasants and professional groups in the pargana which help us to work-out the population⁵.

Another document of Kota is *tojido-varkhii-bajetalke* which offers numerical strength and names of non-agriculturist house holds such as artisans and menial castes under *Kholadi Tax*⁶. This cess *Kholadi* was realized as fixed rate from the non-agricultural population of rural as well as urban sector, while peasants paid land revenue and *Bighori*⁷. It was realized from the artisans and menials, living at different areas of Kota⁸. For the clear understanding following table has been prepared for a *qasba Sangod* (Kota)⁹.

Table-I
Qasba Sangod (VS1798/AD1741)

S.No.	Name of the Caste	Number of Houses	Population X 5*
1	Teli	15	75
2	Dhobi	12	60

3	Kharol	13	65
4	Chhinpa	07	35
5	Kumbhar	12	60
6	Julaha	53	265
7	Chamar	07	35
8	Kalal	22	110
9	Pinjara	12	60
10	Sunar	06	30
	Grand Total	159	795

Source: Based on *tojido-varkhii-bajetalke*, available in Rajasthan State Archives, Bikaner.

* Population= Number of houses multiplied by 5 (assumed conventional rate).

In table-I, the total number of castes is ten with their total number of houses 159 in AD 1741. It means that if we multiply the number of houses (159) by 5 (assumed conventional rate for each householders), the total population comes to 795. Of these the dominating caste is *Julaha* (265) followed by *Kalal* (110), *Teli* (75), *Kharol* (65), *Dhobi* (60), *Kumbhar* (60), *Pinjara* (60), *Chhinpa* (35), *Chamar* (35) and *Sunar* (30)¹⁰.

The records of Bikaner are available in *bahis* under different designations such as: *Kagad bahis*, *Haboob bahis*, *Zagaat bahis*, *Sava bahis* etc. The informations in *Sava bahis*¹¹ are useful for the estimation of population. The *bahi* records the number of houses inhabited by members of various castes or groups with their *Dhuwan tax* (house tax)¹². Table II (a) and II (b) has been prepared for better understanding.

Table-II (a)

Baniyas: Qasba Churu (VS1880/AD1823)

S.No.	Name of the Caste	Number of Houses	Population X 5
1	Potdar	09	45
2	Sarawagi	10	50
3	Khemaka	12	60
4	Bajaj	07	35
5	Mitari	07	35
6	Parakh	07	35

Rajasthan History Congress - 85

7	Goyandak	07	35
8	Kandoi	05	25
9	Kothari	04	20
10	Miscellaneous	138	690
	Grand Total	206	1030

Source: Based on Sava Bahi, available in Rajasthan State Archives, Bikaner.

Table-II (b)

Non-Baniyas: Qasba Churu (VS1880/AD1823)

S.No.	Name of the Caste	Number of Houses	Population*
1	Chhinpa	05	25
2	Jat	18	90
3	Mali	36	180
4	Meghwal	14	70
5	Mochi	15	75
6	Rangrez	21	105
7	Sunar	16	80
8	Teli	41	205
9	Manihar	08	40
	Miscellaneous	58	290
	Grand Total	232	1160

Source: Based on Sava Bahi, available in Rajasthan State Archives, Bikaner.

As above two tables II (a) and II (b) show the evidence of house-count enable us to make an estimation of population of *baniyas* and non-*baniyas* in qasba Churu¹³. Same method (as earlier adopted) applied to get the total population of *baniyas* to 1030 (206x5). Of these Khemaka has the highest position with 60 (12x5) followed by Sarawagi (50), Potdar (45), Bajaj (35), Mitari (35), Parakh (35), Goyandak (35), Kandoi (25) and Kothari (20)¹⁴. The total population of non-*baniyas* comes to 1160 (22x5). Of these the dominating position is of Teli (205) followed by Mali (180), Rangrez (105), Jat (90), Sunar (80), Mochi (75), Meghwal (70), Manihar (40) and Chhinpa (25)¹⁵. While in both of the tables, miscellaneous figure of (690) and (290) respectively are dominating ones¹⁶.

(III)

James Tod continued the tradition of the estimation of

Rajasthan History Congress - 86

population and attempts to work-out the population of the area about which he was writing. He visited different states and districts and provide us statistical information about the urban population in the first quarter of the 19th century¹⁷. For the clear perceptive at a glance, the following table is being furnished.

Table-III

A Comparative Study of Tod's Estimation of Population:

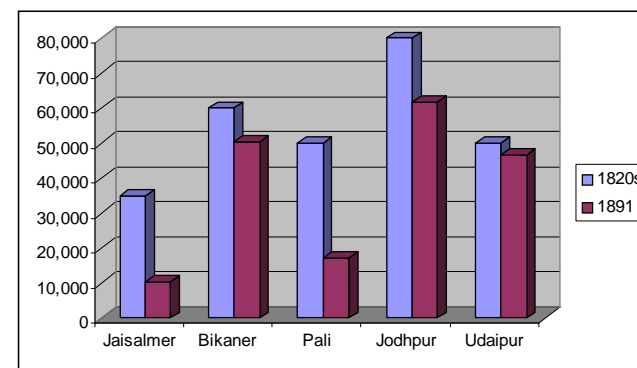
1820s with Census 1891

Towns	No. of Houses 1891	1820s	Houses x 5
Jaisalmer	7,000	35,000	10,509
Bikaner	12,000	60,000	50,513
Pali	10,000	50,000	17,156
Jodhpur	NA#	80,000	61,700
Udaipur+	10,000	50,000	46,693

Source: Tod's Annals and Antiquities of Rajasthan (all three Volumes)

NA-Not Available houses (but population is available)

+ No. of house of Udaipur: 3,500 in 1818, while 10,000 in 1822, recorded by Tod.



Graph: Shows de-urbanization

Source: Based on Table-III

Over all, Tod's data for pre-census period is extremely useful which enable us to make a comparative study with that of any census year i.e.1891 (see tab-III and Graph). The result drawn from this

AD1666.

6. Literally a Kholadi is a house tax on a professional who was engaged in production on village or town. See Madhu Tandon Sethia, Rajput polity-Warriors, Peasants and Merchants (1700-1800), Jaipur, 2003, pp. 91-92. Cf. tojido-varakhi-bajetalke qasba Sangod VS 1798/AD 1741.
7. Ibid
8. Ibid
9. Tojido-varakhi-bajetalke qasba Sangod VS 1798/AD 1741.
[Another qasba Mangrol of Kota is also studied by me to estimate the Population of few castes on the basis of plough-count for the year AD 1731. In which I have been highlighted the position of Jats. See Jibraeil, "Population and Position of Jats in Kota State: A case study of qasba Mangrol", published in a seminar proceeding entitled The Jats: Their Role and Contribution to the Socio-Economic Life and Polity of North-West India, edited by Vir Singh, Vol.-3, Year 2007, pp.77-82]
10. Tojido-varakhi-bajetalke qasba Sangod VS 1798/AD 1741.
11. Sava bahi qasba Churu, VS 1880/AD 1823.
12. Dhuwan cess also called hearth or house tax. James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, pp.1128-29. [It is also explained in details by GSL Devra, Rajasthan Ki Prashasanik Vyavastha, Bikaner, 1981, p168]. Cf. Sava bahi qasba Churu, VS 1880/AD 1823.
13. Sava bahi qasba Churu, VS 1880/AD 1823.
14. Ibid
15. Ibid
16. Ibid
17. James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I, II and III.
18. [S.P. Gupta estimated the population of few centres of western Rajasthan such as Merta, Jaitaran, Phalodi, Pokaran, and Sojhat (Nainsi's data based study). He used to make an estimation of the minimum level of population of each town on the assumptions that each house was the habitation of a family presided over by one male earner, and that the family consisted of 4.5 persons(assumed rate), and then estimate the number of male earner and the total population]
19. [B.L.Bhadani studied through Nainsi's Vigat and Khyat. He estimated the size of the rural population only on the basis of the number of ploughs furnished by Nainsi. For this study he selected the villages of five parganas; Sojhat, Jaitaran, Siwana, Phalodi and Pokaran. Secondly, he attempted to work-out the relative size of the urban population on the basis of house-count. For the study of the second category he selected Sojhat, Jaitaran, Phalodi, Siwana and Sanchor. He also adopted the same method (house count multiplied by 4.5) following S.P.Gupta].

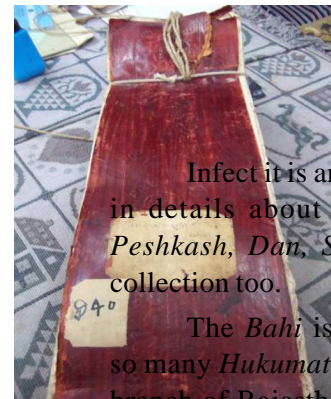
Tax on Cattle and the Estimation

of Their Population in Jodhpur

(A case study of Jodhpur Hukumat ri jamabandi bahi V.S 1850)

Kanchan Lawania

The present article is primarily based on a Rajasthani source known as "Jodhpur Hukumat ri Jamabandi V.S. 1850". This *Bahi* is preserved in Jodhpur, the branch of Rajasthan state Archives, Bikaner.



In fact it is an account book, which gives valuable information in details about the various taxes such as *Faijbal*, *Talbana*, *Peshkash*, *Dan*, *Serino* Cattle tax etc. and their estimation and collection too.

The *Bahi* is written in *Muriya* (*Marwari*) script. There are so many *Hukumat Bahis* of different princely states in the Jodhpur, branch of Rajasthan State Archives, Bikaner. But for this paper I have consulted only the *Jodhpur Hukumat ri Jamabandi V.S.1850*, which provides us with information regarding the taxation system of the pargana Jodhpur

Pargana Jodhpur was a very important unit of administration of the legislative under the rule of the Government of Rathor State Marwar.

During 18th century Jodhpur State was composed of nine

parganas. out of these, pargana Jodhpur was the Central and largest one. Therefore it occupies an important place in the state.

Geographically the region lies between the *Indus* and *Sutlej* basin on the west and the *Aravalli* range on the east.

Among the later dynasties which ruled over Marwar in the early medieval period one was the Rathor dynasty. Its founder was Rao Siha son of Setram the letter: was the grandson of Raja Jaichand Rathor of Kannauj, who lost his kingdom to s in A.D. 1193

In A.O 1459, Rao Jodha, successors of Rao Siha, laid the foundation of the famous fort as well as the new city of Jodhpur after his own name. At this time the Capital of Marwar was shifted from Mandor to Jodhpur and remained the capital of Rathor State Marwar till the decline of Mughals.

In the Mughal Administration, Pargana Jodhpur was under the *Mughal Sarkar* of Jodhpur (Consisted of Sirohi, Nagaur and Bikaner), belonging to *Suba Ajmer*.

The state apparatus was depended on revenue extraction from the peasant and non- peasant population. So the State had given the right of various taxes, near about one hundred one, from the villagers under various denomination; tax on animals, is one of them.

This *Bahi* provides the data of breeding and grazing rates of animals, the number of cattle and an income from these. An attempt is made here to set out a tentative classification of the taxes which was imposed on keeping animals. First is to define the taxes, and second to work out their population in the pargana.

***Evar bab* (Tax on Sheep)**

The state used to realize a tax on sheep which was known as the *evar bab*. The term *evar* means the herd of sheep.

Sheep plays a very important role in the economy of the state. It was a major source of livelihood to a large percentage of the population of the western part of the state. They provided milk, ghee, wool and valuable manure as also meat.

Jaisalmeri, Marwari and Kheri were the most popular breeds of sheep all over the state of Marwar.

In Pargana Jodhpur, *Evar bab* was levied at one *Anna* per sheep. The following table shows the incidence of this tax in different *Taffa* villages of pargana Jodhpur;-

Table-1

S.No.	Name of Taffas	No. of villages	No. of Sheep	Total Realization of the tax (In. Rs)
1.	Haveli	49	4029	251.81
2.	Osia	21	1820	113.75
3.	Dunara	10	1127	74.81
4.	Pipad	13	1093	68.31
5.	Kathana	11	533	33.31
6.	Rohath	5	2212	138.25
7.	Aasop	5	1154	72.12
8.	Bhadrajan	5	1116	69.75
9.	Bahelva	2	425	26.56
10.	Kherva	2	225	14.06
11.	Gudochra	2	490	31.00
12.	Gajsinghpura	2	350	21.87
13.	Sena	1	10	.62

From the table, it is seen that taffa Haveli has maximum numbers of villages and the sheep. While taffa sena has only one village or only ten sheep so the State received maximum income of the tax from taffa Haveli and minimum from sena i.e. Rs .252 and Rs. 0.62, despite of the same rate of the tax throughout the paragana.

Uoont bab (Tax on camel)

The terms *Uoont bab* consists of two words i.e. *Uoont* and *bab* the former means camel and the later means tax, used to asses taxes on camel.

The *Bahi* records the assessment of the tax only on the camels owned by the *Bishnois* and *Mahajans*. Besides, these two castes there were others too, who used to breed camels. Why they are not mentioned is not clear to me.

The camel, called the ship of desert, was another valuable animal which played no mean part in the economy of the desert, it was not only the chief means of transportation in desert area of

Jodhpur, but also used in agriculture operation and warfare.

The rate of *Uoont bab* was uniform but high on the *Mahajans* and less on the *Bishnois*. It was levied from *Bishnois* at the rate of Rs. 2 per camel, and Rs. 3 for *Mahajans*. It means that the *Bishnois* were assessed at concessional rates while *Mahajans* were charged at higher rates.

In the following table we described about the tax income of *Uoont bab* at different villages of all *Taffas* of Jodhpur Pargana.

Table-2

S. No.	Name of Taffas	No. of Villages	Total Number of		Amount of tax in Rs.	
			Camel	Vishnois	Mahajans	
1.	Haveli	15	26	91	117	325
2.	Pipar	6	10	16	26	62
3.	Lavaire	8	2	30.5	32.5	95.5
4.	Osia	27	27.5	287	341.5	1226
5.	Kothana	7	31	28	59	146
6.	Baihelva	5	-	11	11	1833
7.	Aasop	3	1	7	8	23
8.	Setra	4	8.5	18	26.5	817
9.	Bhadrajan	2	3	2	5	12
10.	Kaitu	2			*	950
11.	Daichhu	1			*	240

*The number of camels is not given in the *s* for *Taffa Kaitu* and *Daichhu*.

As we see from the table that the highest amount of *Uoontbab* was received from *Taffa Baihalva* while it has only 11 *uoont of Mahajans*, the reason was that the state had fixed the amount of tax for the *Taffa* i.e. called *Alal Hisab* including the number of camels too. *Taffa Kaitu* and *Daichhu* also paid *Alal Hisab* of *Uoont bab* to the state without having sufficient number of camels. There was a quite relaxation for *Bishnoi* Sect in paying the tax i.e. one rupee less than *Mahajans* and *Lokas*.

Balad bab (Tax on Bullocks)

The term *Balad* means bullocks or male cows. The state used to realized a tax on a pair of bullocks from the owners, who

breeds bullocks for plough-driving as well as water lifting i.e. known *Balad bab*. It was charged at one rupee on per head of bullock in the Pargana Jodhpur.

Table-3

In the following table the amount of *Balad bab* is given for Pargana Jodhpur in V.S. 1850.

S. No.	Name of Taffas	No. of villages	No. of Bullocks	Amount of the tax (In Rs.)
1.	Haveli	58	2045	2045
2.	Kothana	19	494	494
3.	Bhadrajan	7	475	475
4.	Pipar	15	394	394
5.	Aasop	8	261	261
6.	Pali	8	230	230
7.	Khairva	4	178	178
8.	Bhaihelva	3	107	107
9.	Kheevsar	5	79	79
10.	Gudochara	3	78	78
11.	Osia	30	1221	1221

As we see the table, that the number of bullocks is equivalent to the amount of the tax. In *Taffa Haveli*, the number of bullocks was highest while it was lowest in the *Taffa Gudochara*. It means the state received the highest amount of the tax from *Taffa Haveli* and lowest from *Gudochara*, i.e. Rs.2045 and Rs.78.

Bhains bab (Tax on Buffalo)

The term *Bhains* means buffalo, the people, who bredded buffaloes for milk and other dairy products, had to pay *Bhains bab* in the Rathor State of Marwar. The Pastoral community of the States earned their livelihood by selling of Buffalo's milk and the Ghee. It was levied at the rate of Rs.2 per *Dujani* and Rs. 1 per *Aahini* buffalo in the Pargana. The *Dujani* was more milchy than *Aahini*. So the people, who had kept this kind of buffalo, paid one rupee more than *Aahini*.

The following table shows the number of villages of each *Taffas* of Pargana Jodhpur, total number of buffaloes included

Dujani and *Aahini* and the amount of the tax, which received by the state of Marwar.

Table-4

S. No.	Name of Taffas	No. of Villages	Total Buffaloes	Number of Aahini	Dujani of the tax in Rs)	Amount
1.	Haveli	47	99	126	225	324
2.	Oria	24	35	64	99	134
3.	Kothana	15	22	54	76	98
4.	Pipar	11	16	16	32	48
5.	Aasop	8	33	39	72	105
6.	Bhadrajan	7	37	30	67	104
7.	Pali	6	15	19	34	49
8.	Kheevsar	3	3	6	9	12
9.	Khairva	3	5	7	12	17
10.	Bhaihelva	2	7	3	10	17
11.	Gudochara	2	10	4	14	24

The table shows that the highest amount was received from *Taffa Haveli* among the all *Taffas* of Pargana Jodhpur due to the maximum number of buffaloes. The number of *Dujani* buffaloes was less than *Aahini* in the Pargana *Taffa Haveli* has the maximum number of *Dujani* while it was minimum in *Taffa Kheevsar*, *Taffa Bhaihelva* has minimum number of *Aahini* buffaloes.

Bartho bab (Tax on male buffalo)

The term *Bartho* means male buffalo. So the *bartho bab* was a tax on the male buffalo. There was a big demand of *Barthos* for carrying goods and heavy loaded to far off places in Marwar during the 18th century. The people of the pargana, who used to keep *Bartho*, had to pay *Bartho bab* to the state. It was charged at the rate of *eight Annas*. Per head in V.S. 1850 in pargana Jodhpur. *Mura* was the main breed of male buffalo in all over the state.

Following table shows the number of male buffalo and the income from it.

Table-5

S. No.	Name of Taffas	No. of Villages	No. of	Amount of the tax (in Rs.)
1.	Haveli	19	69	34.50
2.	Pilar	3	10	5.00

3.	Aasop	2	14	7.00
4.	Kheevsar	3	5	2.50
5.	Kathana	2	8	4.00
6.	Pali	3	5	2.50
7.	Khairva	2	4	2.00
8.	Bhadrajan	4	8	4.00
9.	Osia	11	171	85.50

Above table shows that *Taffa Osia* has maximum number of male buffalo in comparison of other *Taffa* i.e. 171 and the tax income from this was Rs.85.50.

On the basis of above information provided in our sources, we attempted to calculate the number of each cattle per village of every *Taffas*. It is further multiplied by the total number of *Aavadan Basta* villages of all *Taffas* of Pargana Jodhpur. As per estimation the average sheep per village of *Taffa Haveli* was 82, similarly it was 87 per village of *Taffa Osia*, 119 for *Dunara*, 84 for *Pipar*, 48 for *Kothana*, 442 for *Rohath*, 230 for *Aasop*, 223 for *Bhadrajan*, 212 for *Bahelva* and 112 for *Kherva*.

The following table indicates the estimation of the total number of cattle separately.

Table-6

S. No.	Name of Taffas/Tappas Villages	Total	Total no. of sheep	Total no. of Camel	Total no. of Bullock	Total no. of Buffalo	
1.	Haveli	207	16974	1656	7245	1835	621
2.	Osia	79	6873	1027	3160	316	1264
3.	Dunara	33	3927	#	#	#	#
4.	Pipar	69	5796	276	1794	138	207
5.	Kothana	52	2496	416	1352	260	208
6.	Rohath	19	8398	#	#	#	#
7.	Aasop	16	3680	48	231	63	49
8.	Bhadrajan	56	12488	168	3808	560	112
9.	Bahelva	35	7420	70	1260	175	#
10.	Kherva	7	784	#	308	28	14
11.	Lavaire	51	#	255	#	#	#
12.	Setra	5	#	35	#	#	#
13.	Pali	28	#	#	812	168	56

Rajasthan History Congress - 97

14	Kheevsar	19	#	#	285	57	38
15	Gundochara	5	#	#	130	35	#
16	Kaitu	15	#	#	#	#	#
17	Daichhu	7	#	#	#	#	#
	Total	703	68836	3951	20385	3635	2569

mark indicates the not availability of the cattle.

From the analysis of above table it could be concluded that among all the cattle, population of sheep came very large which indicates that sheep was considered the sound wealth of Jodhpur towards the end of 18th Century. There were also some *Taffas*, where the number of particular cattle was not mentioned such as in *Taffa Lavaire and Setra*, no statistics except camel was mentioned while for *Taffa Pali, Kheersar and Gundochara*, statistics relatively to bullock, buffalo and male buffalo are given.

Table-7

Comparison of cattle population in Pargana Jodhpur

S.No.	Name of animals	% age of Population in	
		A.D. 1773	A.D.1911
1	Sheep	69.26	81.02
2	Camel	3.97	1.57
3	Bullock	20.51	13.78
4	Buffalo	3.65	2.61
5	Male buffalo	2.58	1.01

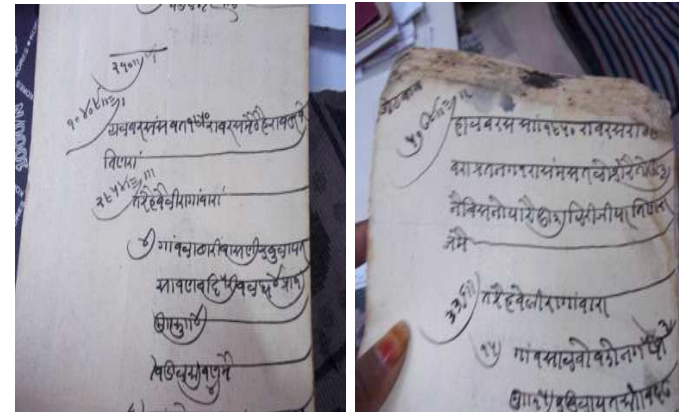
In the above table, an attempt is made to compare the proportion of the cattle population of 1793 (as calculated before) with the Cattle Census of Marwar for A.D.1911. In this analysis the population of all cattle except sheep declined by the starting of 20th century.

The population of sheep increased from 69.26 in 1793 A.D. to 81.02 in A.D. 1911. It may be due to deliberate efforts towards the rearing of sheep.

The objective of the present paper is to explain and interpret the different taxes and their nature with extent especially pertaining to animals. Moreover it provides in depth insight in the taxation system prevailing in Jodhpur State. This is not an exhaustive study

Rajasthan History Congress - 98

but a selective. At last it can be said that pastoral remained an important sector in the economy of Jodhpur at the closing of 18th century.



Role of Untouchables in the Freedom Movement: A Case Study of the Bairawas in Rajasthan

Pradeep Kumar Yadav

In terms of area the largest state of India, but scarcely populated, the state of Rajasthan lies to the west of India. Perhaps due to the paramountcy of the Rajputs in this part of the country, the British called it 'Rajputana' just as the provinces dominated by the 'Gonds' and 'Telangas' were given the name of Gondwana and Telangana. Mr. George Thomas in 1800 A.D. was the first to call this tract of the country as 'Rajputana' for it was a stronghold of the Rajput rulers. Of twenty-two princely states, nineteen were ruled by Rajputs, only two were Jat states, and one was ruled by Muslims.

Rajasthan has its own unique geographical, social and cultural features that impact the lives of *Dalits* within the province. It's adverse climatic conditions, where livelihoods are intimately connected with the pattern of landholding and water sources, and its [decadent] feudal history, which increases the caste system's stranglehold over the society, has deep seated implications for *Dalits* and the discriminatory practices against them.

There is a general academic and popular perception that the Untouchables or the Scheduled Castes had not participated much in the freedom movement. Such impression happens to be derivative of the ancient or traditional notion of the Untouchables being merely an object rather than subject in the socio-economic and political activities of that time, which is still visible in the contemporary period. Contrary to such impressions, however, there are ample empirical evidences, which suggest that the Untouchables have all along been subject or active players in the multiple trends of the freedom movement, which happened to be one such context in which the Untouchables have actively participated in various forms like organizing agitations and protests, sitting on dharanas (silent agitations simply by sitting at one place), Satyagrah and so on. But what is

missing is their cognizance in the mainstream historical accounts of the freedom movement.

The Indian historians, by and large, do not acknowledge the positive role of the Dalits either in their own movements or in anti-colonial struggles. The only paragraph that Mazumdar devoted to Dalits, describe them as objects of philanthropic and social work conducted by others. In his later work Mazumdar refers to Ambedkar and Dalits as mere political bargainers of the 1930s and 40s struggles which ultimately led to independence. However, his long depiction of Dalits, portrayed social reformers, Congress and Gandhi as the primer movers, while Ambedkar is cast in the role of perceptive critic. R. R. Sethi refers to the Dalits only in connection with the Communal Award of 1932 and as objects of 'uplift' work. Bipan Chandra confines his treatment of Dalits to a three page section on 'the struggle against caste' in his textbook, but he gives them a more activist role his predecessors. However, this cannot be said of his recent work, which is concerned only with Gandhi's "Harijan uplift movement". Finally, Sumit Sarkar reluctantly includes a brief treatment of the Mahar movement, but in his discussion of the 1930s only the Gandhian Harijan campaign is highlighted.

At the national level, the leadership of the untouchable castes, in this phase, was in the hands of Ambedkar (1891-1956), who had been fighting for the upliftment and emancipation of these castes. Mahatma Gandhi also continued to play an important role in the Congress Party. Mahatma Gandhi's advent in the freedom movement of India brought new dynamism and vitality. He gave a new direction to the national movement. The novel methods which he adopted for the attainment of his political goals well suited the situation. His non-violent non-co-operation proved very successful. His new methods not only converted the national movement confined to urban intelligentsia to a mass movement but also emboldened the common masses. He instilled in them confidence and broke the charm of British invincibility. In this regard, it is pertinent to highlight that in Gandhi's heroic effort to break the vicious circle of repression and non-violence, during the Quit India Movement, the government succeeded in crushing the 1942 Movement or the August Revolution. Of course, it was only a question of time and determining the actual mechanics of the transfer of and the pattern of government that the

country was to have after independence. In fact, it was an open war against the British for India's independence and the whole country was electrified and the government machinery was successfully paralyzed.

It is necessary to mention, the social and political awakening of the Untouchables from 1942 to 1947 in order to understand the contribution made by them and the participation of their grass-root workers-leaders from northern India in the freedom struggle. It would be quite relevant to recall the consciousness of the Depressed Classes or the Untouchables or Scheduled Castes or the Dalits that had been gaining momentum from the time of Mahatma Jyoti Rao Phule (1827-1890) in Maharashtra. In the later period, Dr. Ambedkar provided a definite impetus to this consciousness and heightened it to the then ongoing all India movement of the Untouchables. We analyse in this paper, the role of Bairwas in the freedom struggle in Rajasthan.

Dalit communities comprise roughly one fifth of the total population of Rajasthan. Meghwals, Jatavs, Bairawas, Chamar, Bunkar, Raigars, Balais, Khatik, Jatias, and Gingar are the major communities. Yet, only a few *Dalits* were in administration, bureaucracy and the legislature. Leatherwork has been the traditional occupation of the dominant *Dalit* castes. However, this has been changing and today *Dalits* are found doing "menial" work of other kinds too.

Bairwas are mainly found in Alwar, Sawai Madhopur, Jaipur, Dausa, Karauli, Kota, Ajmer, Bhilwara and Tonk districts. It is not clear whether the Berwa and Berwar (or Birwar) are one and the same. Crooke (1896) mentions Berwar or Birwar as a Rajput set found in the UP districts of Ghazipur, Azamgarh and Faizabad, who are 'supposed to have come under the auspices of the Narauliyas, whom they assisted to expel the Cheros. In Azamgarh they are said to be both Rajputs and Bhuinhars, and not rank high among either. Bairwas are economically better off than many other *Dalits* of Rajasthan. In urban areas they engage in petty business and provide labour, and in rural areas they are mainly marginal farmers and agricultural workers. The Berwa are a landowning community. Their traditional occupation is shoe-making but now their primary

occupation is agriculture. They are also engaged in labour activities and petty trade. Berwa society is divided into different exogamous clans, namely Mehar, Jatwa, Marmat and Tatwara. They consider themselves lower castes in the social hierarchy and place themselves in the Sudra category of the chaturvarna system.

The first occasion was in the mid-1930s, when the Bairwas, a Dalit caste, defied the *savarnas* of the village by cooking *desi ghee* (clarified butter), which the casteist tradition forbids them from doing. The substance is not only a "luxury" associated with *savarna* consumption; it involves the cow, with its special status in the Hindu sacred order.

Bairawa leadership organized several campaigns for equal rights for them. It enabled its community people to achieve the social, cultural, educational, political consciousness among its community members. The feeling of self-respect and intrinsic dignity had been resorted to the community through the organisation.

Shyam Lal analysed a self-reform organisation formed among the Bairawa caste in Rajasthan. It urged its fellow community to educate themselves. It is very significant to mention here that these self reform organizations emphasized the need for internal reform of the community which led to establish its importance of its standing in the Hindu society. These mass actions were intended to secure access to schools as well as non-traditional occupations, and were designed to mobilize the Bairawa community. He also discusses the history of the Bairwa movement from its early days of self-reform through social and cultural activities, formation of all India organisation, "Akhil Bharatiya Bairwa Mahasabha", their gains and failures, the quest for the new identity, their interaction both with Indian National Congress and other political parties.

It was not until the early twentieth century that the Congress Party's nationalist movement took root in the then princely states of Rajputana, though some of the educated and nationalists got momentum through the Swadeshi movement and through the introduction of the activities of the press. In Ajmer, the first issue of the Rajasthan Times, an English weekly, was published on Thursday, the 8th August, 1885. Alongwith these activities, the Swadeshi movement was also endeavouring to awaken the masses in the last

quarter of the 19th century. Swami Dayanand Saraswati was the first social worker who, long before, had stressed on assumption of the Swadeshi. But Rajputana became politicized, only after 1938, because of the *Prajamandal* a form of political organisation established in its various Rajputana states – Bikaner, Jaipur, Jodhpur, Kotah and Udaipur and in several of the smaller states, notably Alwar, Bharatpur and Sirohi all of which bordered British India. By 1946 organizations had been established in the others.

In the year 1934, the political atmosphere in Udaipur (Mewar) was also very much suffocating. The people were demanding right to speech, liberty, formation of association, etc. but the state administration was not prepared to accede to these demands. As such, in the year 1937-38, a satyagrah movement was launched under the dynamic leadership of Maniklal Verma (1888-1969), a staunch follower of Gandhi and a leader of the Congress Party. Manikyalal Verma and his associates established the “Mewar Prajamandal” in April 1938. Balwant Singh Mehta and Bhuralal Baya were elected as President and Vice-President respectively and Verma as Mahamantri (General Secretary) of the *Prajamandal*. On 4th October 1938, the Prajamandal launched a civil disobedience movement which immediately spread all over the state. The Satyagrah Movement also started in Nathdwara, Chhittorgarh and Bhilwara and a large number of satyagrahis, including Bhuralal Baya, Balwant Singh Mehta, Ambalal Joshi, Amratlal Yadav (Chamar), Jaichand (Raigar) and others were arrested. All these satyagrahis were sentenced to various terms of imprisonment.

In 1942, Harishankar Sidharth Shastri, a Bairwa from Jaipur, became member of the Jaipur Prajamandal and took active part in the agitation. This provided an opportunity to the members of the Bairwas community to involve themselves, in more numbers, in the national struggle. The Bairwa youth, along with those of the upper castes, marched into the main Bazars (market areas), holding national flag, and demonstrated, under the leadership of Chiranjilal Agarwal, Shiv Bihari Tiwari, Hiralal Shastri, Tika Ram Paliwal and Desh Pande, against the repressive policy of the state government. A number of demonstrators, including Ramchand, Bhura Lal Patel, Nathu Patel all from Top-Khana; Banwari Lal Patel, Govind Pujari,

Rewas Ram all from Babu-ka-Tiba and Shankar Lal Narain Zhandewala were arrested and tortured. Besides the Bairwas, a few kolis and Bhangis also took active part in the movement. They were Mewa Ram and Mangilal from the Kolion-ki-Bustee, Kalu Ram Pradhan from the Purani Bhangi Bustee; Master Ram Narain from Gandhi Mori; Master Motilal from Chaura-Rasta Bhangi Bustee and Ram Chandra from Raigaro-ki-Bustee. The Bairwas' enthusiasm of participation in the nationalist movement was at its peak during this period.

To sum it up, the activities of the Untouchables during Freedom Movement in the princely states of Rajputana, with enthusiasm and confidence, succeeded at least in creating a feeling of resentment among the lower castes (Untouchables communities) against the local rulers. The participation of the Dalits like Shiv Prasad Marmat, Harishankar Sidharth Shastri, Bhuralal Patel, Kalu Ram Pradhan, Mewa Ram, Mangilal etc. produced a lot of socio-political awakening and ardour, and the cause of the ‘Swaraj’ (self-rule) grew stronger. Similarly, during the movement, it was also noticed that the views of Gandhi encouraged the Ambedkarities to adopt the various patterns of opposition to the attitude adopted by him, thus, resulting into a conflagration. Another important factor, which came to light during the freedom movement, in a way, helped in emergence of national consciousness by opposing an alien government at different times and at different places.

In Persian the plural of Rajput is ‘Rajputan’. It is most probable that Rajputana was derived from ‘Rajputan’. The district derives its name from the headquarters town of Ajmer. Before independence, Ajmer-Merwara was an isolated province of British India in Rajputana. It comprised two districts, viz., Ajmer and Merwara.

References:

1. B.N. Dhoundeyal, *District Gazetteer, Ajmer*, Sharma Brother Electromatic Press, Alwar (Raj.) 1966, p. 1.
2. Franklin, William, *Military Memoirs of Mr. George Thomas*, London, 1805, p. 347,
3. Tod, James, *Annals and Antiquities of Rajasthan*, 3 Volumes, 1990, Delhi, Lower castes Price Pub., A. Vadivevelu, *The Ruling chiefs, Nobles and Zamindars of India*, Vol. 1, Madras, G.C. Lonanadhan Bros, 1915,

- Vadivelu provides sketches of 240 Ruling chiefs and 60 Notabilities; A.C. Banerjee, *The Rajput States and the East India Company*, Calcutta, 1951; A. Mukherjee, *Rajputana Gazetteer*, Calcutta; Superintendent of Government Printing, 1879; *The Ruling Princes, Chiefs and Leading Personages of Rajasthan and Ajmer*, Calcutta, Government Pub., 1924
4. Bhalla, L.R., *Geography of Rajasthan*, Kuldeep Pub. House, Jaipur, 2007
 5. See Introduction of Daroka, Priiti, *Dalit Women in Rajasthan: Status of Economic, Social & Cultural Rights, Programme on Women's Economic Social and Cultural Rights*, Fact-Finding Mission Report- 1
 6. Untouchability is the criterion and it being peculiar to the Hindus, those Hindu castes that were regarded as untouchables by a society were included under the Government of India (Scheduled Caste) order, 1936 made under the Government of India Act 1935. Under Article 46 of the Indian Constitution it was made compulsory for the State to take special interest in the fate of the weaker sections of our society and to promote their goodwill and welfare. And so much castes were described as being scheduled because detailed provisions as to such castes is made in a schedule (Fifth Schedule) to the Constitution.
 7. Mazumdar, R.C., ed., *An Advanced History of India: Modern India*, part III, London, 1958, pp. 959-960
 8. Mazumdar, R.C., *The History and Culture of the Indian People: Struggle for Freedom*, Bombay, 1969, pp. 479, 494, 521, 696, 731
 9. Ibid., pp. 523-525 and 1000-1012
 10. Sethi, R.R., "The Last Phase: 1919-1947" in H.H. Dodwell, *The Indian Empire, 1858-1918*, vol. VI, Delhi, 1958, pp. 630-32, 685-686.
 11. Chandra, Bipan, *Modern India: A Text book of History for Secondary Schools*, NCERT, New Delhi, 1971, pp. 231-233.
 12. Chandra, Bipan, et al., *India's Struggle for Independence 1857-1947*, Penguin Books, New Delhi, 1988.
 13. Sarkar, Sumit, *Modern India, 1885-1947*, Delhi, 1983, pp. 56, 243, 328-330
 14. Gangte, P.M., *Netaji Subash Chandra Bose and National Freedom Movement*, Imphal Free Press, 2006
 15. Chandra, Bipan, Amales Tripathi and Barun De, *The Freedom Struggle*, National Book Trust, 1992, p. 222
 16. Bhattacharjee, J.B., *Cachar under British Rule in North East India*, Radiant Publishers, Delhi, 1977, p. 286
 17. Keer, Dhananjay, Mahatma Joti Rao Phule: The Father of Indian Social Revolution, Popular Prakashan, Bombay, 1974
 18. Dhananjay, Keer, Dr. Ambedkar; Life and Mission, Popoular Prakashan, Mumbai, 1995
 19. Crook, *The Tribes and Castes and Oudh*, Part II, 1896, p. 64
 20. Bidwai, Praful, Costly Retreat from Social Reform, *Frontline*, Vol 19, Issue 21, October 12-25, 2002
 21. Shyamlal, *Untouchable Movement in India*, Sublime Pub., Jaipur, 2002, pp. 147-149
 22. Sindhe, Jaganath R., *Organisations of Scheduled Castes and Social*, p. 54
 23. Shyamlal, Op.cit.
There were two major types of movements which developed in the Rajasthan states and each was distinct as to its origins, ultimate objectives, political activity and style, elite structure, and base of political support. The first were the *Praja Mandals*-movement which was restricted almost entirely to urban centres, although in some areas they attracted limited support from rural leaders. The urban movements did not all have common names. In Jodhpur (Marwar) state, this movement was called the *Lok Parishad* while in Bharatpur and Bikaner it was termed Praja Parishad.
 24. All India States 'Peoples' Congress, Rajasthan Regional Council, "Annual Report: 1946-47" (Manuscript)
 25. Saxena, K.S., *The Political Movement and Awakening in Rajasthan-1857-1947*, S. Chand and Company, New Delhi, 1971, p. 216
 26. Pangadia, B.L., *Freedom Movement in Rajasthan* (in Hindi), Rajasthan Hindi Granth Academy, Jaipur, 1988, p. 50
 27. Ibid.
 28. *Rajasthan*, Annual Number (in Hindi), Jaipur, 1995, p. 60
 29. Pangadia, B.L., *Freedom Movement in Rajasthan* (in Hindi), Rajasthan Hindi Granth Academy, Jaipur, 1988, p. 50
 30. Ibid.
 31. The first popular government in Rajasthan was formed in 1949 under the leadership of Hiralal Shastri, cited from www.wikipedia.com, access on 27.12.2011

Revenue Statistics of Jaipur State during the 18th Century : A Case Study of Pargana Naraina

Pushendra Singh

Presently an attempt has been made to reconstruct the economy of Jaipur State during the 18th century on the basis of the micro study of Pargana Naraina. It too provide the economic glimpses at ground level i.e. at pargana level. The study could be possible because of the revenue documents entitled Arhsatta which are available in the Rajasthan State Archives, Bikaner.

Pargana Naraina has been preferred for this analysis and concentration is only on a single year since the Rajasthani documents i. e. *arhsattas* for this year i.e. 1730 A.D. are available in its completeness. *Pargana* Naraina can be located at south west periphery of Jaipur state and surrounded by Sambhar salt lake on north, Jaipur on north and north east, *Pargana* Bhairan and Mozamabad on eastern, River Mashhi on south and Kishangarh on western side.

The Kachhwaha rulers held this *pargana* much earlier for which the references and records are available to us. Moreover in some of *chitthis*, *parganas* Naraina has been mentioned as one of the *parganas* in the *watan* of Raja. My document would however speak otherwise. The document reveals that it was held in *tankhwah Jagir* by Sawai Jai Singh comprising 85 villages worth 59,04,400 *dams*. Out of 85, eleven villages were assigned to other *mansabdars* whose names are Dev Singh, Brandavan Das, Mukut Singh and Hatti Singh.

The remaining 74 villages were assigned to Sawai Jai Singh for the amount of 48,69,400 *dams*, out of which 58 ½ villages were held in *Khalisa* where state revenue was received by Maharaja's revenue exchequer. Interestingly enough, the *Padshahi mansabdars* belonged to Khangarwat clan that is to say, they were Maharaja's own clannish people.

Now we pass on to revenue statistics of *pargana* Naraina which have been given into two main headings viz. *Mal-o-jihat* and *sair-jihat*. Further *mal-o-jihat* is divided into *Zabti* and *Batai jinis*. The list of the crops under these two heads are given below separately. We have converted the fractions in to the round figures.

TABLE-I
ZABTI (KHARIF)

Crop	Area(<i>Bigha</i>)	Rate (Rupees per <i>bigha</i>)	Amount Rs. (Range)
<i>Van</i> (cotton)	2608.19	0.97 to 1.50	2811.50
<i>Maka</i> (maize)	2097.50	1.12 to 1.62	3326.87
<i>Madhwah</i>	0137.50	1.00 to 1.62	0219.62
<i>Kodon</i>	0919.30	.99	0911.37
Sugar cane	0008.20	8.37 to 8.50	0068.40
<i>Gunwar</i>	1454.19	0.37 to 0.75	0766.31
Vegetable	0005.70	1.97	0009.22
<i>Ralo</i>	0000.10	0.50	0000.50
<i>Chola</i>	0005.30	0.78 to 1.00	0004.78
<i>Sakarkand</i>	0077.12	1.87 to 2.00	0152.97
Tobacco	0070.10	2.00 to 2.37	0175.37

Zabti: method of land revenue assessment involving the measurement of land and payment of revenue in cash.

The above table reveals the dominance of cotton followed by *Maka*, *Madhwah*, *Gunwar*, and *Kodon* respectively. These crops were sown in the larger area and fetched bulk of the revenue to the State. The rates of sugarcane although very high nevertheless it was cultivated only in a limited area.

As far as *Jinsi* crops are concerned, its details are arranged in the table given below along with its productivity and prices.

TABLE – II
JINSI (KHARIF)

Crop (<i>mans</i>)	Quantity	Average Price (rupee per <i>man</i>)	Amount Rs.
<i>Bajra</i>	11687.33	1.04	12162.25
<i>Jowar</i>	05009.65	1.02	05087.28
<i>Moth</i>	02019.45	1.06	02150.37

<i>Mung</i>	00181.67	1.17	00212.75
<i>Til</i>	00313.80	2.29	00718.81
<i>Sali</i> (Rice)	00053.95	1.29	00069.62

Jinsi: crop sharing

Above mentioned table reveals the prices of *til* was very high. It is obvious being a cash crop. It is followed by *Sali*. The other crops and pulses however remained more or less closer to each other. In the *arhsattas* different prices are given based on the villages and the town. While comparing the prices of different villages, we found not much difference. This would thus prove that there was a tendency of unified market. If one goes further beyond the one *pargana*, it would be discerned that the unified market extended from the limits of single *pargana*.

Unfortunately the movement of the prices cannot be worked out only on the basis of single year.

TABLE – III

ZABTI(Rabi)

Crop Area	Rate (Rupees per <i>bigha</i>) (Range)	Amount Rs.
(<i>Bigha</i>)		
Opium (<i>dodi</i>)	158.14 1.87 to 2.00	314.87
Tobacco	024.50 2.50 060.62	
<i>Kadakaku</i>	109.18 1.87 to 2.00	218.94
Vegetable	007.00 1.75 012.25	
Brinjal & Water melon	019.16 1.75 to 2.00	037.62

TABLE – IV

BATAI JINSI(Rabi)

Crop	Quantity (rupee/ <i>man</i>)	Price (rupee/ <i>man</i>)	Amount Rs.
Barley	24478.65	0.95	23155.15
Gram	13106.25	1.00	13106.75
Wheat	02701.80	1.40	03778.37
<i>Baijhri</i>	03542.80	0.97	03424.57
Gojai			
(Wheat & Barley)	01053.95	1.05	01109.47
Gochani			
(Wheat & Gram)	00216.27	1.11	00240.37
<i>Sarso</i>	00024.42	1.32	00032.32
<i>Dhan</i>	00000.20	1.82	00000.36

Our evidence suggests that this *pargana* had given sufficient importance to *rabi* crops. Under *Jinsi*, barley occupies significant part followed by gram. These are rich food grains. It appears that besides rains, artificial irrigation facilities were available here. This is further endorsed when we compared the value in the amount of revenue in *Kharif* and *rabi*. The revenue received in *rabi* comes to 60% while in *kharif* it is 40%. Since *rabi* crops requires capital input, it means that sufficient capital was available in this *pargana*. When we examine the revenue statistics of the villages we do not get any desolated villages in *rabi*.

While comparing the percentage of *mal-o-jihat* and *sair-jihat* we see the *mal-o-jihat* occupies 91.6% leaving *sair-jihat* only 8.4% which is natural since earlier studies have proved that the bulk of revenue was realized from *mal-o-jihat* and the *sair-jihat*. The main item under *sair-jihat* in this *pargana* were *Jhupri*, *garhi*, *bhent*, *topdar*, *tulai* and *jinsi ganj*.

Another interesting information from this document which comes to us shed light on the system of taxation. There was no uniform taxation in this region, its percentage ranged between 25,29,33,40 and 50. So the revenue demand in crop sharing was 25 percent as minimum and 50 percent as maximum, which suggests that there was an economic stratification among peasantry. It is striking to note as revealed from the following Table (V) that the maximum revenue collected was under 50% followed by 40%. In rest of the categories, the collection of revenue is not significant. The following table represents the absolute figures.

TABLE – V

Magnitude of Land Revenue Demand (in kind)			
Percentage of State Demand to total Production		Total Production	
<i>Rabi</i>	State (<i>Diwan</i>)		
50%		22626.85	11312.42 11312.43
40%		13090.32	7853.02 5237.30
33%		04285.15	2855.47 1429.68
29%		68.27	48.70 19.57
25%		489.72	367.20 122.52

In addition to this 2.81 percent was charged as *Farah* (*Jihat*). The details of *Farah* is given under the heading (*seri* which ranged

between 1.62 *Sers* and 2.62 *Sers* at the *pargana* level. This is confirmed when compared with *Destur al Amal*, *pargana* Amarsar, *Sarkar* Nagaur, *Suba* Ajmer 1726.

References:

1. *Arhsatta Mujmil pargana* Naraina V.S. 1787/1730, R.S.A. , Bikaner.
2. In Mughal revenue departments *Jama* was always fixed in *dams* which could be converted into rupees by the Ratio of 1:40. (40 *dams* to one rupee).
3. *Mal-o jihat* is comprised of *mal* and *jihat* taxes where *mal* was a tax on crop and *jihat* consisted of taxes levied in order to meet expenses in connection of *Mal*.
4. *Sair-jihat* includes taxes other than *mal* or land revenue.
5. Prof. S.P. Gupta, *Agrarian System of Eastern Rajasthan c. 1650-1750*, 1986, Delhi, p.104.
6. *Arhsatta* 1730, *op.cit.*
7. *Ibid.*
8. *Ibid.*
9. *Ibid.*
10. *Ibid.*, The rates are originally given in the *arhsattas*.
11. S.P.Gupta, *Agrarian System*, *op.cit.*, p.114.

Impact of Aligarh Movement in Rajasthan: A Study of the Contribution of All India Muslim Educational Conference

Naiyer Azam & T. Ahmad Sheikh

The All India Muslim Educational Conference has played an important role in disseminating western knowledge and modern education to the Muslims, and equally it had also served in providing Islamic and traditional educational to them throughout the Indian Sub-Continent from its inception. The great contribution made by Sir Syed and his Aligarh Movement for development of Muslim education during 19th century, was carried forward in 20th century by his successors and his associates through the platform of All India Muslim Educational Conference. Not many are aware of the fact that the farsighted Sir Syed besides, establishing the M.A.O. College at Aligarh, he established All India Muslim Educational Conference, a more widely educational platform for the Indian Muslims. The sole aim behind its establishment was to provide equal educational opportunity to the Muslim masses all over India.

The present paper seeks to highlight the contribution of All India Muslim Educational Conference for the development of Muslim education in the region of Ajmer and Merwara Province in 20th century. It is significant note that for the very first time the Conference's annual meeting held after gap of 42 years at Ajmer under the president ship of Sir Shah Sulaiman. The Ajmer session of the Conference is remarkable in the history of Muslim education, because it strongly propagated the idea of providing modern, vocational and traditional education to the Muslims of Rajputana. It passed significant resolutions for the development of modern and traditional education not only the Muslim males but also to the Muslim women. It also created awareness about western and scientific learning among Muslims. This paper also analyses to study the various resolutions of Ajmer session of the Conference sought the attention

of British government as well as princely States of Rajputana and princely State of Tonk towards the prevalent abysmal condition of Muslim education in 20th century.

Many changes were brought in the nomenclature of the Conference from its establishment on 27 December 1886 by Sir Syed at Aligarh. In its inaugural meeting of the Conference was christened as “Mohammedan Educational Congress”. Later in its 5th meeting which held at Allahabad in 1890 under the Presidentship of Sardar Mohammad Hayat Khan, it accepted an amendment, seconded by Sir Syed to remove the name of “Congress” as it made people confuse with the Indian National Congress. The resolution reads as follows :

“This gathering feels that the name of this national educational body of ours, named Mohammedan Educational Congress, creates various doubts in the minds of people, some misled by the word Congress, having something in common with the political party of that name, Indian National Congress; others taking it on the other extreme to be a rival to it; whereas, in fact, it has nothing to do with either of the two. A change in its name therefore appears imperative, and it should be renamed “Mohammedan Educational Conference”.

During in its 10th meeting held at Shahjahanpur from 27th to 30th December, 1895, under the presidentship of Nawab Mohsinul Mulk, an amendment, moved by Syed Mahmood to add the name of Anglo-Oriental and in this respect following resolution was moved :

“This Conference feels that in view of further elucidation of its educational aims and objectives which are before the Conference, the addition of ‘Anglo-Oriental’ be made to the name and from now on, it be called “Mohammedan Anglo Oriental Educational Conference”.

Again in its meeting at Aligarh in 1923, under the presidentship of Sahibzada Aftab Ahmed Khan an amendment was moved and passed to the effect that the word ‘Mohammedan’ be deleted from the name of the Conference in favour of the word ‘Muslim’. It was moved by Nawab Sadryar Jung Habib-ur-Rehman Khan Sherwani. Till then it is known as All India Muslim Educational Conference and the same is used in present paper.

Conference’s annual sessions were to be held at different places in the month of December when the offices were closed for Christmas vacation and date and place for the next meeting were to be decided by the concluding session. Everyone could become its member after the payment of Rs. 5 as it was charged as fee of the Conference. Members of the any districts associations, Anjumans were entitled to take part in the Conference’s annual meeting. The delegates were to present before the meeting a statistical report of the condition of the Musalmans of their district. The last day of the conference was devoted to the passing of resolutions and summarizing the proceedings of the last day of session to be followed by a dinner hosted by the Conference to enable the delegates to converse more feely with the participants.

Conference meeting at various places brought many changes in the educational sphere of Muslim community. Its sessions were held at almost in big cities of India. Mention may be made of Aligarh (1886), Lucknow (1887), Delhi (1892), Calcutta (1899), Madras (1901), Bombay (1903), Dacca (1906), Rangoon (1909), Nagpur (1910), Agra (1913), Rawalpindi (1914), Poona (1915), Amroha (1920), Jabalpur (1944), Agra (1945), Meerut (1934). The impact of the conference could be seen in pre-partition days. Apart from the establishment of Aligarh Muslim University the foundation of Osmania and Dacca universities, Anjuman-e-Taraqi Urdu, Jamia Millia Islamia, Darul Uloom Nadwa, Darul Mussanafin, Azamgarh etc. we their growth directly or indirectly to the ceaseless efforts of the Conference. It was also interesting note that due to the Conference’s Educational Movement, many Islamia schools were established. Some of them were established at Marehra (Aligarh), Aonla Jalali, Jaipur, Bareilly, Etawah, Agra, Banaras etc and some other places. Many of them developed as Intermediate colleges and still at present there are functioning.

The Ajmer session (1928) of the Conference had a distinct place in the annals of Indian history. The neglected region of Rajputana became centre of annual meeting of the Conference, when the people of Ajmer and Merwer invited the Central Standing Committee of the Conference to hold its session at Ajmer where a sizeable Muslim population inhabited the area. Though the

Conference's meeting was primarily called by the prominent member of the Muslim community and the name of *Sahebzadah* Abdul Wahid Khan comes first who invited the Conference's meeting. But the name of *Rai Bahadur* Seth Tikamchand of Ajmer added a glowing line in the history of the Conference, who gave his ancestral house for the lodging of the guests. Here the Conference's secular approach reflects as its members gladly accepted the hospitality of not only the Muslims of Ajmer particularly of Mirza Abdul Qadir Beg who offered his services for the Conference's meeting but the services of Seth Tikamchand was the best example of Hindu-Muslim Unity shown during the Ajmer session of the Conference.

A reception committee of fifteen members was formed at the house of Mirza Abdul Qadir Beg. Seth Abdul Latifullah, General Merchant elected as its President, Mirza Abdul Qadir Beg as Secretary and Syed Husnain as Assistant Secretary. President of the Conference Sir Shah Sulaiman, Moulvi Sir Rahim Baksh and other prominent guests were lodged at the palatial building of Seth Tikamchand. Rest of the guests was stayed at different places. The Islamia Moinia High School (Ajmer)'s Osmania Hall made reserved for the conference's meeting. Its interior was decorated with leaves and flowers. The upper storey of the Islamia Moinia School was decorated for the purpose of educational exhibitions. The articles of educational exhibition were brought from different twentyfive places to the delegates. In this way a great effort was made for the successful conduct of a Conference's meeting. The Presidential address of Sir Shah Sulaiman focused for the development of Muslim education. His Presidential address is a comprehensive document which guides Muslim education during 20th century. Still it has its relevance at 21st century as it incorporates almost every aspect of education and suggested ways for the future education for the Indian community. Though many strong points had been raised by Reception Committee to the development of Muslim education in the Ajmer and Merwar, but equally prominent resolutions were passed by the Conference to the every aspects of Muslim education related to vocational, technical, modern and religious aspects of education. And thus steps were taken to enhance the educational opportunity of Muslims of Rajasthan.

The main objectives of the Conference were to popularize Western education among the Muslims of India so that they could take part in the social and cultural life of their country and could contribute to its material and intellectual advancement. Besides this, certain other items were also included in the list of its aims and objectives, for example concluding research on the traditional education of Muslims; publication of the biographies of reputed scholars and writers and tracing and preserving rare books written by the earlier Muslim savants'. It means that Sir Syed was not merely interested in modern education; he also wanted to revive and reform the traditional Muslim learning. From the very beginning the annual session of the Conference were held at various cities of the country under the Presidentship of the prominent personality of the time, and it helped in expanding the educational horizon for the Muslim community.

One of the important objectives of the Muslim Educational Conference was to organize its annual sessions at different places of the country to acquaint the Muslims of the problems faced by them. In this effect a resolution was passed at its Aligarh inaugural session of the Conference in 1886 – The resolution reads:

“In consideration of the backward condition of education among Mohammadans, and with a view to encourage the spread of education among them by the united efforts and aid of Muslim community, it appears expedient that a meeting be held every year to be called the “Mohammedan Educational Congress” at which representatives from various districts should meet to discuss and consider the subject of Muslim education. This Congress will not be confined to any one place, but will be held every year where the residents desire to hold up and are willing to undertake to arrange for its meeting”.

Sir Syed was thus equally concerned with the educational backwardness of the community and therefore he focused on it. Drawing the attention of the audience at first session of the Muslim Educational Conference, he said:

“Our condition has become so pathetic that other communities also shed tears on us and are trying their efforts to raise money for the education of our children. Undoubtedly we must thank our

brethren of our country who in the province of Deccan took such a step”.

Significant resolutions can be traced from the records of the Urdu proceedings of the Conference during Ajmer session who strongly sought the government attention over the problem faced by Muslims regarding their educational needs. Various resolutions which were passed had a direct bearing on the problems of Muslim education, which required its solutions from the British government as well as from princely States of the Rajasthan. Hence significant resolutions of Ajmer session of the Conference which not only throws light on the educational needs of the Muslims of India but it also highlighted the Muslim grievances and also to develop the various aspects of Muslim education in Rajasthan. Some of the important resolutions are as follows :

Protection of Educational Rights of Muslims : Following suggestions and ways were sought to protect the educational rights of the Muslims of India –

- (a) Muslim representatives should be appointed at Academic Institutions of Government.
- (b) Sufficient vacancies should be created for Muslim students in Academic Institutions of the Government.
- (c) Representation of Muslims be made in the Committees of Government Inspectors of Education.
- (d) Representative of Muslim be made in Senates and Syndicate of Universities, and in the Educational Boards of Middle & Secondary Education.
- (e) Muslim students should have a sphere in government scholarships meant for foreign studies.
- (f) Religious and Urdu education should be given in primary and secondary schools of Government.

Military Education : Conference also sought government attention on the issue of military education which should be provided in government’s school.

Conference also appeals about the representation of Muslims in the centrally governed Educational Committees of the Government at block level.

Female Education : Keeping the needs of female education in the country Conference invited the attention of the government on the following suggestions :

- (a) Girl’s education should be based on their requirements and curriculum of their education should be based on its utility.
- (b) Trained Women Teachers should be provided to the Girl’s Schools from the government.
- (c) For the primary and secondary education of girls, its medium of instruction should not be English and even it should not be made compulsory subject.

Vocational Education : Vocational education also found a place in the resolutions of the Conference which demanded the introduction of vocational education in Madarsas’s. Besides, the separate schools for vocational education which had the provision of education of small scale industries and handicrafts.

Establishment of Central Library for the Posterity of Urdu Language

For the posterity of Urdu language and its development, a proposal was mooted out to establish a Central Library. In this respect following resolution was passed:

“This Conference considers it necessity to establish a Central Library for the preservation of Urdu books, translated or compiled on different subjects so that development of Urdu language and for its posterity could be arranged Since the infrastructures are available at Aligarh in AMU and sufficient staffs are also present there, therefore the Central Library must be established in the premises of Aligarh Muslim University. Muslims authors, writers and prominent personalities are requested to donate their written works in Urdu language to the proposed library”.

Need of Inspectors for Islamia Schools

It was considered necessary to seek the help of government in the province of Ajmer and Merwar to appoint an Educational Inspector for Islamia Schools, who should be under the supervision of highest officer of Department of Education, and should have certain authority and rights to grant financial aid to Islamia Schools.

Need of an Educational Board of Control: Provisions were also made to establish an Education Board of Control in the province of Ajmer and Merwar in which adequate representation of Muslims should be maintained.

Upgradation of Moinia High School to Intermediate level : Considering the educational importance of Moinia Islamia School of Ajmer which had served since its inception and had rendered its services for the cause of spreading education among Muslims, Conference suggested ways to upgrade its position and thus following proposals were put forward:

- (a) Moinia High School should be upgraded to Intermediate level where arrangement should be made for the education of commerce and other vocational subjects of utility.
- (b) Teaching of Arabic should be given special attention in the curriculum.
- (c) The management of proposed Moinia College should be under the able management of a Muslim headmaster who also should have able Muslim teaching staffs under him.
- (d) Boarding House should also be built in the proposed Moinia Islamia College, so that the students getting education there might line in these residential hostels.
- (e) Manual training of different works should also be given there.

Grants for Female Education: Conference also demanded financial grants of two lakh of rupees for the establishment of the Girls school in the province of Ajmer and Merwar. In this effect following resolution was passed:

“Considering the present condition of the status of Muslim female education, and its increasing necessity in the region of Ajmer and Merwar, Conference feels it necessary to establish a full-fledged Governments College and also sought financial grants of two lakh rupees from Central Government local government and with other princely States of Rajasthan.

Muslim Education in the Princely states of Rajputana : Steps were taken to seek the attention of Hindu princely States of Rajputs for the education of Muslims. In this respect resolutions were passed and following points were discussed in the Conference meeting –

- (a) Money should be spent adequately on the education of Muslim in these princely states of Rajputs and same was requested with the rulers of Hindu States.
- (b) Urdu language should be given the status of second official language in the offices and it should be introduced in those princely States where it is not available.
- (c) Urdu should be promoted in different academic institutions.

Recruitment of Muslims in Railway Workshop : Demand for the recruitment of Muslims in the local workshop of Railway as apprenticeship was made through the Conference meeting after suitable technical training in the workshop of Railway.

Muslim Education in the Muslim Princely State of Tonk : In the Muslim princely State of Tonk, efforts were made to bring excellence in education for Muslim. In this direction resolution were passed which suggest the following ways to improve the condition of Muslim education :

- (a) Expenditure on Muslim education should be increased to 10%.
- (b) Trained Teachers should be appointed in the present high schools of the State.
- (c) Anglo-Vernacular schools should be established in different parganas of the State.
- (d) Proper arrangement should be made for the education of Muslim education.

Besides these resolutions other significant steps were also taken to improve the educational standard of Muslims in Rajasthan. Resolutions were passed towards certain demand of local people of Ajmer and other prominent members of the community which are as follows :

- (1) Efforts should be made to revive the Oriental College of Jaipur which once had been the premier educational institutions of Muslims where Arabic and Persian was taught.
- (2) Financial grant was demanded for the development of Middle School of Jaipur.
- (3) Appeals were made for the grant of Muslim Institute of Ajmer, which had been serving for the cause of Muslim. And land was demanded for the construction of new building for the Institute from Municipality of Jaipur.
- (4) Requests were also made to the ruler of Alwar State to make the provision of study of Quran and theology in the private Maktabs of the Alwar State of Rajasthan.
- (5) Persian as language of study in the Intermediate College of Udaipur was also put in the demand list of the Conference.

The efforts made by All India Muslim Education Conference in its history from 1886 upto the Pre-partition period, we found that Conference's annual meeting at Ajmer was more significant than its earlier sessions held at different places. Comprehensive steps and resolutions were passed during Conference's Session at Ajmer. Though Conference held its Ajmer session after a long period in Rajasthan but it became historical in nature in respect to its resolutions pertaining to educational needs and aspiration of the people of Rajasthan. Thus Sir Syed Aligarh Movement was not confined to the regions of northern India and Rajputana did not remain a place of isolation in spreading the message of Sir Syed's Educational Movement. Therefore we could see the deep impact of Aligarh Movement on Rajasthan.

.Sir Syed Ahmad Khan (1817-1898), the renowned Indo-Muslim reformer was born in Delhi in an aristocratic family. He was an eminent educationist and great social reformer of modern India. He launched his educational movement for Muslim regeneration from Aligarh town which later came to be known as Aligarh Movement in Indian history.

The Aligarh Movement is defined by many scholars in different ways. According to Aziz Ahmad the total complex of Sir Syed's religious social, educational and political ideas is called the Aligarh Movement after the name of the town where he founded the M.A.O. College. While Yusuf Hussain defines it as a movement for the intellectual and social upliftment of the Indian People, particularly Muslims through Western education; Paul Bras, Considers it as a movement of the Muslim aristocracy of the U.P. oriented towards maintaining their political predominance.

For details see the following :

1. Aziz Ahmad and G.E. Von Grunebaum, *Muslims Self-Statement in India and Pakistan, 1857-1968*, Wiesbaden: Ho Harrassowitz, 1970; Yusuf Hussain (ed.), *Selected Documents from the Aligarh Archives*, Preface, Bombay: Asia Publishing House, 1967; R. Paul Brass, *Language, Religion and Politics in North India*, New Delhi: Vikas, 1975.
2. The district derives its name from the headquarters town of Ajmer. Before independence, Ajmer-Merwara was an isolated province of British India in Rajputana. It comprised two districts, viz., Ajmer and Merwara; B.N. Dhoundeyal, *District Gazetteer, Ajmer*, Sharma Brother Electromatic Press, Alwar (Raj.) 1966, p. 1.
3. Born at Jaunpur, 1886; educated at Muir Central College Allahabad; stood First Class First in B.A., proceeded to Cambridge, 1908; Called to the Bar (Middle Temple) 1910; took LL.D., 1911; practiced law at Allahabad High Court; Officiating Judge, Allahabad High Court, 1920-1923, later judge, 1923 and Chief Justice, Allahabad High Court, 1928-1937 with some breaks; judge Federal, Court of India, 1928-1937 with some breaks; judge Federal, Court of India 1937-41. Vice Chancellor, A.N.U. 1929-30 and 1938; was a famous mathematician and established new theories in it; took keen interest in Muslim education and presided Provincial Mohammadan Educational Conference, U.P. 1924; member of Courts and Executive Council of Allahabad and Aligarh Universities; Knighted, 1929; died 1941.
4. See 1886 Aligarh Session of All India Muslim Educational Conference, *Khutbat-e-Aliya*, Part I.
5. See 1895 Session of All India Muslim Educational Conference, Shahjahanpur.
6. See Anwar Ahmad Marharawi (Ed.) *Muraqq-e-Conference* (Aligarh, 1935), p. 2.
7. See the proceedings of Muslim Education Conference of 1888 and 1891.

8. See the Annual Proceedings of Muslim Educational Conference of different sessions, *Khutbat-e-Aliya*, Part II and also see Shan Mohammad, *Muslim Educational Conference*, APH Publishing Corporation, New Delhi, 2003..
9. Punjab Sala Tarikh, All India Muslim Educational Conference, p. 14.
10. The district is situated in the centre of State between 25°38' and 26°58' north latitudes and 73°54' and 75°22' east longitudes. *Ajmer Gazetteer*, p. 2.
11. In terms of area the largest state of India, but scarcely populated, the state of Rajasthan lies to the west of India. 'Rajputana' was a stronghold of the Rajput rulers. Of twenty-two princely states, nineteen were ruled by Rajputs, only two were Jat states, and one was ruled by Muslims. See James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan*, 3 Volumes, 1990, Delhi, Lower castes Price Pub., A. Vadivevelu, *The Ruling chiefs, Nobles and Zamindars of India*, Vol. 1, Madras, G.C. Lonanadhan Bros, 1915, Vadivevelu provides sketches of 240 Ruling chiefs and 60 Notabilities; A.C. Banerjee, *The Rajput States and the East India Company*, Calcutta, 1951; A. Mukherjee, *Rajputana Gazetteer*, Calcutta; Superintendent of Government Printing, 1879; *The Ruling Princes, Chiefs and Leading Personages of Rajasthan and Ajmer*, Calcutta, Government Pub., 1924
12. According to the 1951 Census the total number of Hindu population as 5, 99, 524 and the Muslim population of the district was 48,886 which formed 7% of the total population. See Gazetteer of Ajmer, op.cit., p. 104.
13. See the 1928 Session of the Conference, p. 258.
14. See the Proceeding of 1928 Session of All India Muslim Education Conference at Ajmer, *Panjahshala Tarikh*.
15. Born in a family of Zamindar known for their scholarship in Midnapur, District Bengal, 1867; graduated from the Presidency College, Calcutta with first class Honours, stood first class first in M.A. English, Calcutta University; got Begum of Bhopal's foreign scholarship given for law; joined Middle Temple and was called to the Bar, 1890; practiced Law at Calcutta High Court; Presidency Magistrate, Calcutta, 1901-04; Tagore Law Lecturer on Mohammadan Jurisprudence, 1907; elevated to the Bench as puisne Judge, Madras High Court 1908-20; officiated Chief Justice, 1916 and again 1919; member Public Service Commission, 1912-15. Member Executive Council Bengal for Administration of Justice and Jail, 1921-25; member Bengal Legislative Council, 1926-30; was appointed minister two times but resigned; Independent member Central Legislative Assembly 1931-35; opposition leader in Assembly 1933-34; President Central Legislature, 1935-45; member Simla Deputation, 1906. Knighted, 1919, opposed the formation of Pakistan; died, 1947.
16. Government Moinia Islamia Multipurpose Higher Secondary School, Ajmer. The school was started in the year 1910 by some prominent Muslim citizens of the city, who formed a Trust for the education of children of their community. The school was, however, provincialized in 1918 and the admission was opened to all. Teaching of theology however, continued till 1947 and the teachers used to be paid their salaries by the Durgah Committee. The school was brought under the Associated Schools Project Scheme of UNESCO in the year 1956 and was the first to be selected as a Pilot School in 1958. It was raised to the present standard in 1959. This is the only institution in Ajmer where Urdu and Persian are taught. In the 960-61 session, the total number of students was 848 and that of teachers 35. The school has a library of 5,461 books.
17. See the Proceeding of 1928 Session of All India Muslim Education Conference at Ajmer, *Panjahshala Tarikh*, ed. Habibur Rehman Khan Serwani, Aligarh, 1937.
18. See the Presidential Address of Sir Shah Sualiman of Ajmer Session of 1928.
19. See the proceeding of 1928 session of Ajmer, *Panjahsalah Tarikh*, op.cit., p. 259.
20. See Appendix (H) in Akhtarul Wasey, *Education of Indian Muslims: A Study of All India Muslim Educational Conference*, Delhi, 1977, pp. 85-94.
21. See for details, *Akhtarul Wasey*, also see, Reyazur Rehman Khan Sherwani, *Introduction to All India Muslim Educational Conference*, in Seminar on Educational Needs of Indian Muslim and the Role of Aligarh Movement, ed by Ishrat Ali Qureshi, Duty Society, AMU, Aligarh, 1993, pp. 29-33 (Hereafter, *Ishrat Ali Qureshi*).
22. See the different sessions of the Conference which were held at different cities, *Khutbat-e-Aliya* Part I and II, pp. 51-53.
23. See Resolutions of Educational Conference (1886) also see Muslim Educational Conference Documents, vol. II, p. 37.
24. See Speech of Sir Syed in 1886 – Muslim Educational Conference, see *Khutbat-e-Aliya*, Part I (ed.) Anwar Ahmad Zuberi, Aligarh.
25. All India Muslim Education Conference (1928) session Ajmer, see *Punjab Salah Tarikh* (ed.) Habibur Rehman Khan Sherwani, 1937, Aligarh.
26. In Persian the plural of Rajput is 'Rajputan'. It is most probable that Rajputana was derived from 'Rajputan'. Mr. George Thomas in 1800 A.D. was the first to call this tract of the country as 'Rajputana'. See Franklin, William, *Military Memoirs of Mr. George Thomas*, London, 1805, p. 347,
27. See Resolution No. 1, All India Muslim Educational Conference, *Panjasalah Tarikh*, op.cit.,

28. See Resolution No. 2, Ibid.
29. This resolution was proposed by Moulvi Syed Abdul Jabbar and seconded by Syed Hamiduddin (see Resolution No. 3), Ibid.
30. The above resolution no. 7 was proposed by Prof. Shamsul Ghani, Training College and seconded by Raza Hussian Khan, see for details Resolution No. 19, p. 264, Ibid.
31. See Resolution No. 8, Ibid.
32. The said resolution was proposed by Mirza Abdul Qadir Beg and seconded by Moulvi Mohiuddin Ajmer. See Resolution No. 19, p. 269.
33. See Resolution a number 20, p. 264, Ibid.
34. These resolutions were proposed by Aziz Ahmad Zubair and seconded by Mirza Abdul Qadir Beg – see for details – Resolution No. 22, p. 265, Ibid.
35. See Resolution No. 23, Ibid.
36. See Resolution No. 23, Ibid.
37. See resolution no. 24 AIMEC, Ibid.
38. See Resolution No. 26, p. 266, Ibid.
39. See resolution No. 27, 29, 33, 34, 35, 36 – AIMEC Proceeding, 1928.

ROLE OF DAMODAR DAS RATHI IN THE FREEDOM STRUGGLE OF INDIA

Peeyush Bhadviya

The partition of Bengal in 1905 led to a country-wide commotion of unprecedented dimensions. It was followed by Swadeshi movement, initially started in Bengal, but very soon it spreaded to other parts of the country The British government in its turn adopted repressive measures to curb the movement. The wave of nationalism spread throughout the country. The anti-British activity gained strength. The extremists became a force to be reckoned with.¹ In spite of all these repressive measures adopted by the princely states, they failed to check revolutionary activities in Rajasthan. At that time in Rajasthan three active revolutionary groups were functioning one under Arjun Lal Sethi operating from Jaipur, Second, under Kesri Singh Bharhat of Kota and third, under Rao Gopal Singh of Kharwa and Damodar Das Rathi from Ajmer. Their ultimate aim was to achieve Swaraj. Arjun lal Sethi, Kesari Singh, Gopal Singh and others were found involved in conspiracy against the British Government and sentenced to varied terms of imprisonment. Their activities in collaboration with the known revolutionaries of India instilled in the people of Rajasthan a spirit of militant nationalism.²

In the revolutionary activities of the Pre-Gandhian period in Ajmer, Rao Gopal Singh of Kharwa was the principal actor and Seth Damodar Das Rathi of Krishana Mills Ltd., Beawar, was the man who financed these activities, sheltered prominent revolutionaries and encouraged Swadeshi industries.³

Damodar Das Rathi was born on 8 Feb. 1884 at Pokhran (Jodhpur). His father Shri Khivraj Rathi was a businessman.⁴ When he was nine years old his father established Krishna Mill in 1893 at Beawar. At the age of 15 he started working for the national cause At the age of 16 he took over the work of Krishna mill. He managed

to bring Shyamji Krishna Verma, to Beawar and appointed him to the post of manager.⁵

Under the influence of Shyamji Krishna Verma, Damodar Das Rathi started working for the revolutionary movement in Rajasthan. Shyamji Krishna Verma was instrumental in collaborating Bengal revolutionaries with Damodar Das Rathi.⁶ Damodar Das Rathi began to cooperate the revolutionaries of Rajasthan through monetary support. In this work, he also got inspiration and impetus from Amrit Lal Chakraborty who was a journalist and also worked in Krishna Mill. Damodar Das Rathi also brought renowned journalist Shri Girja Kumar Ghosh to Beawar. He contributed through money to the families of political prisoners and nationalist journalist.⁷

His political alignment was with Arjun Lal Sethi, Kesari Singh Barhat, Gopal Singh Kharwa and Bhoop Singh. During First World War Ras Bihari Bose and Raja Mahendra Pratap formed a plan for armed revolt in the country and decided 21 Feb. 1915 as a starting date. The Prominent persons of Rajasthan involved in this revolutionary plan were Rao Gopal Singh Kharwa, Bhoop Singh, Damodar Das Rathi etc. The role assigned to Damodar Das Rathi was to provide funds for this activity.⁸

Damodar Das Rathi also inspired Rao Gopal Singh of Kharwa to render contribution in freedom struggle. In 1907-1908 when Arvind Ghosh visited Beawar, Rathi introduced Rao Gopal Singh of Kharwa to him. This meeting had a great impact on his mind.

Wherever he went in Rajasthan and outside Rajasthan, he tried to establish school libraries, Gurukuls and organize various seminars. He also contributed to already established schools, the Sanatan Dharma School and college of Beawar. Navbharat School of Marwari, Shiksha Mandal Wardha has existence till today.⁹ In order to uplift the uneducated masses, Rathi opened schools and boarding houses for the Rajput and Charan students.¹⁰

Rathi always encouraged non-resident Rajasthani people. He contacted with the Rajasthani living in different parts of nation and promulgated them to work for nation. It was due to his efforts that Rajasthani had opened many schools, colleges, hospitals, libraries, hostels, girls schools and colleges through out India. He requested

Rajasthani to preserve the rich culture of Rajasthan, in the area wherever they live.¹¹

Damodar Das Rathi firmly believed in the use of Swadeshi goods and was attached to swadeshi concept and he himself always dressed in that style. He emphasized regularly on the self reliance of the nation and wanted that all the required needs of the nation be satisfied domestically. In this aspect he worked energetically for promoting swadeshi goods and also through his mill at Beawar.¹²

Rathi was the first to recognize that industry would effect a revolution in the society of Rajputana and its real rulers would be scientists and industrialists, not princes and nobles. He was a practical businessman, philanthropist and a reformer. His heart was touched by poverty, squalor and drunkenness among the poor. Through Krishna Mill he provided employment to the needy and financing those who were keen to serve the society.¹³

Being humanitarian of highest level, Rathi ji served the needy wherever there was flood, famine, earth quake in the nation. For the welfare of his subjects he rendered financial aid to the famine stricken people.¹⁴

Damodar Das Rathi was also supporter of Hindi. In 1914 he decided to do all his work in Hindi. He established Nagari Pracharini Sabha in Beawar and waged a struggle, for the cause of using Nagari script and Hindi language.¹⁵

Due to failure of revolt of 1915, Damodar Das received great set back. He once again became a partner in revolutionary activity which was revealed by I.C.S. Charu Dutt in Arvind Ashram "The Seth of Beawar Damodar Das Rathi gave full support and enough money for the execution of the plan to purchase a part of Goa from Portugal Government and establish their first revolutionary government, which would be acknowledged by Russia and there by create international trouble to Britain. But due to untimely demise of Rathi Ji the whole plan remained as plan only." He died on 2 Jan. 1918 due to illness.¹⁶

References:

1. Majumdar R.C., Struggle for Freedom, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, Vol. XI, P. 26-68.
2. Choudhry Ram Narain, Vartman Rajasthan, P. 25-27.

3. Ibid, P. 29.
4. Joshi Sumnesh, Rajasthan me Swatantrata Sangram Ke Senani, P. 33, Rajasthani Granthagar Publication, Jaipur.
5. Ibid, P. 34.
6. Ibid, P. 34.
7. Ibid, P. 34.
8. Ibid, P. 34.
9. Ibid, P. 34.
10. Ibid, P. 34.
11. Ibid, P. 34.
12. Ibid, P. 34.
13. Sharma G.N., Vashishtha V.K., Political Awakening and Indian Freedom Movement, P. 100, Centre for Rajasthan Studies, Jaipur, 1993.
14. Joshi Sumnesh, Rajasthan me Swatantrata Sangram Ke Senani, P. 35, Rajasthani Granthagar Publication, Jaipur
15. Swatantrata Andolan, Rajasthan Sujas, Pa. 87, Jun-July, 2005, Government of Rajasthan.
16. Sharma Harinarayan, Rajasthan me Swatantrata Sangram Ke Amer Purodha-Seth Damodar Das Rathi, P. 58, Rajasthan Salna Jayanti Samaroh Samiti, Jaipur.

Jaipur Mechanical Transport Company : a Chronological Study

Sucheta Sangwan

Army Organization and military warfare have always played a very significant part in the making of the history of any state. Military administration and organization of the states have occupied plenty space in the chronicles from the earliest times. The modern groundwork of the Jaipur Army began with mild attempt at restoring the military prestige of Jaipur in 1880. In response to an appeal by then Viceroy Lord Dufferin, to provide contingents for imperial army, Maharaja Sawai Madho Singh setup his own quota of Imperial Service Troops¹.

The Jaipur Imperial Service Transport Corps was raised between 1889 to 1891. The Jaipur Imperial Service Transport Corps was until 1923, when it was joined by the 1st Battalion Jaipur Infantry the only representative of the Jaipur Army in either the Imperial Service Troops or the Indian States Forces. On the 1st January 1922 the unit joined the Indian States Forces Scheme and was re-designed the Jaipur Transport Corps. In 1940 the unit was re-designated as the Jaipur Pony Company and in late 1946 the Jaipur Mechanical Transport Company, at which time it ceased to be an animal transport company².

The company was merged in to the Rajasthan General Transport Company (vide H.Qs. Raj. Force letter no. 62/17A/G/SD dated 9th March 1950).

Organization: The organization and strength, according to the I.S.F. Army lists were³;

1889-1896	8 troops, 1,000 ponies, 500 Carts.
1916-1923	1,200 ponies, 570 carts.
1925-1926	8 troops, 907 ponies, 400 carts.
1926-1928	Company H.Q., 4 sub divisions, 907 ponies, 400 carts.
1929-1933	Divisional troops trans, comp. with reserve, 907 ponies, and 300 carts.

1934-1939 Animal trans. Comp., 4 troops and 4 depots.

The equipment were being alternative and available for use either in drought or in pack, for, though primarily a cart train it was also trained to work under pack. It was always maintained complete in every particular with hospitals, veterinary establishment and workshop, in which its own equipment was manufactured as well as repairs effected. There were also several folding iron carts, ambulance, tongas and other conveniences.

Class Composition:

The Army lists for the various years, showed the composition as being mixed or Hindus, mostly Rajputs, Jats, Brahmins, Shikhs, Dogras, Pathans, Ahirs, Gujars, Minas etc.; local Muslims and Punjabi Muslims and it can be seen from the Annual Caste Return that it was indeed a mixed unit⁴. Besides, unit was also comprised with non state strength like Garhwalis, Pathan, Gurkhas etc.

Services:

Chitral Expedition:

It was first employed on service in 1895 and left Jaipur within 48 hours of receiving the warning to mobilize, in six trains, each train containing a troop with its ponies, carts, equipments and workshop. At first, it was employed as a cart train linking Jallala and Dargai, but later on during the campaign it was sent up to Dir, 90 miles distant, with provisions for the Chitral Garrison, which it put down at Dir in seven days without the loss of a single bag or pony⁵. From Dir, it returned to Dargai for more train work but again moved forward into the Swad Valley in July. Towards the end of September, the corps moved to Nowshera and returned by rail to Jaipur.

H.H. the Maharaja was so grateful at the appreciation shown by the Government of India and all concerned at the very successful service of the corps in the campaign, that in 1896, he expressed a wish to increase the corps by 200 ponies and 100 carts. The great need of such efficient transport made the offer a valuable one and it was at once accepted.

1st World War:

This corps, a complete Pony Drought Transport Corps, was mobilized in October 1914 and sailed from Bombay on 7th November

1914 for Mesopotamia. Lt. Col. Dhanpat Rai who had commanded the corps for many years, pronounced medically unfit and the services of Rissaldar Thakur Hukum Singh was kindly lent by H.H. the Maharaja of Udaipur to replace him. Major Webber, 3rd Skinner's Horse accompanied the transport as a special service officer.

The Jaipur Transport was employed at Basra and subsequently in the transport of war material to Shaiba at the battle of which place it was employed in carrying wounded of the field. Later the Jaipur transport was ordered to fill up the supply dump at Shaiba where a bridge was in an advanced position. It was just after mid winter at the time when Tigris flooded the lower ground between Shaiba and Basra. In places the water was two feet deep or more and stretched for six miles. Every day the carts took up five mounds each through this heavy going and have to return. April 1915 the Turks attacked the position at Shaiba and the battle lasted continuously for three days. On last day, the Jaipur transport was suddenly ordered to send up as many carts as possible to remove casualties. There are no Lorries, motors or other modern conveniences available and a cart to the wounded was a gift from heaven. They marched off from the left bank on a board front, twenty carts abreast and were trotting along on open ground. After going for about 7 miles and shortly before reaching the front line, whether casualties had to be picked up, there was a high sand ridge in front. The ridge was in view of the enemy and also partly occupied by them. It was therefore decided to gallop over it, which was done and down the other side the pace increased, as a result of which the dust raised by carts increased. The time was critical one in the engagement; both sides were very exhausted and had no expectations of reinforcements. Neither could move a yard further from their positions. The enemy suddenly heard the galloping and noise of the hundred of carts and though that the row and dust thundering down on their flank to join the British line was a large amount of artillery. Realizing that such a reinforcement of the artillery was fatal to their chance for success, they left their position and retired. The British followed up and bombarded and pursued them for miles, capturing huge stocks of all kinds of material and many prisoners. The transport corps carried out all its duties. Thus it was that the Jaipur transport can be said to have won the battle of Shaiba⁶.

It also took part in the operation leading up to Ctesiphon and in the subsequent retreat to Kut, its duties included the transport of rations, ammunition bridging material and sick and wounded. It accompanied the further retreat to Sunnaiyat and Aligharbi leaving its office and wounded in Kut. The transport remained part of the Army of occupation in Mesopotamia until April 1919 when it returned to H.Q. Jaipur.

3rd Afghan War 1919:

Shortly after its return from Mesopotamia, it was again mobilized for service on the North-west Frontier of India. Major Thakur Hukum Singh having reverted to his original appointment with the Udaipur I.S. Lancers, the command was given to Major Thakur Devi Singh at Chitora under whose command it proceeded to Rawalpindi where it was employed throughout the period of the Afghan war⁷.

2nd World War:

During the war, the Jaipur Pony Company served in British India at Kohat, Lahore, Eastern Front, Burma, and Arakan, Coimbatore etc⁸. According to published order of battle/ lists of the units, the locations of the units while serving ex- State were as follows⁹:

June - February 1941	Kohat
June 1941– June 1942	Lahore
November – December 1942	Dohazari, Eastern Command
January – March 1943	Arakan, Eastern Command
May – September 1944	Bawli, 14 th Army
January 1945	Shalimar, A.L.F.S.E.A.
March – June 1945	Cox's Bazar, A.L.F.S.E.A.
July – December 1945	Dharapuram, Southern Command

Honour and Rewards:

Jaipur Mechanical Transport Company accomplished its responsibility so glowing and also obtained praises and reward. Transports corps achieved many honour and Rewards such as 'Order of British India', 'Indian Distinguished Service Medal', 'India Meritorious Service Medal', 'Member of the British Empire' etc¹⁰.

Conclusion:

The Jaipur Mechanical Transport Company earlier it was known

as “Jaipur Imperial Service Transport Corps”; “Jaipur Transport Corps” and “Jaipur Pony Company”. It took part in various battles. Constantly the Jaipur Mechanical Transport Company was well equipped with modern technique and training. The Jaipur Mechanical Transport Company was not only well trained but they provided their best services to the central power. In the beginning the unit helped in supplying the goods to the main armies but while required it carried every responsibility. Throughout its field service the corps maintained on excellent spirit. In all weathers and at all hours, all rank turned out punctually and cheerfully for convoy work, which was always performed in a most excellent manner, bringing the men a great reputation for honesty and regularity, whilst for non-combatant corps the general standard of discipline was distinctly high. This account makes it clear that Jaipur Mechanical Transport Company displayed a ideal image of their exemplary training combined with natural sharpness in transportation skills and extending protection to the war injured personnel and prisoners while undertaking campaigns in Chital, Tirah, Mesopotamia, Afghan and during 2nd World War.. They performed their best in these services. \ They achieved much honours and appreciations. Thus the Jaipur Mechanical Transport Company executed outstanding task in different military operations.

References:

1. Beatson, Stuart, *A History of the Imperial Service Troops of Native States*, Office of the Superintendent of Government Printing, India, Calcutta, 1903.
2. Head, Richard W., *The Jaipur Army, a History of the Army's Origin, Composition and Achievements*, History Division, Defense Ministry, New Delhi, Not Published.
3. *Jaipur Forces - Army List*, 1915-1944.
4. Head, Richard W., Opcit.
5. Maharaja of Jaipur, *Jaipur-its History, Rulers, and Facts upto the Last 1948*, Low Price Publication, Delhi, 2002.
6. Head, Richard W., Opcit.
7. Maharaja of Jaipur, *A History of the Indian State Forces*, Orient Longmans, New Delhi, 1967.
8. *War Diary*, File no. 601/5698/WD, 1942-45, Defense Department, National Archive, New Delhi.
9. *Jaipur Forces - Army List*, 1915-1944.
10. Head, Richard W., Opcit.

Influence of Sufism on the Socio-Cultural life of Rajasthan; with Special Reference to Shaikh Hamiduddin of Nagaur

Dr. Parwez Nazir

With the advent of Islam in India, Sufism also began to spread throughout the country. In Rajputana, impact of Sufism was profound because of the presence of the founder of the Chishti order sheikh Moinuddin Chishti, its influence was much more felt in every walk of life there and it significantly contributed in making the province culturally and spiritually rich. Rajasthan, besides being a land of heroes and warriors, who were immortalized in the bardic literature and folklores for their chivalry, the province was marked by incessant wars, famous for natural beauties and nature made lakes, mountainous range, and heart throbbing deserts, is also known as land of Sufi saints, which abodes many prominent Sufi and Bhakti saints. The famous Chishti Sufi saint Moinuddin Chishti blessed the land of Rajputana, followed by him; a large number of Sufi saints preached the message of love and communal harmony. The social and political life of the people is much highlighted, the economy and cultural aspect is also studied extensively but spiritual life and spirituality which altered the life and people of Rajputana, requires much attention in an era of violence and intolerance, which has not yet studied properly.

Rajputana, like its physiological variations and diversities, is also known for cultural diversities, linguistic multiplicity, tribal complexity, cast rigidity, complex social organization, traditionally deep rooted social set up and religious prejudices with certain degree of conservatism. It is interesting to note that in spite of all diversities at every level, Rajputana has experienced all through the age one of the best example of living together separately, maintaining their own identity, culture, language and literature intact, without disturbing and interfering the others social and cultural life. Existence in Diversities amicably made the life of people of Rajputana more fascinating and attracted the foreign travelers to write about the

life of the people, their culture, tradition that has developed from time immemorial in Rajputana. Because of the diversities, different sources like Rajasthani, Persian, and Marathi and in other regional dialects are available for understanding and writing the history of the region. Therefore, the culture that developed in Rajasthan is equally remarkable and presents interesting facets for the study.

Polity and economy kept on changing according to the time frame work, so the environment and cosmology of the region but the cultural life grew with all fun and fare. In the cultural life of the people of Marwar, festivals, fairs, Urs etc occupies important place and even today the people of Rajasthan organized the traditional festival and fairs with all enthusiasm for cultural regeneration. The rich cultural tradition of Rajputana is preserved for centuries and its successful transmission to the next generation become possible through the oral transmission, folklores and ballads also constitute the cultural heritage of Rajasthan, is also well known source of oral history.

The land of Marwar has been known through the ages by different names like Maru, Medini, Marudesh, Marumandal, Marukantar, Marudhar etc. in the ancient Sanskrit literature which explains geo-morphological and physiographical feature of Marwar being a desert. Marwar roughly covers an area of 36.071 miles. Nagaur is one of the districts of modern Jodhpur. The nomenclature of the town shows that the city was named after its founder Naga Rajputs known by different names like Nagapura ,Nagadurg etc. later held by Prithvi Raj Chauhan. Traditionally speaking, Nagaur emerged as an important centre of Muslim political power during the sultanate period. The city of Nagaur emerged as a prominent centre of trade and commerce which was referred by Arab historians like Abul Fida who described that the city of Nagaur was situated at a distance of four days journey from Delhi. City of Nagaur was situated on the trade route from Multan to Ajmer. The city is famous for Muslim culture, simultaneously known for Jain Tirath, this is how the city emerged as a centre of multiculturalism and attracting people of all faith and religion. Economically, the city occupies a peculiar position in the annals of history of Rajasthan for being a centre of trade & commerce situating on the main trading route guaranteed the prosperity of the region. Since trading Caravans from different parts of the world specially Central Asia, Persia,

Arab world kept coming regularly in Nagaur or passed from the city, enriching the cultural life of the city and the cultural synthesis promoted the shared values, broadened the outlook and liberal tradition in the region. Basically the Sufi saints preached in the language and mixed up with people even lowest strata of the society without showing any discomfort and hesitation, in this way people came and got integrated with the Khanqah, enjoying equal status and commanded respect and regards by the Sufi saints and their followers, this was an example of emotional texture of the religion and integration. The emotional integration brought cultural unity found no where in the society except in the Mahfil of sufis, where there was no room for orthodoxy and conservatism. Nagaur, an important Sufi Centre of learning promoting and transmitting knowledge and Hamiduddin Nagauri preached the ideas of essential unity of mankind to live and die amicably that only ensure the healthy growth of the society then much sought after happiness would be achieved.

"The Indian" acknowledge Yaqubi "are men of wisdom and vision and in wisdom are superior to all other nations. Their views on astronomy are most authentic. Their dictums in medicine are preferable. When Yaqubi talks about me superiority of vision and wisdom, certainly Rajputana catches the eye were people showed the wisdom in preserving their culture by which they are being identified today. The vision was shown in the architectural heritage not even comparable in splendour to European architectural Through Arab traveler it is clear that there was wider cultural contact between India and Arab world. Many Indian classics were translated into Arabic. Harun-Al Rashed (786-809) was cured from illness by Manka, an Indian physician. Men were deputed to gather information about Indian drugs and herbs. Rajasthan was popular for indigenous medicine and it was in the field of medicine Indian excelled themselves.

The history of Marwar region was very fascinating as there is a lot of controversy regarding its origin and development as the centre of polity. According to one opinion Marwar was ruled by Rathors who were descendent of the Gahadawala of Kanauj contrary to this another point of view is that they were the descendent of Rashtrakutas of Badayun. However the historians have not yet reached to any consensus. The period of establishment of Rathor rule was almost coincided with the establishment of the Turkish

Rule in Delhi and beginning of Delhi sultanate. The ancestor of Rao Siha came to Marwar and established their rule. The descendent of Siha remained in perpetual conflict with neighboring rulers for their imperialist design; simultaneously they came into conflict with rulers of Multan. After the death of Sultan Firoz Shah in 1388 his weak successors were not able to proceed toward Rajputana as Firoz Sultan had vigorously done. Chunda, who succeeded Bhimdeo in 1383 persuaded an aggressive policy and brought all the territories around Nagaur and Mandore under his sway with Mandor as his capital city. In 1408, Nagaur was again lost to Shams Khan Dandani, brother of Zafar Khan, the founder of the kingdom of Gujarat, Chunda recaptured in 1421 after the death of Shams Khan; Nagaur was again lost to Shams Khan's son Firoz during Kanha's rule, the successor of Chunda. Minhaj-us Siraj informs that Muhammad Bahlim, the Ghaznavid governor of the Panjab, after a successful bid captured it from chauhan ruler Ajayaraj. Bahlim fortified the city for defense purpose. His initial successes against the Rajput rulers emboldened him to repudiate the authority of the Sultan Bahram of Ghazni, who marched to teach a lesson the rebellious governor, Bahlim was killed in the battle along with his sons. Salar Hussain was appointed as the governor of Indian possession informs Farišta. It was Bahlim who was credited for the establishment of Muslim power in the heart of Rajputana. In this way Nagaur emerged as a permanent seat of Muslim governance.

The Chauhan rulers made unsuccessful bid to capture Nagaur, but Muslims succeeded in retaining their control over Nagaur. During the time of Iltutmish another feather was added to the glory of the city because it became one of the important mint towns. The significance of the route can be understood from the fact that the emissaries of Caliph of Baghdad reached to the court of Iltutmish to present the letter of investiture in 1228 via Nagaur. Nagaur throughout the period of Delhi Sultanate remained a hot seat of governance, and assigned as a Khilayat to the important nobles like Balban, the prospective ruler by Sultan Nasiruddin, when he was not in good tune with Balban, who actually wanted him away from the proximity to Delhi for his ambitious and domineering nature. Nagaur also remained the part of Tughlaq empire and later captured by Rao chunda in 1408. Again Shams Khan Dandani, brother of Zafar Khan, the founder of the kingdom of Gujrat captured it. Later it

handed over to Sikandar Lodi. This is how Nagaur became the part of Lodi kingdom.

The best kind of worship as described by the Sufi saints was lending the helping hand to poorest of the poor. The Sufi preached that one who aspires to become friend of God he should possess three qualities; munificence like an ocean, kindness like the sun, humility like the earth. Sufism accommodated and represented the synthesis of good element of all religions. The Sufi Saints preached the humanistic ideals and practically set the example by living a life of common people and discarding every kind of religious bigotry and conservatism. Bridging the gulf between people of different religion, community and sect, the Sufi saints brought all of them under the umbrella of spirituality and living in Khanqah with mutual respect. Sufism thus in a multicultural society like India became a unifying force and taught the people to live together and helped to develop a new concept of co-existence. The Sufis sowed the seed of love. Speaking on the occasion of inaugurating the SAARC conference the philosopher Prime minister Mr. V.P.Singh said that, "Sufism wo Nagma hai jo Insaniyat ke Saaz par Gaya jata hai." In Sufism love for the people was the cardinal principle which gave birth the idea of co-existence applicable not only in the case of human being alone but living together friendly with all creatures and showing friendliness and caring aptitudes towards the environment so that the equilibrium of the universe could not be disturbed. Any study of Sufism in Rajasthan would not be complete unless the founder of Chishti silsilah Shaikh Moinuddin's contributions is taken into account. Moinuddin Chishti started preaching Islam in a totally different atmosphere not congenial at all but he succeeded in his mission by extending helping hand to Hindus.

Liberal ideas of Chishtis like humanism, piety, tolerance attracted Hindus. It is interesting to note that from the income of the Dargah a large number of Hindus get benefited and their rozina (daily allowance) was fixed for their livelihood. Holi and Diwali were celebrated with all fun and fair for centuries within the dargah's premises which helped in promoting composite culture. The attitude of Sufis towards other religion and specially Hinduism was of mutual respect and adjustment. Even Shaikh Moinuddin entered married to the daughter of a Hindu raja. Later co-existence became the soul

of Sufism. Hamiduddin Naugauri represents these ideals and became the ambassador of Hindu-Muslim unity in the 13th century. He discarded worldly things and completely withdrew from material life and persuaded life of an ascetic. He was of the opinion that one who submits to the will of Allah needs nothing. To his admirers and followers, he was known as Sultan-ul-Tariqueen, king of hermits, who abandon the world. He believed and practiced complete austerity, lived in extreme poverty, promoted non-violence and discarded adulation and notoriety. He died on 1st November, 1274, succeeded by his grandson Sheikh Fariduddin Mahmud, who got royal patronage by Mohammed bin Tughlaq. Khawja Husain was another Sufi saint who lived in Nagaur. Khawja Zia Nakhshabi was a great scholar, who authored *Silk-us Suluk* /string of Sufism, a treatise on the various aspect of Sufism. He was Famous for his book *Tuti Nama* which was based on the Sanskrit text. The Sufi saints were great believers of humanism. Their aim was to create a society free from vices like greed, avarice, intolerance, violence, selfishness etc. and truly wanted to build an egalitarian society based on the principle of truth, love, piety equality etc. These teachings were not only relevant in those days but growingly it becomes more relevant for today's world of violence, hate and crime ridden society. Rajasthan occupied important place among the Indian states because it witnessed the development of composite culture based on synthesis of good elements of all religions where in Sufi and Bhakti saints joined together to develop a distinct culture of shared values. They preached tirelessly to give up enmity for love, conflict with compromise, violence with peace, revenge with forgiveness; these are the qualities, the Almighty Allah like most. The spirituality is a subject of great interest in the context of Rajasthan because it strengthened the social bond and integrated the society thoroughly which can be seen even today's India, cultural tradition is marked by adaptability, assimilation and synthesis which best reflects in the spirituality and continuity of Sufism despite of the challenges .

The *Malfuzat* (discourses) *Surur-us Sudur* of Shaikh Hamiduddin Nagauri compiled by one of his disciples "The original text of *Surur-us Sudur wa Noor-al Budur* is reproduced in the manuscript entitled *Majmua-e-Surur-us Sudur*, which contain thirteen different treatise of Sheikh Hamiduddin Nagauri and Shaikh Fariduddin Mahmud" informs Maqsud A. Khan.

Shaikh Hamiddudin Nagauri, although his life believed in the principle, "rejection of wealth keeps away one from trouble." For him it is the wealth which brought miseries and trouble. More wealth makes the people more greedy and thirst for wealth keep multiplying which puts a man into trouble.

The Shaikh abandoned the worldly life, rejected wealth like an evil but evidence shows that he accepted futuh in case he realized that non-acceptance would hurt the feelings and emotion of the man. This shows the degree of love and care for Khalq-e Khuda, the common people.

Khanqah of Nagaur was the great seat of learning where all kinds of Ulum were imparted to the students. The interactive sessions made the classes lively because of free discussion and debate over any topic of relevance. High standard was maintained, the teachers always referred standard book written by reputed scholars. The text throw light on every aspect of society which makes it healthy and democratic that is why Mohammad Habib emphasizes for its publication and expressed his apprehension of loss in case the treasure was not being taken care of, "it will be criminal to allow a work like this to perish".

Shaikh made his effort to inculcate the social values among the people to build society in strong footing. He put much emphasis on the respect of elders and tries to convince the people by explaining Hadith. He was of the opinion that if elderly people were not properly cared and nourished then reward in paradise is out of question. In 21st century; our society is confronting this problem in great proportion, the teachings of the saints like Hamiduddin Nagauri will be of great help to tackle the problem.

Shaikh Hamiduddin abandoned the materialistic life and never showed inclination towards worldly possession. For him qanaat was the best pursuit in life. He was even critical of those people who showed any inclination towards worldly possession and power. He was of the view that these things were achieved by compromising one's self and in the process of achieving one suffers humiliation after humiliation that kills the basic instinct of humanism. To achieve Union with God, he advocated the purification of heart, essential ingredient, which can be allowed by discarding world. Sheikh realized the social dynamics of the region and become complete

vegetarian and even promoted vegetarianism. He was against the killing of animals, for food and did not allow it in any circumstances. He praised Hindu for being vegetarian.

Another issue of great importance addressed by Shaikh was the Ihtikar, hoarding of food grains and waiting for the rise in prices. He bitterly criticized the practice of Ihtikar, and people indulged in the practice, it seems a common trading practice in those days, causing great distress for the people of every class, the practice is disliked by Allah. Maksud A. Khan tries to explain the phenomenon in economic terms and is of the opinion this process was leading towards the development of money economy in the 13th century. Shaikh observed that rainfall increased the fertility of soil and hence increased production leading to happiness and prosperity of common people. He warned the people to avoid Ihtikar, otherwise they might suffer the natural calamities like drought.

Sheikh Hamiduddin was a great visionary, well versed in the regional complexities and socio-economic dynamics of the society in Rajputana and preached humanism and love as the only way to achieve integration and bring harmony in the society. The visionary Mughal emperor Akbar was perhaps aware about the social dynamics of the Rajput society and realizing the importance of military superiority and chivalry the Rajput rulers, he tried to develop cordial relation with the Rajput rules through matrimonial alliances.

References

1. cf. Abul Fida, *Taqwin-ul Buldan*, p.353, edited and French translation was rendered by Reinaud, J. T. & Mac Guckin de Slane, (Paris, 1840, also reprinted 1848, 1883) see also M.Zaki, *Arab Accounts Of India* (during the 14th century) He described that "*Taqwin-ul Buldan* , is a descriptive geography supplemented by physical and mathematical data in tabular form completed in 1321. The book also contains information about India and is extensively quoted by Al- Qalqashandi." See also *Encyclopedia of Islam*, I/118-19.
2. Yaqubi, Ahmad bin Yaqub bin Jaafar, popularly known as Yaqubi, an officer in the Diwan-e-Insha Department of correspondence under the Abbasids widely traveled, came to India, he wrote *Kitab-ul-Buldan* on geography and the Universal history known as *Tarikh* contains a section on India both published from Leiden in 1861, 1883 respectively.
3. *Siddhant* was translated into Arabic by the order of Caliph Mansur (754-75).

4. Tod, James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, pp. 933-40, Reu, History of Rashtrakutas, p. 130-1
5. Reu, B.N., Glories of Marwar and Glorious Rathores (Jodhpur, 1943) p. 1.
6. Tod, James, Op.cit Vol. II, pp. 933-40, Reu, History of Rashtrakutas, pp. 130-1
7. Minhaj-us siraj, Tabqat-I Nasiri, pp. 23-25; Farishta, Tarikh-e farishta, trs. Briggs, vol. I, p. 151
8. Farishta, op.cit., vol. I, p. 151
9. Thomas, Chronicle of the Pathan Kings of Delhi, p. 78
10. Minhaj-us Siraj, Tabqat-e Nasiri, p. 174
11. Epigraphia Indio-Muslemica, 1949-50, p. 35
12. Ibid. p. 36, fn. 6
13. V.P. Singh inaugurating the conference of SAARC on the theme of Sufism on 21 March, 2005.
14. Dayal Das, Rana Raso, dohas. no. 580-582, (Sahitay Sansthan, RVP, Udaipur)
15. Dargah file. No. 579-219, these file contains the long list of the recipients of rozina i.e. youmiyadaran. A Hindu devotee namely Abhay Ram Bairagi appeared in the list of youmiyadaran, was granted rozina for providing food and shelter at the Hanuman temple. This was an example of tolerance and mutual understanding.
16. Dargah file no. 743-192, see also Waqai-e Abdul Qadir Khan, Abdul Qadir Khan, MS is available at Maulan Azad Library, AMU, Aligarh. Rajasthan District Gazetteer Ajmer, (Jaipur, 1966), p. 124
17. Shaikh Abdul Haque Mohaddis Dehlawi, Akhyar-ul Akhyar, pp. 29-23
18. This text is available in the Habibganj collection of Maulana Azad Library, AMU, Aligarh, calling No. 21/168 The Majmua-e- Surur-us Sudur wa Noor-ul Budur was copied by Mohammad Anwarul Haque 1883-89. Its competition began 1327 and completed in 1334. Maqsd A. Khan inform that name of compiler is nowhere mentioned in the text. But a careful scrutiny of the text reveals that it was completed by one of the four great grand sons of Shaikh Hamududdin Nagauri, for detail see Maqsd A. Khan, Surur-us Sudur wa Noorul Budur, PIHC, 1993.
19. Maqsd A. Khan, Surur-us Sudur wa Nur-al Budur, PIHC, 1993, p. 231
20. Surur-us Sudur, MS. F. 86.
21. Ibid., ff. 6a, 27.
22. K.A. Nizami, PIHC, 1950, p. 167.
23. Surur-us Sudur, ff. 26-27.
24. Ibid., ff. 39-41.
25. Ibid., Ms. F. 20.
26. Ibid., f. 9
27. Surur-us Sudur, f. 48.

The Persona of Sawai Singh of Pokhran

Abhimanyu Singh Arha

Thakur Sawai Singh of Pokran was one character in the annals of Marwar who cannot be ignored at any cost and who had rocked the politics of the desert kingdom throughout the last quarter of the eighteenth century and beginning of the nineteenth. This paper attempts to look at his persona viz. a viz. the complex inter-relationship between Rajput and Jain nobility as also certain other foci of power. On a close inspection of the nature of nobility during the chronology of our study, we observe an undercurrent of tension rising between the Rathore sardars and the mutsaddi class or bureaucratic nobility. This rivalry stemmed from the fact that the non-Rajput elements of the Marwar nobility began occupying positions of immense status and strategic significance.

The Krishna Kumari episode¹ marked a turning point in the power-career of some of the prominent Talukdars (as the non-Rajput nobility of Marwar was called then). The Singhvi faction of the Mutsaddis headed by Inderraj was the prime target. This faction had assumed immense power and authority in Marwar during the last quarter of the eighteenth century. As has been pointed out above, the Singhvis were omnipresent all across Marwar territory as they were leading punitive charges against rebel Rathore and other Rajput sardars, functioning as Vakeels² to the state of Marwar in far off power-centers, holding Hakimi³ of strategically important and economically profitable Parganas and also dominating Diwani of Jodhpur and other state-affairs. The dissatisfaction against the Singhvis had been constantly accumulating. The Rathore sardars were hell-bent on liquidating their power and their leadership upon none other than Sawai Singh of Pokran. Actually speaking, Sawai Singh had crossed his swords with the Singhvis since quite some time now. Looking back we realize that he underwent immeasurable jealousy when Inderraj Singhvi and Gangaram Bhandari succeeded in bringing Man Singh from Jalor to Jodhpur and then installing him on the throne of Marwar. Inderraj was cunning enough to be the first to hail Man Singh as the new monarch immediately after the

death of Bhim Singh in spite of commanding the siege of the fort of Jalor. Here he had taken a lead over Sawai Singh who was till then the most formidable force to reckon with in the politics of Marwar. Inderraj succeeded in securing for himself the post of Mukh-Musahib⁴ after the coronation of Man Singh and since then he was at the helm of affairs in Marwar. It was Inderraj who led Man Singh to Jodhpur in the role of a king-maker and it was he who introduced each important Rajput noble to the new king at the camp of Salawas. Even then Sawai Singh's ceremonial supremacy indicated that his status could not be written off.⁵

Thus, right from the day when Inderraj started dominating from the Mehrangarh fort, Sawai Singh had made up his mind to destroy him.⁶ His first ploy was to bring disgrace to the reign of Man Singh by purposefully mishandling the issue of lodging the ladies of erstwhile Maharaja Bhim Singh. Even before Man Singh arrived at Jodhpur, Sawai Singh had compelled the royal harem to vacate the fort of Jodhpur and proceed to Chopasni. When Man Singh learnt about this issue he expressed his urgent desire to make amends lest Rathore chivalry would become a preposterous fabrication all across Rajasthan. Sawai Singh tried to threaten the King with fresh troubles by creating fictitious news of one of the queens to be expecting a child. He alarmed the King about the instability which would arise if a son was born to that queen. Sawai Singh's audacity surpassed all decent standards when in opposition to Man Singh's wishes he made arrangements for the ladies in the palaces situated at the foothills of Chiriyath ji ki pahari but not within the fort premises. Every single soul in Jodhpur was well acquainted with the impudent attitude of the Champawat which had crossed all limits. The haughty noble made repetitive open declarations that "he shall become the King of Marwar as suits the Umraos and not the one chosen by these two 'merchants'."⁷

Inderraj Singhvi found himself in a state of grave jeopardy. An attempt was made on his life as one day an assassin⁸ struck a blow on him with his sword. All efforts to elicit information from the assailant went in vain. It was not clear as to who could have sponsored this dastardly act. Meanwhile, Sawai Singh did not leave a single stone unturned in order to thwart Man Singh's reign. He geared up to bring back from the cauldron the volatile issue of the marriage of princess Krishna Kumari to the forefront of Rajasthan's

politics. Suffice would be to mention here that Sawai Singh unleashed a ruthless vengeance on the Marwar establishment headed by Man Singh and his Mutsaddi confidantes. Firstly, he succeeded in convincing Maharaja Jagat Singh of Jaipur to invade Marwar by treacherously promising the support of all the leading Rathore sardars of the country. Secondly, he formed an alliance with Maharaja Surat Singh of Bikaner and Mir Khan Pindari. Thus, he was able to neutralise Yahwant rao Holkar who was an avowed ally of Marwar.⁹ Around the same point of time, Inderraj Singhvi and Gangaram bhandari were put behind bars on the orders of Man Singh. The real reason for this is a bit ambiguous but we cannot say that the anti-Mutsaddi feeling among the Rajput nobility alone was responsible for this because a few Talukdars were also complicit in this event, namely-Muhnot Gyanmal and Mehta Akhaichand. When the crisis of an impending invasion from Jaipur was looming large, the two imprisoned Talukdars had nearly lost their lives but for the intervention of Thakur Anarh Singh of Ahore.

The civil war of Marwar of 1806 spread havoc everywhere and caused widespread anarchy. The debacle of Geengoli is too lengthy and voluminous to be repeated here in entirety. One after the other, many prominent sardars deserted the Marwar army and marched up ahead to join the enemy ranks. The Thakur of Pokran was placing his pawns at the right places on the checkered board. Those who stayed behind were also hand in glove with Sawai. They suggested to the King that the best option before them is to retreat to Jodhpur. The despondency of Man Singh could be estimated by the fact that when in opposition to the counsel he drew his sword to lead the men head-on into the battle, Dhandhal Udairam caught hold of the naked sword not letting him unsheathe it. Sawai Singh had predicted that Man Singh would be left with no option but to repair to the fort of Jalor which was his most reliable safe haven and in his absence from Jodhpur, the rebels would instate Dhonkal Singh on the gaddi. However, Man Singh chose to rather proceed to Jodhpur and strengthen the defenses in order to face the invasion.¹⁰ One of the most prominent measures thus adopted was the release of some talukdars who were imprisoned at Salemkot at the Mehrangarh fort. The most important among them were Inderraj Singhvi, Gangaram Bhandari and Dyodhidar Nathkaran.¹¹ The two of the ablest officers of Marwar were given the task to defend it in

the face of its worst calamity. The first step that they took was bold enough and it proves their mettle. They sought an interview with the man who was their arch rival. The two Mutsaddis and Pokran chief met at Kaga, halfway between Mandor and Jodhpur. Here also, Sawai Singh uttered spiteful words and jeeringly remarked that the fate of Marwar and its chief is decided by the Rinnals and not Mahajans.

Sawai Singh continued to be a thorn in the flesh for the Marwar establishment of Man Singh till the former's death. The Thakur was exterminated only after Mir Khan Pindari performed a base act of treachery and deceit. Sawai Singh and his position in the history of Marwar would remain a hotly debatable contest till exhaustive research is undertaken upon the subject.

References:

1. Bhati, Narayan Singh(ed.), Maharaja Mansingh ri Khyat, Jodhpur, 1997.Pgs 40-45.
2. Sanad Parwana Bahi No. 3 F7B, Nagor Kachehri, Rajasthan State Archives, Bikaner.
3. Ohda Bahi No. 2, F46B, Rajasthan State Archives, Bikaner.
4. Bhati, Narayan Singh(ed.), Maharaja Mansingh ri Khyat, Jodhpur, 1997.pg 15.
5. Ohda Bahi No. 2, F46B, Rajasthan State Archives, Bikaner
6. Ibid. Pg 8. During Man Singh's processional march into Jodhpur, Sawai Singh was seated at the rear of the king's elephant to perform the ritual Jhanwar- a rite of extreme honor and privilege.
7. Tod, James ,Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, New Delhi, 2011, Pg 108-110.
8. Though Tod treats Sawai Singh as a menacing character but he holds his prejudice against Man Singh as the only reason for such an attitude. He does not account for the rivalry between the Singhvis and the Rathores in general or between Inderraj and Sawai Singh in particular. He indulges in history writing with an obsession of the grandeur of the Rajput race and so omits the claims to power of other communities within Rajasthan.
9. Bhati, Narayan Singh(ed.), Maharaja Mansingh ri Khyat, Jodhpur, 1997.pg 57.
10. Bhati, Narayan Singh(ed.), Maharaja Mansingh ri Khyat, Jodhpur, 1997.pgs 44. The assailant is called a 'Pardesi' in the Maharaja Man Singh ri Khyat which alludes to a hired assassin since he was a complete outsider.
11. Arzi Bahi No. 4, pg 50. A letter from Bhim Singh to Mahadji, 17th July 1799, Rajasthan State Archives, Bikaner.

Dayanand and his Concept of 'Niyoga'

Dr. Meghna Sharma

Dayananda's many meetings with Pandit Ishwarchandra Vidyasagar must have been among the high points of his visit to Calcutta in 1873. Vidyasagar was appointed the Head *Pandit* of the Bengali Department of Fort William College, at the age of twenty-one and ten years later he had become Principal of Sanskrit College. He had established a string to twenty model schools and no less than thirty-five girls' school, and had just succeeded in having the Hindu Metropolitan Institution which he directly affiliated to Calcutta University.

Against the fierce opposition of the great majority of Hindus, he had successfully carried out a campaign in the fifties to have the Widow-Remarriage Bill passed, and was currently fighting his frustrating battle against the polygamy of *Kulinism*. As early as 1847 he had established his own Sanskrit Press; by now he had published no less than twenty books, mostly educational textbooks and edited ten Sanskrit texts.¹ His conversations with Dayanand focused on the problems of women education. Dayanand found in Vidyasagar a man after his own heart, stepped in the tradition, and basing all his projects for reform soundly on the teachings of the Shastras. It was with Vidyasagar that for the first time he talked about his own concept of *Niyoga*, which was to become his own ideal solution to the problem of widows.²

Vidyasagar's arguments, for widow-remarriage, were, strengthened by those of his supporters, whom Dayananda met. In 1865 the lawyer Umeshchandra Mitra had written a Bengali drama in support of Widow-remarriage³ and Ramtanu Lahiri had been a constant supporter of the *Pandit*⁴ as was A. K. Dutta.⁵ Dr. Mahendralal Sarkar, an eminent scientist who was soon to found the Scientific Society, wrote impressive articles proving the necessity of later marriage, using arguments from medical science.⁶

The Ancient Concept of *Niyoga* :

Niyoga is an ancient Hindu tradition, in which a woman (whose husband is either incapable of fatherhood or has died without having a child) would request and appoint a person for helping her bear a child. According to this Hindu tradition the man who was appointed must be or would most likely be a revered person. There were various clauses associated with this process, as follows:

1. The woman would agree for this only for the sake of rightfully having a child and not for pleasure.
2. The appointed man would do this for Dharma, considering it as his duty to help the woman bear a child and not for pleasure.
3. The child thus born would be considered the child of the husband-wife and not that of the appointed man.
4. The appointed man would not seek any paternal relationship or attachment to this child in the future.
5. To avoid misuse, a man was allowed a maximum of three times in his lifetime to be appointed in such a way.
6. The act will be seen as that of Dharma and while doing so, the man and the wife will have only Dharma in their mind and not passion nor lust. The man will do it as a help to the woman in the name of God, whereas the woman will accept it only to bear the child for herself and her husband.

The most famous examples of *Niyoga* occurred in the Mahabharata. Dhritarashtra, Pandu and Vidura were the three children born by this process when Rishi Vedavyasa was the appointed man. Later Pandu himself was incapable of producing children. The five Pandavas, Yudhishtira, Bhima, Arjuna, Nakula and Sahadeva were the offspring born out of *Niyoga*, the respective biological fathers being various Devas.

In the Manusmriti, *Niyoga* is prescribed in IX.59-63, but the practice is also condemned in IX.64-68. This text (IX.167) describes the child born by *Niyoga* as a *Kshetraja* child of the husband-wife⁷

The Differences Between Re-marriage and *Niyoga* :

After marriage the bride leaves her paternal roof, lives with her husband, and her relations with her relations with her father's family cease to be very close; on the contrary. The widow (in case

she contracts *Niyoga*) continues to live in her deceased husband's house. The children begotten of marriage inherit the property of their mother's husband, whereas, offspring begotten of *Niyoga* on a widow are not regarded as children of the begetter and consequently they don't take his surname, nor can they be claimed by him. They are spoken of as the children of their mother's deceased husband, take his surname, inherit his property and live in his house.

Married people are required to serve and help each other, while those that contract *Niyoga* have to abandon all relations (after the stipulated period). The relation of marriage is life-long, while the contract of *Niyoga* ceases to be operative after the desired object has been attained.⁸

The radical institution of '*Niyoga*' meant the temporary union of widows and widowers and Dayanand was to advocate it till the end of his life. Yet it is the one institution which his followers never put into practice: there is not one single report of a *Niyoga* being contracted during or after the Swami's life. In his mind the theory had basic starting points: his deep concern for the sorry state of widows, and the fact that Vedas allowed in certain cases a widow to contract a temporary union with the brother of her deceased husband. The plight of the upper class widow was one of the major social curses of contemporary Hindu society, and one of the very first concerns of Hindu social reform. Dayanand had now become acutely aware of the complications of the situation. The problem was confounded by the prevailing custom of child marriage: many girls were widowed even before the end of infancy. Some sections of the Hindu community like the Kannauch Brahmins had created a host of unmarried girls by exacting enormous dowries. The dowry system of some marital classes had caused the widespread custom of female infanticide, and the polygamy associated with Kulinism in Bengal had multiplied unsupported wives and unsupported widows.⁹

The eradication of those practices would drastically reduce the number of widows, but even then there still remained, according to the Swami, the basic problem of the widow: unloved and unsupported she was often driven to vice, abortion, and infanticide. He saw the solution in allowing the widow to contract a temporary

legal union with a widower: however, that decision should be wholly in her hands.¹⁰

Apart from this moral argument, Dayanand also uses the argument that '*Niyoga*' had a basis in the scriptures. Some of the most ancient law books permitted the practice of '*Niyoga*' in certain very specific circumstances. The husband, living or dead should approve the union; the partner should either be the husband's brother or a close relation of his; the relationship could last till one or two sons were born after which it had to be drastically broken off.¹¹

Dayanand's concept of *Niyoga* :

Swami Dayananda has defined *Niyoga* thus: "*Niyoga* is the temporary union of a person with another of the opposite sex, both parties may belong to the same class or the male may belong to a class higher, for the raising of issue, when marriage has failed to fulfill its legitimate purpose. It is resorted to in extreme cases, either on the death of one's consort, or when protracted disease has destroyed reproductive power in the husband or in the wife."¹²

Niyoga is also not mandatory. It is done only to get an issue, if some one desires for it, based on the legitimate reasons. If the concerned person (man or woman) doesn't wish to have an issue, no one would force him or her to go for *Niyoga*. Swami Dayananda has given top priority to *Brahmacharya* (celibacy). If a person (man or woman) decides to observe *Brahmacharya* (self-control) and / or to adopt someone's child and abstain from *Niyoga*, it is viewed preferable.

As marriage is regulated by laws so is the case with *Niyoga* also. Scientifically we all know the simple fact that for the generation of a new child, union of reproductive elements of a male and a female is an obligatory requirement. Marriage is the most socially acknowledged system to facilitate this. However for any reasons, if the marriage fails to deliver the goods, and a child or more children are required to meet the need of an individual or society or nation, there ought to have some viable alternatives available. The *Niyoga* system was such a Vedic alternative to cope such crisis and contingencies. Swami Dayananda thought it essential to mention, explain and redefine it in his books, as he comprehended it, so that the social scientists and other sensible persons of the world could

explore its validity and propriety as an alternative means to meet the demand of the human society during crisis.

It would be a great mistake to suppose that Swami Dayananda was the originator of this system of *Niyoga*. He has just presented it in our times based on the Vedas and Vedic scriptures and ancient tradition of the *Aryas*.

Dayanand radically changed and extended this ancient institution, for him the '*Niyoga*' contract is between a widow and a widower and must be broken off after the birth of two sons. It is not clearly stated if another '*Niyoga*' contract may be entered into afterwards, but that was probable his idea since he later affirmed it clearly. He completely omitted the basic condition of the ancient law, that if the first union failed to produce male offspring. And then '*Niyoga*' was extended even further: It is possible for a wife to enter into it while her husband is till alive, for the following reasons: if he is absent for a long time if he becomes impotent or sterile, or if he becomes vile and violent.¹³ Similarly not only may the widower contract '*Niyoga*', but also the husband may have strong reasons to temporarily supersede his living wife; these are long absence, hateful behaviour, drunkenness, disease, barrenness, inability to produce a son, and acute quarrelsomeness.¹⁴

The reasons for '*Niyoga*', apart from the specific desire for offspring, are that the widow is left without support, financial and emotional, and consequently engages in vice, abortion and infanticide; the need of the widow is, therefore, most often not offspring, but support, companionship and sex.¹⁵

Dayanand's concept of sexual morality was also dominated by the idea against polygamy as it saps man's strength, and womanizing is slated because of that waste of precious vitality leading to disease and premature death. Long *Brahamcharya*, meaning protracted storage of vitality, brings to those married at a mature age, a pleasure in coitus which others cannot even imagine offspring of superior qualities.¹⁶

It was Behramji's Malabari's Notes on Infant Marriage and Enforced Widowhood that launched Social Reform Action again in 1884 by hitting upon a social issue that could effectively unite the social reformers of all regions, namely the need for legislative control

of the age of marriage of Hindu girls. But in that interim of fifteen years from 1870 onwards, the Bombay reformers showed a much keener interest in religious reform and in the study of the sources of Hinduism.¹⁷

The one occasion when Dayanand ever returned to his native Kathiawar was during his visit to Rajkot in January 1875. And it was there in the land of his birth that the very first Arya Samaj was established apparently it was a wholesale takeover of the local Prarthana Samaj. The secretary of the new Samaj wrote to Gopalrao Hari Deshmukh that the new Rajkot *Aryas* had been unable to agree with the Swami's ideas on the marriage age and on '*Niyoga*', but that their rejection of these points had been quite acceptable to the Swami. This report, confirmed by a note in the *Hitecchu* of 12th January 1875, indicates that from the very start Dayanand was flexible in his expectations.¹⁸

According to the rules of Arya Samaj, each *Samaj*, should be run, by a committee, which was open to males and females. The committee members were responsible for the general running of the Samaj and they also had two special duties. They should conduct two schools, one for boys and one for girls staffed exclusively by males and females respectively, in which the ancient scriptures should be studied.¹⁹ The best reported lectures are those the Swami gave at Poona. He delivered about fifty lectures in all, some in town, others in the cantonment. In no other statement did Dayanand express his attitude to '*Niyoga*' and widow-remarriage more clearly and forcefully: "*It is not my wish to criticize widow-remarriage in order to give support to those who oppose widow-remarriage...what I am saying is that for the twice born 'Niyoga' is better...In the olden days 'Niyoga' was practiced extensively, and there was little need for remarriage. But in this age both 'Niyoga' and remarriage have been stopped, and the resulting miserable wickedness is indescribable...all the sins are on our heads. Looking at today's blind adherence to false tradition one has to admit that widow-remarriage is altogether better than that.*"²⁰

These words make Dayanand's stand quite clear: in principle, only '*Niyoga*' should be practiced by the twice-born: but if '*Niyoga*'

is not acceptable, then let there be widow-remarriage, because it is infinitely better than the contemporary situation. Although he remained inflexible on the principle, Dayanand was quite amenable to practical compromises. This explains his continuing good relationship with reformers and even *Aryas* who persisted in promoting widow-remarriage. When the Ajmer Samaj re-converted to Hinduism a Christian convert, a young widow with two children, the Samaj leaders with two children, the Samaj leaders reported the incident to the Swami and sought his advice on what should be done.²¹

When the Swami judged it necessary he voiced his dissent in no uncertain terms. On hearing that the Lahore Samaj was collaborating with the Brahmos in promoting the cause of widow-remarriage he wrote to Lala Jivandaas as follows: These Brahmos are different inside and outside. They have the idea the Arya Samaj should become like them: reviled because they are similar to Christians for a virgin there is no sin in remarriage, and her who has been with a man there is no fault in '*Niyoga*'. To act against those principles will produce now or later great distress, because it will be in violation of the Shastras, no doubt outcasting will follow.²²

This is a very important and representative example of the exercise of authority by the *Swami*. Many Punjabi *Aryas* were in favour of widow-remarriage but did not accept '*Niyoga*'. All Dayanand did was to reaffirm his own opinion, but he did not issue an injunction that the *Aryas* should follow it and stop their collaboration with the Bhramos. In fact, we know that the Punjabi *Aryas* actually increased their support for widow-remarriage: the Gurudaspur and Peshawar Samajes arranged such marriages.²³ And the Arya messenger which Dayanand regularly received, even ran a '*matrimonial notice*' inviting widows and men prepared to marry widows to contact the Arya Samaj of Lahore or Sitapur.²⁴

Dayanand always believed that those in political power could and should exert their influence for legislating in order to protect widows. Sajjan Singh also seems to have accepted Dayanand's doctrine of strict monogamy, even for kings, for it is reported that at the time he died declined to go ahead with negotiations to take a second wife.²⁵

This same attitude of Dayanand's is also clearly evident in his correspondence with one of the Swami's closest advisors, whom he made Vice-President of his trust at the end of his life, Dayanand wanted to put a proposal the Government to pass a regulation 'by which children of widows be entitled to claim and obtain their rightful share of the property, both movable and immovable, of their parents and by which anyone trying to malign a widow in any way be liable to punishment by the Government'. In a letter to Mulraj he stated quite clearly that the regulation should be applicable to both remarriage and 'Niyoga'. He asked Mulraj if he would agree to draft a legal document.²⁶

The Swami's next letter complained that Mulraj had not used the term 'Niyoga' in his draft but only the term remarriage and it included a draft document of the Swami's own composition.²⁷ Mulraj did not agree with the Swami's theory of 'Niyoga' and was not prepared to comply with the Swami's wishes. Moreover, he must have realized the absurdity of including in such a legal document, a term which had no legal standing. The important fact is that no stage of the correspondence was anything like an order issued.

References:

1. Ghose, B : 'Ishwar Chandra Vidyasagar', (Delhi, 1965), p.123
2. Rishi Dayananda Ke Patra Aur Vigyanon Ke Parishisht, Edited by- Y. Mimansak, (Amritsar, 1958), p. 52
3. Sen, S. K : 'History of Bengali Literature', (New Delhi, 1960), p.196
4. (A) Lethbridge, Roper (Ed.): 'A History of the Renaissance in Bengal', Ramtanu Lahiri: Brahman and Reformer, from the Bengali of Pandit Shivnath Shastri, (Calcutta, 1972), p. 85
(B) Sen, S. P (Ed.): Dictionary of National Biography, Vol.II, (Calcutta, 1973), p. 387-88
5. Bose, N. S : 'The Indian Awakening and Bengal', (Calcutta, 1969), p.186
6. The articles are published in C. Y. Chintamani's 'Indian Social Reform', (Madras, 1901), p.255, 272
7. Bühler, George (1886). "Chapter IX". *The Laws of Manu*. Sacred Books of the East. 25.
8. <http://www.aryasamajjamnagar.org/chapterfour.htm#16>
9. Saraswati, Dayanand : *Satyarth Prakash*, Edition-I, (Banaras, 1875), p. 141
10. *Ibid*, p.141
11. *Ibid*, pp.143-46, 186.
12. Statement of My Beliefs and Disbeliefs, appendix to Satyarth-Prakash, Sr. no. 47 This definition should be kept in mind while analyzing Swami Dayananda's thoughts on Niyoga.
13. Jordens, J. T, F : 'Dayananda Saraswati- His Life and Ideas', (Delhi, 1978), p.118
14. Saraswati, Dayanand : *Satyarth Prakash*, Edition-I, (Banaras, 1875), pp.. 145-46.
15. *Ibid*, p. 141
16. *Ibid*, pp.140-01, 150-51
17. (A) Dobbin, C : 'Urban Leadership in Western India', (O.U.P, 1972), pp. 247-49
(B) Heimsath, C.M : 'Indian Nationalism and Hindu Social Reform', (Princeton, 1964), pp..147-48
18. Jordens, J. T, F : 'Dayananda Saraswati- His Life and Ideas', (Delhi, 1978), p.133
19. *Ibid*, p.143
20. *Puna Pravachana Arthat Upadesh Manjari*, Editor-Y.Mimansak, (Sonepat, 1969), pp.126-28
21. (A) Rishi Dayananda Saraswati Ke Patra aur Vijnapan, Edition-II, Ed.- Y, Mimansak, (Amritsar,1955), p.462, 466
(B) *Munshiram Jijnasu*, Ed.-Rishi Dayananda ka patravavyavahar, Vol-I, (Gurukul Kangari, 1910), Pp.177-79, 194-95
22. Rishi Dayananda Saraswati Ke Patra aur Vijnapan, Edition-II, Y. Mimansak, (Amritsar, 1955), p.327
23. *The Arya Magazine*, Ed. R. C. Bary, Lahore, Vol.-I (1882-83). P. 85
24. *Ibid*., p.86
25. Ghasiram: *Maharishi Dayananda Saraswati ka Jivan Charit*, Vol-II, (Ajmer, 1957), p.303
26. Rishi Dayananda Ke Patra Aur Vijnapan, Edition-II, Y.Mimansak, (Amritsar, 1955), pp. 211-12
27. *Ibid*, Pp. 224-27.

1795 and 1796. This rich category of document is preserved in Rajasthan state Archives Bikaner.

The entire staff of building construction could be divided into two category: Firstly, we will discuss about the first category who supervised the constructional activity of royal buildings.

Basically, they were the nobles who were the supreme commander of Mughals building construction. The painting of Akbarnama depicts that the man, well-dressed and dignified in appearance, sits on a blue carpet with decorative designs. Such blue carpets appear in Mughal paintings associated with the Mughal elite. Four people attend upon the noble, one serving food, while a number of building workers outside the enclosure are busy with their task. Four horses with grooms outside the enclosure further establish his noble status.

The other painting of also shows that the person inspecting the construction with his attendant holding a fly-whisk behind him, may be either a very exalted noble or the sovereign himself.

Table indicating the terms of the building staff and sources

Personnel	Source
Amala wafa 'la- imarat, Uhdadaran-i 'imarat, Sarkardaran-i 'imarat, Mutasaddiyan-i 'imarat, Karaghan-i 'imarat, Mir Imarat	Abul Fazl, Akbarnama, Afif, Tarikh-i Feroze Shahi, Arif Qandhari, Tarikh-i Qandhari, Lahori, Badshahnama, Waris, Badshahnama, Muhammad Kazim, 'Alamgirnama. Tarikh-i Feroze Shahi, Iqbalnama-i Jahangiri, Amal Salih,
Qualification and Functions	Hedayatul Bihari, Hedayat-ul Qawa 'id of the Mir Imarat,
Mir Bahar Barr	Akbarnama, II, Nizamuddin Ahmad, Tabaqat-i Akbari,
Sara mad-i me 'maran, memar	Salih Kanbu, Amal-i Salih, Munshat Namakin,
Mir Saman or Khan saman	Ibn Hasan, The Central Structure of the Mughal Empire, Lahori, Badshahnama, Tuzuk-i- Jahangiri,
Sarbarah Imarat, Darogha-i- Imarat,	Tarikh-i-Qandhari, Kewal Ram, Tazkirat-al Umara,
Other Officers-	

The Organisation of Artisans in Building Construction: A Case Study of Jaipur

Farhat Kamal

Babur alludes in his memoirs that Hindustan had unnumbered and endless workmen of every kind, infinite number of artisans in different crafts and industries as one of the advantages of Hindustan. There is a fixed caste (jami) for every sort of work and for everything, which has done that work or that thing from father to son till now. Mulla Sharf in his writing Zafar Nama mentions about the building of the Timur Beg's stone mosque lays stress on the fact that 200 stone- cutters worked on it, came from Azarbaijan, Faras, Hindustan and other countries. But 680 men worked on my buildings in Agra, Sikri, Bayana, Dulpur, Gwalior and Koil. In the same way there are numberless artisans and workmen of every sort in Hindustan.

The craftsmen engaged in the construction work constituted a significant group of urban population. Thousands of workmen were employed in the state owned construction sites.

The illustration of Akbarnama also depicts Akbar's visit to a construction site, accompanied by officials and attendants. Akbar is shown observed in conversation with the stone worker and his left hand stretched towards the latter in a gesture either of instruction or point out some flaw in his works.

Monserrate mentios that Akbar is so devoted that he sometimes quarries stone himself along with other workmen. Nor does he shrink from watching himself practicing, for the sake of amusement the craft of any ordinary artisan.

In the present paper an attempt is being made to discuss the artisan organization of Jaipur in the light of Arhsatta Imarti document. These documents are in the nature of statistical data of expenditure incurred on wages of the artisans and buildings of Jaipur. The available document pertains to the period of V.S. 1783, 1784, 1785,

Mushrif 'imarat-i Padshahi Shaikh Farid Bhakkari, Zakhirat-ul
 Khwanin,
 Shahna chalak, Tarikh-i Feroze Shahi

This table shows the terms of officers and master builders under whom Mughal building construction carried out. Hedayat-ul Qawa 'id mentions the qualification and functions of the mir imarat: First, he must be well versed in accountancy, employ an accountant, he must be able to ascertain the number of bricks (Khist) required according to the fixed units of measurement, thirdly, he should be aware of the builder's wages (me'mar) for the work to be accomplished; fourth, he should know the prices of building materials.

Mir saman or Khan saman was the highest officer of the buyutat and one of his duties to oversee the plans of or expenditure on, lodgings and building belonging to the state. Mir saman occupied a higher status under Jahangir and Shahjahan.

Arif Qandhari Qandhari mentions the term darogha Imarat with reference to construction work at Agra under Qasim Khan. Apart from the darogha and mir, 'imarat, there were also other officers under whom the construction carried out likewise: Mushrif (accountant) and Mustaufi (auditor) etc.

Fortunately, Arhsatta Imarti furnishes the information that Jaipur building construction was under the supervision of darogha and tahvildar. There were various other officers who are listed in the document likewise Potdar and Kotwal. They have also noted down the detail of wages, the number of bricks (Itha) and tiles (thokra), the variety and size of stones and the quantity of other material which was used for particular dimensions for instance Screens (jali) and raised seating at entrance (gokha) were built of sang danau in the haveli.

It is interesting to note that tahvildar and darogha had sent all records to Diwan of whether it is related to artisan wages and raw material. In the study of document, I found that all records which are related to wages and buildings construction were sent to Vidhyadhar who was the Desh Diwan of Jaipur. Vidhyadhar looked to the financial side and attended to the needs of expenditure. The wages were distributed under the supervision of Tahvildar and Superintendent (daroga) as we have an example, Mohanram

tahvildar who was responsible for wages distribution in 1738 A.D and Santoshram was in 1739 A.D.

The Superintendent (darogha) took the raw materials and the unfinished articles from the tahvildar and distributed them to the artisans. They kept the records of regular entries of artisans work besides the articles or building material which provided to the artisans for the building construction by them. After completion of the work of artisans calculations were made of total number of days for its completion and on the basis of their work the wages of artisans were paid.

Fortunately, document furnish the name of artisans and also the name of darogha and tahvildar under whose supervision work has been done for instance artisans Shah Pratap Singh and Sahab Bula Ram had worked under the supervision of Vijay Ram darogha and Vijay Anand Ram and Jagram had worked under Shah Sahib Ram darogha.

When the construction of building was completed, Tahvildar and darogha kept records of this building expenditure which was incurred on the wages of artisans and on the raw material used in particular building for instance Rs 20. 34 was incurred on the wages and Rs 21.8 on raw material for the renovation of Sawai Mahal Barahdari.

Let us discuss about the second category: They consisted artisans and labourers at the construction site. The first category of building staff supervised to the artisans and labourers. Strict control was inevitable at the construction site. This example clearly shows in the paintings of Akbarnama.

The Painting of Akbarnama depicts that a man noting something on a ledger, while an ordinary labourer faces him with one hand half-outstretched, in a pleading gesture. Yet another scribe is seen standing near Akbar below him and on the right, holding a roll of paper in his left hand. Besides the site overseers or supervisors, too, are noticed in the painting invariably holding the traditional staff, overseeing workers and artisans.

Arhsatta Imarti document not only noted down the amount paid in cash to the artisans (karigar) and labourers (majur) by the state but also furnish the information of building materials such as

Rajasthan History Congress - 161

wood, stones, bricks and mortar etc. The daily (rozinadar) and monthly wages (mahinadar) in cash paid to the artisans and labourers are recorded in the document either in the names of individual or sometimes are recorded of a group of labourers (majur).

Arhsatta Imarti refers to the wage structure of the various types of artisans (Karigar), carpenters (Khati), labourers (majur), brick layers (beldar) and architect (ustagar) were engaged in the construction, repairing, renovations and whitewashing of Jaipur buildings.

Labourer class were also paid in advance wages (dadni) for instance, 18 rupees was paid to 29 Nafar (men) for carrying the stone. This amount was given under the supervision of Manohanram darogha. The document refers that labourer class were paid in the last date of month. 25 date was fixed for the distribution of wages.

The Mughal Emperor rewarded the skilled workman whose article he liked most. The numerous cases of a variety of articles appreciated and artisans rewarded under Jahangir. Arhsatta Imarti also mention that rewards also given to the artisans according to the excellence of workmanship for instance reward was given to Kushal Ram Rajawat in 1787 V.S.

The document contains rich information of expenditure which was incurred on wages for particular buildings. The amount was fixed (mukarrar) as we have an example about Haveli of Keshav Ramji and Sujoghap Mahi Jodhpuri which was repaired and some renovation was done in this haveli. An amount of Rs. 112/- was fixed for the wages of workers.

I have developed the table of second group (artisans and workers) who were engaged in the constructional activity.

Following table indicates the personnel and their wages.

Personnel	Source	Wages
Gilkars (workers in Lime)	Abul Fazl, Ain-i-Akbari,	First class workmen 7 dams, second class 6 dams, third class 5 dams.
Sang-tarash (stone-masons)	„	6 dams paid for each gaz, 5 dams paid to those who did plain work, 22 jital was paid to the labourer class, employed in quarries for every man he breaks

Rajasthan History Congress - 162

Darudgar, Najjar (Carpenters)	„	7 dams for first class, 6 dams for second class, 4 dams for third class, 3 dams for fourth, 2 dams for fifth class one who did plain work, A first class carpenter got 1 dam 17 jitals for one gaz, second class 1 dam 6 jitals and the third class 21 jitals,
Pinjara-saz (lattice worker and wicker worker)	„	First, when the pieces are joined (Fastened with strings), and the interstices to be dedecagonal, 24 dams for every square gaz; when the interstices from twelve circles, 22 dam when hexagonal, 18 dam when jaffari (or rhombus-like, one diagonal being vertical, the other horizontal), 16 dam when shatranji (or square fields, as on a chess board), 12 dam for every square gaz. Secondly, when the work is ghayr-wasli (the sticks not being fastened with strings, but skillfully and tightly interwoven), for first class work, 48 dam per square gaz; for second class 40 dams.
Arra-kash (sawyers)	„	For job work, per square gaz 2 ½ dams if sisau wood; 2 dams if nazhu wood, A labourers employed for the day 2 dams. There are three men for every saw, one above, two below.
Beldars (Brick Layers),,,		3 ½ dams for first class daily, 3 dams for second class, if employed by the job, for building fortress walls with battlements, 4 dams per gaz; 2 ½ dams for laying foundation, 2 dams for all other walls and for digging ditches ½ dam per gaz. The gaz of a labourer contains 32 tassuj.
Khist-tarash (tile makers)	„	For 100 moulds, smoothened, 8 dams.

Rajasthan History Congress - 163

Surkhi-kob (pounders of old bricks)	"	1½ dam for a heap of 8 mans.
Glass-cutters	„	100 dam per gaz.
Bamboo-cutters	„	2 dams per diem.
Chappar-band (thatchers)	„	3 dams per diem, if done by job, 24 dams for 100 gaz.
Patal band	„	1 dams for 4 gaz.
Lakhira (they varnished reeds etc. with lac)	„	Wages, 2 dams per diem
Abkash (water carriers)	„	3 dams per diem for first class, second class do, 2 dams. Such water-carriers as are used for furnishing house-builders with water for mortar and quicklime get 2 dams per diem.

This table shows that the wages depended on the specialization of a particular artisan. This table prepared from Ain. Ain distinguish the wages of artisan for instance high wages was paid to the carpenter in comparison to Arrakash (one who saws beam).

Ain mentions that some artisans and workers worked by the job (Ijara) for definite task of specified dimensions and measurements. Ijara workers got slightly higher wages. Arhsatta Imarti also mentions the Ijara workers.

Ain only mentions the category of workers and their wages. However Arhsatta Imarti refers to the name of workers and their wages (ujura) and their domicile also. The constructional activity in the Jaipur provided employment to a number of artisans and labourers who came from different areas. Following is a table of artisans, developed from Arhsatta Imarti.

Table of Wages of Workers

S.N.	Name	Domicile	Duration (per mensum)	No. of days employed	No. of days absented (naga)	Wages Rs. Taka
1	Kanhiram	Khema	March to April (Chaitra to Baisakha)	27	-	6,75
			June to July (Ashadha to Sravana)	16	-	4 -
			August (Bhadrapada)	15	-	3 11

Rajasthan History Congress - 164

			September (Asvina)	10	-	2	-
2	Hamid Habib -		March to April	27	-	6	10.25
	„ -		June to July	15	-	3	11
	„ -		August	15	-	3	11
3	Jagram Dala		March	24	-	5	-
	„		April	3	-	-	10.25
4	Tulcho Dolta		March to April	27	-	6	10.25
	„		June	25	-	5	10.25
5	Devmani Magho		March to April	27	-	6	3.25
6	Magolo	„	„	27	1	6	-
7	Jasom	-	„	24	4	6	-
	-		August to October	34	-	8.50	-
8	Maniram	-	March to April	27	1	6	10.25
9	Kishan Kashipur	„	„	27	-	„	„
10	Megho	-	„	27	-	„	10.25
11	Gegho	-	„	-	-	4	29
12	Valo Dayaram -	„	„	23	-	5	1.25
„	„	„	August (Bhadrapada)	-	-	7	7.25
13	Imam Hussain -		March to April	-	-	1	11

The table shows the name of the various workers, their domicile and the duration of their work. The number of days in which they were absent (Naga) and their wages in terms of taka and rupees is also indicated in the table. We have information from this table that workers came from other areas for the construction of Jaipur buildings. The amount was fixed (mukarrar) for wages for example Rs. 6.75 was paid to Kanhiram, who came from Khema, and this amount was paid for 27 days. Interestingly, the available document shows the absent days of Karigars for example Ramji had absented for 1 day out of 27 days so the amount Rs.6 and 7 taka was paid to him for 26 days. The month in which wages paid was also mentioned in the document. The workers who were employed for 23-27 days were paid 5 rupees to 6 rupees and the workers who were below these numbers of days were paid 2-4 rupees and the workers who worked above these days were paid 8 rupees.

The document does not mention artisans specialization but only alludes that some artisans were engaged in stone works (karigar patthar ki jail banayo), some artisans were engaged for making the lime mortar (chuno- ko-gara-karo), some were engaged in the work of Kot ki Chunai, some were engaged for digging the clay and the construction of burj (raised platform). But sometimes document

mentioned the specialization of artisans for example, carpenter and Beldars.

Table indicating the wages of Carpenter (Khati)

Carpenter (khati)	Feb (Phalguna), Fixed days Year V.S 1795	Wages (Ujura)
Talabda ka Khati	7	1.25
Veerpur ka khati	7	1.25
Peepershetha ka khati	7	1.25
Khurai Hari ko Khati	6	1 rupees and 1 taka
Kosaryama ko Khati	7	1.25
Raheravad ko Khati	43	10
Devipur ko Khati	7	1
Bhopur ko Khati	7	1.25

This table shows that the carpenters (Khati) wages were fixed as we have an example, Rs.1.25 were paid to the carpenter of Veerpur for 7 days. An amount of Rs.10 was paid to the carpenter of Raheravad for 43 days, but there should be Rs.8.75 paid according to the above days. It appears that the carpenter of Raheravad belonged to the superior category. Ain mentions the amount of carpenters and their category, 7 dams were paid to the first class, 6 dams for second class and 5 dams were paid to the third category. Khati term was used in our document for carpenter. Ain prefers the term darudgar for carpenter.

Abul Fazl mentions the beldars (brick-layers) and their wages. Our document mentions the name of beldars as well as their wages. The following table indicates the wages of beldars.

Table Showing the Wages of beldars

Name of the beldars	Amount paid (Rs.)
Kuslo Kharwal Gubadi	4.12
Sadwo Viarjwasi	50.28
Maharam Virajwasi	1.16
Batwo Virajwasi	5.40
Megha Virajwasi	10
Sheoram Mahajan	20
Kesri Singh	6
Julpo Gubadi	2.16

Ujura (wages) dadni (advance of money for works or goods) was also paid to the workers. The following table indicates the name of workers to whom wages were paid in advance.

Table Showing the Dadni Wages in 1737 A.D.

Name of the worker	Ujura dadni (wages in advance)	Fixed days
Sudardas	Rs.7 and 10 takka	46
Lakshmiram	Rs.6 and 7.25 takka	39
Ramji Meeno	Rs.7 and 21.25 takka	52
Niryamu Wakhan	Rs.2 and 2 takka	8
Nathuram	Rs.1and 5 takka	8
Harkishan	Rs.18.12	91
Jamal	Rs.7 and 76.25 takka	74
Somaram	Rs.18.12 and 6.25 takka	141
Kanha Ji	11and 15	72
Devidas	11 and 20	74
Hiramani	5 and 12.25	35

Selection of the site of the buildings was the main concern for engineers (muhandis), Architect (me'mar) and builders (banna). After the selection of the site, the next step was the design and planning of the building. The plan or tarah of the proposed building was drawn on paper. Tarah or plan was a general term used both in painting and Architecture for the traced outline or plan.

The Red fort was carried out according to the tarah ratified by Shah Jahan. Before the construction of Khwabgah of Shah Jahan in the Lahore fort, Asaf Khan placed a number of tarahs prepared by the master architect before the Emperor, only one was approved by Emperor and handed over it to engineers to carry out construction accordingly.

Kapad dwara reveals that selection of the sites was the main concern of Jaipur ruler. Before the actual construction of Jaipur city, plans (tarah) were prepared. Kapad- dwara is the collection of an exceptionally large mass of maps, plans and notes on the planning of the Jaipur city. This document recorded the step by step development of Jaipur city.

The term Usta was used for architect in our document. Firstly, Ustagars (architect) were prepared the plans (tarah) of Jaipur

buildings on the order of Vidhyadhar and than actual construction started according to the tarah (plan). There were number of ustager (architect) which name mentioned in the document like Dayaram, Kushpal Kumar, Udairam, Sumram and Sitaram Kumar etc.

Arhsatta Imarti mentions the name of some ustagar who paid in advance for instance, Rs 107 paid to Dayaram architect, Rs 67 paid to Rekho Khati. But there is the mention of only to architect who were given Rs 76. These wages was distributed under the Devidas Mahajan darogha.

To conclude one can discern from the forgoing discussion that there was whole hierarchy of personnel involved in building constructional activity which sustained it by their coordinated effort. In Line with the Mughal Emperors the Jaipur Rajas patronized the artisan and craftsmen for carrying on constructional activity. The craftsmen from other domicile were enticed so as to achieve specialized Art.

References

1. Babur, Zahiruddin Muhammad, Babur Nama, Vol II, p. 520.
2. Vanina, Eugenia, Urban Crafts and Craftsmen in Medieval India, New Delhi, 2004, p. 61.
3. Akbarnama, Victoria and Albert Museum, London, No, IS 2-1896, 91/117. Cf., Building Construction in Mughal India, op. cit.
4. The Commentry of Father Monserrate, tr. J. S. Hoyland and annotated by N. Bannerji, Cuttack, 1922, p. 201.
5. Akbarnama, Victoria and Albert Museum, London, no. IS2-1896, 86/117. Cf., Qaisar, Ahsan Jan, Building Construction in Mughal India, Delhi 1988.
6. Catalogue of Paintings in the Lahore Museum, Lahore, 1976, pl. B. 75, facing p. 30. Cf., Building Construction in Mughal India, op. cit.
7. Hedayatullah Bihari, Hedayat-ul Qawa'id, Aligarh Collection no. Farsiya 108, ff. 39a-40b. See also, Building Construction in Mughal India, op. cit., p. 7.
8. Sarkar, Jadunath, Mughal Administration, III Edition, Calcutta, p.53
9. Tuzuk-i-Jahangiri, p. 314. See also, Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb, (A Study in Economic Development), op. cit., p. 50.
10. Arif Qandhari, Tarikh-i-Qandhari, eds., I. A. Arshi et al., Rampur, 1962, See also, Building Construction in Mughal India, op. cit., p. 10.
11. Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb, (A Study in Economic Development), op. cit., pp. 44-53. See also, Building Construction in Mughal India, op. cit., p. 11.

12. Arhsatta Imarti, B. N. 12, pp. 31-33.
13. Ibid., B. N. 13.
14. Arhsatta Imarti, B.N. 13.
15. Arhsatta Imarti, B. N. 6, 8, 12, 13, See also, Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb, (A Study in Economic Development), op. cit., pp. 52-53.
16. Arhsatta Imarti, B. N. 8, p. 24,
17. Ibid., B. N. 3, p. 17.
18. Akbarnama, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2-1896, 46/117. . Cf., Building Construction in Mughal India, op. cit.
19. Arhsatta Imarti, Bundle No, (Henceforth B.N.) 4, 6, 8, 13.
20. Ibid., B.N. 13.
21. Verma, Tripta, Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb, (A Study in Economic Development), Delhi, 1994. pp. 42-43.
22. Arhsatta Imarti, B. N. 8, p. 4.
23. Arhsatta Imarti, B.N. 3, p. 48.
24. Ain-i-Akbari, op. cit., p. 170.
25. Arhsatta Imarti, B.N. 13.
26. Ain-i-Akbari, op. cit., p. 117.
27. Arhsatta Imarti, B.N. 13.
28. Arhsatta Imarti. B.N, 12, pp. 31-32.

Analysis of Anti-British Ferment and Causes of the Revolt of 1857 in Rajasthan

Prof. Brij Kishore Sharma

It is an established fact now that the revolt of 1857 was the first Indian war of independence. In the words of Jawaharlal Nehru it was much more than a military mutiny and it spread rapidly and assumed the character of a popular rebellion and a war of Indian independence.¹ The rulers of the princely states of Rajputana enmasse remained loyal to the British during the Revolt of 1857. They supported the British in the suppression of this popular revolt. Sometimes they played a dubious role during this revolt because they were not sure of the victory of either group i.e. the British or the rebels. Again Nehru has analysed this phenomenon as follows: "This revolt strained British rule to the utmost and it was ultimately suppressed with Indian help. It brought out all the inherent weaknesses of the old regime, which was making its last despairing effort to drive out foreign rule. The feudal chiefs had the sympathy of the masses over large areas, but they were incapable, unorganized and with no constructive ideal or community of interest. They had already played their role in history and there was no place for them in the future. Many of their number, in spite of their sympathies, fought discretion the better part of valour, and stood apart waiting to see on which side victory lay. Many played the part of quislings. The Indian princes as a whole kept aloof or helped the British, fearing to risk what they had acquired or managed to retain."²

The role of the princely rulers of Rajputana is well known which was fairly Pro-British but on the other side they were waiting for the restoration of the old Mughal Empire. The same also been analysed in a very recent research on the 1857 revolt in the princely State of Jaipur is as follows: "It is notable that Maharaja Ram Singh pursued a cautious policy during the revolt. He sided with the Mughal emperor and the rebels in the initial stage of the revolt (May 1857 to October 1857) but after hearing the news of the restoration of the British power at Delhi and Lucknow, he resolved to side with

the British power and extend to it his unflinching loyalty. This is revealed by his providing support to the Political Agent, Jaipur in apprehending and punishing the conspirators and rebel sepoys; in intercepting the march of the insurgents under Tantia Tope through Jaipur territory, and in inscribing the image of Queen Victoria on the coinage of the Jaipur State in place of the Mughal Emperor."³ Thus, it is a difficult task to write and analyse this situation. But it may be rightly said that the rulers of Rajputana played an anti-national role in this revolt.

Irespective of the role of the rulers some of the Jagirdars, Sepoys of native and British forces, civil servants, poets, peasants, traders and all the sections of the society participated in the revolt through various ways and means. The deeds of those who contributed positively require proper mention in the history of revolt of 1857. The British accounts about the Revolt of 1857 are full of defects. It has been a wrong notion that Rajasthan remained aloof from this revolt. The rulers of Rajputana were instrumental in keeping the revolt under control and finally in its suppression. As such the popular rebellion of the masses in 1857 was confined to Delhi, the United Provinces and some parts of Central India and Bihar adjoining U.P. The revolt in Rajasthan was of a different kind because its traditional leaders (the rulers) did not play their part and only the dissatisfied groups and people fought against the British rule in their own way. Proximity of Rajputana to Delhi, the United provinces and Central India it also became an important centre of revolt. But the authors could not highlight the facts regarding the heroic struggle of Rajputana in 1857. It was for the first time when Nathu Ram Khadgawat's book "Rajasthan's Role in the Struggle of 1857" was released on 9th August 1957. The said book is an authentic account of the Revolt of 1857 in Rajputana.

The revolt broke out on 10th May 1857 at Meerut and on 28th May the sepoys at Naseerabad cantonment in Rajasthan near Ajmer revolted against their British officers. It was followed by sepoy revolts at Neemuch and Erinpura. The revolt of Ahuwa and Kota occurred after the restoration of British power in Delhi. Both these revolts were unique in nature and surpassed the earlier events of Delhi and United provinces. Tantia Tope fought a long struggle with the British. He got ample support from the jagirdars and the ordinary masses. Various Thakurs of Mewar, Marwar and Jaipur

also expressed their anger against the British and tried their utmost to defeat the British in the revolt. Infact Rajasthan has entirely a different history of events in 1857. It has been rightly analysed by Dr. Tarachand that when the news of the outbreak at Meerut reached Rajputana, the Indian sepoy regiments in the cantonments, the Rajput soldiers in the employ of the states, and the jagirdars raised the standard of revolt. There was much sympathy for them among the general public. The first rising took place at Nasirabad on May 28th, it was followed by one at Neemuch on June 3rd. Then the turmoil spread. Ajmer was threatened, an attack was led upon Abu; in Erinpura the sepoys revolted, and Mandsor was seized by Shahzada Firoz Shah. In Jodhpur the dissatisfaction, prevailing among the people was strengthened by the visit of Khaki sadhus who went from place to place and were invited even in the palace. But the main centres of disturbance were Kotah and Auwa, a dependency of Jodhpur.⁴

Causes of the Revolt and Anti-British ferment:

The causes of the Revolt of 1857 were similar to the British India, which included social, economic, religious, cultural and military causes. The economic devastation was so deep that even before 1857 various revolts of general masses had taken place in Bengal and Bihar. Looking to the nature of this study here it is pertinent too analyse the Rajputana specific causes of the revolt.

The rulers of Rajputana accepted the paramountcy of the British through various treaties broadly by 1818. In fact in the atmosphere of confusion and helplessness, the rulers of Rajputana sought British protection. Since the inception of treaties the British violated the terms and conditions of the treaties. The rulers were assured of their freedom and autonomy in the internal administration but in practice they never enjoyed such situation as the British regularly interfered in the internal matters of the states. Such interferences were not relished by the rulers, jagirdars, native officials, general masses etc. Thus, the British interference in the internal administration of Rajputana states was one of the main causes. In the event of any dispute between rulers and Jagirdars the British took side with the rulers which annoyed the latter.

There are many instances when the rulers, Jagirdars and general people resented the British rule. Since the inception of the

treaties Jodhpur state did not cooperate with the British in their policy of suppressing the anti-British chiefs and refused to allow the British to interfere in its internal administration, on being asked no less than by the Governor-General not to give shelter to the refugees. The ruler of Jodhpur even refused to attend the Burbar of Governor-General William Bentic at Ajmer and on various occasions came into direct confrontation with the British on the issue of the Nath Sadhus. The initial British interference was also resented by the states of Mewar and Kota. The high-handedness, by which the British went on supporting the unreasonable claim of Zalim Singh and his successors against Maharao Kishore Singh of Kotah, bioled the blood of the Hada Rajputs and they all stood up in arms against the British and their protégé, the Jhala. Maharao Kishore Singh fought with the assistance of those Rajputs in an open engagement with the British near Mangrol, and the ferocity and valour, shown by the followers of Kishore Singh on that occasion, stand as a testimony to the fact that the Rajputs, despite their defeat been had not completely enslaved by that time. It is interesting to note that in this war two British officers died and one was seriously injured.⁵

Nathuram Khadgawat's argument about the anti-British ferment says that the solitary instances of the anti-British ferment, narrated above, can be better understood in the light of the contingent frustration, prevailing among the feudal sector of the Rajasthan society and also the resulting anti-British trends responsible for quite a large number of sporadic agitations and revolts, engineered by the Rajput Jagirdars against the British. The raising of the Kotah contingent, the Jodhpur legion and the Shekhawati brigade had not been done solely with a view to assist the British Government in the suppression of the lawless bands of dacoits but also to keep the anti-British elements in check.⁶ The attack on Mr. Ludlow (Political agent) at Jodhpur and the murder of captain Blake (Political agent) at Jaipur shows anti-British ferment in Rajasthan since the inception of the treaties.

The British military efforts and measures created suspicion among all the sections of society. The traditional warrior groups lost their military importance. These groups largely included Rajputs, Muslims (Pathans and Kaimkhanis), tribal people etc. The Jagirdars had theri origin from the military services of the princely states

concerned. When the external affairs were transferred in the British hands the states did not require military services of the Jagirdars. Obviously, the military services began to be converted into cash payment, which put heavy economic burden upon the Jagirdars and ultimately the whole burden fell on the general masses. The British also created the armies of tribal people to suppress the tribals. In this direction Merwara Battalion of Mers was created in 1822 with its headquarter at Beawar.⁷ The Mewar Bhil Corps came into being in April 1841 with its headquarter at Kherwara and Kotra.⁸ In 1855 Deoli cantonment was established by the recruitment of the Mina tribe in the Deoli irregular forces, which became the 42nd Deoli Regiment or the Mina Battalion.⁹ Thus, the British encircled the tribal people to bring them under strict administrative control. Such efforts created uneasiness and dissatisfaction among all the sections of Rajasthan society.

The emotional outburst of anti-British ferment in the form of poems and popular songs reveals that the British rule in Rajasthan had, by the year 1857, become unpopular and people at large were in a way dissatisfied. The contemporary bardic writings also created dissatisfaction in the general masses. In this direction the writing of Banki Das (Bikaner) and Suryamal Mishran (Bundi) are well known which infused the spirit of patriotism.¹⁰ No doubt the British rule caused economic miseries and exploitation of people. The British had a upset and changed the centuries old administrative and economic set up. The jagirdar were great losers of their rights and privileges. Previously the rulers were depended on and relied upon the support and cooperation of the Jagirdars, but with the establishment of British paramountcy they had to rely and depend upon the cooperation and support of the British. The British rule caused enhancement in the land revenue which affected the peasant masses adversely.

The social reforms of the British hurt the feelings of masses. The abolition of the Sati system was considered an interference with the cultural and religious traditions. The settlement of Christian Missionaries around Ajmer and their activities in the villages during the early years of British rule was viewed with suspicion and was regarded as a deliberate attempt to convert the people of Christianity. The arrogance and pride of the English officers was a clear indication of their racial superiority. They followed the policy of social and

racial discrimination against the local people. The respectable local people considered it a humiliation.

The Jagirdars of Rajasthan hated and feared the British because the British were tampering with their centuries long privileges. Their position from war lords became that of land lords. Earlier they were partner of the state concerned, while now were reduced to the position of tax payer of the states. It has been concluded by Khadgawat that: with the establishment of British cantonments in Rajasthan, the princes no longer required the military assistance which they previously used to keep for their feudal chieftains and consequently, therefore, they could now manage to ignore and even insult their chiefs. The Jagirdars resented the disbanding of their own troops and they were certainly not in favour of losing the power and control they had hitherto exercised over their Jagirs. Their specific grievance against the British concerned an interference, made by the British directives, in the old custom according to which, no subject of an estate could leave his birth place and settle in another without the permission of its master, the Thakur. Sir Henry Lawrence had directed his political agents to do away with this custom and many persons, being involved in heavy debt took advantage of this innovation, shifted their quaters and the demands of their feudal lords for their return proved ineffective. Naturally, therefore, the Feudal Chieftains were against the enforcement of this new rule which reduced their power to sheer non entries. As a result of British penetration and the establishment of their cantonments in Rajasthan, the Jagirdars lost not only their power, privileges and prerogatives but were reduced to a stage of absolute helplessness. The high handedness of a number of princes, who, now being confident of the British support at their back, tried to crush these Jagirdars, led the feudal chieftains to believe that the continuation of the British rule in India would mean their political ruin.¹¹ In fact all the beneficiaries and functionaries of pre-British royal courts became losers of their power and prestige. Therefore, Suryamal Mishran a court poet of Bundi tried to make the Rajas and Maharajas aware of their past glory. He encouraged them to fight against the British. He personally even wrote letters to Darbars and Thakurs.

It is clear from the fore going description that there were potent possibilities of a revolt against the British rule in Rajasthan.

But the rulers and influential Jagirdars were in the state of despair and depression that they could not dare to light their face and head before the British power. They were not conscious of their ancestral glory and the deeds of bravery of their forefather. The general masses were looking opportunity to lead a revolt against the British rule in India. The rulers of Rajasthan defended the British rule in India and remained loyal to the British and the majority of Jagirdars kept mum. But the masses expressed their resentment against the British rule by supporting and helping the mutineers in Rajasthan. The sepoys at Nasirabad, Neemuch, Erinpura and Deoli cantonments resorted to revolt under the influence of the national upheaval. The revolt of Ahuwa Thakur is of great importance. The military revolt at Kota required special mention where the state remained under the control of mutineers for about six months and Maharao Ram Singh became a virtual prisoner of the revolutionaries. When Tantia Tope marched into Rajasthan with his nine thousand soldiers, he was helped by the people with money and provisions, while the British forces were hissed and hooted at by the general masses from place to place and they were denied provisions and supplies.

References

1. Jawahar Lal Nehru, *The Discovery of India*, Oxford University Press, Eleventh Impression, 1991, p. 323
2. *ibid.* pp. 323-24
3. V.K. Vashishtha, *1857 Revolt in the Princely States of Jaipur*, Books Treasure, Jodhpur, 2008, p. iv
4. Tara Chand, *History of the Freedom Movement in India*, Vol. II, Reprinted 1974, Publication Division, Govt. of India, New Delhi, p. 91
5. Mathura Lal Sharma, *Kota Rajya Ka Itihas*, Vol. II, Second Edition, 2008, Rajasthan Granthagar, Jodhpur, p. 119
6. Nathu Ram Khadawat, *Rajasthan's Role in the Struggle of 1857*, Second Edition, 2008, Rajasthan State Archives, Bikaner, pp. 18-19
7. Brij Kishore Sharma, *Tribal Revolts*, Pointer Publishers, Jaipur, 1996, p. 80
8. *ibid.*, p. 87
9. *ibid.*, p. 91
10. *The Poems of Girvardan, Adha Jawa, Sandhu Raghodas, Adha Jadu Ram etc.* also created hatred among the general masses against the British rule.
11. Nathu Ram Khadawat, *op.cit.*, p. 23

The role of the Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare in Jodhpur-with special reference to Baby Week Celebration

Prof. Vinita Parihar

Her Excellency Lady Chelmsford on her arrival in India in 1916, was much concerned by the high rate of infant mortality. It was estimated that India lost two million babies yearly.

The customs of castes and tribes related to birth, marriage, purdah system acted as health hazards and were responsible for high rate of mortality of both mother and infant during child birth. The evil of early marriage still continued despite of the efforts of social reform associations in Rajputana such as Walter Krit Hitkarini Sabha and other caste Reform Sabhas.¹ Col. T.H. Hendley, Administrative Medical Officer of Rajputana observed the ill effects of Purdah in his book entitled 'General Medical History of Rajputana'. He further adds that Zenana life in rooms which are frightfully unsanitary has undoubtedly a most prejudicial influence on the infants health and mortality of mother and child both.²

Her Excellency Lady Chelmsford announced her intention of founding the Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare in February 1920 with the following objects:

1. The training of health visitors and maternal supervisor and the rendering of financial assistance in the employment of trained personnel where necessary.

2. Propoganda in connection with the objects of the league such as Health Exhibition, lectures etc.

3. The formation and establishment of branches of the league and the affiliation with the league of other bodies having similar object, without unduly interfering with the organisation and administration of affiliated institution or with their power of raising money.

4. The doing of all such things as are incidental or conducive to the attainment of above or kindered objects.

Accordingly a branch of Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare was established in the Jodhpur state in 1923.³ Ms Lucie Gainsford, Superintendent of Jaswant Female Hospital, was appointed its secretary.⁴

The Queen Empress of India was the royal patron and the vicerine of India was the President of Chelmsford League. Governors and Chief Commissiner of Presidencies and rulers of Princely states were its patrons Men and Women of high position were its vice patron, vice president and life councillors.

The League was a part of the maternity and child welfare movement, which dealt with organisation which aimed at the preservation of the health of the mother and child rather than their treatment in disease. The first organisation of this nature to be formed in India was the Victoria Memorial Scholarship Fund initiated by Lady Curzon in 1903.⁵ The letter of the residency surgeon, delineating the aims of league of the Jodhpur branch of the league, categorically mentioned that all respect must be paid to the religious customs among the different castes and there was no intention of trying to westernise the homes. It further said that the centre was not a hospital.⁶ It further said that a heavy and ever increasing weight of responsibility rests up the men of Jodhpur and they should study the methods of preventing much unnecessary illness among women and young children.⁷

The ruler of Jodhpur Maharaja Umaid Singhji showed greatest interest in the Chelmsford League. The presence of Maharaja of Jodhpur as patron in the central executive committee of Chelmsford League further testifies the fact.¹⁰

The Chelmsford League opened two centres for maternity and child welfare and anti-natal clinics at the two main hospitals (Hewson and Jaswant Female hospital) in Jodhpur city. The centres advised the mothers to take their children to hospital of dispensaries run by state.¹¹ Visits were paid at homes also. Short health talks were given to the mothers to teach them simple laws of health. Arrangements were made to supply milk (when funds permitted) to poor mothers about 6 or 8 weeks before the baby was born and till

the mother got strong after delivery.¹² The league held classes for the training of Dais i.e. indogenous nurses. Through the good offices of the league, a Jodhpur Midwives Association under the auspices of Her Highness was established. It aimed at disseminating increased and up to date knowledge in midwifery and also to send the candidates for Punjab Central Midwives Board Examination.¹³

Baby Week Celebration : Initially the propoganda work of Chelmsford League was carried through exhibitions, magic lantern slides lectures etc. On the initiative of Her Excellency the counters of Reading, a National Baby Week Council was created in India in 1923 to promote Baby Week Celebration during the third week of January 1924, on the lines of National Baby Week Council of England, 1917.¹⁴

The chairman of the executive of the National Baby Week Council, India, suggested that each town would form its own committee, draw up a programme assisted when desired, by suggestions from central office and carry out the activities proposed which may include Infant Welfare exhibition, series of lecture to men, women and children Baby competitions, essay competitions, maternity plays, entertainments, conferences etc.¹⁵

Accordingly the Jodhpur branch of Chelmsford League formed an organising committee with Maharaj Fateh Singh (Home Member Council of State, Jodhpur) as its President¹⁶ and decided to celebrate the Baby Week for five days from January 21 to January 25, 1924 at Nazarji ki Bavadi in Jodhpur city.¹⁷

The organising committee soon chalked out a programme for the Baby week celebration Adequate arrangements were made for the publicity of the celebration and conveyance of women and children to the venue were made. A meeting of all the Jati-Panchas was called in Ghantaghar Chowk by the Kotwal, Jodhpur city,¹⁸ in order to get them interested in the celebrations. Posters were put up in the city as well as at the principal railway stations.¹⁹ 1500 copies of posters in Hindi and 500 in English wre prepared for the publicity.²⁰ Motor lorries were arranged to convey women and children from Soor Sagar Vicinity.²¹ Similarly on the day of Healthy Baby competition a special train was arranged from Mandore, a suburb of Jodhpur to Raika-Bagh, railway station.²² The Public was

reminded of the approaching date of exhibition by town-criers proceeding through the city and the same being advertised by poster carried by camels.²³ The superintendent education department was asked to declare holidays in the college and schools during the Baby week, to ensure the participation of youth in the exhibition and celebrations.²⁴

Mr. Sterling was given charge of the report section, police arrangements were to be made by Mr. Kothawala and the sanitation was to be looked after by Dr. Niranjana Nath.

It was decided to exhibit the local products and manufactures in the exhibition and superintendent of Museum was given charge of it. Accordingly the Hakims of various Paraganas were asked to submit a list of local products and manufactures for exhibition or sale.²⁶

The following were the headlines under which various features were arranged during the Baby Week Celebration.

A maternity and child welfare exhibition to which was attached a:

- a Public Health Section
- Baby Competition
- Toy Section.
- Local Industries Section
- Amusements and sports.

Tents on Maternity section in which was shown-

1. The evils of the untrained dai.
2. The good results of trained dai.
3. A labour room, as in a hospital, with a view to bringing out cleanliness and to alleviate the women's fears of hospital treatment.
4. Wholesome food for expectant and nursing mothers.
5. Suitable patent for expectant and nursing mothers.
6. Literature and pamphlets on maternity for lay people.

Child Welfare Tent

1. The model of a complete child welfare centre.
2. A model demonstrating the various activities at a child welfare centre.

3. Apparatus was shown and demonstration were given for recording the weight and height of infants, correct way of giving an infant's bath, the care of the child's food and bottle. Boiling and storage of milk.

4. Cots representing suitable and unsuitable types.

5. Suitable clothing and thrift garments for the better and poorest classes.

6. Wholesome and unwholesome food for children.

7. Suitable patent foods.

8. Literature on child welfare for the general public.

In Public Health Section were shown:

1. A model of a sanitary house.

2. A model of insanitary house.

3. A model of a hygienic dairy.

4. A model of an unhygienic dairy.

5. Methods for protecting food from flies as well as for killing them and also prevent them for breeding.

6. The danger from small pox and necessity for vaccination.

7. Mosquitoes and malaria.

8. Bacteria under the microscope.

9. Public health literature.

Toy section

Suitable and unsuitable toys for children of different ages and demonstrations given how toys can be made of small and old pieces of material.

In all sections, the walls were full of posters mostly illustrated and rhyme bearing on the respective exhibits.

The opening ceremony of Baby Week took place at 4 PM on Monday the 21st Jan 1924. Lectures, Magic lantern slides, Games of chance, sports like Victoria cross race, wrestling on horse back, playlets by school boys and girls, cinema theatre etc were arranged for the public. The child welfare exhibition was kept reserved all the day from 11.00 AM to 6.00 PM for purdah ladies on Jan 23rd and Jan 25th.²⁸

The Healthy Baby Competition was held on Friday the 25th of January 1924. The babies from age of one month to three years were classified into four groups and prizes were given away individually for the first five Babies in each group. The members of the royal family including the Maharani Sahiba, Shri Baiji Lal Marudhar Kanwar and Kishore Kanwar and Maharaj Kumar donated money for the prizes. Not only this Mrs. Sukhdeo Prasad and Mrs. Reynolds also were instrumental in sponsoring the prizes for Healthy Baby Competition.²⁹

Separate tents with enclosures were provided for European and Indian refreshment and were to be open all day. It included tea, drinks, ices, sweetmeats, puris, fruits, cakes, paan etc. It was considered that a profit might be made of four annas on European and two annas on Indian refreshment.³⁰

The Baby Week was held under the royal patronage of His Highness Maharaja Ummed Singh of Jodhpur.³¹ He was kind enough to order labour and state material like tents, furniture, light being supplied free of cost.³² Not only this he most generously placed his cinema apparatus and operator at the disposal of the organising committee and was to bear the cost of hiring films also.³³

The finances of the Baby Week was jointly guaranteed by the Red Cross and Lady Chelmsford League.

The Baby Week was a grand success. Approximately 6000 purdha women from the Jodhpur city and its neighbouring parganas visited the exhibition. Next year the Baby week was celebrated in Pali for three days, i.e. from 15th January to 17th of January 1925 which was visited by 2000 ladies.³⁵ The Baby Week was celebrated at the Darbar School grounds in 1926 for three days (24th Feb to 26th Feb 1926).³⁶ We also get reference of the celebration of Baby Week in 1938 for six days from 22nd Feb to 27th Feb in Jodhpur at the Stadium ground.³⁷

The Lady Chelmsford League, an important agency for the amelioration of the lot of women, specially mothers and children, did a commendable work. Ever since its establishment it did a good work in increasing measures within the sphere of its activities. It succeeded in providing preservative measures of health so as to combat material and infant mortality. Welfare centres were opened and dais (indigenous midwives) were trained.

Baby Week was celebrated to create a consciousness among women for the health and personal hygiene of themselves and their children. The need to study the methods of preventing much unnecessary illness among women and young children was pressed upon men also. The appeal that the work of League made to the public, specially to the women folk, can be judged by the fact that the First Baby Week (Jodhpur) and second Baby Week (Pali) was attended by a large number of purdah women. The keen interest of the Maharaja and Maharani in the activities of the Baby Week was no doubt a great source of inspiration to the women.

The Chelmsford League was a constructive programme, progressive in content, secular in approach and national in character. It indirectly did a praise worthy work in making the tradition people of Jodhpur, understand the pernicious social evils such as purdah, child marriage etc. Point to be noted here is that the movement for maternity and child welfare aimed at the preservation of health, rather than the treatment of disease. It can be safely surmised that the Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare Movement was an extension of the social reform movement for improving the social status of Indian women.

References

1. V.K. Vashishth, Beginning of the National Association for supplying medical Aid to the women of India in 1885 and its impact-A study with sp. ref. to Rajputana state, ed. by Dr. S.P. Vyas, Yug Yugeen Bhartiya Nari, Jodhpur 2010, p. 184
2. T.H. Hendley, General Medical History of Rajputana, Calcutta, 1900, p. 81
3. Original manuscript of Booklet of Lady Chelmsford All India League for Maternity and Child Welfare, Simla, p. 4
4. Jodhpur Mehkma Khas (JMK), Medical (Med.), file no. c/6, vol. I, District Archives (D.A.), Jodhpur
5. Jodhpur Mehkma Khas (JMK) Medical (Med) file no. 1, letter no 644, Rajasthan State Archives, Bikaner (R.S.A.B.)
6. Jubilee Report of the National Association for supplying medical aid by women to women of India, Simla, p. 74
7. Original manuscript op.cit., p. 2
8. JMK, med. file no. 1, letter of Residency Surgeon, to Thakur Mangal Singh of Pokarana, R.S.A.B
9. *ibid.*

10. Annual Report of Lady Chelmsford League, 1924, Simla, p. 12
11. JMK, Med., file no c/6, Vol. I, Do no. 1476/G22, dt. 20/2/42 DA, Jodhpur
12. JMK, Med., file no. 1, letter of Residency Surgeon op.cit. p. 2 RSAB
13. JMK, Med., file no c/6, vol. I, p. 40 (DA) Jodhpur
14. JMK, Med. file no. 1, Memorandum by the executive of National Baby Week Council, Simla (RSAB)
15. ibid.
16. JMK, Med. file no. 1, circular no. 656 (RSAB)
Other members of the organising committee were Mrs. Drake Brockman, Mrs. Wemyss Grant, Mrs. Gainsford, Pt. Sukhdeo, Rao Bahadur Thakur Mangal Singh of Pokaran, Pt. Suraj Prasad, Dr. Onkar Singh, Dr. Nirnajna Nath, Capt. Parnaik, Mr. Bomanji and Lt. Col. J.W. Brant, secretary.
17. JMK, Med. file no. 1, letter dt. 20/10/23 (RSAB)
18. ibid letter no 120 dt. 17/11/23
19. JMK, Med file no. op.cit, minutes of the meeting of the organising committee dt. 5/11/23
20. JMK, Med file no. 01 op.cit letter no. 369 dt. 15/11/23
21. JMK, Med file no. 01, op.cit. letter no. 3580
22. JMK, Med file no. 01, op.cit, minutes of the meeting dt. 5/11/1923
23. JMK, Med file no. 01, Proceedings of the meeting of organising committee dt. 11/11/1924
24. JMK Med File no. 01, op.cit. letter dt. 7/1/24
25. JMK, Med file no. 01, op.cit. p. 7
26. ibid, p. 8
27. JKM, Med file no. 01, op.cit. pp. 12-13
28. JMK, Med file no. 01, op.cit., p. 9
29. JMK, Med file no. 01, op.cit., meeting of the organising committee dt 19/12/23
30. JMK, Med file no. 01, op.cit., p. 11
31. JMK, Med file no. 01 op.cit. letter no. 521 dt. 24/10/23
32. ibid
33. JMK, Med file no. 01, op.cit. p. 14
34. Jubilee Report op.cit. p. 79
35. JMK, Med file no. 3, p. 2 (RSAB)
36. JMK, Med file no. 02, Do no 1-w dt. 12/2/1926
37. JMK, Med file no. c/6 vol. I, Do no. 686 dt. 16/2/38 D.A. (Jodhpur)

राजस्थान की मूर्तिकला में सहस्रलिंग - दक्षिणी पूर्वी राजस्थान का शिल्प वैशिष्ट्य

डॉ. शिल्पी गुप्ता

निरंजन निराकार लिंग स्वरूप की पूजा जगत के प्रत्येक भाग में होती रही है। यूरोप व एशिया के कई देशों में शिव के लिंग स्वरूप अवशेष मिले हैं। सारी सजीव सृष्टि, योनि और लिंग के संयोग से पैदा होने के कारण यह स्वरूप सृष्टि का आदिकरण माना जाता है। प्रजोत्पत्ति के लिए इन दोनों की ईकाई जरूरी है। शिव पूजा के कई प्रकार - व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त होते हैं। अव्यक्त लिंगों में कुदरती लिंग-स्वयंभू तथा बाणलिंग में पवित्र नदियों - गंगा, नर्मदादि से प्राप्त लिंग आते हैं। जबकि राजलिंग-घटित लिंग-मानुषलिंग गढ़कर तैयार किये जाते हैं।¹ नीचे के चतुरस्र भाग को 'ब्रह्मभाग', बीच के अष्टास्र भाग को 'विष्णु' भाग कहते हैं, ऊपर का प्रकार लिंग भाग 'शिव' का होता है, जिसकी पूजा की जाती है।

राजलिंग या घटित लिंग में अष्टोत्तरशत (108), सहस्रलिंग (1000) भी होते हैं। लिंग में चारों ओर खड़ी पंक्तियां बनाकर उसमें अनेक लिंग के आकार बनाये जाते हैं, उसे धारा लिंग या नलिका लिंग भी कहते हैं अर्थात् इसमें छोटे-छोटे लिंग दिखाये जाते हैं। एक आद्यलिंग के पूजा भाग के सतह में हजार + एक लिंग बनाये जाते हैं जिसमें 11 क्षैतिज पंक्ति (Horizontal) और 91 उर्ध्वोर्ध पंक्ति (Vertical) होते हैं।² दक्षिण भारतीय शिल्प ग्रंथ मयमत् के 33 वें अध्याय में उल्लेखित है -

पूजा भागे सर्वतोभद्रलिङ्गे धारा लिङ्गं पश्चिचिकमेण ।

एकैकस्यामष्टमें चोपरिष्ठात्साहस्रं तद्रेख्या लिङ्गं मुक्तम् ।।

अर्थात् सर्वतोभद्र लिंग के पूजा भाग में 25 धारयें क्रमशः निर्मित की जाये तथा प्रत्येक पर चालीस लिंग निर्मित किये जाये तो इस प्रकार सहस्रलिंग निर्मित होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के लिंग-शतलिंग, सहस्रलिंग, त्रैशिक लिंग सभी के कामनाओं को पूर्ण करते हैं, ऐसी धारणा है।³ तभी तो सभी शिल्प ग्रंथ - कामिकागम, शिल्परत्न, समरांगणसूत्रधार, मानसार, अपराजितपृच्छ, रूपमंडन आदि सहस्रलिंग के निर्माण का विवरण देते हैं। कामिकागम में कहा गया है-

समखण्डे शिवायामे रूद्रभागविनिर्मिते ।

एकाधिकनवत्यंशे विषमांशनिवेशितम् ।।

सैकसाहस्रलिङ्गनां नवभागेच्चमेव वा ।

सहस्रलिङ्ग मात्र साहित्यिक आधार पर ही ग्रंथों में वर्णित नहीं है वरन् मूर्ति शिल्प में इसके अनेक उदाहरण पूरे भारत से प्राप्त होते हैं, परंतु फिर भी अल्पप्राप्य है। सामान्यतः हर जगह व हर मंदिर में नहीं मिलते, कुछेक स्थानों पर मिले हैं। जिसमें उत्तर भारत में झांसी, कालिंजर, हरिद्वार (उ.प्र.), हजारीबाग जिला (बिहार), परशुरामेश्वर मंदिर के उ.प. कोना (उड़ीसा), विराजामंदिर (जाजपुर), मंदसौर ढ्ढम. प्र. ऋ, जागेश्वर, नादरा, तालबहेट, चांदपुर, दक्षिण भारत में तिरुवरियूर, सेलीयूर, कपिलेश्वर, श्रीलंका आदि में प्राप्त है।⁴ गुजरात के पाटन में तो सहस्रलिङ्गतालाब होने का वर्णन है।⁵ इन सब स्थानों के सहस्रलिङ्ग के आकार-लम्बाई, चौड़ाई में अंतर विद्यमान है। ये सभी सहस्रलिङ्ग तो भारत के अलग-अलग स्थानों पर प्राप्त हैं। परंतु इस दृष्टि से राजस्थान का दक्षिण पूर्वी भाग महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जहाँ कई सहस्रलिङ्ग स्थापित हैं, इन्हें एक झुरमुट (Cluster) में माना जा सकता है। इस दिशा में - बारां जिले में 9-10 वीं शताब्दी में बने काकूनी मंदिर⁶ समूह के ध्वस्त मंदिर अवशेषों के मध्य एक वृहद् अलं.त योनिपट्ट पर लगभग 2 फुट ऊँचा विशाल सहस्रलिङ्ग भव्य व कलात्मक लिङ्ग है। इसी से लगते कोटा जिले के कसुआ⁷ नामक स्थान पर भी एक आकर्षक सहस्रलिङ्ग स्थापित है। तथा केशोरायपाटन (बूंदी जिले)⁸ के विष्णु मंदिर के पास बने प्राचीन देवालय के गर्भगृह में सहस्रलिङ्ग विद्यमान है। इससे आगे के क्रम में भीलवाडा जिला भी इस संदर्भ में प्रमुख है जहाँ अद्यावधि 4 स्थानों पर सहस्रलिङ्ग पूजान्तर्गत है तथा ये काफी साम्यता भी रखते हैं।

हजारेश्वर महादेव, बिजोलिया⁹ - बिजोलियां के मंदाकिनी कुंड के पास बने शैव मंदिर समूहों में से एक 11-12वीं शताब्दी का नागर अनेकाण्डक तथा भूमिज शैली में मिश्रक तारा आकृति (Stellete Plan) के प्रकार का पूर्वाभिमुखी सुंदर मंदिर है। गर्भगृह के चौकोर योनिपट्ट पर सहस्रलिङ्ग पूजान्तर्गत है। विशाल शिवलिङ्ग में चारों ओर छोटी-छोटी आकृति के हजार लिङ्ग बने हुए हैं, जिससे ही इस मंदिर को हजारेश्वर या सहस्रलिङ्ग मंदिर कहा गया है। बिजोलियां के वि.सं. 1226 के शिलालेख में भी इसका नाम 'स्वर्णजालेश्वर', 'हजारेश्वर' ही उल्लेखित है। यह एक पूर्ण-शिखर, अंतराल, मंडप सहित विशाल मंदिर है।

शंभुपुरा¹⁰ - देरोवली के पास ही 1-2 किलोमीटर पर शंभुपुरा के लघु देवालय के गर्भगृह में सहस्रलिङ्ग पूजान्तर्गत है जो अद्यावधि उल्लेखित भी नहीं है तथा संभवतः इस मंदिर में कहीं और से लाकर रखा गया है क्योंकि लघु मंदिर में पहले से ही छोटा शिवलिङ्ग बना हुआ है। हालांकि यह सहस्रलिङ्ग आज भी सुरक्षित अवस्था में अखंडित है। जाडोली¹¹ के बैद्यनाथ शिवालय (10-11 वीं शताब्दी) के दायीं ओर

बने एक लघु देवकुलिका में सहस्रलिङ्ग प्रतिष्ठित है। चौकोर योनिपट्ट पर बना यह सहस्रलिङ्ग इस क्षेत्र के सहस्रलिङ्गों के साथ-साथ जागेश्वर, नादरा, तालबहेट आदि के सहस्रलिङ्गों से साम्यता रखता है।

मांडलगढ़¹² के पूर्व मध्यकालीन गुप्तेश्वर महादेव मंदिर में भी गर्भगृह में सहस्रलिङ्ग पूजान्तर्गत है। इस सहस्रलिङ्ग व कुछ अन्य मंदिर अवशेषों के अलावा यह मंदिर आधुनिक बना दिया गया है। मेनाल से सात किलोमीटर दक्षिण में स्थित जोगनियां माता मंदिर (चित्तौड़ जिला)¹³ में प्राचीन शिव मंदिर के बाहर बायीं ओर खुले चबूतरे में सहस्रलिङ्ग स्थापित है। इस पर भी चार स्तंभों पर आधारित लघु छत संभवतः बाद में बनायी गयी है। चित्तौड़ के 1565 ई. के पातालेश्वर महादेव मंदिर¹⁴ के गर्भगृह में एक लघु सहस्रलिङ्ग स्थापित है। जो सहस्रलिङ्गों की निर्माण परम्परा में उत्तर मध्यकाल का द्योतक है।

राजस्थान के इसी हिस्से से जुड़े मंदसौर¹⁵ के यशोधर्मा के सौंदनी कीर्ति स्तंभों के निकट खंडितावस्था में लगभग छठी शती का सहस्रलिङ्ग एक वृक्ष के चबूतरे पर स्थापित है परंतु इसमें सिर्फ चौकोर ब्रह्मा भाग व रुद्रभाग प्रदर्शित है। रुद्र भाग के मात्र छः पंक्तियों में बने लघु शिवलिङ्ग हजार जितने नहीं लगते। संभवतः 108 के करीब हो सकते हैं अतः इसे अष्टोत्तरशत लिङ्ग की श्रेणी में रखना चाहिए।

पाषाण निर्मित ये सभी सहस्रलिङ्ग पूर्व मध्यकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल तक में बनाये गये हैं, जिससे लगता है कि इस काल में ही इनकी निर्माण परम्परा को लोकप्रियता प्राप्त थी। इनमें से चार सहस्रलिङ्ग चौकोर योनिपट्ट वाले हैं, शेष पीठिका रहित है। शंभुपुरा, मांडलगढ़, जाडोली, बिजोलियां में रुद्रभाग के लघु शिवलिङ्ग भी पीठिका सहित है। जबकि शेष जोगनी माता, चित्तौड़, काकूनी, कसुआ, सोदनी के लघु शिवलिङ्ग में पीठिकायें उत्कीर्ण नहीं हैं। इनमें से मात्र बिजोलियां का हजारेश्वर शिवालय ही सबसे बड़ा है और सहस्रलिङ्गेश्वर को ध्यान में रखते हुए ही बनाया गया है। जबकि अन्य सभी सहस्रलिङ्ग लघु मंदिरों में ही स्थापित हैं, उनमें गर्भगृह ही मुख्य है, शिखर, मंडपादि नहीं हैं। काकूनी, कसुआ, सौंदनी आदि के सहस्रलिङ्ग तो पूर्णतः खुले में ही स्थापित हैं, हालांकि काकूनी का विशाल सहस्रलिङ्ग तथा उसकी अलं.त चौड़ी आधार पीठिका भाग को देखकर लगता है कि संभवतः इसके ऊपर कोई संरचना रही हो, जो समय के साथ खंडित हो गई। तथा इसके रुद्रभाग के 11 पंक्तियों की साम्यता झांसी के राजकीय संग्रहालय में रखे सहस्रलिङ्ग से की जा सकती है।

भारत में जितने भी सहस्रलिङ्ग प्राप्त हैं, उनमें एक जैसी समानतायें कम ही हैं, रुद्र भाग में बने लघु शिवलिङ्गों की पंक्तियों में भले समानता नजर आती है पर इनके आकार-प्रकार में अधिकांशतः अंतर दीख पड़ता है। राजस्थान में हजारेश्वर, गुप्तेश्वर,

राजस्थान के सहस्रलिंग – एक शोधपत्रक दृष्टि –

स्थान	जिला	काल	मंदिर	पंक्ति	गर्भगृह/ परिसर	अकार	साधन
सैंदवी	मंदसौर	लगभग 6 वीं शती	—	6x18=108 (संभवतः अद्यत्काल)	कृष्ण के नीचे चक्रों पर	लघु-चैत्र (लगभग 1 फीट)	फरार
चित्तौड़	चित्तौड़	1565 ई०	पातलेस्वर महादेव	—	गर्भगृह लघु मंदिर	लघु-चैत्र (लगभग 1 फीट)	फरार
जोगनी माता	चित्तौड़	8-9 वीं शताब्दी	जोगनी माता मंदिर परिसर	20x50	लघु देवकुलिम्ब	लम्बा (लगभग 3 फीट)	फरार
मंडकगढ़	भीलवाड़ा	8-9 वीं शताब्दी	गुरुदेव महादेव	19x52.63	गर्भगृह लघु मंदिर	लम्बा (लगभग 3 फीट)	फरार
शंभुपुरा	भीलवाड़ा	10-11 वीं शताब्दी	जालेस्वर महादेव	20x50	गर्भगृह लघु मंदिर	लम्बा (लगभग 3 फीट)	फरार
जडोली	भीलवाड़ा	10-11 वीं शताब्दी	बेदनपत्र शिवालय परिसर	25x40	गर्भगृह लघु मंदिर	लम्बा (लगभग 3-3.50 फीट)	फरार
बिजोलियां	भीलवाड़ा	11-12 वीं शताब्दी	हजारेश्वर महादेव	20x50	गर्भगृह विशाल मंदिर	लम्बा (लगभग 3 फीट)	फरार
कंसुआ	कोटा	9-10 वीं शताब्दी	—	19x52.63	खुल स्थान	लम्बा (लगभग 3 फीट)	फरार
काकूनी	बारां	9-10 वीं शताब्दी	काकूनी मंदिर समूह	11x91	खुल स्थान	लघु चैत्र (लगभग 2 फीट)	फरार
वेमोलयमटन	बूंदी	9-10 वीं शताब्दी	विशाल सहस्रलिंग प्रतिहार देवलय	?	गर्भगृह लघु मंदिर	—	फरार
एकलिंग जी	राजसमंद	?	देवलप ?	?	लघु मंदिर	?	फरार

शंभुपुरा, जाडोली, कंसुआ और जोगनी माता में ऊपरी तौर पर तो कलाकारों ने समानता रखी है, इन सभी की ऊंचाई लगभग तीन फीट है परंतु सूक्ष्म आधार पर तो इनमें भी थोड़ा-बहुत अंतर है। तथापि इस क्षेत्र में इनकी बहुलता प्रशंसनीय है। हालांकि खुले में होने से इनका लंबे समय तक बना रह पाना मुश्किल है, कंसुआ, काकूनी जैसे विशाल व सुंदर सहस्रलिंग संरक्षण के अभाव में काल के ग्रास बन ही रहे हैं और बिजोलियां के हजारेश्वर की भी स्थिति निरन्तर जल वगैरह डाले जाने से घिस कर खराब हो रही है, जिनसे इनके कलापरक अध्ययन में कठिनाई होती है, जबकि बिजोलियां के सहस्रलिंग की महत्ता तो इसके हजारेश्वर को ही समर्पित होने की है। इन सभी में मात्र शंभुपुरा का सहस्रलिंग ही सबसे अच्छी अवस्था में है। शेष को संरक्षित किया जाना आवश्यक है, अन्यथा हजार लिंगों वाले इस दुर्लभ अभिप्राय 'सहस्रलिंग' के दर्शन दुर्लभ होंगे। वैसे अभी तक भारत के कुछ स्थानों के अलावा राजस्थान के इस दक्षिणी पूर्वी हिस्से- कोटा, बारां, बूंदी, भीलवाड़ा, चित्तौड़, राजसमंद (एकलिंगजी) जिले में ही सहस्रलिंग की इतनी उपस्थिति मैंने पायी है। जिससे राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भाग के मध्यकालीन शिल्प की यह आकर्षक विशेषता बन जाती है, यह राजस्थान की शिल्पकला का भारतीय कला में एक दिलचस्प योगदान है। पर साथ ही राजस्थान के अन्य भागों में भी इस अभिप्राय के खोज की आकांक्षा बनी रहनी चाहिए।

संदर्भ

1. प्रभाशंकर, सोमपुरा : भारतीय शिल्प संहिता, सौम्या पब्लिकेशन्स, 1975 पृ. 112
2. गोपीनाथ राव : एलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आर्ट्सनोग्राफी, मोतीलाल-बनारसीदास, दिल्ली, 1985, भाग 2, पृ. 95-96, फिगर - 2
3. दानवराजमय प्रणीत मयमतम् 'शिवापिता', हिन्दी रचनाकार, शैलजा पांडेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2011, भाग 2, पृ. 552.
4. चित्र के अवलोकन के आधार पर।
5. दशरथ शर्मा: राजस्थान थ्रू दि एजेज, बीकानेर 1966 पृ. 282.
6. चन्द्रमणि सिंह (संपा.) : प्रोटेक्टेट मोन्यूमेंट्स ऑफ राजस्थान, जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 2002,
7. रत्नलाल मिश्र : टेम्पल्स आर्किटेक्चर ऑफ राजस्थान, बी.आर.पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 2009, चित्र-48.
8. डी. आर. भंडारकर : प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वेस्टर्नसर्किल, पूना, 1904-05, पृ. 51. .
9. स्वयं बिजोलियां के हजारेश्वर मंदिर के सर्वेक्षण के आधार पर; शिल्पी गुप्ता : मेनाल एवं बिजोलियां के मंदिर, नवजीवन पब्लिकेशन, जयपुर, 2011, पृ. 143.
10. स्वयं शंभुपुरा के शिवालय के सर्वेक्षण के आधार पर; पूर्वोक्त, पृ. 91.
11. स्वयं जाडोली मंदिर समूह, बिजोलियां क्षेत्र के सर्वेक्षण के आधार पर, पृ. 89.
12. भंडारकर प्रोग्रेस रिपोर्ट 1904-05, वही. पृ. 58.
13. स्वयं जोगनी माता मंदिर के सर्वेक्षण के आधार पर।
14. पंकजलता श्रीवास्तव : हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान (अपराजितपृच्छा, रुपमंडन एवं देवतामूर्तिप्रकरण के आधार पर). सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1990, पृ. 145, चित्र 80-81.
15. स्वयं सोदनी के सर्वेक्षण के आधार पर, चंद्रभूषण त्रिवेदी, 1979, पृ. 101, फलक 41.

ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सौहार्द में योगदान

डॉ. सुरेश अग्रवाल

सूफीमत का चिश्तिया सिलसिला भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय और सबसे पुराना सम्प्रदाय है। इसके संस्थापक अबू इसहाक शामी थे। ये एशिया माइनर से आकर खुरासान के चिश्त नामक नगर में बस गये थे, इसलिये चिश्ती कहलाये। अबू इसहाक शामी हजरत अली की नौवीं पीढ़ी के माने जाते हैं। इनकी आठवीं पीढ़ी के ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती ने भारत में चिश्तिया सिलसिले की स्थापना की थी। इनका काल 1142 से 1235 ई. माना जाता है। इन पर इस्लामी रहस्यवादी विचारों का गहरा प्रभाव था।

सूफी परम्परा में ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का जीवन प्रारम्भ से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश देता है। इनका जन्म सीस्तान के संजर नगर में हुआ। इन्होंने समरकन्द, बुरवारा एवं बगदाद में गोष्ठियों द्वारा इस्लामिक धर्म का वास्तविक ज्ञान अर्जित किया, मक्का-मदीना की भी यात्राएं की और परमात्मा की प्रेरणा से भारत की ओर प्रस्थान किया और अन्ततः अजमेर को अपनी कर्मस्थली बनाया। ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का 1190 ई. लगभग अजमेर में पदार्पण हुआ और राजस्थान के इस हृदय-स्थल अजमेर में ही उन्होंने अपनी खानकाह बनायी और अपने आध्यात्मिक उद्देश्य को पूर्ण करना प्रारम्भ कर दिया। वह मृत्युपर्यन्त (1235 ईस्वी) तक इस्लाम के यथार्थ सामाजिक-सांस्कृतिक मानवतावादी सिद्धान्तों का मनसा, वाचा, कर्मणा उपदेश देते रहे। मीर खुर्द ने प्रतिपादित किया है कि ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती रायपिथौरा के काल में भारत आये थे।¹

सूफी विचारधारा इस्लाम धर्म का शुद्धतम रूप है। इसमें सृजनकर्ता के प्रति निस्वार्थ प्रेम, नैतिकता एवं सादगीपूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण जगत की सेवा पर बल दिया गया है (खिदमत-ए-खलक ही खिदमत-ए-खुदा है)। सूफी संत इमाम मुहम्मद बक्र के अनुसार सर्वोत्तम आचरण और व्यवहार करने वाला ही सच्चा सूफी है।² ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती से पूर्व में भारत आये सूफी संतों की गतिविधियाँ पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों तक ही सीमित रही। भारतीय प्रायद्वीप में सूफी विचारधारा तथा परम्परा को प्रमुख रूप से स्थापित करने एवं लोकप्रिय बनाने का श्रेय ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती

साहब को ही प्राप्त है। इन्होंने अजमेर को प्रमुख केन्द्र बनाकर अपने अनुयायियों व स्वजनों के द्वारा भारत के विभिन्न भागों में जन-जन तक सूफी विचारधारा का संदेश पहुँचाया। भयभीत एवं असहाय गरीब जनता ने ख्वाजा की सूफी विचार-धारा का हृदय से स्वागत किया।

ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के समकालीन भारतीय सामाजिक परिवेश में छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना, जाति और धर्म की कट्टरता विद्यमान थी। महमूद गजनवी के आक्रमणों के प्रभाव स्वरूप समाज में घृणा, अविश्वास, असुरक्षा, भय का वातावरण बन गया था। इस्लाम और मुसलमानों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। प्रकारान्तर से, सल्तनत काल की सामाजिक परिस्थितियों में ख्वाजा साहब ने सूफी विचारों के द्वारा इस्लाम धर्म का वास्तविक संदेश जनता तक पहुँचाया। ख्वाजा साहब के विचारों में सार्वभौमिक भाईचारा, सहिष्णुता, समानता, प्रेम, दया और मानवता का पैगाम था, जो दलित और असहाय वर्ग के लिए प्रमुख सम्बल सिद्ध हुआ। अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा गंवा चुके सम्भ्रान्त वर्ग ने भी इस विचारधारा का स्वागत किया। तत्कालीन राजनीतिक घटनाक्रम से समाज में तनाव और अविश्वास व्याप्त था। ख्वाजा साहब की सूफी विचारधारा, समाज के तत्कालीन विशाक्त वातावरण को सुधारने में सहायक सिद्ध हुई।

ख्वाजा साहब के सादा जीवन और पवित्र विचारों के कारण उनकी दरगाह स्थापना के समय से ही आध्यात्मिक साधना और साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रमुख केन्द्र बन गई। विचारणीय है कि सभी जातियों, वर्णों और नस्लों के श्रद्धालु पारस्परिक भेदभाव को भुलाकर उनकी दरगाह में आने लगे थे।³ इस तरह ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के उपदेशों से तत्कालीन समाज में शांति और मैत्री की अच्छी समझ उत्पन्न हुई; पारस्परिक विश्वास और भाईचारे का वातावरण स्थापित हुआ। आम जनता में इस्लाम तथा मुस्लिमों के प्रति संदेह एवं घृणा की भावना दूर हुई। ख्वाजा साहब के सूफीवादी आध्यात्मिक संदेश नैतिक मूल्यों और मानवीयता पर आधारित थे, जिनसे भारत में एक महान, लेकिन शांति पूर्ण सामाजिक क्रांति का प्रारम्भ हुआ।⁴

यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने गायों तथा अन्य जानवरों के अनावश्यक कत्ल करने और उन्हें जलाने को पाप के समान माना।⁵ उनके एक प्रसिद्ध सूफी अनुयायी हमीदुद्दीन नागौरी पक्के शाकाहारी थे, उन्हें मांस खाना प्रसन्द नहीं था। उन्होंने अपनी वसियत में अपने शिष्यों को यह निर्देश दिया था कि उनकी मृत्यु के बाद उनके फातिहा (Salvation) के लिए मिठाईयाँ या शाकाहारी खाना बनाया जाये और उसे ही उनके नाम से अर्पित एवं वितरित किया जाये।⁶

ख्वाजा साहब के प्राणी मात्र की एकता (वहदत-उल-वजूद) और उनके 'नूर-ए-खुदा' के विचार 'सप्रपंच ब्रह्म' और 'एको अहम् बहुस्यामि' के उपनिषद्

दर्शन के समतुल्य है। ख्वाजा साहब ने ईस्लाम के मूल सिद्धान्तों जैसे प्रार्थना (नमाज) और उपवास (रोजा) के अलावा समाज में सहिष्णुता और सद्गुणों के विकास पर विशेष जोर दिया।

उन्होंने नदी की उदारता, सूर्य के आत्मीय भाव, पृथ्वी की सहनशीलता को अपनाकर ईश्वर से निकटता प्राप्त करने का उपदेश दिया। प्रारम्भ से ही भारत की जनता में सूर्य (सूर्यदेव), नदी (गंगामैया) और पृथ्वी (मातृभूमि) के प्रति विशेष श्रद्धा भाव रहा है। ख्वाजा साहब की यह भावना भारतीय प्राकृतिक दैवीय शक्तियों के प्रति सम्मान को प्रकट करती है। उन्होंने समाज के समृद्ध और धनी वर्ग से गरीब और असहायों की सहायता का आग्रह किया। उन्होंने दुःखी, पीड़ित और अभावग्रस्त लोगों को ईश्वर का विशेष प्रिय माना और उनकी मदद करके ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का उपदेश दिया। उन्होंने दावा किया कि किसी व्यक्ति का एक पाप कर्म इतना हानिकारक नहीं है, जितना की अपने अन्य साथियों को घृणा से देखना और उन्हें अपमानित करना। उस समय के समाज में व्याप्त जातिगत उच्च-नीच की भावना को समाप्त करने में उनका यह दृष्टिकोण एक प्रभावी उपचार था।¹⁷ उनके इस तरह के सिद्धान्तों से सामाजिक समरसता को बढ़ावा मिला।

उन्होंने एक दरवेश (सत्य के जिज्ञासु) के कहने पर जनता की भलाई के लिए सदाचरण के कुछ विशेष उपदेश दिये। इनमें भौतिकता के पीछे नहीं भागना, कर्ज से दूर रहना, आत्म सम्मान एवं धैर्य रखना, संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग करना, दूसरों को कष्टित नहीं करना, सौभाग्य को ईश्वर की कृपा मानना, दुर्भाग्य को स्वयं के कुकर्मों का परिणाम स्वीकार करना, दिन में उपवास तथा रात्रि को प्रार्थना एवं ध्यान करना, यथासंभव शांत रहना और आवश्यकतानुसार ही बोलना आदि प्रमुख हैं।

ख्वाजा साहब ने अपनी जीवनचर्या, अपने कार्यों और सामाजिक उपदेशों में समाज सुधार पर जोर देने के साथ-साथ स्थानीय परम्परा एवं संस्कृति को अपनाने और आदर करने पर जोर दिया। उनकी सूफी विचारधारा में 'जिओ और जीने दो' की भावना अन्तर्निहित है।

सूफी चिन्ता सम्प्रदाय में कव्वाली की परम्परा ने उदारवादी और सहिष्णु पत्रकारिता (मीडिया) के रूप में साझा संस्कृति को प्रोत्साहन दिया, जिससे समाज के सभी वर्गों में राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिला।

ख्वाजा साहब के विचार ही नहीं, उनके कार्य एवं उनका आचरण भी अनुकरणीय था। उन्होंने अपने एक अनुयायी मधु को धर्म परिवर्तन के उपरांत भी पुराना ही नाम रखने की अनुमति दी और इसे अजमेर नगर की सबसे प्रमुख-जामा मस्जिद का मुख्य शेख फकीह और इमाम बनाया। ख्वाजा साहब ने स्थानीय हिन्दू मुखिया की पुत्री से

विवाह किया, जिसका अनुकरण बाद में गुजरात, माण्डु, सिन्ध के शासकों, मुगल बादशाह अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने किया।¹⁸

वर्तमान समय में दरगाह में सभी धर्मों के कर्मचारियों की नियुक्तियां और उन्हें दैनिक भत्तों का नियमित भुगतान करना उल्लेखनीय है। देग का लंगर हमेशा शाकाहारी होता है, इसमें केसरिया भात को विशेष महत्व दिया गया है। देग में सभी धर्मावलम्बियों की सहभागिता और उसका शुद्ध शाकाहारी होना, फकीरों व निर्धनों को लंगर बांटना उनके उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।

दरगाह की गुम्बद पर संदल (चन्दन) का लेपन शाहजहां के समय में नियुक्त हिन्दू परिवार द्वारा किया जाता है। दरगाह में बसन्तोत्सव मनाना, संध्या को रोशनी तथा दीवाली पर विशेष रोशनी करना, होली पर दरगाह के मुख्य द्वार की सीढ़ियों पर गुलाल डालना आदि परम्पराएं उनके उदारवादी रुझान और स्थानीय रीतिरिवाजों को अपनाने का द्योतक है। ख्वाजा साहब की दरगाह को साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रतीक और ख्वाजा साहब को 'गरीब नवाज' कहना सार्थक है।¹⁹ समाज में सकारात्मक और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनाने में ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के सामाजिक-सांस्कृतिक विचार सदैव प्रासंगिक एवं उपयोगी हैं।

संदर्भ

1. Mir Khurd : Siyar-ul-Auliya (tr.) Lahore, 1978, p. 52.
Cited in "Sufi Movement in Rajasthan", Ed. by Prof. S.M. Azizuddin Husain, Delhi, 2007, p. 40.
2. Shaikh Ali Hujveri : Kash'f-ul-Mahjub (tr.) Karachi 1975, p. 67-
3. S. Liyaqat H. Moini : The Chisti Shrine of Ajmer : Pirs, Pilgrims and Practices, Jaipur, 2004, pp. 96-126.
4. S. Liyaqat H. Moini : The Teaching of Khwaja Moinuddin Chisti in the Social Context.
Cited in "Sufi Movement in Rajasthan", Ed. by Prof. S.M. Azizuddin Husain, pp. 42.
5. Moinuddin Chishti : Anis-ul-Arwaha (tr.) Delhi n.d. pp. 26/27.
Allama Akhlaq Hussain : Aina-i-Mlfuzat, Delhi 1983, pp. 90-95.
6. Fariduddin Muhammad & Sons Nagori : Surur-us-Sudur (Ms. P.C.)- f. 9.
7. Siyar-ul-Auliya op.cit., p. 52, K.A. Nizami, Some Aspect of Religion and Politics in India During the Thirteenth Century, Delhi, 1974, p. 185.
8. Abdul Haq Muhaddis Dehalvi : Akhbar-ul-Akhyar, (tr.) Delhi, 1913/14 opcit, p. 52.
9. S. Liyaqat H. Moini : The Teaching of Khwaja Moinuddin Chisti in the Social Context.
Cited in "Sufi Movement in Rajasthan", Ed. by Prof. S.M. Azizuddin Husain, p. 47.

अलवर राज्य की भूराजस्व व्यवस्था में मेवों का योगदान

डॉ. बाबूलाल खटीक

महाभारत काल से ही अलवर राज्य का अंचल राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। अलवर के इस छोटे राज्य में शताधिक जातियाँ और उपजातियाँ थीं किन्तु प्रमुख जातियों में राजपूत, मेव, मीणा, जाट, अहीर, गुर्जर, ब्राह्मण, माली, बणिया, चमार आदि थी। राज्य में मेवों की संख्या सबसे अधिक थी। ये राज्य के उत्तर-पूर्व में लगभग आधे क्षेत्र में बसे हुए थे। राज्य की अन्य कृषि प्रधान जातियों की अपेक्षा मेवों के पास कृषि जमीन अधिक थी।¹ अलवर राज्य की कृषि भूमि के एक तिहाई भाग के काश्तकार मेव कृषक थे।² इस जाति का मुख्य व्यवसाय कृषि है और यही राज्य के प्रधान काश्तकार हैं।³ मेवात क्षेत्र में मेव प्रमुख जाति थी और इस इलाके के अधिकतर खालसा गाँव इनकी जर्मीदारी में थे। 1876 ई. में तिजारा तहसील के कुल 199 खालसा गाँवों में से तिजारा सर्किल में 56 गाँव और टपूकड़ा में 65 गाँवों को मिलाकर कुल 121 गाँवों का मालिकाना हक इनके पास था।⁴

द्वितीय नियमित बन्दोबस्त के समय तिजारा में 126 1/2 गाँव, मुण्डावर में 9 3/4, कठूमर में 2 और राजगढ़ में 6 गाँव मेवों की जर्मीदारी के थे जबकि तिजारा में 17 1/3 गाँव खानजादाओं के 1 गाँव सैयदों का था। बहरोड़ में 1 गाँव पठानों का मुण्डावर में 9 2/5 गाँव मुस्लिम राजपूतों का, कठूमर में 1 गाँव का और राजगढ़ में 1 गाँव भिश्तियों की जर्मीदारी में था।⁵ इस प्रकार से राज्य के कुल 1457 खालसा गाँवों में से मेव व अन्य मुस्लिम जाति की जर्मीदारी के गाँवों की कुल संख्या 536 थी। इनमें सबसे अधिक 480 गाँव मेवों के एवं द्वितीय स्थान खानजादाओं का था, जिनके 30 गाँव थे।⁶ तहसीलों की एसेसमेंट रिपोर्ट के अनुसार 62 प्रतिशत गाँव हिन्दुओं के अधिकार में थे और 38 प्रतिशत मुस्लिम कृषकों के अधिकार में थे। मेवों की पूर्व और उत्तर-पूर्व की तहसीलों- अलवर, रामगढ़, गोविन्दगढ़, किशनगढ़ और तिजारा में मुख्य रूप से प्रधानता थी। वे लक्ष्मणगढ़ में भी प्रभावशाली थे जबकि मुण्डावर में कुछ गाँवों में उनके पास जमीन थी एवं अन्य तहसीलों में मुश्किल से ही किसी गाँव में उनकी जर्मीदारी या लम्बरदारी पाई जाती थी।⁷ राज्य के कृषक काश्तकारों में प्रथम श्रेणी के काश्तकारों में अहीर, माली और जाटों की द्वितीय श्रेणी के काश्तकारों में

ब्राह्मण, राजपूत, खानजादा सैयद और अन्य की गिनती की जाती थी।⁸ राज्य की अपराधिक प्रवृत्ति की जातियों में मेवों की गणना प्रमुख रूप से की जाती थी। वर्तमान में भी जमीन जायदाद सम्बंधी झगड़ों के मुकदमें इस जाति के नाम मिलते हैं। 1876 ई. में बन्दियों को उनके अपराध के लिए जो सजा दी गई, उनका विवरण जातिवार निम्न सारणी में दिया गया है।⁹

जाति	डकैती तथा चोरी	अन्य अपराध	योग
मीणा	69	22	91
मेव	50	50	100
राजपूत	18	13	31
ब्राह्मण	14	25	39
अन्य	71	120	191
योग	222	230	462

नवाब अहमदबख्श खाँ अलवर राज्य का वकील था जिसने लासवाड़ी के युद्ध में अंग्रेजों की बहुत मदद की थी, उसकी सेवा के फलस्वरूप अंग्रेज गवर्नर जनरल ने उसे फिरोजपुर का नवाब बना दिया था। वह प्रारम्भ से ही बलवन्तसिंह का प्रबल समर्थक था।¹⁰ बन्नेसिंह व बलवन्तसिंह की अल्पवयस्कता के समय तक उनके समर्थक राज्य में प्रभावशाली रहे। 30 जनवरी 1817 को नवाब अहमदबख्श खाँ ने परगना तिजारा व टपूकड़ा के भू-राजस्व का ठेका लिया। दोनों ही दावेदारों के अल्पवयस्क होने से उनके समर्थक अपनी मनमानी करते रहे और राज्य के हितों की बजाय अपने हितों की साधना में अधिक संलग्न रहे।¹¹

मेवों का प्रशासन व सेना में भी काफी वर्चस्व था। बख्तावर सिंह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार संघर्ष में एक और राजपूत तथा अन्य हिन्दू पदाधिकारी बन्नेसिंह के राज्याभिषेक का समर्थन कर रहे थे तथा दूसरी ओर बख्तावर सिंह की पासवान मूसी जो एक मुस्लिम वैश्या थी, उससे उत्पन्न बलवन्त सिंह को राजगद्दी पर बैठाने का प्रयत्न मुसलमान कर रहे थे।¹² राज्य की सेना में भी काफी संख्या में मुसलमान भर्ती थे। 1876 में राज्य की सेना में अलवर के 1860 मुसलमान तथा बाहर के 292 मुसलमान थे। राज्य के तोपखानों में अधिकतर मुसलमान थे।¹³ ब्रिटिश सेना में भी विभिन्न जाति के लोग राज्य के बाहर सेना में भर्ती होते थे। अन्य जातियों की अपेक्षा राजपूत मुसलमान ब्रिटिश सेना में अधिक भर्ती होते थे। यह संभवतः उनके पूर्वजों द्वारा विदेश सेवा में जाने की परम्परा के कारण था। मुस्लिम शासनकाल में भी इनको शाही सेना में सम्मान दिया जाता था और इस कारण राजपूत राजाओं को इनकी स्वामी भक्ति पर संदेह था।¹⁴

सन् 1838 ई. में बन्नेसिंह ने अपने दीवान आदि पदाधिकारियों को हटाकर दिल्ली के रेजीडेन्ट के रिश्तेदार अम्मूजान को दीवान व मिर्जा इस्फंजयार बेग को नायब दीवान क्रमशः 700 व 300 रूपये प्रतिमाह पर नियुक्त किया।¹⁵ गवर्नर जनरल राजपूताना के एजेन्ट सुदरलैण्ड ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि पिछले 4 वर्ष में जब से नये दीवान की नियुक्ति हुई है, अलवर राज्य में काफी प्रगति हुई है। उनके प्रयोग स्वयं अलवर के लिए ही नहीं बल्कि राजपूताना के लिए भी प्रेरणादायक होंगे।¹⁶ दीवान ने हिन्दी भाषा के स्थान पर फारसी भाषा का राजकीय भाषा में प्रयोग करना शुरू किया तथा विक्रम संवत् के स्थान पर हिजरी संवत् का प्रयोग किया।¹⁷ उसने दीवानी व फौजदारी न्यायालय स्थापित किये। इससे पूर्व राज्य के झगड़ों का निपटारा लम्बरदार और किलेदार के द्वारा किया जाता था। लिखित दस्तावेजों का प्रचलन बहुत कम होता था।¹⁸

दीवान मुंशी अम्मूजान ने भू-राजस्व व्यवस्था में भी सुधार किया और वस्तु के स्थान पर नकद रूप में लगान लिया जाने लगा। उसने बकाया राजस्व को वसूल किया तथा राज्य का ऋण जो वसूल नहीं हुआ था, उसे वसूल कर राजकोष में जमा कराया। उसने अपनी तरफ से परगनों में तहसीलदार नियुक्त किये। भूमि, काश्त करने के लिए किसानों को निश्चित समय के लिए दी जाने लगी। परिणामस्वरूप राज्य आर्थिक संकट से उबर गया।¹⁹ दीवान अम्मूजान व नायब दीवान इस्फन्दयार बेग दोनों ने काफी सुधार किये लेकिन अम्मूजान ने राज्य की मालगुजारी में चोरी करना और रिश्वत लेना प्रारम्भ कर दिया। उसने लगभग 20 लाख रूपये का गबन कर लिया जबकि नायब दीवान इस्फन्दयार बेग बहुत ईमानदार था। नायब दीवान ने अम्मूजान को चोरी व रिश्वतखोरी करने के लिए मना किया। अम्मूजान पर इसका कोई असर नहीं हुआ और नाराज होकर उसे पद से हटाकर उसके स्थान पर अपने भाई फज्जुल्लाह खाँ को नायब दीवान नियुक्त कर दिया। वह स्वयं महाराज बन्नेसिंह के पास रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसने अपने तीसरे भाई अमुल्लाखाँ को सिपहसालार के पद पर नियुक्त किया।²⁰

1851 ई. में बहरोड़ के तहसीलदार रामलाल व सीताराम के द्वारा चोरी व रिश्वतखोरी की बातें इस्फन्दयार बेग के इशारे पर राजा के पास पहुँचा दी। जाँच में अपराधी पाये जाने पर तीनों माथ्यों को सन् 1851 ई. में कैद कर लिया। उन्होंने प्रशासनिक सुधार किये लेकिन इन सुधारों से मुख्यतः दीवानों की आय में वृद्धि हुई न कि राज्य की आय में।²¹ बन्नेसिंह ने अम्मूजान के पद पर इस्फन्दयार बेग को नियुक्त किया। वह दो वर्ष तक दीवान के पद पर रहा लेकिन वह योग्य प्रशासक नहीं था। अतः राज्य प्रशासन में अव्यवस्था फैलने पर सन् 1856 ई. में बन्नेसिंह ने अम्मूजान को

पुनः दीवान के पद पर नियुक्त किया। इस प्रकार दोनों दीवानों के अधिकार में राज्य के आधे-आधे क्षेत्र रखे गये।²²

बन्नेसिंह की मृत्यु के बाद 15 जुलाई, 1857 ई. को उनके पुत्र शिवदानसिंह का राज्याभिषेक हुआ। राजगद्दी पर बैठते समय उनकी उम्र 12 वर्ष थी। प्रशासन दिल्ली के मुस्लिम अम्मूजान व उनके समर्थक मुस्लिम अधिकारियों के हाथ में था, जिनके क्रियाकलापों से राजपूतों में विद्रोह की भावना भड़क रही थी। राजा ने भी बोलचाल व पहनावा दिल्ली दरबार की तरह मुस्लिम अपनाया। अगस्त 1858 ई. में राजपूतों ने विद्रोह कर दिया। मुस्लिम मंत्रियों के अनुयायी मारे गये एवं स्वयं मंत्री अपनी जान बचाकर राज्य से बाहर चले गये।²³ राजपूत अपने मुखिया लखधीर सिंह के नेतृत्व में मुस्लिम दीवान को निष्कासित करने के लिए आमदा थे। और राव राजा राजपूतों से बदला लेने के लिए बहुत गुस्से में थे। पोलिटिकल एजेन्ट निक्सन ने राज्य में व्याप्त असंतोष को दूर कर राजपूतों का क्रोध शांत किया। उसने राजा की अनुमति लिए बिना स्वयं के आदेश द्वारा दीवान अम्मूजान व उनके भाई को निष्कासित करने का आदेश दिया।²⁴

कैप्टन इम्पे ने निक्सन द्वारा गठित रिजेन्सी कौंसिल को भंग कर सम्पूर्ण प्रशासन अपने हाथ में लिया। शिवदान सिंह पर अब भी मुसलमानों का काफी प्रभाव था तथा अम्मूजान और उसके अलवर के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप कर परेशानी पैदा कर रहे थे। उन्होंने लखधीर सिंह की हत्या करने का षडयन्त्र रचा। कैप्टन इम्पे को इसका पता चलने पर उसने अम्मूजान तथा उसके भाईयों को बनारस में नजरबन्द करवा दिया तथा इस्फन्दयार खाँ को 300 रू. मासिक पेंशन देकर अलवर से निकाल दिया।²⁵ महाराव शिवदान सिंह पर मुस्लिम प्रभाव के कारण, राज्य में अफवाहें फैली हुई थी कि वे इस्लाम धर्म अपनायेंगे व दीवान अम्मूजान की पुत्री से विवाह करेंगे। थोड़े बहुत संकोच के बाद जल्दी ही उनका विवाह झालावाड़ के महाराजा की पुत्री से हुआ। अंग्रेज सरकार द्वारा यह तय किया गया कि महाराव की शादी के बाद व 16 वर्ष की आयु होने पर, राजसत्ता उनके हाथ में सौंप दी जायेगी।²⁶ 14 सितम्बर 1863 ई. को शिवदान सिंह के वयस्क हो जाने पर राजसत्ता उसे सौंप दी गई तथा रिजेन्सी परिषद् भंग कर दी गई।²⁷

महाराव ने अपने प्रयासों से अम्मूजान तथा उसके भाईयों को बनारस से दिल्ली बुलवा लिया तथा उनको लगभग 4000 रूपये प्रतिमाह वेतन के रूप में दिल्ली भेजता रहा तथा उनकी सिफारिश पर मुसलमानों को राज्यसेवा में नियुक्त करने लगा। उनकी सलाह से शासन चलाने से प्रशासन में पूर्व की तरह भ्रष्टाचार और अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी।²⁸ कैप्टन इम्पे ने राजकोष में 20 लाख रूपये की राशि छोड़ी थी, जिसको

अपव्ययता से शीघ्र ही खर्च कर दिया गया। धन एकत्रित करने के लिए वेतन में कमी की गई तथा बहुत सी अन्य सहायता जो राज्य द्वारा लम्बे समय से लोगों को दी जा रही थी, उसे भी समाप्त कर दिया गया।²⁹ महाराजा जयसिंह द्वारा 1908 ई. में उर्दू के स्थान पर हिन्दी को राजकीय भाषा घोषित करने को मेवों ने उचित नहीं समझा और वे महाराजा को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे।³⁰ मुसलमानों ने 26 दिसम्बर 1923 को अंजुमन-ए-खादिम-उल-इस्लाम नामक संस्था की स्थापना की थी। इस संस्था का मूल उद्देश्य शैक्षणिक विकास था। यद्यपि यह संस्था धार्मिक थी लेकिन शीघ्र ही यह राजनैतिक व साम्प्रदायिक संस्था बन गई और अपना संबंध बम्बई, अम्बाला व अजमेर आदि की संस्थाओं से स्थापित कर लिया था।³¹ इस संस्था ने 1932-33 से पहले ही राज्य में मेवों को भड़काकर 1925 में तिजारा में एवं 1929 में गाँव हरसाणा (लक्ष्मणगढ़) में विद्रोह करवाये।³²

इन प्रारम्भिक धार्मिक संघर्ष के कारण राज्य में साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ने लगी। इसकी आड़ में मेवों की मुख्य मांगें थीं - भूमिकर में कमी की जाये, फसल को बर्बाद करने वाले जंगली सूअरों व हिरणों को मारने की अनुमति दी जाये एवं जकात, विवाह और मौछे के नियम हटाये जाये।³³ 17 मई, 1932 को अलवर में मुहरम से जुलूस के समय बहादुरपुर में लगभग 400 मेवों ने इकट्ठे होकर, हिन्दुओं के मकानों पर पत्थर फेंककर दंगा शुरू किया।³⁴ राज्य में 26 मई, 1932 को हज यात्रियों के लौटने पर मुसलमानों द्वारा सशस्त्र उनके स्वागत में इकट्ठा होना व हिन्दुओं से दूरी बनाये रखने को बढ़ावा देना जातीय भावना को भड़काने वाला कार्य था।³⁵ इसकी प्रतिक्रिया में हिन्दुओं में भी धार्मिक भावनाएँ विकसित होने लगी। मुहरम के अवसर पर चमारों ने भी प्याऊ पर छप्पर बनाने से इन्कार कर दिया।³⁶ 27 व 28 मई, 1932 को अलवर में गंगा माता की मूर्ति की स्थापना का जुलूस चमारों व सभी हिन्दू जातियों के सहयोग से शांतिपूर्ण निकला लेकिन मुसलमानों ने आम हड़ताल रखी। 29 मई को गंगाजी की मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गई एवं इसी अवसर पर मुसलमानों ने भी सैय्यद मुबारकशाह की चददर का जुलूस निकाला। जुलूस के मालाखेड़ा बाजार पहुँचने पर दोनों समुदायों का झगड़ा हो गया। इस गोलीकाण्ड में दो व्यक्ति मारे गये और 30 घायल हो गये थे।³⁷ मुसलमानों ने इस घटना को बढ़ा चढ़ाकर प्रकाशित किया। इसी से आगे चलकर मेव आन्दोलन की पृष्ठभूमि बनी।

महाराजा जयसिंह ने धार्मिक संस्थाओं की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए रजिस्ट्रेशन ऑफ सोसायटीज एक्ट 1932 पारित किया, जिसे 20 जून 1932 से लागू कर दिया गया। अब प्रत्येक संस्था जो इस एक्ट के पहले या बाद में गठित हुई है, उनको अपनी गतिविधियों की सूचना राज्य में रजिस्टर करानी होगी और धार्मिक

स्थलों पर राजनैतिक भाषण नहीं होंगे।³⁸ रजिस्ट्रेशन एक्ट का विरोध करने के लिए मेव और अन्य मुसलमान 22 जुलाई, 1932 को जुम्मे की नमाज के दिन जामा मस्जिद में इकट्ठे हुए। विरोध करने पर राज्य की पुलिस ने उन पर लाठीचार्ज किया।³⁹ इस घटना के बाद मुसलमान राज्य छोड़कर पड़ोसी राज्यों में जाने लगे। इस घटना के घटित होने के बाद आल इण्डिया मुस्लिम लीग, जमात-ए-ताबिल-उल-इस्लाम और आल इंडिया मुस्लिम कांग्रेस राज्य के मेव मुसलमानों की मांगों का समर्थन करने लगे।⁴⁰ मेव किसान आंदोलन इन घटनाक्रमों से प्रभावित था और सीमान्त राज्यों दिल्ली, पंजाब, भरतपुर, गुड़गाँव के मुसलमानों का भी उन पर प्रभाव था। मेवों का यह आर्थिक संघर्ष साम्प्रदायिक राजनीति के रंग में रंग गया था।⁴¹ 6 अक्टूबर, 1932 को आल इण्डिया मुस्लिम कांग्रेस के नेता मुहम्मद इकबाल ने एक ज्ञापन भारत के वाइसराय को दिया जिसमें मेव मुसलमानों की प्रमुख मांगें निम्न थीं⁴² -

1. उर्दू और फारसी को राज्य के स्कूलों में पढ़ाने की व्यवस्था हो।
2. प्राइवेट स्कूलों के लिए बनाये गए नये नियमों को वापस लिया जाये।
3. राज्य की सेवाओं में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में नौकरी दी जाये और अंजुमन-ए-खादिम-उल-इस्लाम पर प्रतिबन्ध को हटाया जाये।
4. विवाह की आयु के प्रतिबन्ध को हटाया जाये।
5. भू-राजस्व, चराईकर, जंगलातकर, चुंगीकर और कस्टम (पशुओं पर) शुल्क को गुड़गाँव की तरह कम किया जाये।
6. फसल की रक्षा के लिए जंगली पशुओं को मारने की अनुमति दी जाये।
7. रूंधों को कम किया जाये।
8. बेगार को समाप्त किया जाये बांध, रोड़ बनाने, घास काटने, रूंध साफ करने और महाराजा के शिकार के दौरे के समय बेगार ली जाती थी।
9. तकावी ऋण में अकाल आदि के समय गुड़गाँवा की तरह राहत दी जाये।

इस आंदोलन को मेव नेता यासीन खाँ (गुड़गाँवा) मौहम्मद अली (अलवर) गुलाम मिक नारंग (अम्बाला) ने इसे तेज करने के लिए कौंसिल की स्थापना की।⁴³ इन नेताओं ने मेव बाहुल्य निजामतों तिजारा, किशनगढ़ और रामगढ़ में मेवों को राज्यों को लगान नहीं देने के लिए प्रेरित किया। देखते-देखते यह सांप्रदायिक आंदोलन किसान आंदोलन में परिवर्तित हो गया।⁴⁴ राज्य प्रशासन को अपने हाथ में लेते हुए ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन को समाप्त करने के प्रयास किये। 15 मार्च, 1933 को कैप्टेन इब्बट ने इन चार निजामतों में लगान में कुछ छूट एवं अन्य राहत देने की घोषणा की। ब्रिटिश सरकार ने निश्चय कर महाराजा को यूरोप भेजने के लिए मजबूर किया

और 22 मई 1933 को कुछ वर्षों के लिए पूरा प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। महाराजा के निष्कासन के बाद 1933 के अंत तक मेव आन्दोलन समाप्त हो गया।⁴⁵

सन्दर्भ

1. पाउलेट पी. डब्ल्यू, गजेटियर ऑफ अलवर अनु. अनिल जोशी, पृ. 33 भाग-3
2. गहलोत जगदीश सिंह, जयपुर व अलवर राज्य का इतिहास हिन्दी साहित्य मंदिर जोधपुर 1966, पृ. 226
3. पिनाकीलाल, अलवर राज्य का इतिहास हिन्दी प्रेम मंदिर अलवर, पृ. 17
4. पाउलेट पी. डब्ल्यू, गजेटियर ऑफ अलवर अनु. अनिल जोशी, पृ. 113
5. ओडायर एम. एफ. एसेसमेंट रिपोर्ट तिजारा, बहरोड़, मुण्डावर राजगढ़ कटूमर, 1898-99
6. ओडायर एम. एफ. फाईनल अलवर स्टेट सेटिलमेंट 1900-01 पृ. 28
7. वही, पृ. 29
8. वही
9. पाउलेट पी. डब्ल्यू, गजेटियर ऑफ अलवर अनु. अनिल जोशी, पृ.118
10. रा.रा.अभि. बीकानेर क्रमांक 148 बस्ता 21 बण्डल 1 पृ. 24
11. रा.रा.अभि. बीकानेर, क्रमांक 621 बस्ता 205 बण्डल 3 पृ. 124
12. एचीसन सी. यू. टीटीज एंगेजमेंटस एण्ड सनदस भाग-3 पृ. 346
13. पाउलेट पी. डब्ल्यू, गजेटियर ऑफ अलवर अनु. अनिल जोशी, पृ. 43
14. गहलोत जगदीश सिंह, जयपुर व अलवर राज्य का इतिहास, पृ. 224
15. श्यामलदास, वीर विनोद भाग-2 जिल्द-2 पृ. 1384
16. रा.रा. अभि. नई दिल्ली/फो.डि. रिपोर्ट ऑफ द सदरलैण्ड आनन्द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ अलवर मार्च 1842 पृ 0 1
17. राज अभि. बीकानेर, क्रमांक 144 बस्ता 19 बण्डल 10 पृ 0 32
18. अरावली पत्रिका, अगस्त-अक्टूबर 1945 अंक पृ 0 7
19. श्यामलदास-वीर विनोद भाग-2 जिल्द-2 पृ. 1384
20. वही, पृ. 1385
21. पाउलेट पी. डब्ल्यू, अलवर गजेटियर पृ. 22
22. श्यामलदास, वीर विनोद भाग-2 जिल्द 2 पृ. 1385
23. इम्पिरियल गजट ऑफ राजपूताना, 1908 पृ. 428
24. रा.रा. अभि. नई दिल्ली/फो.डि./पो.ए. भरतपुर का ए.जी.जी. आर को पत्र अलवर/सित.1858, रिकार्डस ऑफ राजपूताना एजेन्सी/ 24 अलवर 1850-59 पृ. सं. 16
25. श्यामलदास-वीर विनोद भाग-2 जिल्द 2 पृ. 1387
26. रा.रा. अभि. नई दिल्ली/फो.डि./पो.ए.ए. का पत्र ओ.ए.जी.जी. आर को अलवर, 23 जून, 1860/पार्ट ए/प्रोसि./नवम्बर 1860/फाईल सं. 379

27. वही, पृ. 379
28. श्यामलदास-वीर विनोद, भाग-2 जिल्द 2 पृ. 1389
29. पाउलेट पी. डब्ल्यू, अलवर गजेटियर पृ. 24
30. मजीद हयाद सिद्दकी, हिस्ट्री एण्ड सोसायटी इन ए पोपलूलर रिवेलियन मेवात 1922-23, पृ. 445
31. गहलोत जगदीश सिंह, जयपुर व अलवर राज्य का इतिहास, पृ. 285
32. गहलोत जगदीश सिंह, जयपुर व अलवर राज्य का इतिहास, पृ. 285-86
33. वही, पृ. 286
34. रा.रा.अभि. बीकानेर/अलवर/कानफिडेन्सियल रिकार्ड/फा.नं. 1449 एफ/23/19 ए पृ. 15
35. वही, पृ. 16
36. वही, पृ. 16
37. द हिन्दुस्तान टाइम्स, 5 जून 1932
38. अलवर स्टेट गजट, एक्स्ट्रा आर्डनरी, 16 जून 1932
39. द हिन्दुस्तान टाइम्स, 28 जुलाई 1932
40. शर्मा बृजकिशोर, पीजेन्ट मूवमेंट इन राजस्थान, पृ. 176
41. वही, पृ. 176
42. रा.रा. अभि. नई दिल्ली/फो.डि./पो. ब्रान्च/फाईल सं. 743 पी (सीक्रेट) 1933 ईस्टर्न टाइम्स, 28 अक्टूबर 1932
43. पेमाराम, ए-एग्रेरियन मूवमेंट इन राजस्थान पृ. 248
44. जैन एम. एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास पृ. 2396-97
45. रा.रा. अभि. नई दिल्ली/फो.डि./होम पो. ब्रान्च/फाईल सं.43/3/33पी पार्ट-2

मध्यकालीन राजस्थान के प्रशासन एवं सैनिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका

डॉ. याकूब अली खान

राजस्थान की वीर बालाओं को वीर पति की कामना रहा करती थी। यहाँ की वीर कन्या की यह वीरोचित कामना कितनी अनूठी है कि अपने वीर पति की पहचान उन्हें चंवरी (विवाहोत्सव) में ही हो जाया करती थी।¹ यहाँ की सौभाग्यवती स्त्रियों की वीराचित भावनाओं का उल्लेख करते हुए कवियों ने वीरांगना द्वारा युद्ध में जाते पति को दोनों कुलों की लाज निभाते हुए प्राण दिये बिना या विजयश्री का वरण किए बिना लौटने पर उससे दाम्पत्य सुखोपभोग की आशा न रखने की बात कहलाई थी। इसका कारण यह था कि यहाँ की वीर नारी कायर पति के सहवास की अपेक्षा वैधव्य जीवन व्यतीत करना अधिक श्रेयस्कर समझती थीं यहाँ की ललनाएँ और वीरांगनाएँ केवल वीर पति की ही कामना और कायर पति को धिक्कारने तक की सीमित नहीं रहती थी, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र उठाकर शत्रु से युद्ध करने को भी तत्पर रहती थी।²

ये ही रमणियां अपने कुटुम्बियों के केसरिया वस्त्र पहनकर युद्ध में पति की वीरगति प्राप्त कर लेने पर दहकती हुई चिताओं में अपने कोमल शरीर की आहूति दे डालती थी। यही नहीं बल्कि बहुत सी देवियों ने समय आने पर रणचंडी का रूप धारण कर अपने खड्ग से शत्रुदल को घास की तरह काटकर अंत में आत्म-बलिदान किया था।

1. प्रशासनिक क्षेत्र में भूमिका

गंगाबाई-बीकानेर के महाराजा रायसिंह (1574-1612 ई.) की पत्नी 'गंगाबाई' का प्रभाव अपने पति के शासन-काल में अधिक था।⁴ गंगाबाई ने रामसिंह की मृत्यु के बाद अपने अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका बनकर राज्य कार्य संभाला था।⁵ इस रानी का राज्य में हस्तक्षेप व प्रशासन काफी सफल रहा। इस दृढ़ चरित्र महिला में न केवल अपने पुत्र सूरसिंह को सम्राट जहांगीर से वतन जागीर ही दिलवाई वरन् बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन भी किये थे। अपने पति व पुत्र के विरोधियों का उसने बड़ी कुशलता व क्रूरता से दमन किया तथा पुत्र की गद्दी को भी

सुरक्षित बनाया था।⁷ वह अपने पुत्र के विरोधियों के दमन में इतनी क्रूर हो गई थी कि सम्राज्ञी 'नूरजहां' के आदेश भी उसे नरम नहीं कर सके थे।⁸ उसने राज्य प्रशासन में अपने समर्थक मुतसद्दियों की नियुक्तियां की थी। मुगल प्रशासन द्वारा उसके विरोधियों को दी गई सुरक्षा की भी उसने कोई परवाह नहीं की व इतना ही नहीं उनके आदेशों की भी अवहेलना की थी।

महारानी गंगाबाई ने अपने पति व पुत्र दोनों के समय में राजनीति में अपना अच्छा प्रभाव बनाये रखा था। वह प्रथम रानी थी जिसने राजपरिवार की रानियों को प्राप्त सुअवसरों में प्रत्येक काल-पटरानी, संरक्षिका एवं राजमाता के रूप में प्रभाव बनाए रखा था। इसके प्रभाव का सम्राट अकबर ने अपने फरमान⁹ में जिक्र किया है। साथ ही बाद में सम्राज्ञी नूरजहां ने भी अपने निशान में स्पष्ट संकेत दिये थे। राजा रायसिंह की मृत्यु के बाद राजा दलपतसिंह के समय में महारानी गंगाबाई ने अपने पुत्र सूरसिंह के भावी हितों को ध्यान में रखे हुए सम्राट जहांगीर से उसको फलोदी की जागीर दिलवाने में भी सफलता प्राप्त की थी।¹⁰ महारानी गंगाबाई केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सकी। अपने पुत्र सूरसिंह जो राणा रायसिंह का छोटा पुत्र था, को गद्दी दिलवाने के लिए वह योजनाबद्ध तरीके से चलने लगी और इस सन्दर्भ में उसने तीन प्रकार के प्रयास किये। प्रथम-महारानी गंगाबाई ने अपने राज्य के भाटी सामंतों का सहारा लिया क्योंकि वह स्वयं भी तो भटियाणी ही थी। द्वितीय-कूटनीतिक स्तर पर उसने आमेर के कछवाहों का सहयोग लिया, जिनका जहांगीर के शासन के 10 वर्षों तक राजपूत गुट में बोलबाला था। इसलिए वह तीर्थ-यात्रा का बहाना करके आमेर गई¹¹ और कछवाहों ने सम्राट जहांगीर को सूरसिंह के पक्ष में करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे महारानी गंगाबाई के लिए मनोवांछित परिणाम निकले। तृतीय-उसने एक विशाल सेना संगठित की, जिसके बल पर आखिर में उसने राव दलपत को परास्त कर दिया था। खारबारा के भाटी विशेष तौर पर उसके साथ ही रहे थे।

महारानी गंगाबाई अपने पुत्र के शासक बन जाने पर उसके जीवन व शासनकाल को इतना सुरक्षित बनाना चाहती थी कि उसने सभी संभावित विरोधियों को मिटाने की योजना बनाई थी।¹² गंगाबाई राजा रायसिंह की प्रथम पत्नी नहीं थी लेकिन उसने पटरानियों के अधिकार व सम्मान प्राप्त कर लिये थे। यह एक आश्चर्यजनक संयोग है कि जहां मुगलों में 'नूरजहां' प्रभावशाली थी, उसी काल में राठौड़ राज्य में गंगाबाई प्रभावशाली थी। अन्तर केवल यही है कि राजा सूरसिंह के शासनकाल के प्रथम 10 वर्ष महारानी गंगाबाई के ही वर्ष थे। महारानी गंगाबाई की नीतियों से राजा रायसिंह की प्रशासनिक व्यवस्थाओं को सक्रियता से लागू किया गया। गंगाबाई के कारण ही सामंत वर्ग अपने खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त कर सका व राज्य प्रशासन में केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया जारी रह सकी।

हाड़ी रानी—महाराजा जसवंतसिंह प्रथम (1638-78) की मृत्यु के पश्चात् उनकी पटरानी जो 'हाड़ी रानी' के नाम से जानी जाती है। उसने जोधपुर राज्य का नेतृत्व संभाला था तथा उसके पुत्र अजीतसिंह को गद्दी दिलाने के लिए सम्राट औरंगजेब को प्रार्थनाएं भेजी थी।¹³ इस साहसी, कुशल व दृढ़-प्रतिज्ञ हाड़ी रानी का त्याग व सूझ-बूझ का ही परिणाम था कि जोधपुर के हताश राठौड़ मारवाड़ की गद्दी पर न्यायिक अधिकारों के लिए मुगल सत्ता से लोहा लेने को तैयार हो गये थे। उसने राठौड़ सरदारों को एकत्रित करके, महाराजा जसवंतसिंह के वंशज के लिए राजगद्दी को बचाने के पूरे प्रयत्न किये थे। जब सम्राट औरंगजेब ने जोधपुर की गद्दी अजीतसिंह के बजाय अमरसिंह के पुत्र इन्द्रसिंह को प्रदान कर दी। इससे अजीतसिंह की गद्दी प्राप्ति की संभावनाएं क्षीण हो गईं और औरंगजेब के निर्णय से उसके सहयोग की सारी आशाएं समाप्त हो चुकी थी तब विवश होकर संघर्ष का रास्ता अपनाया पड़ा था। जब तक पेशावर से आकर दुर्गादास राठौड़ ने मारवाड़ के सरदारों का नेतृत्व नहीं संभाला, उसके पूर्व हाड़ी रानी ने ही इन राठौड़ों में अपने कुशल नेतृत्व के बल पर एकता स्थापित कर उन्हें बुलन्द हौंसलों के साथ मुगल सत्ता से लोहा लेने को उद्यत किया और इस तरह के नेतृत्व में आये राठौड़ों से पूर्व, अपने नेतृत्व में स्थानीय राठौड़ों की एकता को बनाए रखते हुए, जोधपुर राज्य में हाड़ी रानी ने ही समस्त क्रियाओं का संचालन किया था।¹⁴ यह जानते हुए भी कि अजीतसिंह हाड़ी रानी का पुत्र नहीं था फिर भी हाड़ी रानी ने राठौड़ जाति की मुसीबत के समय मदद की थी।¹⁵

सिसोदणी रानी—बीकानेर राज्य की एक अन्य रानी, महाराजा अनूपसिंह की पत्नी 'सिसोदणी रानी' ने महाराजा स्वरूपसिंह के काल (1698-1700 ई.) में राज्य के प्रशासनिक उत्तरदायित्व एक संरक्षिका बनकर निभाये थे।¹⁶ इस सिसोदणी रानी ने अपने समर्थक व्यक्तियों की नियुक्तियां कर अपने पक्ष को मजबूत बनाने के कदम उठाये थे तथा महत्वपूर्ण पद पर, मूधड़ों को नियुक्त किया था।¹⁷ बीकानेर राज्य में सिसोदणी रानी के संरक्षण काल में उसके विरुद्ध दूसरी रानियों ने अपने पुत्रों के पक्ष में सम्राट औरंगजेब के पास अपना प्रस्ताव भेजा था।¹⁸ सामन्त व मुतसद्दी वर्ग इस प्रश्न पर बंट गये थे। महारानी सिसोदणी के पुत्र स्वरूपसिंह की मृत्यु के कारण ही यह संकट टल पाया था परन्तु जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने बीकानेर राज्य की इस अवस्था का लाभ उठाकर उसे विजित करने की योजना बना ली थी।¹⁹ उत्तराधिकार के निश्चित नियमों का उल्लेख न होने के कारण ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो जाती थी। यही सिसोदणी रानी अपने विश्वासपात्र नाजिर ललित के पूर्ण प्रभाव में थी इस कारण सामंतों व मुतसद्दियों द्वारा वह घृणा का पात्र बनी तथा राज्य में तनाव की स्थिति हो गई थी।²⁰

रानी चूण्डावतजी—जयपुर राज्य के शासक माधवसिंह की मृत्यु 5 मार्च 1768

ई. को हुई थी, और अपने पीछे वह दो पुत्रों को छोड़ गये थे जिनमें से एक पृथ्वीसिंह तथा दूसरा पुत्र प्रतापसिंह था।²¹ उनके पश्चात् उनका प्रथम पुत्र पृथ्वीसिंह पांच वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा था।²² राजा के नाबालिग होने के कारण शासन की समस्त सत्ता 'रानी चूण्डावतजी' के हाथों में आ गई थी।²³ इस समय सामंती प्रतिस्पर्धा और वैमनस्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। रानी चूण्डावतजी के पिता राव जसवंतसिंह देवगढ़ से जयपुर चले आये और यहां महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।²⁴ रानी चूण्डावतजी के द्वारा यह नियुक्तियां करने के कारण राज्य के अन्य सामंत नाराज हो गये और राज्य में सामंत दो गुटों में बंट गये थे। एक गुट चौमूं सामोद के जागीरदारों के नेतृत्व में नाथावतों का था तथा दूसरा गुट राजावतों का था। ये गुट राज्य के मंत्रियों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने लगे थे। इसके कारण राज्य का प्रशासन शिथिल हो गया और राज्य की आर्थिक स्थिति भी कमजोर हो गई थी।

महाराजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु 1778 ई. में ही हो गई थी तत्पश्चात् उसका भाई प्रतापसिंह जयपुर राज्य की गद्दी पर बैठा था उस समय भी रानी मां चूण्डावतजी प्रतापसिंह की संरक्षिका के रूप में शासन करती रही थी।²⁶ उन्होंने मुख्य पदों पर सामंतों को नियुक्त न करके अन्य व्यक्तियों को नियुक्त किया, जिसके कारण सामंत असहयोग और षडयंत्र तथा कुचक्र का मार्ग अपनाते रहे थे। पृथ्वीसिंह की मृत्यु के बाद उनकी किशनगढ़ वाली रानी से मानसिंह का जन्म हुआ था। वही राजगद्दी का दावेदार था लेकिन राजमाता चूण्डावतजी के द्वारा अपने प्रतापसिंह को राजगद्दी पर बैठा दिया गया था। पृथ्वीसिंह के पुत्र मानसिंह की सुरक्षा के लिए उसे किशनगढ़ उसके नाना के घर छोड़ दिया गया था।²⁷ प्रतापसिंह के महाराजा की कुर्सी पर बैठने पर 1778 ई. में ही रानी मां चूण्डावतजी पुनः प्रतिनिधि के रूप में राज्य का नेतृत्व कर वहां के कामकाज देखती थी महाराजा प्रतापसिंह की अवस्था उस समय सिर्फ 13 वर्ष की ही थी।²⁸ राजा की अनुपस्थिति में उनकी रानी प्रशासनिक क्षेत्र में योगदान देकर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेती थी। ऐसी परिस्थिति में रानी को 'पटरानी' की पदवी से नवाजा जाता था।²⁹ राजा अपनी अनुपस्थिति में राज्य की जिम्मेदारी अपने भाई या परिवार के अन्य पुरुष को राजनीतिक कारणों से इन प्रशासनिक जिम्मेदारियों से वंचित रखता था क्योंकि राजा को यह भय रहता था कि उनके भाई या परिवार के अन्य पुरुष उनकी अनुपस्थिति में उनकी राजगद्दी पर पूर्णतः अधिकार न कर लेवे इसलिए राजा अपनी रानी को प्रशासनिक अधिकार दे देते थे, ताकि राजगद्दी सुरक्षित रह सके। इसी सन्दर्भ में रानियों के उदाहरण निम्नांकित हैं—

आमेर के महाराजा मानसिंह जब युद्ध के लिए दिल्ली, आगरा, काबुल और बंगाल गये थे तब राजा की अनुपस्थिति में जयपुर राज्य की बागडोर 'रानी भटियानी'

ने ही संभाली थी। उस समय जब महाराजा मानसिंह ने मुगल दरबार में अपनी जगह पाई तब रानी भटियानी ने उन्हें पैसे पहुंचाकर उनकी मदद की थी।³⁰ यह कहा जाता है कि रानी भटियानी एक ऐसी नारी थी जिन्होंने अपने भांजे 'जगमल' की रक्षा की थी और महाराजा मानसिंह के द्वारा जगमल को अकबर के दरबार में पहुंचाया था। शायद यही प्रमुख कारण था कि राजा मानसिंह और महाराणा प्रताप के बीच दुश्मनी हुई थी।

ऐसा ही एक उदाहरण बनेड़ा (मेवाड़) के महाराजा भीमसिंह की बड़ी रानी 'राठौड़नीजी' का है जिन्होंने राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण रूप से अपनी भूमिका निभाई थी। बड़ी राठौड़नीजी नियमित रूप से महाराजा भीमसिंहजी के सम्पर्क में रहती थी और उन्हें आगामी सूचनाओं से अवगत कराती थी। इसी प्रकार की एक सूचना रानी ने महाराजा को तब दी थी तब मराठा सेना उदयपुर तक आक्रमण के लिए आ गई तो उदयपुर की स्थिति पर नियंत्रण हेतु वह स्वयं भी आगे आ गई थी।³¹ मेवाड़ के राजा अरिसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके छोटे भाई हम्मीरसिंह जो कि ग्यारह वर्ष का था, उसने अपने पिता को जिताया था। उनकी माता, राजमाता 'सरदार कंवर' को 'बाईजीराज' कहकर संबोधित किया जाता था। जब मेवाड़ बुरे दौर से गुजर रहा था तो ऐसी परिस्थिति में राजमाता सरदार कंवर ने एक कुशल प्रशासिका के रूप में राज्य का नेतृत्व करने में अपना योगदान दिया था।³²

राजस्थान के मध्यकाल में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि महाराजाओं के साथ महारानियां भी दूर-दूर तक युद्धों में साथ जाती थी। जोधपुर के महाराजा उदयसिंहजी का लम्बे समय तक लाहौर में मुकाम रहा था। उस समय रानियां भी उनके साथ ही थी।³³

जयपुर राज्य में महाराजा पृथ्वीसिंह व प्रतापसिंह (1768-79, 1863 ई.) की संरक्षिका रानी के प्रभाव के कारण राज्य का प्रधानमंत्री खुशहालीराम तथा माचेड़ी का सामन्त आदि रुष्ट हो गये थे व राज्य में अव्यवस्था फैल गई थी, जिसके परिणाम स्वरूप यहां मराठों को हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया था।³⁴ इसके काल में महावत फिरोज, जिसे उन्होंने अपने दरबार का सदस्य नियुक्त कर दिया था, के प्रति उनके विशेष झुकाव के कारण सामंतों व मुतसद्दियों को नाराज होने के और भी अवसर मिल गये थे। उन्होंने विरोध भी किया किन्तु रानी का महावत के प्रति विश्वास समाप्त नहीं हो सका। अंत में सरदारों द्वारा फिरोज की हत्या कर दिये जाने पर, रानी ने भी अपने प्राण त्याग दिये थे।³⁵ मेवाड़ में महाराणा हम्मीरसिंह द्वितीय तथा भीमसिंह (1772-78) के अल्प वयस्क काल में, राजमाता के शासन का लाभ शक्तावत व चूंडावत सरदारों ने उठाया व अपनी शक्ति में वृद्धि की। इस स्थिति में मराठों को भी हस्तक्षेप करने का पूरा अवसर प्राप्त हो गया था तथा जिससे ऐसी स्थिति बन गई थी जिससे कि मेवाड़

का गौरवमयी इतिहास अतीत की घटना मात्र बन कर रह गया।³⁶

2. सैनिक क्षेत्र में भूमिका

क्षत्रियों का शौर्य, उनकी युद्ध-प्रियता, स्वामी-भक्ति, धरती-प्रेम, वचन-पालन आदि पूरे विश्व में अतुलनीय हैं और इसे अतुलनीय स्वरूप प्रदान करने में जीवन्त शक्ति के रूप में राजपूत नारियां ही सतत् प्रेरणादायिनी रही हैं। इन शक्ति रूपा सबलाओं के त्याग और शौर्य की गाथाओं का समुचित विवेचन नहीं हुआ। जोधपुर के राव मालदेव (1589-1619 ई.) के 22 राजकुमारों में से राम ज्येष्ठ पुत्र था जो विद्रोही होने के कारण देश से उसे निष्कासित किया गया था तो वह अपने ससुर महाराणा उदयसिंह के पास सहायतार्थ पहुंचा था। महाराणा द्वारा केलवा की जागीर प्राप्त हुई, तदुपरान्त यह सम्राट अकबर की सेवा में चला गया था। इसी रामसिंह के पुत्र कल्याणसिंह और कल्याणसिंह के पुत्र राव जगन्नाथसिंह हुए, जिन्होंने मालवा में अमझेरा राज्य की स्थापना की थी। इनहीं राव जगन्नाथसिंह का विवाह कछवाही किशनावती से हुआ था। यह मिर्जा राजा जयसिंह की पुत्री थी जिन्होंने राजस्थानी वीरंगनाओं के सभी गुणों को आत्मसात् किया था। राव जगन्नाथसिंह की पत्नी कछवाही किशनावती ने राजस्थान से दूर रहकर भी अपने पैतृक गुणों को नहीं भुलाया था। मुगल सेना के फलस्वरूप इस रानी के पुत्रों को मोरीगढ़ की सुरक्षा भार सौंपे जाने पर, अचानक मराठा सरदार शिवाजी के नेतृत्व में आक्रमण हो जाने की स्थिति में, स्वयं को सुरक्षित करने के विपरीत पुत्रों सहित युद्ध-स्थल में उतर आई व वीर-गति को प्राप्त हुई।³⁷

बजरंगदे-यह उदाहरण वि.सं. 1744/1687 ई. के बाद का है।³⁸ आलणियावास के राजा विजयसिंह की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी बजरंगदे³⁹ जो राज्य-प्रबंधक के रूप में प्रवीण दृष्टिगत होती हैं, ने दुर्गादास राठौड़ के विरुद्ध लोहा लिया था। मारवाड़ राज्य के आलणियावास ग्राम के ठाकुर विजयसिंह की धर्म पत्नी बजरंगदे (बरजांगदे) बड़ी वीर राजपूत महिला थी। इस स्त्री ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् ठिकाने की व्यवस्था का कार्यभार खुद ने ही संभाला था। वह मर्दाने कपड़े में अश्वारूढ़ होकर भ्रमण करती थी। जसवंतसिंह प्रथम की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब द्वारा जोधपुर पर मुगल आधिपत्य स्थापित कर लिया और दुर्गादास के नेतृत्व में अजीतसिंह को पुनः राज्य दिलाने व मारवाड़ राज्य को स्वतंत्र कराने के प्रयास जारी किए थे। इस तरह बजरंगदे ने अपने पति के देहान्तोपरान्त ठिकाने के सारे कार्य-भार की जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले ली थी। उसके अधिकार में आलणियावास के 44 गांवों के अतिरिक्त ढूंढाड़ का चाटसू परगना भी था।⁴⁰ औरंगजेब की ओर से दुर्गादास को जब मेड़ता मिला तो उसने बजरंगदे से कर वसूल करना चाहा लेकिन बजरंगदे ने कर देने से साफ इंकार

कर दिया था, परन्तु अजीतसिंह के मारवाड़ के शासक बन जाने पर दुर्गादास राठौड़ ने राज्य की आमदनी की वृद्धि हेतु आलणियावास ठिकाने की बंद रेख को पुनः प्रारम्भ करने का प्रयास किया लेकिन बजरंगदे ने रेख देने से मना करते हुए इस प्रयास को भी सफल नहीं होने दिया फलतः दोनों के बीच युद्ध ठन गया था। रीयां नदी के पास दोनों के बीच घमासान युद्ध हुआ था जिसमें ठकुरानी बजरंगदे की विजय हुई थी और दुर्गादास को परास्त होकर भागना पड़ा था।⁴¹ मेड़तिया समाज को ठकुरानी बजरंगदे की समाज विरोधी गतिविधियां अच्छी नहीं लगी और देवराजसिंह मेड़तिया ने ठकुरानी बजरंगदे एवं उसके बच्चों को खत्म करवा दिया था।⁴² “दोय कोस दोरी दुरोस”⁴³ यह कहावत आज भी उस वीरांगना के वीरत्व का स्मरण कराती है।

राजकुमारी सोमा देवी-यह सत्य घटना 13 वीं शताब्दी के गुलाम वंश के बादशाह बलबन के समय की है। उस समय हिन्दू सम्मानजनक जीवन नहीं जी पा रहे थे। बहन-बेटियों की इज्जत सुरक्षित नहीं थी। ऐसे समय में ही मालदेव की राजकुमारी “सोमादेवी” ने मुसलमानों से युद्ध किया और उन्हें मौत के घाट उतार दिया था। यह वीरांगना ‘चाहर’ गोत्र की थी, जो अपनी वीरता और साहस के लिए प्रसिद्ध हुई थी।⁴⁴

जांगल प्रदेश (बीकानेर) के सीधमुख नामक स्थान पर चाहर गोत्र का राजा ‘मालदेव’ शासन करता था। उसीक पुत्री का नाम सोमादेवी था। एक बार जैसलमेर से लौटते समय तत्कालीन मुस्लिम गुलामवंश के शासक के सेनापति ने सेना का पड़ाव राजा मालदेव के गढ़ के बाहर डाल दिया था। कुछ समय पश्चात् एक बलवान सांड पड़ाव के पास से चिंघाड़ता हुआ निकल रहा था कि चारों ओर हाहाकार मच गया। विलासी गुलामवंशी सैनिक भी सांड का मुकाबला न कर सके और दूर भागने लगे तथा कुछ सैनिक शिविर में जा छुपे। राजकुमारी सोमादेवी ने जब लोगों की चीत्कार सुनी तो उसने झरोखे से निहारा और तुरन्त भागकर शिविर के समीप जाकर उसने बिगड़े सांड के दोनों सिंग पकड़कर उसे घुमा दिया।⁴⁵ सांड ने भी पूरा जोर लगाकर स्वयं को वीरांगना से मुक्त होने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रहा। अब तक चारों ओर से लोगों ने आकर रस्से से सांड को बांध दिया था। इस अदम्य साहस को देखकर राजकुमारी के शरीरिक बल से सभी प्रभावित हुए थे। सेनापति राजकुमारी की सुन्दरता व शक्ति से मुग्ध हो गया और उसने राजा मालदेव को विवाह का संदेश भिजवाया। सेनापति के संदेश पर राजा ने अन्य जाटों से विचार-विमर्श किया और यह कहलवा भेजा कि – “हम अपनी कन्या मुसलमानों को नहीं दे सकते।” सेनापति ने राजकुमारी को जबरदस्ती ले जाना चाहा। जाट संख्या में कम थे, फिर भी भयंकर युद्ध हुआ। वीरांगना सोमादेवी घोड़े पर चढ़कर इस युद्ध में सम्मिलित हुई। उसने मुस्लिम सैनिकों को गाजर-मूली की तरह काट फेंका था।⁴⁶ जाटवीर बड़ी वीरता से लड़े और

राजकुमारी सोमादेवी तथा उनके परिवार के अन्य सदस्यों को बचाकर निकाल ले गये। इस भयंकर युद्ध में राजा मालदेव को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था।

सती शिरोमणि राना बाई-रानाबाई का जन्म सन् 1543 ई. में जोधपुर राज्य के परबतसर परगने के हरनामाग्राम में हुआ था।⁴⁷ उनके पिता का नाम चौधरी जालमसिंह धाना था। यह वीरांगना अकबर के शासनकाल के समय की है। उस समय अकबर का एक मुसलमान हाकिम अपने 500 अश्वारोहियों के साथ, गाँव के 2 कोस की दूरी पर गाछेवाल तालाब पर डेरा डाले हुआ था। रानाबाई ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। वह सुबह-शाम प्रभु स्मरण करती और गौसेवा में लीन रहती थी। एक दिन व्यभिचारी हाकिम ने राना बाई के रूप की चर्चा किसी राहगीर से सुन ली थी और तभी से वह मन ही मन रानाबाई से विवाह करने की सोचने लगा था। हाकिम ने उसके पिता से अपनी पुत्री का विवाह करने को कहा जिसे ठकुराने पर हाकिम ने चौधरी को कैद कर लिया और स्वयं सेना लेकर रानाबाई को लाने के लिए हरनामा ग्राम में जा पहुंचा और जालमसिंह का घर घेर लिया। इसका पता चलते ही बाल-ब्रह्मचारिणी एक ही पल में अपनी तलवार से उस दुष्ट की गर्दन धड़ से अलग कर दी और सिंह गर्जना करते हुए सैनिकों में घुस कर प्रत्येक को काट फेंका। वीरांगना रानाबाई अपने जाट वीरों के साथ जाकर अपने पिता चौधरी जालमसिंह को कैद से मुक्त करा लाई।⁴⁸ इस प्रकार उस वीरांगन ने अपनी और गाँव वालों की इज्जत बचाई। इससे रानाबाई की कीर्ति सारे मारवाड़ में फैल गई थी।⁴⁹

जवाहर बाई-मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह का पुत्र विक्रमादित्य कायर, विलासी और अयोग्य था। मेवाड़ की बागडोर जब उसके हाथ में आई तो उसके कुप्रबंध के कारण राज्य के अव्यवस्था फैल गई थी। मेवाड़ की पड़ोसी रियासतें मालवा व गुजरात के पठान शासकों ने इस अराजकता का लाभ उठाकर चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। शक्तिहीन विक्रमादित्य मुकाबला करने में अपने आपको असमर्थ समझ कायर की भाँति प्राण बचाकर भाग खड़ा हुआ लेकिन विक्रमादित्य की राजरानी “जवाहर बाई” ने ललकारते हुए कहा – “वीर क्षत्राणियों! जौहर करके केवल हम अपने सतीत्व की ही रक्षा कर सकेंगी, इससे देश की रक्षा नहीं हो सकती। हमें मरना तो है ही, इसलिए चुपचाप असहाय की भाँति मरने से अच्छा है हम शत्रु को मार कर मरें। बैरियों का खून बहाकर रणगंगा में अवगाहन करें और अपने जीवन को ही नहीं, मृत्यु को भी सार्थक बनायें।”⁵⁰

सारांशतः हम यहां कह सकते हैं कि राजस्थान की महिलाओं ने मध्यकाल में अपनी पहचान न केवल गृहणी, मां, पत्नी अथवा बहिन के रूप में स्थापित की थी बल्कि वक्त की नजाकत को देखते हुए उन्होंने एक कुशल प्रशासिका एवं वीरांगना का भी सबूत किया और ऐसे कार्य किए जो पुरूषों की सूझ-बूझ एवं वीरत्व से परे थे।

संदर्भ

1. हालां झालां री कुंडलिया, छन्द संख्या-25
2. राजस्थान की संस्कृति में नारी, डॉ. विक्रमसिंह राठौड़, पृ. 86
3. राजस्थान का सामाजिक जीवन, जगदीशसिंह गहलोत, पृ. 4
4. ठा. बहादुरीसिंह, बीदावतों की ख्यात, पृ. 188, उमरावसिंह, राइज एंड फाल ऑफ दी बच्छवत, नाहटा संग्रह, बीकानेर, बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था, डॉ. जी.एस. देवड़ा, पृ. 112
5. मोहता ख्यात, पृ 28-30, बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 113
6. दयालदास ख्यात, भाग-2, पृ. 198
7. वही, पृ. 230, 31
8. सम्राज्ञी नूरजहाँ का रानी गंगाबाई के नाम निशान, नं. 47
9. अकबर का फरमान, नं.-3, दिनांक 22, इसफैनदारमुज, 40, फरवरी 1595, फरमान, मंसूरस् एंड निशान्स, बीकानेर अभिलेखागार, बीकानेर।
10. ठा. बहादुरसिंह, बीदावतों की ख्यात, पृ. 188
11. दयालदास ख्यात, पृ.-221, आर्याख्याण, कल्पद्रुम, पृ.-16
12. Rajasthan History Congress Proceedings, 1982, Volumw- XIII.P.-38
13. Nobility under Aurangzeb-Dr.Athar Ali, P.101
14. Wakya-Ajmer, P.- 241, 270, 277, Dr. Athar Aloji, Nobility under Aurangzeb, P.101
15. Vir Vinod, Shyamaldas, Vol.-II, P. 1023
16. बीकानेर री ख्यात, महाराज सुजानसिंह सूं महाराज गजसिंह ताई, पृ.-5, बीकानेर राज्य, पृ. 113
17. बीकानेर री ख्यात, महाराज सुजानसिंह सूं महाराज गजसिंह ताई, पृ.-5, अ.स.पु. बीकानेर।
18. बीकानेर रै राठौड़ा री ख्यात, महाराज सुजानसिंह सूं महाराज गजसिंहजी ताई, पृ. -12 दयालदास री ख्यात, भाग-2, पृ. 256-58, बीकानेर राज्य, पृ.-27
19. वही।
20. बीकानेर रै राठौड़ा री ख्यात, महाराज सुजानसिंह सूं महाराज गजसिंह ताई, पृ. 5
21. Genealogical Table of the Kachhawahas-Harnath Singh Dundlod, Jaipur 1968, P.-20
22. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, क्रमांक-364ए बस्ता नं.-52, बंडल नं. -10, पृ.-67
23. Annals and Antiquities of Rajasthan (Trans) Keshav Thakur, P. 654
24. History of Jaipur- M.L. Sharma, P. 187
25. Political History of the State of Jeypore- J.C. Brook,. Caculta, 1868 P.-16
26. राजस्थान के इतिहास में रानियों की भूमिका-डॉ. प्रमिला पूनिया, पृ.-2
27. दिल्ली येथिल मराठायांत्री राजकरण पत्र संख्या-133, परासनिस, दिनांक 10 दिसम्बर 1784
28. Letter from Bai Shri Hari Kanwarji of Pratapsingh, Sarwan Sudi, V.S.1844?18 July, 1787 A.D., Zanani Tehriat, Jaipur, Rajasthan State, Archives, Bikaner.
29. Polygamy and Purdah, Varsha Josho, P.- 96, 97.
30. "Rajasthan Ki Rajniti Mein Nati" (Women in the Politics of Rajasthan) Rano Laxmi Kumari Chundawat, Maru Bhrarti, Vol./-27, 1969, P.- 9
31. Maratha Kaleen Itihasik Dastavez, (Historical Documents of the maratha period) K.S. Gupta, Vol. -1, Udaipur, 1989, Latter No.- 73, P.- 120
32. Mewar Ka Itihas - Gaurishankar Hirachand Ojha, Selhi, P. 215, 216
33. राणमंगा भाटों की बही (मारवाड़ का रनिवास)- डॉ. महेन्द्रसिंह नगर, पृ. 70
34. Annals and Antiquities of Rajasthan, P. 654-655
35. Ibid, P- &656
36. Ibid, P-&262
37. मरु भारती, कछवाही किशनावती और उसके पुत्रों के गीत, सौभाग्यसिंह शेखावत, पृ.33
38. राजस्थान में नारी की स्थिति- डॉ. शशि अरोड़ा, पृ. 91
39. बांकीदास री ख्यात, राठौड़ा री वार्ता, पृ. 710
40. राजस्थान के मेड़तिया राठौड़-डॉ. हुकुमसिंह भाटी, पृ. 175
41. बांकीदास, 65, रमेशचन्द्र गुणार्थी, राज परिजन परिचय, 49
42. बांकीदास, री ख्यात, पृ 65, राठौड़ा री वार्ता, पृ.-713
44. जाट वीरांगनाएँ- सुखवीरसिंह दलाल, पृ.-57
45. वही, पृ.-58
46. वही।
47. वही, पृ. 66
48. वही, पृ. 67
49. वही।
50. राजपूत नारियां-डॉ. विक्रमसिंह राठौड़, पृ. 82

भारतीय सामाजिक परिवेश : मध्यकालीन राजस्थान के संदर्भ में

दीपशिखा लवानिया

किसी भी स्थान की संस्कृति, सभ्यता का मुख्य आधार होता है वहां की सामाजिक व्यवस्था जिसके अंतर्गत विभिन्न मानवीय समूह अपनी अतः क्रियाओं से संस्कृति का पालन पोषण करते हैं। भारत में भी प्राचीनकाल से मानव विभिन्न समूहों में रहता था जिसे समाज की संज्ञा दी गई प्राचीनकाल में समाज में जो वर्णव्यवस्था कर्म पर आधारित थी जो क्रमशः ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण थे वहीं मध्यकाल तक आते-आते एक वर्ण कई वर्गों में विभक्त हो चुका था यहां अनेक जातियां, उपजातियां पेशे व स्थान विशेष के नाम से पनप गई जो समाज का एक व्यवहारिक रूप था अब समाज में वर्गों में कठोरता आ गई 'जाति' शब्द को जन्म से जोड़ा जाने लगा। भौगोलिक पृथकता या दूरी भी एक ही वर्ग या जाति की होने पर भी पृथक रूप सेमानी जाने लगी।¹

यह पृथकता मानवीय एकता के लिए घातक सिद्ध हुई परन्तु इस वर्ण व जातीय व्यवस्था ने हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण ही बनाए रखा। विशेषतः राजस्थान में जहां विदेशी आक्रांताओं ने यहां की वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को बिगाड़ना चाहा परन्तु ऐसा न हो सका। यहां भी मुख्यतः ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्ण व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है। इसी वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत लोक धर्म, रीति-रिवाज, भाषाएं आदि सांस्कृतिक मूल्य अछूते बने रहे।² राजस्थान के दस्तकारों व वैश्यों का व्यवसाय कौशल जातिगत गुणों की ही देन है जो देशभर में विख्यात है जाति की सीमा में रहते हुए अपने कर्तव्यों के लिए जागरूकता ही इन संस्थाओं का सांस्कृतिक पक्ष है।³

इस युग की एक नवीन जाति थी राजपूत जिनका उदय 7वीं सदी से माना जाता है पदमनाभ ने अपनी पुस्तक में इनके 36 कुलों का उल्लेख किया है परन्तु 16 का ही वर्णन किया।⁴ परमारों, प्रतिहारों के स्थान पर इस युग में राठौड़ व चौहान प्रतिष्ठित मंत्री सलाहकार की हैसियत से भी रहें जिनमें विमलशाह, वस्तुपाल का नाम राज्य सेवा हेतु प्रसिद्ध है।⁵ शूद्र संज्ञा अन्य कार्यों में लगे होने से कहीं खो-सी गई। कुवलयमाला, कथाकोष प्रकरण में कई जातियों को जिनमें भील, डोम, जुलाहे, चाण्डाल आदि की

अन्त्यज कहा गया जिन्हें समाज में निम्न दृष्टि से देखा जाता था।⁶ इसके अतिरिक्त चोरी-डकैती करने वालों को मलेच्छ की संज्ञा दी जाती थी।⁷ वृहत कथा कोष में कायस्थ नामक लेखक जाति का उल्लेख भी मिलता है।

उत्तर भारतीय समाज में जहां पितृसत्तात्मक परिवार थे तो राजस्थान में भी यही स्थिति थी। स्त्रियां जो परिवार की धुरी होती है उनकी मध्यकाल में स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी बहुविवाह, सती प्रथा, कन्या वध जैसी कई अमानवीय कुप्रथाएं यहां प्रचलित थी। उपमिति⁸ में अधिक संख्या में पुत्रियों के होने को नकर के द्वार की संज्ञा दी गई है। वि.सं. 977 के घटियाले के लेख में सावलदेवी के सती होने का प्रमाण मिलता है। राजपूत स्त्रियां जिस गर्व से अपने पति के गौरव की रक्षार्थ चिता में प्रवेश कर जाती थी उसी प्रकार पिता के गौरव की रक्षा हेतु मासूम शिशु कन्या को अपने प्राण छोड़ने पड़ने थे। कन्या विवाह में अधिक खर्च, विदेशी आक्रांताओं के भय ने शायद राजस्थान में इन कुप्रथाओं को बढ़ावा दिया था।

इतिहास गवाह है कि यहां की स्त्रियों ने समय-समय पर अदम्य साहस का परिचय भी दिया है जब चितौड़, रणथम्भौर, जालौर पर खतरा मंडरा रहा था, राष्ट्रीय जीवन तहस-नहस हो रहा था कर्मावति, पद्मिनी व लाखों सहयोगी महिलाओं ने जौहर कर अपने प्राणों की बाजी लगाकर देश की नैतिकता व आन-बान शान की रक्षा की थी।⁹ शक्ति व भक्ति दोनों ही क्षेत्रों में राजस्थान का गौरवशाली इतिहास रहा है। समाज की सांस्कृतिक धरोहर को बचाए रखने में यहां की नारियों का अभूतपूर्व योगदान रहा है। किसी भी देश या क्षेत्र के निवासियों का रहन-सहन वहां की जलवायु व परम्परा से प्रभावित होता है, एवं विभिन्न वर्गों में भी रहन-सहन खान-पान, वेशभूषा में वैविध्य रहता है। राजस्थान में खान-पान की दृष्टि से पवित्रा, शुद्धता व संयम का पालन किया जाता था ग्रामीण मिट्टी, काँसे, पीतल के बर्तनों व राजपरिवारों में सोने, चांदी के बर्तनों का प्रयोग देखने को मिलता है।¹⁰

राजपूत समाज अग्रणी था जिनका आखेट करना प्रमुख मनोरंजन था व उससे प्राप्त मांस शौर्य का द्योतक था जिसे चाव से खाया जाता था। मांसाहारी व शाकाहारी दोनों ही प्याज, अदरक, नीबू, लहसन आदि का प्रयोग करते थे। गेहूं, चने की दाल, दूध, दही का प्रचलन था। पद्मिनी चौपाई में मट्ठे का प्रयोग भी भोजन के अंतर्गत मिलता है।¹¹

परिधान भी भोजन की भांति जीवन का एक अंग है राजस्थानी वेशभूषा का अपनी सांस्कृतिक परंपरा के कारण अपना अलग स्थान है। पुरुषों की वेशभूषा के बारे में मंदिरों की वेष्टिकाएं जो गुप्तोत्तर काल से 15वीं सदी तक की है जानने का अच्छा स्रोत है।

विविध व्यवसाय करने वालों के पहनावे में अंतर था। जैसे शिकारी केवल धोती पहनते थे तो किसान व श्रमिक केवल लंगोटी के ढंग की ऊँची बांधवाली धोती पहनते थे। मल्ल केवल कच्छ पहनते थे तो सैनिक छोटी धोती, पगड़ी व कमरबंद। राज. में चित्रित कल्पसूत्रों में राजाओं के मुकुट, पल्ले वाली पगड़ियाँ, दुपट्टे, कसीदे की धोतियाँ, मोटे अंगरखे बड़े रोचक जान पड़ते हैं। मुगल प्रभाव से यहां के परिधान में एक नवीन मोड़ आया पगड़ियों के रूप में जो आन-बान शान की प्रतीक बन गई आज भी विवाहादि में पगड़ी द्वारा सम्मान देने की परम्परा है।¹² स्त्री परिधान में यहां की विशेषता है घाघरा, कंचुकी, ओढ़नी। अधोवस्त्र ही परिवर्द्धित होकर घाघरा व घेरदार कलियों का घाघरा बन गया। इसी का छोटा रूप लहंगा कहलाता है जिस पर गोटा-किनारी व सलमा-सितारे का काम किया जाता था। आज की इन पर बड़ी कारीगरी की जाती है। साड़ियों के विविध नाम जैसे ओढ़नी, चूंदड़ी, धोरावली आदि प्रचलित थे।¹³ चूंदड़ी व लहरिया राजस्थान की विशेषता रही है जो आज भी लोकप्रिय है। साज-सज्जा हेतु राजस्थान में विभिन्न आभूषण का भी प्रचलन रहा है मध्यकाल से 20वीं सदी तक इन अलंकारों के विविध रूप विकसित हो गये। आर्ष रामायण, कल्पसूत्रा आदि चित्रित ग्रंथों में भी इनका प्रतिपादन हुआ है।

जिस प्रकार से भारतीय समाज में आमोद-प्रमोद का विशिष्ट स्थान रहा उसी तरह इनका राजस्थान में भी महत्व रहा। गीत संगीत नृत्य का वर्णन हमें उपमिति भाव प्रपंचकथा, रत्नावली आदि ग्रंथों में देखने को मिलता है। यहां दशहरे पर राजपूत शस्त्रा पूजा करते व भैंसा वेधने की दोड़ भी आयोजित की जाती थी।

द्वंद युद्ध व बाण चलाना सार्वजनिक रूप से मनोरंजन के रूप में देखा जाता था। शिकार करना राजपरिवारों का प्रमुख मनोरंजन था जिसकी व्यवस्था दरोगा-ए-शिकार या अमीरे-शिकार करता था कभी-कभी रानियां भी इसमें भाग लेती थी व उनके मचान पर पर्दे की व्यवस्था की जाती थी।¹⁴ मुगल प्रभाव से यहां तलवारबाजी, घुड़दौड़, तीतरबाजी भी प्रचलित खेल थे। नट, भाण्ड भी थे जो गली-गली जाकर अपना तमाशा दिखाते थे। कौटिल्य व बाण ने ऐसे ही मनोरंजनों का वर्णन किया है जो राजस्थान में आज भी प्रचलित है। राजस्थान में वजीर, सैन्य संचालक विशेष रूप से शतरंज खेलते थे।¹⁵ खेल मनोरंजन के साधन है पर वे समाज में सामंजस्य व सद्भाव उत्पन्न करने का अच्छा अवसर भी देते हैं।

निष्कर्षतः मध्यकालीन राजस्थान में वर्णव्यवस्था कठोर हो गई एवं विदेशी आक्रांतों के प्रभाव से विभिन्न परिवर्तन भी आए। विभिन्न कुरीतियों का जन्म भी हुआ और कई नवीन आयाम संस्कृति में शामिल हुए। खड़ी बोली व स्थानीय भाषाएं विकसित हुई साहित्य भी रचे गए। सांस्कृतिक धरोहर के रूप में नई व पुरानी

परंपराओं का अनूठा समन्वय इस युग में हुआ। परन्तु फिर भी रंग रंगीली राजस्थान संस्कृति में इस युग में भी हमें विविधता में एकता की विशेषता दृष्टिगत होती है।

संदर्भ

1. राज. का इतिहास -डॉ. गोपीनाथ शर्मा, पृ. 91
2. राज. का सांस्कृतिक इतिहास- डॉ. गोपीनाथ शर्मा, पृ. 57
3. अलवरूनी भारत, पृ. 17, 20, जी.एन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान पृ. 107-105
4. मेरा लेख - ऑरिजिन ऑफ द राजपूतस राजस्थान स्टडीज, जयपुर 1965-66, पृ. 1-10
5. राज. श्रू.द. एजेज पृ. 438-39
6. कुवल्यमाला पृ. 40 राज. श्रू.द. एजेज पृ. 429-32
7. कुवल्यमाला पृ. 16
8. उपमिति पृ. 698
- 9,10. राज. का सांस्कृतिक इतिहास - जी.एन.शर्मा पृ. 74, 78
11. पद्मिनी चौपाई, पत्रा 20-21
12. जी एन.शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडिवल राज.पृ. 144-147
13. मानलीला चित्रित पत्र 11-12
14. नारद स्मृति 17 पृ. 212, अमरसार पत्र, 30
15. राजप्रकाश पत्रा 24-25, दस्तूर कॉमवार नं. 25

19वीं सदी के किशनगढ़ राज्य में शिक्षा का विकास

डॉ. अविनाश पारीक

अठारहवीं सदी तक किशनगढ़ राज्य में प्राचीन भारतीय परम्परागत शिक्षा प्रणाली जारी रही जिसका उद्देश्य व्यावहारिक ज्ञान, व्यक्तिगत कल्याण और जीविका निर्वाह के साधन उपलब्ध कराना था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में किशनगढ़ के शासकों ने शिक्षा के प्रसार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में उन स्थानों पर जहाँ बीस विद्यार्थी उपलब्ध होते वहाँ निम्न प्राथमिक विद्यालय खोलने का प्रयास किया। बड़े ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च प्राथमिक विद्यालय एवं माध्यमिक विद्यालय खोलकर शिक्षा के प्रति लोगों में रूचि जाग्रत की। प्राथमिक शिक्षण संस्थाओं में व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा तथा प्रारम्भिक शिक्षा में धार्मिकता का स्तर अत्यन्त उच्च कोटि का था। महाराजा शार्दूलसिंह के समय कई नई पाठशालाओं की स्थापना की गई। उच्च प्राथमिक शिक्षा तक की पढ़ाई की योजना सम्पूर्ण राज्य में एक साथ प्रारम्भ की गई।¹

किशनगढ़ राज्य के रूपनगढ़, अराँई और सरवाड़ में कुछ स्थानों पर उच्च प्राथमिक विद्यालय प्रारम्भ किये गये। किशनगढ़ शहर में एक हाई स्कूल किंग एडवर्ड मेमोरियल (के.ई.एम.) जिसे मदनेश विद्यालय के नाम से प्रारम्भ किया गया। कुछ समय पश्चात् इस विद्यालय को क्रमोन्नत करके उच्च माध्यमिक स्तर का बनाया गया। इस विद्यालय का प्रधानाध्यापक उस समय राज्य का शिक्षा निदेशक हुआ करता था। राज्य के सभी विद्यालयों, उनके प्रशासन, अनुशासन एवं शिक्षा के स्तर का यहां निरीक्षण किया करते थे। कुछ बड़े कस्बों जैसे सरवाड़, अराँई और करकेड़ी के विद्यालयों में छात्रों को मातृ भाषा में अध्यापन कराया जाता था। इन विद्यार्थियों में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान बहुत अल्प था। इसी समय किशनगढ़ में स्थित महाराजा हाई स्कूल को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया गया था।

वैदिक शिक्षा के विकास एवं प्रसार के लिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती का जब किशनगढ़ राज्य में आगमन हुआ तो उन्होंने यह अनुभव किया कि यहाँ की प्रजा राजा की अंध भक्त है। अतः बिना राजा को सुधारे वैदिक शिक्षा का प्रसार असम्भव है। इसलिए उन्होंने वेदों की 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के अनुसार 1881 ई. में किशनगढ़ राज्य के शासक शार्दूलसिंह को सत् साहित्य एवं शास्त्रों का अध्ययन कराने के लिए स्वयं यहाँ आकर उनमें उत्तरदायित्व की भावना को जाग्रत कर शासक और शासित वर्ग के मध्य सहयोग की भावना का

विकास किया था। स्वामी जी ने किशनगढ़ राज्य के शासक एवं दीवान को बालिका शिक्षा के प्रति भी प्रेरित किया था।²

किशनगढ़ राज्य में महिला शिक्षा के विकास की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के अन्त में प्रारम्भ हुई थी। किशनगढ़ राज्य की राजधानी में प्रथम कन्या उच्च प्राथमिक विद्यालय प्रारम्भ किया गया। यद्यपि उस समय बालिका शिक्षा एक स्वप्न एवं अकल्पनीय माना जाता था क्योंकि जन सामान्य में बालिका शिक्षा के प्रति रूचि जाग्रत नहीं हुई थी। किशनगढ़ राजदरबार की रानियाँ एवं राजकुमारियाँ भी उस समय की महान विदुषी अध्येता रही जिन्होंने अपनी प्रतिभा से जनसामान्य को प्रेरित किया था। इनमें महारानी बाँकावती, राजकुमारी सुन्दरकुँवरी, छत्रकुँवरी एवं बणी-ठणी ने ब्रज, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में साहित्य की रचना करके श्रेष्ठतम् उदाहरण प्रस्तुत किया।³

इम्पीरियल गेजेटियर्स, राजपूताना, 1906 ई. के अनुसार किशनगढ़ राज्य राजपूताना के 20 राज्यों में साक्षरता के क्षेत्र में 4.6 प्रतिशत के साथ चौथे नम्बर पर था। इसमें पुरुष साक्षरता की दर 8.4 प्रतिशत एवं महिला साक्षरता की दर 0.4 प्रतिशत थी। इस सदी में राज्य की लगभग 29 शैक्षिक संस्थाएँ थी जिनमें 1000 छात्र एवं 70 छात्रायें अध्ययन करती थी। इन स्कूलों में 17 स्कूल किशनगढ़ दरबार द्वारा 6500/- रूपये वार्षिक खर्च करके संचालित की जाती थी। दो स्कूलें स्कॉटलैण्ड मिशन की यूनाइटेड फ्री चर्च द्वारा तथा दस स्कूलें व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्तर्गत निजी शालाओं के रूप में संचालित थी। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सन् 1902 ई. में राज्य द्वारा एकत्रित राजस्व में से मात्र एक प्रतिशत ही शिक्षा पर खर्च किया जाता था।⁴

महिला शिक्षा के विकास की प्रक्रिया में राज्य द्वारा रूपनगढ़ और किशनगढ़ में प्राथमिक कन्या स्कूल और दाई प्रशिक्षण संस्थान खोला गया। 1906-07 ई. में रूपनगढ़ स्कूल को बन्द करके उसे सरवाड़ में स्थानान्तरित कर दिया गया। 1908-09 में किशनगढ़ राज्य में मात्र तीन प्राथमिक कन्या विद्यालय थे। किशनगढ़ की प्राथमिक कन्या विद्यालय में 1933-34 ई. में मात्र 44 छात्राएँ अध्ययन कर रही थी। 1934-35 ई. में किशनगढ़ एवं सरवाड़ स्कूल में छात्राएँ मात्र 61 ही रह गई थी। 1938-39 ई तक सरवाड़ के कन्या स्कूल में सिलाई, कढ़ाई व बुनाई सिखने के साथ ही इसे उच्च प्राथमिक स्तर का कर दिया गया था।⁵ 1921 ई. की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार कुल 36875 महिलाओं में से केवल 170 ही साक्षर थी और केवल 9 महिलाएँ ही अंग्रेजी भाषा पढ़ एवं लिख सकती थी।⁶ इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि महिला शिक्षा के प्रति चेतना उस समय के लोगों में काफी विलम्ब से जाग्रत हुई थी।

किशनगढ़ शहर की महाराजा हाई स्कूल की सम्बद्धता बोर्ड ऑफ हाई स्कूल एण्ड इण्टरमिडिएट एज्यूकेशन, राजपूताना से थी। किशनगढ़ राज्य के प्रधानमंत्री द्वारा महाराजा हाई स्कूल की सम्बद्धता हेतु प्रेषित किये गये प्रार्थना पत्र के प्रति उत्तर में बोर्ड

के सचिव रघुनाथदास ने स्कूल को सम्बद्धता प्रदान करते हुए 29 नवम्बर, 1930 ई. को एक पत्र प्रेषित कर 1933-34 ई. की हाई स्कूल परीक्षा के लिए अस्थायी मान्यता में वृद्धि का उल्लेख किया था। इस पत्र के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि महाराजा हाई स्कूल में उस समय अंग्रेजी, गणित, संस्कृत, फारसी, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, हिन्दी एवं उर्दू विषयों का अध्यापन करवाया जाता था। अध्यापकों को कम वेतनमान दिये जाने का भी उल्लेख मिलता है।⁷ 1933-34 ई. में किशनगढ़, मदनगंज, लावा, रूपला और अरौँ में प्राथमिक मिशन स्कूल खोले गये परन्तु इनकी प्रगति असन्तोषजनक रही। मिशन स्कूल उस समय जनता में लोकप्रिय नहीं हो सके। राज्य ने जनता पर शिक्षा कर के रूप में खालसा भूमि पर एक रूपया प्रति बीघा वसूली के बावजूद शिक्षा के प्रति कोई रूचि नहीं दिखाई।⁸

किशनगढ़ राज्य में बहुत से स्थानों पर विद्यालय खोले गये यद्यपि सीनियर विद्यालय कुछ बड़े शहरों तक ही सीमित थे। प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों का जाल ग्रामीण एवं छोटे स्थानों पर फैला हुआ था। विद्यालयों में अध्यापन का कार्य प्रशिक्षित और योग्य अध्यापकों द्वारा किया जाता था। किशनगढ़ गजट में प्रकाशित अधिसूचना में शिक्षकों की भर्ती के लिए न्यूनतम योग्यता एवं वेतनमान ग्रेड का उल्लेख मिलता है। जिसका उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है -

शिक्षा विभाग, किशनगढ़ राज्य

आवश्यकता : जिलो की स्कूलों के लिए निम्नलिखित ग्रेड पर अनुभवी अध्यापकों की आवश्यकता।

1. महिला अध्यापिका (वी.टी.सी.)	40.2.50.3.65
2. पुरुष अध्यापक (वी.टी.सी.)	35.2.45.3.60
3. प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण अध्यापक	25.2.45.3.60
4. वर्नाकूलर उच्च प्राथमिक	25.1.31.2.45

इस विज्ञापन के सन्दर्भ में योग्य एवं अनुभवी अभ्यर्थी अपना प्रार्थना-पत्र सत्यापित शैक्षिक दस्तावेजों की प्रतिलिपि सहित अतिरिक्त सदस्य, किशनगढ़ राज्य को 5 जुलाई, 1947 ई. तक प्रेषित करे।⁹ इस विज्ञापन से यह निष्कर्ष निकलता है कि महिला अध्यापिकाओं को उच्च वेतनमान दिया जाता था, जिससे यह पता चलता है कि राज्य महिला शिक्षा के प्रति अधिक सचेत था।

महकमाखास शाखा, किशनगढ़ के लालसिंह, चीफ मैम्बर ऑफ काउन्सिल के दिनांक 17 जुलाई, 1947 ई. को पत्रानुसार किशनगढ़ राज्य द्वारा उच्च अध्ययन के लिए शहर जाने वाले प्रतिभावान विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति राशि दिये जाने का निर्णय लिया गया। इन प्रतिभाशाली विद्यार्थियों में कला समालोचक डॉ. फैयाज अली,

शिक्षाविद् डॉ. राम प्रसाद शर्मा, खिलाड़ी कल्याणसिंह बन्ना और निष्पक्ष प्रशासक नरेनदास आदि थे। राज्य द्वारा प्रतिभावान व आर्थिक रूप से जरूरतमन्द विद्यार्थियों को अंग्रेजी माध्यम के हाई स्कूल में पढ़ने के लिए प्रेरित भी किया जाता था।

इस सन्दर्भ में किशनगढ़ राज्य के एडिशनल मैम्बर ऑफ काउन्सिल बी.डी. पुरोहित द्वारा ने एक सार्वजनिक अधिसूचना समाचार पत्र में प्रकाशित की गई। जिसमें किशनगढ़ के महाराजा उन प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्ति जारी करना चाहते हैं जो अंग्रेजी माध्यम में उच्च शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हैं। वे विद्यार्थी अपने मूल दस्तावेजों के साथ प्रार्थना-पत्र राज्य के शिक्षा-विभाग को 15 अगस्त, 1947 ई. तक प्रेषित करें।¹⁰ इससे यह स्पष्ट होता है कि किशनगढ़ राज दरबार के द्वारा उच्च शिक्षा के विकास के लिए हर सम्भव सराहनीय प्रयास किया जाता रहा था।

सन्दर्भ

1. मिश्र जगन्नाथ प्रसाद, किशनगढ़ राज्य और महाराजा सुमेरसिंह, संजय प्रकाशन, ईटा (उ.प्र.), 1972 ई., पृ. 13
2. शारदा हरविलास, लाइफ ऑफ दयानन्द सरस्वती-वर्ल्ड टीचर, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1946 ई., पृ. 44
3. यादव सन्तोष, उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में स्त्रियों की स्थिति, प्रिन्टवेल प्रकाशन, जयपुर, 1987 ई., पृ. 89
4. इम्पीरियल, गजेटियर्स, प्रोविंशियल सीरिज, राजपूताना, इलाहाबाद 1906 ई., (राज. राज्य अभिलेखागार, बीकानेर) पृ.317
5. रिपोर्ट ऑन दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी किशनगढ़ स्टेट 1906-07, 1908-09, 1933-34, 1934-35, 1938-39, (आबू कलेक्शन, राज.विश्वविद्यालय, जयपुर) पृ. 15,79 और 82
6. जनगणना रिपोर्ट, किशनगढ़ स्टेट, 1921ए टेबल 8-बी. (राज.राज्य अभिलेखागार, बीकानेर)
7. सचिव, बोर्ड ऑफ हाई स्कूल एण्ड इण्टरमिडिएट एज्यूकेशन, पत्र क्रमांक-4084, दिनांक-29 नवम्बर, 1930 के अनुसार वर्णित है। (राज. राज्य अभिलेखागार, बीकानेर)
8. रिपोर्ट ऑन दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी किशनगढ़ स्टेट 1933.34 ई., (आबू कलेक्शन, राज.विश्वविद्यालय, जयपुर) पृ. 64
9. किशनगढ़ स्टेट गजट, वॉल्यूम-13, नं. 18, 1 जुलाई, 1947 ई., (राज. राज्य अभिलेखागार, बीकानेर) पृ. 5
10. वही, नं. 20, 1 अगस्त, 1947 ई., पृ. 5

महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय कालीन व्यक्ति चित्र

डॉ. सुशीला शक्तावत

सत्रहवीं शताब्दी की चित्र रचनाओं में मानवीय आकृतियों का संधि संयोजन एवं विन्यास संतुलित है तथा आकृतियों का आकार विस्तार उनसे सम्बद्ध परिकल्पना और महत्व बल के अनुरूप है। चटकीली रंगयोजना के साथ आकर्षक रूपविधान और परिशुद्ध भंगिमा, अंगविन्यास एवं रसदृष्टि तथा उन सबके के पारस्परिक सामंजस्यों से अभीष्ट भावों का उद्घाटन मानवीय अभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्दर्भित चित्र रचनाओं की मौलिक विशेषता है। तथ्यतः सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के मेवाड़ के चित्र जीवन और जीवन्तता से भरे तथा निरन्तर गतिशीलता के तत्वों से अनुप्राणित है।¹

सत्रहवीं शताब्दी की मेवाड़ की चित्र रचनाएं सामाजिक एवं सांस्कृतिक रुझानों एवं समाज या जनसामान्य की सौन्दर्य बोध, कलापरक एवं अनुरंजनात्मक प्रवृत्ति को भी उद्घाटित करते हैं। ये चित्र अधिकांशतः जन भावनाओं की अभिव्यक्ति सापेक्ष जन सामान्य के अनुरंजन की रचनाएं थी। यह बात भिन्न है कि वे जनसामान्य की पहुंच के परे की वस्तुएं बनी रही। किन्तु रचनागत उद्देश्य, विषय वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से वे जनसामान्य की जनसामान्य के प्रतिनिधियों द्वारा जनसामान्य या लोक के ज्ञान, परिलोभ एवं रुचि से सम्ब) रचनाएं हैं।²

महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय (1710-1734 ई.) के काल में मेवाड़ी चित्रकला फिर से नये आयाम स्पर्श करती है। महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय का काल मेवाड़ में शांति एवं समृद्धि का अंतिम युग था, क्योंकि इसके पश्चात् मेवाड़ में मराठों का उत्पात प्रारम्भ हो जाता है। महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय के काल में कई व्यक्ति चित्रों का निर्माण हुआ कुछ उल्लेखनीय चित्रों का विवरण इस आलेख में समाहित है।

खेजड़ी पूजन- राजप्रासाद संग्रहालय उदयपुर में सुरक्षित 1710 ई. के इस चित्र में एक शामियाना हीगलु रंग में अंकित है। ऊपर की ओर कई तोपे चित्रित हैं तो एक तरफ महाराणा बड़े जुलूस से वहा आ रहे हैं तथा शामियाना में कई लोग बैठे हैं। मध्य में सुफेद पृष्ठभूमि देकर मानवाकृतियों को, संयोजित विषयवस्तु में सुन्दर ढंग से उभारा गया है 52'4'17' आकार का यह चित्र कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।³ इस चित्र में तत्कालीन नामोल्लेख अनुसार व्यक्ति चित्रों का ज्यों का त्यों चित्रण देखा जा सकता है। उनमें दशहरा के अवसर पर खेजड़ी पूजन में सम्मिलित असंख्य

मानवाकृतियों के स्वरूपों को चित्रित देखा जा सकता है। उनमें पंचोली बिहारीदास, रामसिंह, किशनदास, रघुजी, लक्ष्मण पुरोहित, सुखराम एवं गोपालसिंह, राजा किरतसिंह, रावत देव, भानमल जी, रावत केसरी सिंह, रावत संग्रामसिंह, रावत पृथ्वीसिंह, झाला अजोजी, रावत श्रंगदेवजी, शक्तावत जीतसिंह, रावतहरी सिंह, रघुनाथ सिंह, महाराजा प्रतापसिंह, महाराणा तख्तसिंह, राठौड़ भीमसिंह, नागोर वाले महाराणा अघोत सिंह झाडोल रावत, सुमेर सिंह आदि अनेक तत्कालीन दरबारियों के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्हें हम व्यक्ति चित्रण के अंतर्गत विशेष महत्व दे सकते हैं।⁴

जेठियो की कुश्ती- 1720 ई. इस चित्र में महाराणा महल के बाहर नीचे की बैठक में बैठे चित्रित हैं। पृष्ठभूमि में महलों का सौन्दर्य पूर्ण अंकन है। सामने के चोक में कई जेठी कुश्ती लड़ रहे हैं। इसमें त्रिपोलिया की ओर कई हाथी खड़े अंकित हैं। दोनों ओर मनुष्यों की पंक्ति खड़ी है। जो चित्र को एक इकाई में बांधती है। 34'4'29' के आकार की यह भव्य कृति राजप्रासाद संग्रहालय उदयपुर में सुरक्षित है।⁵

इस चित्र में महाराणा संग्राम सिंह जी के पास में श्री दुर्गादास जी बैठे हुए हैं जो कि जोधपुर से निष्कासित होकर संग्राम सिंह जी के दरबार में आए। महाराणा की पीछे की कतार में सबसे पीछे राजकुमार जगतसिंह हैं। इस चित्र में जितने भी पात्र चित्रित हैं, उनमें सर्वप्रथम हम कुश्ती डल्लड़ने वाले जो गोलडन कवर की पगड़ी व पीली चड्डी पहने हैं उनके पास ही लाल धारी की चड्डी वाला जेठी मीठा है तथा हरी धारी की चड्डी वाला राजाराम जेठी हैं। इन दोनों की कुश्ती को नौ स्तर में एक ही चित्र के अन्तर्गत दिखाकर चित्रकार ने महत्वपूर्ण दृश्य प्रस्तुत किया है।⁶

यह कृति महाराणा संग्राम सिंह के युग के विशिष्ट चित्रों के लिए विशेष महत्व रखती है। उसमें महाराणा संग्रामसिंह के सम्मुख अनेक तत्कालीन व्यक्ति चित्रों को नामांकित करते हुए चित्रित किया गया है। जिनकी वेशभूषा एवं मुख मुद्रा अनेक अन्य तत्कालीन व्यक्ति चित्रों में देखने पर समान रूप से देखी जा सकती हैं, ऐसे प्रमुख व्यक्ति चित्रों में महाराणा के सम्मुख बैठी पंक्ति में सबसे आगे क्रमशः राजा कीरतसिंह, राव सूरतसिंह, महाराजा उम्मेदसिंह, महाराजा तख्तसिंह, चौहान नाथजी, झाला दौलत सिंह, राठौड़ भीमसिंह, राठौड़ किशनदास और तंवर किशनसिंह बैठे हैं तथा दुर्गादास के पीछे की पंक्ति में मेवाड़ के मंत्री बिहारीदास पंचोली एवं पुरोहित सुखराम बैठे हैं।⁷

जगमन्दिर में मनोविनोद- 1720 ई. के इस चित्र में महाराणा संग्रामसिंह जी को रानियों के साथ जग मन्दिर में कई क्रियाओं के साथ चित्रित किये हैं। एक जगह डोलर में झूल रहे हैं। वही पृष्ठभूमि में जग मन्दिर महल का जो चित्रण है, उसमें रेखाओं की बारिकी का अंकन विशेष उल्लेखनीय है। यह चित्र कुंवर संग्राम सिंह

संग्रह जयपुर में सुरक्षित हैं। चित्र में विभिन्न प्रकार की पोशाको में मानव आकृतियों तथा नारियो को चिन्हित किया गया है। जिनमें विभिन्न रंग के साड़ियों की पहनावे बहुत की आकर्षक है। इस चित्र में मानव आकृतियों की अधिक ठिगना चित्रित किया है।⁸ धींगा गणगोर राज प्रासाद संग्रहालय उदयपुर में संग्रहित अन्य कलाकृतियों में धींगा गणगोर विशेष उल्लेखनीय हैं, उसमें महाराणा संग्रामसिंह कालीन अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों को नाव की सवारी में चित्रित किया है, जिसमें महाराणा के साथ चौहान नाथजी महाराजा उम्मेद सिंह, झाला दोलत सिंह और राठौड़ किशनदास को नौका के मंच पर बैठे हुए चित्रित किया है। जबकि उनके नीचे की तरफ बेटे हुए महत्वपूर्ण व्यक्तियों में लालजी एवं रघुजी को दिखाया है, तथा उनके साथ ही संगीतकार एवं कलावंत कानजी, चंद एवं ढोलक वादक पीरु को चित्रित किया है, इसके समीप ही दूसरी नौका में महाराजा तख्त सिंह को हाथ जोड़े तथा उनके साथ तंवर किशन सिंह, पंचोली, किशनदास, पंचोली रेवीचन्द को चित्रित किया है, इसी तरह इस चित्र में चित्रित अन्य नौकाओं में, राव सूरतसिंह, राजा कीरतसिंह, बापा संग्रामसिंह, पंचोली बिहारीदास तथा रावत केसरीसिंह, राठौड़ प्रतापसिंह रावत, सारंग देवजी, राणावत अमरसिंह, राणावत रतनसिंह और शक्तावत श्याम सिंह को चित्रित किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इस युग में पाश्चात्य कला का प्रभाव अनुरूप व्यक्ति चित्रों में छाया प्रकाश भी दिखाया जाने लगा। यह चित्र महाराणा संग्रामसिंह कालीन व्यक्ति चित्रों का एक पुंज है।⁹

जन्मोत्सव चित्र- राजप्रासाद संग्रहालय उदयपुर में सुरक्षित अन्य वृहद चित्रों में महाराणा संग्राम सिंह, राजकुमार प्रतापसिंह के जन्मोत्सव में महाराणा को झरोखे में बैठे दिखाया है। उनके सामने ही महाराजा तख्तसिंह और राजकुमार जगतसिंह बैठे हैं। उन्हीं के पीछे राजकुमार नागजी व रामसिंह जी चित्रित किये गये हैं। पौत्र का जन्मोत्सव 8 अगस्त, 1724 ई. को मनाया गया, तथा इसी चित्र में नीचे उनके हाथी फतेमा मरख को भी चित्रित किया गया है। जिससे व्यक्ति चित्रों की ऐतिहासिकता स्पष्ट होती है।¹⁰

चौगान में मनोरंजन- इसी संग्रहालय में महाराणा संग्रामसिंह व महाराजा सवाई जयसिंह को चौगान में मनोरंजन करते दिखाया इसमें महाराणा को अपने मेहमान सवाई जयसिंह के साथ बैठे दिखाया है। उनके सामने व्यक्ति के साथ हाथी भी गजनायक व गंगाजल नाम से चित्रित किये गए हैं। साथ ही उनकी लड़ाई को विभिन्न स्थितियों में चित्रित किया है।¹¹ सवाई जयसिंह के दाहिनी ओर गोपाल पाल द्धकारोलीऋ राजा किरत सिंह, राव भगत सिंह, रावत केसरी सिंह, रावत संग्राम सिंह, रावत पृथ्वी सिंह तथा महाराणा संग्राम सिंह के निकट आसोपा के महाराजा तख्तसिंह, राजकुमार जगतसिंह, राजकुमार नागरजी, महाराजा बख्तसिंह, महाराजा जोरावर सिंह, किशन

सिंह, तंवर अरिरामसिंह एवं खड़ी कतार में तुलसीदास धाबाई मनजी चंवर लिये हुए हैं, तथा साथ ही खवास (नाई) उतमराम व जेठी रादों चित्रित है।¹²

विवाह समारोह चित्र- महाराणा संग्राम सिंह, राजकुमार जगतसिंह के विवाह समारोह पर राजप्रासाद में 1730 ई. नाहरो के दरिखानों पर यह सार्वजनिक समारोह आयोजित किया गया, इसमें जगतसिंह, महाराणा संग्रामसिंह के सम्मुख बैठे हैं तथा साथ-साथ ही उनके छोटे भाई नाथजी को चित्रित किया है तथा महाराणा के पास एक बालक चमनोजी को दर्शाया गया है जो सम्भवतः पौत्र प्रतापसिंह का हो सकता है। महाराणा के सामने की कतार में बरुआ के अतिराम, राव बख्तसिंह राठौड़, तंवर किशनसिंह को बैठे दिखाया है और महाराणा के पीछे पुरोहित सन्तोकराम, धाबाई नागजी, तुलसीदास, उतमराम को बैठे दिखाया है।¹³

गुसाई नीलकण्ठजी का स्वागत चित्र- इसी तरह नेशनल गैलेरी ऑफ़ विक्टोरिया मेलबोर्न के चित्रों में संग्रामसिंह द्वितीय एवं गुसाई नीलकण्ठ जी में महाराणा को केवल धोती पहने हाथ में पुष्प लिये हुए चित्रित किया है तथा वे गुसाई जी को पुष्प अर्पित कर रहे हैं। यह समारोह धीवकुश महल में आयोजित किया पाया, पर महाराणा का चेहरा अन्य चित्रों अनुरूप ज्यों का त्यों व्यक्ति चित्र में है, साथ ही प्रमुख सरदार व मंत्रीगण आदि उपस्थित हैं। अन्य प्रमुख व्यक्तियों में गोसाई किशनगिरी जी, देवरामजी तथा महाराणा के पीछे पुरोहित सन्तोक रामजी त्रिवेदी, वासुदेवजी, महाराज तख्तसिंह जी, किशनसिंह जी धाबाई, नोकजी, भाट सुखचन्द्रजी पंचोली, कमरदास, तुलसीदास, शक्तावत सूरतसिंह जी, कलावंत कानजी आदि चित्रित हैं।¹⁴

गंजीफा का चित्र- उस समय ताश का खेल अत्यन्त लोकप्रिय था एक चित्र में महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय अपने डेरे पर रात्रि में अपने सरदारों तख्तसिंह जी, किशनसिंह, धाभाई नगजी, रामसिंह जी, पंचोली किशनदास, उम्मेद सिंह राठौड़, किशनदास चौहान, जोरावर सिंह के साथ बैठकर गंजीफा खेलते हुए चित्रित किया गया है इस चित्र से महाराणा के गंजीफा के प्रति रुचि का परिचय मिलता है।¹⁵

शिकार दृश्य चित्र- महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय को एक चित्र में शिकार हेतु जाते दर्शाया गया है। इसमें शिकार दल में सरदारों के साथ-साथ संगीतकारों को भी जाते हुए चित्रित किया गया है।¹⁶ एक अन्य चित्र में महाराणा द्वारा शेर के शिकार का चित्रण है।¹⁷ एक और चित्र में नाहरमगरा में सुअर के शिकार करते हुए महाराणा संग्राम सिंह को दर्शाया गया है।¹⁸ इन शिकार दृश्यों से संबन्धित चित्रों से न केवल महाराणा की आखेट प्रियता का अपितु शिकार के तरीकों का भी ज्ञान होता है।

गोसाई नीलकण्ठ गिरी के आश्रम संबन्धित चित्र- महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय के शेर के शिकार के पश्चात् गोसाई नीलकण्ठ गिरी जी के निवास स्थान मठ

में पहुंच कर उनके आसन हेतु शेर की खाल उपहार में प्रदान करने हेतु सेवकों द्वारा मरे हुए शेर को उठाकर ले जाते हुए चित्र में दर्शाया गया है। सामने बढकर महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय गोसाईं नीलकण्ठ गिरी को दण्डवत कर रहे हैं और नीलकण्ठ गिरी जी शेर की खाल के आसन पर आर्शीवाद प्रदान करने की मुद्रा में विराजमान हैं।¹⁹

इसी प्रकार एक अन्य चित्र में नीलकण्ठ गिरी जी व अन्य योगियों को मठ में विविध धार्मिक क्रियाओं में रत दिखाया गया है।²⁰

महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय का वैद्यनाथ महादेव मन्दिर में दर्शन करते हुए चित्र- महाराणा संग्रामसिंह अपने सरदारों सहित वैद्यनाथ महादेव के मन्दिर में शिव के दर्शन करते हुए एक चित्र में दर्शाये गये हैं इसमें शिव मन्दिर का चित्रण एवं दर्शन करते हुए महाराणा का चित्र शैव धर्म के प्रति आस्था का प्रतीक है। इसी प्रकार एक चित्र में महाराणा संग्राम सिंह व उनके पुत्र जगत सिंह को पीपल वृक्ष के नीचे स्थापित शिवलिंग के दर्शन करते हुए चित्रित किया गया है।²¹

ये सभी परम्परागत चित्र वृहद आकार में मेवाड़ के शासको की तत्कालीन गतिविधियों को प्रस्तुत करते हैं। इनमें चित्रों का संयोजन बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। शायद ही ऐसे बड़े आकार में किसी अन्य शैली में बने हो इनकी कलात्मकता के साथ ही परम्परागत तत्कालीन वास्तविक रूपों को चित्रकारों ने जितनी उत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है ये व्यक्ति चित्रण की उत्कृष्टता के लिए मिसाल कायम करते हैं।

संदर्भ

1. सुशीला शक्तावत मेवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास (1680 से 1734 ई.) अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृ. सं. 136
2. वही, पृ. सं. 136
3. राज प्रसाद संग्रहालय में संग्रहीत चित्र
4. वीर विनोद भाग-2, प्रकरण 11, ओझा राजपुताने का इतिहास, पृ.सं. 122
5. राजकीय संग्रहालय, उदयपुर में संग्रहीत चित्र
6. वशिष्ठ आर.के. मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ. सं. 19
7. शर्मा रामचन्द्र मेवाड़ के लघुचित्रों में व्यक्ति चित्रों का कलापक्ष आलेख शोध पत्रिका वर्ष 44, अंक 2, पृ.सं. 73
8. वशिष्ठ आर.के. मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ.सं. 29
9. राज प्रसाद संग्रहालय, उदयपुर में संग्रहीत चित्र
10. शर्मा रामचन्द्र मेवाड़ के लघुचित्रों में व्यक्ति चित्रों का कलापक्ष आलेख शोध पत्रिका वर्ष 44, अंक 2, पृ.सं. 73
11. राजकीय संग्रहाय, उदयपुर में संग्रहीत चित्र

12. सुशीला शक्तावत मेवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृ.सं. 138
13. सोमानी रामवल्लभ- मेवाड़ के शासको के चित्र बनाने की परम्परा
14. एण्ड्रयू टोप्स फील्ड पैन्टिंग्स फॉर्म राजस्थान इन द नेशनल गेलरी ऑफ विक्टोरिया, पृ.सं. 79, चित्र संख्या 81
15. वही पृ.सं. 75, चित्र संख्या 73, सुशीला शक्तावत मेवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृ.सं. 136
16. एण्ड्रयू टोप्स फील्ड केटलाग, पृ. 62, चित्र संख्या 58
17. एण्ड्रयू टोप्स फील्ड पैन्टिंग्स फॉर्म राजस्थान इन द नेशनल गेलरी ऑफ विक्टोरिया, पृ.सं. 83, चित्र संख्या 87
18. वही, पृ.सं. 66, चित्र सं. 67
19. वही पृ.सं. 75, चित्र सं. 79
20. वही पृ.सं. 85, चित्र संख्या 92
21. वही, पृ सं. 86, चित्र संख्या 93

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में अजमेर-मेरवाड़ा में आर्य समाज का योगदान

प्रोफेसर वी. के. वशिष्ठ

स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) ने 1875 में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना द्वारा भारत में वैदिक संस्कृति पर आधारित समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। इसके साथ ही आर्य समाज ने जाति प्रथा की निंदा कर, सामाजिक समानता को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप, भारत में पश्चिमी संस्कृति का अविरल प्रवाह अवरुद्ध हुआ तथा आर्य समाज को जनसाधारण में लोकप्रियता मिली। राजनैतिक दृष्टि से, ब्रिटिश साम्राज्य के परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में स्वराज्य, स्वभाषा एवं स्वदेशी के महत्व का प्रतिपादन कर, भारतीयों में तीव्र राष्ट्रीयता की भावना को जागृत कर, आर्य समाज को राजनैतिक संस्था के रूप में रूपान्तरित किया। उत्तरी भारत में मुख्यतया पंजाब एवं राजपूताना के राज्यों के मध्य स्थित अजमेर-मेरवाड़ा के ब्रिटिश शासित क्षेत्र में आर्य समाज की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

स्वतंत्रता आन्दोलन में आर्य समाज की भूमिका :

अजमेर-मेरवाड़ा में आर्य समाज 1881 से 1947 तक सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली बना रहा। इसके प्रगतिशील सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों ने अजमेर-मेरवाड़ा एवं उसके चारों ओर स्थित राजपूताना के राज्यों के अभिजात्य (सामंत एवं राजपूत शासक), मध्यम (शिक्षक, वकील एवं व्यापारी) एवं दलित वर्गों को अपना अनुयायी बनाया। लेकिन राजपूताना राज्यों के पिछड़े और प्रतिक्रियावादी वातावरण ने आर्य समाज की गतिविधियों को प्रोत्साहित नहीं किया। इसके विपरीत, ब्रिटिश शासित अजमेर-मेरवाड़ा के राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से खुले वातावरण में आर्य समाज का संगठन राजपूताना में राजनीति का केन्द्र बन गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई के प्रथम अधिवेशन (दिसम्बर 1885) में अंबाला (पंजाब) के आर्य समाजी लाला मुरलीधर ने सक्रिय भाग लेकर अजमेर के आर्य समाजियों के लिए राजनीति में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया¹। इसी समय अजमेर-मेरवाड़ा की आर्य समाज की संगठित संस्था ने भी शीघ्र ही इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। आर्य समाज परिवार से सम्बद्ध एवं आर्य समाज की विचारधारा

से ओतप्रोत हरबिलास सारदा, उनके सहयोगी रामगोपाल कायस्थ और मिट्ठनलाल ने 1887 में कांग्रेस समिति की अजमेर में स्थापना की। 1888 में हरबिलास सारदा कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में सम्मिलित हुए। इसके उपरान्त, अजमेर-मेरवाड़ा से प्रतिनिधि निरंतर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेते रहे। 1891 में हरबिलास सारदा ने कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में, एवं 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में आयोजित कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में उनके भाई रामविलास सारदा उपस्थित थे²। इस प्रकार अजमेर के आर्य समाजी तथा नरम विचारधारा से सम्बद्ध प्रतिनिधि 1888 से 1905 के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में निरंतर भाग लेते रहे। इन्होंने अजमेर-मेरवाड़ा के अजमेर, ब्यावर, नसीराबाद, पुष्कर, केकड़ी एवं पीसांगन में स्थापित आर्य समाज की शाखाओं द्वारा कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रमों का प्रचार किया। परिणामतः बंगाल के विभाजन (1905) के पश्चात् अजमेर-मेरवाड़ा में राजनैतिक वातावरण सशक्त होने लगा। अजमेर-मेरवाड़ा के आर्य समाज एवं अन्य राजनैतिक विचारधाराओं के कार्यकर्त्ताओं द्वारा 1905 एवं 1947 के मध्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय योगदान से यह तथ्य स्पष्ट होता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अजमेर-मेरवाड़ा के आर्य समाज के अनुयायियों की भूमिका को मुख्यतया चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, 1905 से 1947 के विभिन्न आन्दोलनों में क्रांतिकारियों की भूमिका, द्वितीय गरम दल के नेतृत्व में स्वदेशी आन्दोलन (1905-1908) तृतीय, तिलक के निर्देशन में होमरूल आन्दोलन में भूमिका (1915-18), और चतुर्थ, महात्मा गांधी के निर्देशन में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भूमिका (1919-1947)।

क्रांतिकारियों की भूमिका (1905-1915) :

अजमेर-मेरवाड़ा में खरवा के राठौड़ इस्तमरारदार नवयुवक राव गोपाल सिंह (1898-1915) तथा उनके सहयोगी भूपसिंह डूबाद में विजय सिंह पथिकरू ने 1915 में सशस्त्र क्रांति द्वारा भारत की स्वतंत्रता के लिये अजमेर-मेरवाड़ा में पहल की। 1905 में बंगाल का विभाजन एवं स्वदेशी आन्दोलन की ओर अंग्रेजों की दमनात्मक नीति, बंगाल में वन्दे मातरम् के नारे पर प्रतिबंध और वाइसराय लार्ड मिण्टो के द्वारा पारित संडीशन एक्ट (Sedition Act)³ ने उत्तरी भारत के बंगाल, पंजाब, दिल्ली, राजपूताना और अजमेर-मेरवाड़ा में क्रांतिकारी गतिविधियों का सूत्रपात किया। इन क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्य को सशस्त्र क्रांति द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर समाप्त करने के लिए गुप्त संगठनों की स्थापना की।

10 अक्टूबर, 1873 को राव गोपाल सिंह का खरवा में जन्म हुआ था। उन्होंने मेयो कॉलेज, अजमेर में शिक्षा प्राप्त की थी, लेकिन आर्य समाज के अनुयायी एवं

राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत होने के कारण वे पश्चिमी संस्कृति एवं शिक्षा से घृणा करते थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र कुंवर गणपत सिंह के मेयो कॉलेज में शिक्षण का अंग्रेज अधिकारियों से विरोध किया था। बंगाल विभाजन के पश्चात वे तिलक के उग्र राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित हुए थे। क्षात्रधर्म के उपासक, राव गोपाल सिंह सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखते थे। अतः उन्होंने बंगाल के सशस्त्र क्रान्ति के कर्णधार सचिन्द्रनाथ सान्याल एवं रास बिहारी बोस से सम्पर्क स्थापित किया। योजनानुसार, 21 फरवरी 1915 को दिल्ली में क्रान्ति प्रारम्भ होने के साथ ही अजमेर-मेरवाड़ा में सशस्त्र क्रान्ति का निश्चित किया गया।

21 फरवरी, 1915 को राव गोपालसिंह अपने सहयोगी भूपसिंह के साथ, अजमेर-नसीराबाद रेलवे लाइन के समीप जंगलों में दिल्ली से आने वाली रेल से संकेत पाने के लिए प्रतीक्षा करते रहे। लेकिन देशद्रोही मनीलाल के मुखबिर बन जाने के कारण योजना विफल हो गयी।¹⁵ ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण, भूपसिंह टोंडगढ़ से बच कर बिजोलियाँ (मेवाड़ राज्य) चले गये, तथा वहां पर विजय सिंह पथिक नाम से किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया। राव गोपाल सिंह ने ब्रिटिश सरकार को राजनैतिक बंदी के रूप में 27 अगस्त, 1915 को अजमेर में आत्म समर्पण कर दिया। दो वर्ष के लिए दी गयी सजा की अवधि समाप्त होने के बाद उन्हें भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत तिलहर ढ़शाहजहांपुर, उत्तरप्रदेशाश्रम नामक स्थान पर नजरबंद रखा गया। उनके पुत्र गणपत सिंह को खरवा का इस्तरारदार नियुक्त किया गया। मार्च 1920 को मुक्त होने के पश्चात, राव गोपालसिंह खरवा ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया।¹⁶

इन आर्य क्रान्तिकारियों की विफलता और ब्रिटिश सरकार के द्वारा उनके दमन के कटु अनुभव ने अजमेर-मेरवाड़ा के आर्य समाज को भारत की स्वतंत्रता के लिये अहिंसा एवं सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया।

स्वदेशी आन्दोलन (1905-1908) :

अजमेर के आर्य समाजियों ने स्वामी दयानंद के स्वराज्य एवं स्वदेशी के राजनैतिक विचारों को बंग-भंग एवं स्वदेशी आन्दोलन में साकार होते देखा। राय साहब रामविलास सारदा ने कांग्रेस के बनारस के वार्षिक अधिवेशन से लौटने के बाद 1905 में अजमेर में स्वदेशी का प्रचार किया।¹⁷ परिणामतः स्वदेशी आन्दोलन का अजमेर-मेरवाड़ा में स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ।

राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल के तिलक एवं अरविंद घोष के विचारों के समर्थक, आर्य समाजी सेठ दामोदरदास राठी ने अजमेर-मेरवाड़ा में स्वदेशी आन्दोलन में प्रमुख भूमिका निर्वहन की। दामोदरदास राठी द्वारा अजमेर-मेरवाड़ा के मुख्य व्यापारिक केन्द्र

ब्यावर में 1883 में कृष्णा मिल स्थापित की गई तथा 1903 में ब्यावर नगरपालिका के सदस्य के रूप में उन्होंने जनसाधारण की सेवा करके लोकप्रियता प्राप्त की। बंग-भंग एवं स्वदेशी आन्दोलन के समय उन्होंने भारतीयों के लिए दैनिक उपयोग की समस्त वस्तुएं स्वदेश में तैयार कराने की व्यवस्था की। इस समय भारत में आर्थिक हानि के उपरांत भी बारीक सूत की महीन धोतियां बंगाल भेजी तथा आर्थिक सहायता देकर भी आन्दोलन में सहयोग दिया।¹⁸ स्वदेशी आन्दोलन की गरमदलीय राजनैतिक सक्रियता से अजमेर में कांग्रेस का 'नरमदल' पिछड़ गया।¹⁹ परिणामतः आर्य समाज संगठन से सम्बद्ध और कांग्रेस की राजनीति में सक्रिय चांदकरण सारदा ने अजमेर-मेरवाड़ा में स्वतंत्रता आन्दोलन की बागडोर सम्भाली।

होमरूल आन्दोलन (1915-18) :

चांदकरण सारदा को सार्वजनिक सेवा तथा देशभक्ति के आदर्श मूल्य अपने पिता रामविलास सारदा से विरासत में मिले थे। उनके पिता दयानन्द स्वामी के अनुयायी थे तथा कांग्रेस की राजनीति से सम्बद्ध थे। चांदकरण सारदा का जन्म 25 जून, 1888 को अजमेर में हुआ था। उन्होंने ऐन्ट्रेन्स तक की शिक्षा अजमेर में दयानन्द आश्रम ऐंग्लो-वैदिक स्कूल से प्राप्त की तथा 1906 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ऐन्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तीर्ण की।

इस समय, समाचार पत्रों में प्रकाशित बंग-भंग की सूचनाओं ने उनमें ब्रिटिश सत्ता के प्रति उग्र विरोध की भावना उत्पन्न की तथा स्वदेशी और स्वराज्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न किया।²⁰ 1910 में गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर से बी.ए. की परीक्षा तथा आगरा कॉलेज, आगरा से एम.ए., एल.एल.बी., परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। आगरा में अपने अध्ययन काल में वे 'आर्य मित्र सभा' नामक संगठन के सक्रिय सदस्य रहे। 1911 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए। 1913 में उन्हें सहारनपुर में अखिल भारतीय आर्यकुमार कान्फ्रेंस में लाला लाजपतराय से भेंट का अवसर मिला। अजमेर में वकालत प्रारंभ करने के पश्चात वे राष्ट्रीय गतिविधियों में अधिक सक्रिय हो गये। 1914 में उन्होंने अजमेर-मेरवाड़ा के न्यायालयों में हिन्दी में प्रार्थना पत्र स्वीकार करने के लिए आन्दोलन किया था। परिणामस्वरूप अजमेर के चीफ़ कमिश्नर ने उनकी मांग को स्वीकृति प्रदान की।²¹

अजमेर-मेरवाड़ा में चांदकरण सारदा ने बाल गंगाधर तिलक एवं ऐनी बिसेंट द्वारा संचालित होमरूल आन्दोलन (1915-18) में सक्रियता प्रदर्शित की तथा 1916 के लखनउ के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। इस अवसर पर पहली बार उन्होंने लोकमान्य तिलक से भेंट की थी। उन्होंने जुलाई 1915 में अजमेर में होमरूल शाखा की स्थापना की तथा उसके मंत्री का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। जनसाधारण में

राजनैतिक जागृति के लिए 'होमरूल लीग रीडिंग रूम' की भी स्थापना की गई¹²। होमरूल आन्दोलन के समय तिलक और श्रीमति सरोजिनी नायडू भी अजमेर आये। इन राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के प्रभाव, और राजनैतिक सम्मेलनों एवं जलसों के माध्यम से अजमेर-मेरवाड़ा के नागरिकों में नवीन जागृति एवं उत्साह उत्पन्न किया¹³। इस जागृति के परिणामस्वरूप, 1917 में चांद करण सारदा ने इण्डियन एसोसिएशन के मंत्री, तथा मौलाना मुईनुद्दीन के इसके प्रधान के रूप में, अजमेर-मेरवाड़ा में राजनैतिक सुधार के लिए आन्दोलन किया। वास्तव में, प्रथम महायुद्ध (1914-18) के समय में अजमेर की 'खुली राजनीति' में होमरूल लीग ही आच्छादित रही। जगदीश प्रसाद का विचार है कि अजमेर में इस होमरूल आन्दोलन से कांग्रेस का नरम दल बिल्कुल पिछड़ कर लुप्त हो गया।¹⁴

होमरूल आन्दोलन के समय मुख्यतया हिन्दुओं में चांदकरण सारदा और मुसलमानों में मौलाना मुईनुद्दीन अजमेर-मेरवाड़ा के राजनैतिक क्षितिज पर उभर कर आये। मुईनुद्दीन खेराबादी उलेमाओं के परिवार से थे। उनके परिवार के मूल पुरूष को 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों द्वारा आजन्म कारावास की सजा देने तथा अंग्रेजों द्वारा खिलाफत सम्बन्धी वचन-भंग ने मुईनुद्दीन को ब्रिटिश विरोधी बना दिया। मुईनुद्दीन के राजनैतिक प्रभाव से अजमेर के मुसलमान अंग्रेजों के विरोधी बन गये। अतः महात्मा गांधी के द्वारा निर्देशित असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन के समय चांदकरण सारदा एवं मौलाना मुईनुद्दीन ने अजमेर में 'अपूर्व एकता एवं भ्रातृत्व की भावना' प्रदर्शित की¹⁵।

असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन (1919-22) :

चांदकरण सारदा ने गांधी के विचारों और कार्यक्रमों को अजमेर-मेरवाड़ा में क्रियान्वित कर राजनैतिक दृष्टि से आर्य समाज की प्रतिष्ठा स्थापित की। मार्च-अप्रैल 1919 में रोलेट एक्ट प्रभावी होने पर चांद करण सारदा ने तीव्र प्रतिवाद किया। उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर कार्यक्रम के अनुरूप अजमेर में उपवास, प्रार्थना और जुलूस का आयोजन किया¹⁶।

चांदकरण सारदा के सभापतित्व में अनासागर के तटवर्ती आर्य समाज के साधु आश्रम के निकट विराट सभा तथा अजमेर में पूर्ण हड़ताल आयोजित की।¹⁷ 1919 के अंत में चांद करण सारदा और दयाशंकर भार्गव ने कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में अजमेर का प्रतिनिधित्व किया।¹⁸

महात्मा गांधी द्वारा 1 अगस्त, 1920 को असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम की घोषणा, तथा सितम्बर 1920 के प्रथम सप्ताह (4-9 सितम्बर) में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कलकत्ते के अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा इसकी पुष्टि

की गयी। लाला लाजपतराय की इस भूमिका ने आर्य समाजियों को भी असहयोग आन्दोलन से पूर्णतया जोड़ दिया। अतः इस अधिवेशन में भाग लेने के उपरांत, आर्यसमाजी-चांदकरण सारदा और अर्जुनलाल सेठी ने अजमेर लौटने पर 18 सितम्बर 1920 को अजमेर-मेरवाड़ा में असहयोग का कार्यक्रम बनाया। इस कार्यक्रम के अनुसार सर्वप्रथम चांदकरण सारदा ने अपनी वकालत छोड़ कर सत्याग्रहियों के समक्ष ब्रिटिशसत्ता के प्रति असहयोग का उदाहरण प्रस्तुत कर, इस आन्दोलन को बल दिया। शीघ्र ही अलीगढ़ विश्वविद्यालय के स्नातक मिर्जा अब्दुल कादिर बेग ने वकालत छोड़ दी तथा गांधीवादी, देश भक्त मास्टर ऑकारनाथ बाकलीवाल ने भी नौकरी छोड़ दी¹⁹।

चांदकरण सारदा ने असहयोग आन्दोलन में गांधी के विचारों का अपने भाषणों एवं कार्यक्रमों में समावेश किया। वे गांधी के साम्प्रदायिक सदभावना के विचार के प्रतिपालन को भारतीयों की एकता और ब्रिटिश सरकार के विघटन के लिए आवश्यक समझते थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा मुसलमानों के साथ खिलाफत के सम्बन्ध में वचन भंग की निंदा की। इस संदर्भ में उन्होंने अजमेर-मेरवाड़ा के निवासियों के समक्ष स्पष्टीकरण दिया कि "आज हमारी पवित्र खिलाफत पर वार किया जा रहा है, अपने धर्म की रक्षा करना चाहते हो तो.... बन्धुओं कुरबान होना सीखो। बिना बलिदान हुए आजादी नहीं मिलती।" उन्होंने जनसाधारण को असहयोग आन्दोलन के उद्देश्यों से अवगत कराते हुए, उन्हें क्रियान्वित करने का संदेश दिया, "तुम्हें चाहिए कि तुम्हारी आजादी को कुचलने वाली नौकरशाही के साथ तुम पूरी मदद से असहयोग करो, उसके बनाये बेकूदरती कानूनों को मत मानो और उन कानूनों को तोड़ने के बदले में यदि जेल जाना पड़े तो हंसते-हंसते जाओ, उसे स्वतंत्रता का पवित्र मंदिर समझो, अपने देश का बना हुआ कपड़ा पहनो, स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाओ और भी कार्य जो तुम्हें करने हैं उन्हें निर्भय होकर करो, स्वतंत्रता आप ही तुम्हें मिल जायेगी।" इसके साथ ही उन्होंने आशा व्यक्त की कि असहयोग आन्दोलन में सत्याग्रही महात्मा गांधी के बताये गये अहिंसात्मक मार्ग का अनुसरण करेंगे, "मैं आशा करता हूँ कि..... आप लोग अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिए... शांतिमय असहयोग से अपने उच्च आदर्श पर पहुंचने का हार्दिक प्रयत्न करते रहेंगे... स्वतंत्रता के इस पवित्र युद्ध में अपनी ओर से कहीं शांति भंग ना हो। हम पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करते रहेंगे और इसी से हम अपनी आजादी प्राप्त करें"²⁰।

1920-21 के असहयोग आन्दोलन के समय चांदकरण सारदा अजमेर के नया बाजार की चौपड़ पर खड़े होकर वन्दे मातरम् के नारों में जनसमुदाय से यह गीत गवाया करते थे, "नहीं रखनी, नहीं रखनी, सरकार जालिम, नहीं रखनी।" अपने संस्मरण में जगदीश प्रसाद 'दीपक' लिखते हैं कि "इस प्रकार अजमेर में असहयोग

आन्दोलन ने ब्रिटिश शासन की प्रतिष्ठा " एक शैतानी हुकूमत कह कर मिट्टी में मिला दी। उनके अनुसार इस खुले प्रचार ने अब ब्रिटिश सरकार की फौज, पुलिस और नौकरशाही का सारा भय नष्ट कर दिया, उसकी अदालतों और जेलों का डर इस हद तक गायब हो गया कि औरतें और बच्चे तक खुले तौर पर गली-गली में, " नहीं रखनी, नहीं रखनी, सरकार जालिम, नहीं रखनी " का तराना गाने लगे²¹। यही नहीं चांदकरण सारदा ने अपने सहयोगियों के साथ एकजुट होकर असहयोग आन्दोलन को जनान्दोलन बनाने का कार्य किया। इस संदर्भ में रामनारायण चौधरी अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि " जब गौरीशंकर भार्गव कौमी जुलूसों के आगे घोड़े पर सवार होकर निकलते, सारदा जी अपने निर्भीक भाषण देते, स्वामी नरसिंह देव सरस्वती जोशीली नज्में गाते और मौलाना मुइनुद्दीन सीधी तीर सी तकरीरें करते थे तो एक अजीब समां बंध जाता था " ²²। इस प्रकार चांदकरण सारदा एवं उनके कांग्रेस संगठन के सहयोगियों और कार्यकर्ताओं ने महात्मा गांधी के द्वारा निर्देशित असहयोग आन्दोलन द्वारा अहिंसक क्रांति का सूत्रपात किया।

असहयोग आन्दोलन का विकास :

अजमेर-मेरवाड़ा में असहयोग आन्दोलन के समय विभिन्न सामाजिक समुदायों में एकता एवं सद्भावना के कारण राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन सशक्त हो सका। परिणामतः असहयोग आन्दोलन के ध्वंसात्मक एवं रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा ब्रिटिशसत्ता का अजमेर-मेरवाड़ा में प्रभाव क्षीण होने लगा। असहयोग आन्दोलन के समय में अजमेर-मेरवाड़ा में राष्ट्रीय पंचायतों और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई और अनेक विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों का परित्याग किया। साथ ही, सरकारी न्यायालयों में मुकदमों की संख्या घटने की प्रवृत्ति प्रतीत हुई²³। 28 नवम्बर, 1920 को ब्रिटिश युवराज प्रिंस ऑफ वेल्स के अजमेर आगमन पर राष्ट्रव्यापी बहिष्कार के कार्यक्रम के अनुसार बाजार में हड़ताल कर दी गई, रात्रि में घरों में दीये नहीं जलाये गये, तथा तारागढ़ पर सरकारी रोशनी की व्यवस्था असफल कर दी गयी। महिलाओं ने विदेशी कपड़ों को जलाकर अजमेर के ढाई दिन के झोंपड़े पर एक विराट सभा में प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन पर विरोध प्रकट किया। इसी प्रकार, चांदकरण सारदा एवं अन्य कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने सरकारी पुष्प प्रदर्शनी का बहिष्कार किया²⁴। फरवरी 1922 को स्वयंसेवकों ने अजमेर के उद्यान में आयोजित चीफ कमिश्नर पीटरसन के विदाई समारोह का विरोध किया तथा उसके समर्थकों की निंदा की। इस अवसर पर स्वयं सेवकों को पुलिस ने बैतों से पीटा, लेकिन उन्होंने संयम बनाये रखा तथा चौरा-चौरी की तरह शांति भंग नहीं की²⁵। अजमेर के असहयोग आन्दोलन ने अन्त तक अहिंसात्मक रूप बनाये रखा।

हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना :

असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन के समय चांदकरण सारदा एवं मौलाना मुइनुद्दीन की सद्भावना ने असहयोग आन्दोलन में हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रबल बना दिया। तेजा दशमी, जल-झूलनी एकादशी और दशहरे के त्यौहारों पर हिन्दू जुलूस और मुहर्रम के मुस्लिम जुलूस, कांग्रेस और खिलाफत के स्वयंसेवकों के सम्मिलित प्रबंध में निकलते थे। सभाओं और मेलों में दोनों समुदायों के स्वयंसेवकों का संयुक्त प्रबंध होता था।

इसी प्रकार, राजपूताना, सेन्ट्रल इण्डिया, अजमेर-मेरवाड़ा पॉलिटिकल कान्फ्रेंस की एक सभा में आर्यसमाज के अनुयायी एवं क्रांतिकारी राव गोपालसिंह खरवा और राष्ट्रवादी मुसलमान मौलाना शौकत अली ने 'पगड़ी बदल भाई' बन कर हिन्दू-मुस्लिम एकता का अजमेर में अपूर्व दृश्य उपस्थित किया था। इस एकता के परिणामस्वरूप अजमेर-मेरवाड़ा में ब्रिटिश शासन तंत्र प्रभावहीन हो गया। सत्याग्रहियों को बंदी बनाने और 1922 में महंगाई के समय अजमेर में शांति बनाये रखने में चीफ कमिश्नर पीटरसन को कांग्रेस और खिलाफत के नेताओं और उनके स्वयं सेवकों के सहयोग की आवश्यकता पड़ने लगी²⁶।

चांदकरण सारदा ने हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना का उत्कृष्ट उदाहरण, खिलाफत नेताओं द्वारा घोषित फतवे का समर्थन कर प्रदर्शित किया। करांची में 6 जुलाई, 1921 को खिलाफत कांफ्रेंस के आदेशों की अनुपालना करते हुए मौलाना मुइनुद्दीन एवं उनके अन्य पांच सहयोगियों ने 16 अक्टूबर, 1921 को सरकारी कर्मचारियों से नौकरी का बहिष्कार करने का फतवा अजमेर में वितरित किया²⁷। परिणामस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने छः मुस्लिम नेताओं, फतवे के वितरण करने वाले स्वयंसेवकों तथा चांदकरण सारदा को सख्त सजायें दीं। चांदकरण सारदा को 7 फरवरी, 1922 को छः महीने का कठोर कारावास दिया गया²⁸। इस असमंजस की स्थिति में महात्मा गांधी ने 9 मार्च, 1922 को अजमेर की दरगाह में उलेमाओं के सम्मेलन में भाग लेकर असहयोग की तरह खिलाफत आन्दोलन का स्वरूप अहिंसात्मक बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। इस समय गांधी ने यह स्पष्ट किया कि खादी के विकास से दलितों में सुधार एवं साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित हो सकेगी²⁹।

महिलाओं की भूमिका :

चांदकरण सारदा एवं मौलाना मुइनुद्दीन के बंदी बनाये जाने के पश्चात् अजमेर में महिलाओं ने असहयोग आन्दोलन की अविरल गति बनाये रखी। चांदकरण सारदा की पत्नी सुखदा देवी ने भारतीय रमाणियों की वीरतापूर्ण परम्परा का अनुसरण करते हुए महिलाओं का भारतीय स्वाधीनता युद्ध में अपने पतियों के साथ त्याग की

भावना से भाग लेने के लिए आह्वान किया³⁰। सुखदा देवी एवं उनकी अन्य सहयोगी गोमती देवी ने महिला स्वयंसेवकों को संगठित कर खादी के प्रचार, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और शराब की दुकानों के आगे पिकेटिंग द्वारा ब्रिटिश सरकार का विरोध किया।³¹ सरकार ने आबकारी आमदनी की हानि के भय से सत्याग्रहियों की ओर दमनात्मक नीति अपनाई। इस पर भी महिला स्वयंसेवकों ने शराब की दुकानों की पिकेटिंग जारी रखी। इसमें मुस्लिम महिलाओं का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने पर्दे का बहिष्कार कर, अजमेर के बाजारों से प्रतिदिन जुलूस निकाला तथा मदिरालयों में भी प्रतिदिन धरने की व्यवस्था की³²।

ब्रिटिश षडयन्त्र : साम्प्रदायिक दंगे (जुलाई 1922) :

अजमेर-मेरवाड़ा में हिन्दू-मुस्लिम एकता से असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन के सफलतापूर्वक संचालन को निर्बल बनाने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों ने मुस्लिम सरकारी कर्मचारियों द्वारा मस्जिद के सामने बाजे का प्रश्न उठवाया तथा हिन्दू-मुस्लिम कर्मचारियों को साम्प्रदायिकता भड़काने के लिए उत्तेजित किया। परिणामतः जुलाई 1922 को जब दरगाह के सामने से भगवान जगदीश की सवारी निकली तो हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष हो गया। ब्रिटिश सेना ने दरगाह पर गोली चलाई। कुछ हिन्दू घायल हो गये तथा कुछ मारे गये। कांग्रेस के नेताओं के साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित करने के प्रयास विफल रहे। इससे मुसलमानों के राष्ट्रीय नेता मौलाना मुइनुद्दीन और उनके साथियों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। दूसरी ओर, हिन्दू और मुस्लिम सरकारी कर्मचारियों के माध्यम से सामाजिक बहिष्कार एवं साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना को प्रचलित किया गया। परिणामतः अजमेर-मेरवाड़ा में असहयोग एवं खिलाफत आन्दोलन की आधारशिला ही ध्वंस हो गयी। जगदीश प्रसाद 'दीपक' अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि, "इस दुर्घटना से अजमेर के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की शक्ति को स्थायी आघात पहुंचा³³।"

ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रेरित इन साम्प्रदायिक दंगों का प्रमुख हिन्दू और मुस्लिम कांग्रेसियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इससे साम्प्रदायिक संस्थाओं का प्रभाव बढ़ता तथा कांग्रेस का प्रभाव क्षीण होता दृष्टिगोचर हुआ। राष्ट्रवादी मिर्जा अब्दुल कादिर बेग और उनके कई सहयोगी मुस्लिम लीग में, तथा चांदकरण सारदा हिन्दू महासभा में सक्रिय हो गये³⁴। इसके साथ ही, इस समय अजमेर में आर्यसमाज में बढ़ते हुए पारस्परिक मतभेदों ने सारदा को उलझाये रखा जिसके कारण अजमेर आर्य समाज के देश भक्त कार्यकर्ताओं में शिथिलता आ गई³⁵। अजमेर-मेरवाड़ा के प्रांतीय कांग्रेस संगठन में आर्यसमाजियों का वर्चस्व क्षीण हो गया तथा इसका नेतृत्व गांधीवादी दल के हाथों में चला गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-1934) :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य के निर्णय ने अजमेर-मेरवाड़ा के कांग्रेस एवं उसके आर्य समाज के स्वयं सेवकों में गति प्रदान की। 4 जनवरी, 1930 के आर्य मार्तण्ड में प्रकाशित लेख से यह स्पष्ट था कि आर्य समाज के कार्यकर्ता वैदिक संस्कृति एवं धर्म के प्रचार पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते थे, लेकिन उनमें से कुछ कार्यकर्ता कांग्रेस द्वारा प्रदत्त भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य के आन्दोलन में भाग लेने के लिए तत्पर थे³⁶। परिणामतः 26 जनवरी, 1930 को अजमेर में प्रथम स्वतंत्रता दिवस के कांग्रेस जुलूस में आर्य समाजियों ने भाग लिया। यह जुलूस घीसीराम धर्मशाला में स्थित अजमेर कांग्रेस कार्यालय से रवाना हुआ तथा केसरगंज में गांधी चौक पर जाकर जनसभा में परिणत हुआ। इस जुलूस की व्यवस्था में आर्य समाज के मंत्री जियालाल ने राजपूताना-मध्यभारत प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष हरिभाऊ उपाध्याय को सहयोग दिया। इसी प्रकार, कांग्रेस के सक्रिय नेता दुर्गा प्रसाद चौधरी और आर्य समाज के समर्थक डी.ए.वी. हाई स्कूल में सेवारत नवयुवक अध्यापक चन्द्रगुप्त गुप्ता वाष्ण्य ने जनसभा में वन्दे मातरम् राष्ट्रीय गान गाया। उसके बाद सभा स्वाधीनता की प्रतिज्ञा के साथ विसर्जित हुई³⁷।

6 अप्रैल, 1930 को महात्मा गांधी की दाण्डी यात्रा एवं समुद्र तट पर नमक कानून तोड़ने के साथ भारत में पूर्ण स्वराज्य के उद्देश्य से सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ होने का संकेत दिया। यह आन्दोलन 7 अप्रैल, 1934 को समाप्त हुआ। अजमेर-मेरवाड़ा में अजमेर और ब्यावर नगरों और दूरस्थ गांवों में भी इसका प्रभाव पड़ा। इस आन्दोलन में कांग्रेस के नेतृत्व में आर्यसमाजियों, समाजवादियों, महिलाओं और विद्यार्थियों ने भी भाग लिया। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत आर्यसमाजियों में विशेषतया आर्य समाज के मंत्री पण्डित जियालाल, चन्द्रगुप्त वाष्ण्य, धर्मेन्द्र शिवहरे, घीसूलाल और दत्तात्रेय वाब्ले ने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। नमक कानून भंग करने के अपराध में कई आन्दोलनकारियों को कारावास की सजा दी गयी³⁸। दत्तात्रेय वाब्ले ने 1939 में कांग्रेस के प्रत्याशी के रूप में अजमेर म्यूनिसिपल के पद पर आसीन होने के उपरांत भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया³⁹। इसी प्रकार, अजमेर के आर्य समाज के मंत्री पंडित जियालाल स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय रहने के स्थान पर, वैचारिक स्तर पर अजमेर-मेरवाड़ा कांग्रेस के नेताओं को सहयोग देते रहे⁴⁰।

भारत छोड़ो आन्दोलन, 1942-43 :

महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा प्रारम्भ किये गये भारत छोड़ो आन्दोलन में अजमेर-मेरवाड़ा ने 'प्रबल सार्वजनिक' प्रतिक्रिया प्रदर्शित

नहीं की। राजपूताना राज्यों के राजनैतिक कार्यकर्ताओं का 1942 के प्रजामण्डल आन्दोलनों में भाग लेने के लिये अजमेर से गमन, अजमेर-मेरवाड़ा प्रांतीय मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियावादी नीति, ब्रिटिश सरकार का शिक्षण संस्थाओं और राष्ट्रीय समाचार पत्रों पर प्रतिबंध तथा ब्रिटिश सरकार की 9 अगस्त, 1942 से अपनायी गयी दमनात्मक नीति ने अजमेर-मेरवाड़ा प्रांतीय कांग्रेस को दुर्बल बना दिया था⁴¹।

ब्रिटिश सरकार ने 85 सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को भारतीय सुरक्षा कानून के अन्तर्गत बंदी बनाया या जेल की सजा दी। इन राजनैतिक बंदियों में समाजवादी, मजदूर संघ, आर्य समाज और कांग्रेस से सम्बन्धित अन्य राजनैतिक विचारधाराओं के कार्यकर्ता सम्मिलित थे। आर्य समाज के कार्यकर्ताओं में चन्द्रगुप्त वाष्णोय, धमेन्द्र शिवहरे, मूलचंद असावा, प्रेमचंद सोलंकी और देवदत्त मुख्य थे⁴²। स्वतंत्रता सेनानियों के त्याग, परिश्रम एवं साहस ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को शक्तिशाली बनाया। परिणामतः 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ।

अजमेर में भारतीय स्वतंत्रता दिवस समारोह, 15 अगस्त, 1947 :

15 अगस्त 1947 को आर्य समाज के वरिष्ठ सदस्य चांदकरण सारदा ने अजमेर नगर में अपने सार्वजनिक भाषण में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले क्रांतिकारियों, महात्मा गांधी एवं कांग्रेस के अन्य स्वतंत्रता सेनानियों, मजदूर और किसान संगठनों और आर्य समाज के देशभक्त कार्यकर्ताओं की महत्वपूर्ण भूमिका पर सबका ध्यान आकर्षित कराया। उन्होंने देश भक्तों के स्मरण में मैथिलीशरण की कविता के निम्नलिखित पद से अपना भाषण समाप्त किया⁴³।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं नर-पशु निरा और मृतक समान है।।

इस प्रकार आर्य समाज ने स्वामी दयानंद सरस्वती के भारत में स्वराज्य स्थापना के स्वप्न को साकार करने में सक्रिय भूमिका प्रदर्शित की। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा आर्य समाज के विचारों एवं वेदों की प्रभुत्ता में पूर्णतः आस्था नहीं रखने पर भी, भारत की स्वतंत्रता के लिये अजमेर-मेरवाड़ा के आर्य समाज ने उसको सहयोग दिया तथा इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त की। इससे यह स्पष्ट है कि आर्य समाज ने अजमेर-मेरवाड़ा में स्वतंत्रता संग्राम में नेतृत्व प्रदान कर राजनैतिक परिवर्तन में अधिक सक्रियता प्रदर्शित की। अतः आर्य समाज ने सामाजिक सुधारों से अधिक विदेशी साम्राज्य को भारत में समाप्त करने को महत्वपूर्ण समझा।

संदर्भ

1. के.सी. यादव एवं के.एस. आर्य, आर्य समाज एण्ड द फ्रीडम मूवमेंट, मनोहर, नई दिल्ली, 1988, पृ.174-76

2. भवानी लाल भारतीय, देश भक्त कुंवर चांद करण शारदा, श्रीमती परोपकारणी सभा, अजमेर, 1981, पृ. 6-7य सत्यदेव शास्त्री, द्वसम्पादक, देश भक्त श्री कुंवर चांदकरण जी सारदा, सारदा अभिनन्दन पुस्तिका, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1948, पृ. 52-53
3. सुमित सरकार, मार्डन इंडिया 1885-1947, मैकमिलन, 1982, पृ. 144-145
4. ठाकुर सुरजन सिंह शेखावत, खरवा का वृहद इतिहास, प्रकाशक-रावचन्द्र सेन, खरवा, 1998
5. के.एस. सक्सेना, राजस्थान में राजनैतिक जागरण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1983, पृ. 59
6. शेखावत, पूर्वोक्त, पृ. 131-140
7. भारतीय, पूर्वोक्त, पृ. 7
8. हरिप्रसाद अग्रवाल, राजस्थान की आजादी के दीवाने, ब्यावर, 1953, पृ. 20
9. जगदीश प्रसाद 'दीपक', स्वाधीनता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास (पाण्डुलिपि) फाईल नं. 41-43, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन क्षेत्र 4 एवं 5, प्राइवेट पेपर्स, भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली, पैरा 17 पृ. 14
10. भारतीय, पूर्वोक्त, पृ. 6
11. सत्यदेव शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ. 7
12. वही, पृ. 52-3य जगदीश प्रसाद दीपक, पूर्वोक्त, पैरा 17, पृ. 14
13. जगदीश प्रसाद दीपक, पूर्वोक्त, पैरा 20, पृ. 17य भारतीय, पूर्वोक्त, पृ. 10
14. जगदीश प्रसाद दीपक, पूर्वोक्त, पैरा 17, पृ. 14
15. वही
16. वही, पैरा 20, सत्यदेव, पूर्वोक्त, पृ. 53
17. सत्यदेव, पूर्वोक्त, पृ. 53
18. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 21, पृ. 18
19. वही, पैरा 25, पृ. 12
20. चांदकरण सारदा मंत्री, प्रांतीय कांग्रेस कमेटी, अजमेर का संदेश देखिये, इन्दिरा व्यास, फ्रीडम मूवमेंट इन राजस्थान विद स्पेशल रेफरेन्स टू अजमेर-मेरवाड़ा, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर, 2003, परिशिष्ट - 5
21. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 10, पृ. 8
22. वही, पैरा 25, पृ. 12
23. वही, पैरा 28, पृ. 24
24. क्लक्टेड, वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, भाग 22, पृ. 498-499
25. वही
26. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 26, पृ. 23

27. क्रम संख्या 908, फाईल नं. 1145, 1921-24, पेड नं. 56, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 29, पृ. 25-26
28. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 29, पृ. 25-26
29. क्लक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, भाग 23, पृ. 64, 86-87
30. व्यास, पूर्वोक्त, परिशिष्ट 6
31. भारतीय, पूर्वोक्त, पृ. 9-10
32. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 29, पृ. 26
33. वही, पैरा 36, पृ. 30
34. वही, पैरा, 74, पृ. 54-55
35. बु) प्रकाश आर्य, आर्य समाज अजमेर का इतिहास, आर्य समाज, अजमेर, 1993, पृ. 102-118
36. जयदेश शर्मा विद्यालंकार, "कांग्रेस और आर्य समाज - ध्येय मत भूलो", आर्य मार्तण्ड अजमेर, भाग 7, अंक 41, 4 जनवरी, 1930, पृ. 3-4
37. चन्द्रगुप्त वाष्णैय, "अजमेर में प्रथम स्वाधीनता दिवस का शानदार समारोह," राजस्थान पत्रिका, 26 जनवरी, 1990, पृ. 15
38. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 87-90, बु) प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. 198
39. चमनलाल रैना, नो रिग्रेट्स, पृ. 22-25
40. वही, पृ. 22 सूर्य देव शर्मा एवं सतीश वर्मा, सेवा और संघर्ष, जियालाल स्मारक समिति, अजमेर, पृ. 84-90
41. जगदीश, पूर्वोक्त, पैरा 110, पृ. 45, रामनारायण चौधरी, आधुनिक राजस्थान का उत्थान, राजस्थान प्रकाशसन मण्डल, अजमेर 1967, पृ. 167
42. 1942 के आन्दोलन में अजमेर-मेरवाड़ा में बंदी बनाये जाने वाले सत्याग्रहियों की सूची, दिनांक 21 अगस्त, 1942 भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन क्षेत्र 4 एवं 5, प्राइवेट पेपर्स, भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली
43. 15 अगस्त, 1947 के प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर श्री चांदकरण शारदा के भाषण का सार। देखिये, भारतीय, पूर्वोक्त, पृ. 35-41; व्यास पूर्वोक्त, पृ. 149

मेवात अंचल में किसान आन्दोलन

(नीमूचाणा हत्याकाण्ड 1925 ई. के विशेष संदर्भ में)

कैलाश चन्द सैनी एवं डॉ. फूलसिंह सहारिया

भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना ने परंपरागत सामंती ढाँचे को तोड़कर सामंतवाद के स्वरूप को विकृत कर दिया देशी रियासतों के शासकों व सामंतों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मध्य अहम अपवित्र तथा स्वार्थपूर्ण गठबंधन हुआ। जनवरी, 1818 के पश्चात् अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्य विस्तार की नीति के तहत देशी शासकों से स्वार्थपूर्ण संधियों की परिणामस्वरूप 1818 ई. के अन्त तक सिरोही को छोड़कर संपूर्ण राजस्थान में अंग्रेजी हुकूमत कायम हो चुकी थी। इन संधियों से देशी शासक व जागीरदार अंग्रेजों की कृपा प्राप्त करने व अपनी फिजूलखर्ची के लिए किसानों व अपनी प्रजा का शोषण करने लगे तथा अंग्रेजों को भारी धन देने लगे। भूराजस्व इनकी आय का मुख्य स्रोत था अतः इस शोषण के सर्वप्रथम शिकार किसान हुए। परिणामस्वरूप किसानों एवं आदिवासियों के नेतृत्व में मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, बूँदी, बीकानेर, अलवर, भरतपुर आदि क्षेत्रों में विभिन्न किसान एवं आदिवासी आन्दोलन उत्पन्न हुए।

मेवात अंचल काफी बड़े भू-भाग में फैला हुआ है। भौगोलिक रूप से मेवात अंचल में राजस्थान के सिंहद्वार अलवर की अलवर, लक्ष्मणगढ़, रामगढ़, गोविन्दगढ़, तिजारा, किशनगढ़ तहसीलों, भरतपुर जिले की नगर पहाड़ी, कामाँ तहसीलों तथा हरियाणा के गुडगाँव जिले की नूँह, फिरोजपुर झिरका, पून्हाना, हथीन, सोहना, तावडू आदि क्षेत्र आते हैं। इस क्षेत्र में मेव किसानों का बाहुल्य है। स्थानीय शासकों व सामंती तत्वों द्वारा शोषण व ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण व शोषणकारी नीतियों के फलस्वरूप मेवात क्षेत्र में विभिन्न किसान आन्दोलन हुए जिनमें नीमूचाणा आन्दोलन (1925 ई.), मेव किसान आन्दोलन (1932-33 ई.), भरतपुर में लम्बरदार व पटेलों का आन्दोलन, 1933 ई. में भरतपुर के मेव किसानों का आन्दोलन, भरतपुर प्रजा परिषद एवं अन्य संगठनों के नेतृत्व में बेगार विरोधी आन्दोलन प्रमुख रहे। मेवात के किसान आन्दोलन इतने प्रबल थे कि इन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवादी एवं स्थानीय सामंती शक्तियों की नींव हिलाकर रख दी।

मेवात के किसान आन्दोलनों में अलवर रियासत के नीमूचाणा आन्दोलन (1925 ई.) का विशेष महत्व है। यह आन्दोलन एक वर्ग विशेष द्वारा अपने हितों के लिए किया

गया था जबकि अन्य दूसरे आन्दोलन कृषकों की प्रगति तथा उनके हितों के लिये किये गये थे।¹ 1925 ई. में अलवर रियासत में 25 निजामतें थीं—अलवर, राजगढ़, तिजारा, रामगढ़, बहरोड़, किशनगढ़, लक्ष्मणगढ़, मुण्डावर, बानसूर व थानागाजी।²

यह आन्दोलन समान लगान व्यवस्था के विरोध में केवल दो निजामतो थानागाजी तथा बानसूर में हुआ था।³ ब्रिटिश सरकार ने अलवर रियासत में 1876 ई., 1899 ई. तथा 1922 ई. में तीन भूमि बन्दोबस्त लागू किये। दूसरे भूमि बन्दोबस्त द्वारा थानागाजी व बानसूर निजामतों के राजपूतों तथा ब्राह्मणों को अन्य जातियों की तुलना में कम भूराजस्व दिये जाने का विशेषाधिकार प्राप्त था जिसे तीसरे भूमि बन्दोबस्त द्वारा समाप्त कर लगान की समान व्यवस्था लागू की। अतः राजपूतों में असंतोष व्याप्त हो गया तथा उन्होंने अंग्रेजों को नई दरों पर लगान देने से इंकार कर दिया तथा इसके विरोध में आन्दोलन प्रारंभ कर दिया।⁵ महाराजा जयसिंह ने इस विद्रोह में किसी बाहरी एजेन्सी का हाथ होने का संदेह व्यक्त किया।⁶ टाइम्स ऑफ इण्डिया ने 1922 ई. के नये भूमि बन्दोबस्त को इस विद्रोह के लिए जिम्मेदार ठहराया।⁷

थानागाजी व बानसूर के राजपूत विश्वेदारों ने नई दरों पर भू-राजस्व के विरोध में अक्टूबर 1924 ई. से उनके गांवों छीत्रभुज (जयपुर रियासत), श्यामपुरा, कल्याणसागर, खेरा, बीजापुरा, बासु, अंगोवास आदि में किसान सभाएं आयोजित की।⁸ माधोसिंह व गोविन्दसिंह इस विद्रोह के प्रमुख नेता थे।⁹ जनवरी, 1925 में दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा के अधिवेशन में अलवर रियासत के करीब 200 राजपूत काश्तकारों ने सम्मिलित होकर अपनी मांगें रखी तथा 'पुकार' नामक शीर्षक से पर्चा भी निकाला।¹⁰ इन नेताओं द्वारा एक मांग पत्र भी तैयार किया गया जिसमें मुख्य मांगें थी :- भू-राजस्व की दर कम की जाए, राजपूतों को दूसरे भूमि बन्दोबस्त में प्राप्त विशेषाधिकार पुनः लौटाये जाए, सुरक्षित जंगलों के चारागाहों में पशु भेजने वाले कृषकों से ही चराई कर की वसूली की जाए, नई संधे (शिकारगाह) बनाने पर रोक, जंगली जानवरों को मारने की अनुमति, मंदिरों को माफी में दान की गई भूमि को जब्त न किया जाये। इन मांगों को एजेण्ट टू गवर्नर जनरल इन राजपूताना के समक्ष रखा गया।¹² किसान सभाओं में यह भी घोषणा की गयी कि भविष्य में कोई लगान नहीं दिया जायेगा तथा किसान जबरदस्ती अनाज खलिहान से अपने घर ले गये।¹³

राज्य सरकार ने स्थिति का अवलोकन करने तथा राजपूतों को समझाने के लिए 7 मई, 1925 ई. को एक आयोग भेजा जिसमें लाला गोपालदास खत्री इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस व राय बहादुर ओझा इंस्पेक्टर शिक्षा विभाग थे।¹⁴ परंतु अलवर राज्य सरकार ने इस कमीशन की रिपोर्ट को नकारते हुए लगान में किसी भी प्रकार की रियायत

नहीं दी।¹⁵ अतः किसानों की मांगों ने आन्दोलन का स्वरूप ले लिया तथा लोगो ने विद्रोह के लिए हथियार एकत्रित करने प्रारंभ कर दिये।¹⁶ परिस्थितियों को मद्देनजर रखते हुए अलवर के प्रधानमंत्री ने 6 मई, 1925 को एक आदेश जारी कर एक माह की अवधि तक बानसूर, नारायणपुर, थानागाजी, राजगढ़, मालाखेड़ा तथा बहरोड़ के थाना क्षेत्रों में किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह पर हथियारों सहित घूमने पर पाबंदी लगा दी तथा सभा करने पर भी पाबंदी लगा दी।¹⁷

मई, 1925 ई. के आरंभ में लगभग 60 से 800 ठाकुर व राजपूत कृषक ब्रिटिश सेना का सशस्त्र मुकाबला करने के संकल्प के साथ नीमूचाणा में एकत्रित हुए। इन्होंने किसानों को एकत्रित करने के लिए माँ दुर्गा नाम के पर्चे भी बाँटें।¹⁸ 13 मई 1925 ई. को ब्रिटिश सरकार द्वारा एक सैन्य टुकड़ी नीमूचाणा (तहसील बानसूर) भेज दी गई। इस सेना ने सारे पानी के कुओं पर अधिकार कर लिया तथा गाँव को घेर लिया।¹⁹ 14 मई, 1925 ई. को जनरल छाजूसिंह के आदेश पर बिना कोई चेतावनी दिये सेना ने मशीनगनों से विद्रोहियों पर गोली चलाना प्रारंभ कर दिया तथा पूरे गाँव को जलाकर राख कर दिया। इस गोलीकाण्ड में लगभग 50 आदमी मारे गये, 100 घायल हुए, 60 पशु मारे गये तथा 144 घर जल गये।²⁰ भगवानदास केला के अनुसार बर्बरता के इस तांडव में 42 मिनट तक मशीनगन चली। सेना ने औरतों, बच्चों व जानवरों को भी नहीं छोड़ा। कई लोग व पशु जल मरे। यहाँ तक कि घरों में छिपे लोगों को भी बाहर निकालकर पीटा गया।²¹ शोभालाल गुप्ता के अनुसार इस काण्ड में 19 व्यक्ति मारे गये, 18 घायल हुए, 9 लापता हुये, 355 झौंपड़ियां नष्ट हुईं, 71 पशु जल गये तथा लगभग 1 लाख रुपये की संपत्ति नष्ट हुई।²²

नीमूचाणा काण्ड के 27 दिन बाद 10 जून को अलवर महाराजा ने टाइम्स ऑफ इण्डिया को बयान दिया कि "इस घटना में नीमूचाणा की हिंसक भीड़ को तितर-बितर करने के लिए बारूद की वजह से कुछ घर जल गये, 33 नेताओं को गिरफ्तार किया गया तथा भारी मात्रा में गोलाबारूद बरामद हुआ, दो लोग मारे गये, चार घायल हुये तथा एक बाद में मारा गया।²³ सभी प्रमुख समाचार पत्रों ने इस घटना की निंदा करते हुए इसे 'नीमूचाणा हत्याकाण्ड' शीर्षक से प्रकाशित किया। रियासत समाचार-पत्र ने इसकी तुलना जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड से की।²⁴ महात्मा गाँधी ने 'यंग इण्डिया' समाचार पत्र में टिप्पणी करते हुए कहा कि "अब तक जो बातें प्रकाशित हुई हैं, यदि वे सच हैं तो उसे 'दोहरी डायरशाही' ही समझना चाहिए।²⁵ यद्यपि बीकानेर अभिलेखागार की इस काण्ड से सम्बन्धित फाइल नं. 315 जे./23 से तत्कालीन समाचार पत्रों द्वारा प्रकाशित घटनाओं की पुष्टि नहीं होती है फिर भी यह गोलीकाण्ड अलवर रियासत का एक काला अध्याय है।

नीमूचाणा काण्ड के विरोध में 18 जून को मारवाड़ी विद्यालय में सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया जिसमें निन्दा प्रस्ताव पास करने एवं स्वतंत्र कमेटी द्वारा इस काण्ड की जाँच की माँग की गई।²⁶ राजस्थान सेवा संघ ने इस काण्ड की जाँच के लिए कन्हैयालाल कलंत्री, लादूराम जोशी और हरिभाई किंकर के नेतृत्व में एक कमेटी का गठन किया।²⁷ इस कमेटी ने इस मामले की पूरी जाँच की तथा इसकी पूरी कहानी को 31 मई, 1925 ई. को तरुण राजस्थान के अंक में प्रकाशित किया।²⁸ मणिलाल कोठारी की अध्यक्षता में इस काण्ड की जाँच हेतु एक अन्य कमेटी गठित की गई जिसका सचिव रामनारायण चौधरी को बनाया गया। इस कमेटी की रिपोर्ट नीमूचाणा काण्ड में मृतकों की संख्या 95 थी और 200 व्यक्ति घायल हुए।²⁹ कांग्रेस अपनी देशी राज्यों में अहस्तक्षेप की नीति के चलते इस हत्याकाण्ड पर मौन रही किन्तु कानपुर अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने एक प्रस्ताव तैयार कर नीमूचाणा की अमानवीय घटनाओं पर खेद प्रकट किया तथा शोकसंतप्त पीडित रियासती जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट की।³⁰

नीमूचाणा काण्ड में 39 लोगों को गिरफ्तार कर जेल भेजा गया।³¹ महाराजा जयसिंह ने 11 जून, 1925 ई. को एक जाँच कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में जनरल छाजूसिंह अध्यक्ष, रामचरण लाल सिविल जज और ठाकुर सुल्तानसिंह नाहरपुर को सदस्य तथा अलवर जेल के प्रबंधक पण्डित हरबकश को विशेष जज नियुक्त किया।³² विशेष कमीशन ने नीमूचाणा केस की सुनवाई एक महीने में पूरी करते हुए 8 जुलाई, 1925 को 9 लोगों को सबूतों के अभाव में दोषमुक्त करते हुए 30 लोगों को विभिन्न अवधि की सजाएँ सुनाई।³³ माधवसिंह व गोविन्दसिंह को 20 साल की सजा व अमरसिंह को 10 साल की सजा सुनाई गई।³⁴ सरकार द्वारा पीडित लोगों को आर्थिक सहायता भी दी गई जिन परिवारों को मानव हानि उठानी पड़ी उन्हें कुल 129 रुपये की वित्तीय सहायता की तथा संपत्ति के नुकसान के लिए 63 लोगों को 11000 रुपये की आर्थिक सहायता दी गई।³⁵ ब्रिटिश सरकार ने इस घटना को अलवर रियासत की स्थानीय घटना मानते हुए इसमें हस्तक्षेप करने से मना कर दिया।³⁶

अलवर के महाराजा ने 1 अगस्त, 1925 ई. को 13 लोगों को माफी मांगने तथा भविष्य में किसी भी दंगे में शामिल नहीं होने के लिखित आश्वासन पर छोड़ दिया।³⁷ बाकी नेताओं को 3 जनवरी को रिहा कर दिया गया।³⁸ महाराजा जयसिंह ने अपनी सिल्वर जुबली पर ठाकुर माधोसिंह, गंगासिंह व अमरसिंह को भी रिहा कर दिया।³⁹ महाराजा ने स्वयं नीमूचाणा का दौरा कर 18 नवम्बर, 1925 को आदेश जारी किया कि 1922 के बन्दोबस्त की अवधि समाप्ति तक पुराने बन्दोबस्त के अनुसार ही राजस्व लिया जाएगा।

किसान आन्दोलन के इतिहास में मेवात अंचल के नीमूचाणा के किसान आन्दोलन व नीमूचाणा हत्याकाण्ड का विशेष महत्त्व है। नीमूचाणा हत्याकाण्ड ने राजाओं की निरंकुशता और अत्याचारों के प्रति रियासती जनता में तीव्र रोष और असंतोष उत्पन्न किया। अलवर के महाराजा को भी इसका परिणाम भुगतना पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें रियासत से निर्वासित कर दिया जहाँ कालांतर में 1937 ई. में पेरिस में उनका निधन हो गया। नीमूचाणा के अमानविक हत्याकाण्ड ने जनरल डायर द्वारा किये गये जलियावाला बाग हत्याकाण्ड की यादें ताजा कर दी। इसी कारण नीमूचाणा हत्याकाण्ड को “दूसरा जलियावाला बाग हत्याकाण्ड” की संज्ञा दी जाती है।

इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण मेवात अंचल को प्रभावित किया तथा मेव किसानों में व्यापक चेतना जागृत की। इस आन्दोलन ने मेवात क्षेत्र के किसानों की समस्याओं को उजागर किया तथा किसानों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य धारा से जोड़ने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि 1922 ई. से 1942 ई. के मध्य मेवात क्षेत्र में किसान आन्दोलन अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर थे जबकि इस अवधि में राजस्थान को छोड़कर ब्रिटिश भारत में किसी प्रकार के जन आन्दोलन नहीं चल रहे थे। प्रारंभ में ये किसान आन्दोलन स्वतः स्फूर्त तथा स्थानीय थे किन्तु कालांतर में अत्यधिक संगठित होकर प्रजामण्डलों के माध्यम से मुख्य राष्ट्रीय धारा से जुड़ गये। इन्होंने सदियों पुराने सामंतवाद को चुनौती देते हुए स्वतन्त्रता संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया।

संदर्भ

1. फा. नं. 315 जे/23, पृ. 16, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर
2. डायरेक्टरी ऑफ अलवर स्टेट, पृ. 21 जो धाबाई किशनलाल से प्राप्त हुई।
3. शर्मा, बृजकिशोर, पीजेण्ट मूवमेण्ट इन राजस्थान, पृ. 270.
4. शर्मा, बृजकिशोर, राजस्थान में किसान एवं आदिवासी आन्दोलन, पृ. 175, 176
5. फा.नं. 315 जे/23, पृ. 16, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
6. फा. नं. 135 जे./23, पृ. 143, नीमूचाणा केस, 1925, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
7. (i) टाइम्स ऑफ इण्डिया, 12 जून, 1925 ई.
(ii) फाईल नं. 315 जे/23, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
8. (i) फाईल नं. 741 एफ./23, अलवर जागीर रिकॉर्ड, 1825, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
(ii) पेमारांम, एग्रेरियन मूवमेण्ट इन राजस्थान, पृ. 240
9. फा. के. 315 जे/23, वृ. 134, 135, नीमूचाणा केस 1925, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।

10. फा. नं. 315 जे/23 की पृ. 134, नीमूचाणा केस, 1925, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
11. फा. नं. उपरोक्त, पृ. 134, 135, परिशिष्ट 10.
12. फा. नं. 315 जे/23, नीमूचाणा केस 1925, पृ. 134, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
13. फा. नं. उपरोक्त का पत्र, दि. 31 अगस्त, 1925, नीमूचाणा काण्ड के कैदियों का बयान, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
14. (i) फा. नं. 315 जे/25, पृ. 19, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर
(ii) राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस, उदयपुर सेशन, 1969, पृ. 124 से 128
15. तरुण राजस्थान, 31 मई, 1925 ई.
16. फा. नं. 135 जे/25, पृ. 2, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
17. फा. नं. 315 जे/23, अलवर ज्यूडिशियल रिकॉर्ड, 1925, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर
18. (क) फा. नं. 315 जे/23, अलवर ज्यूडिशियल रिकॉर्ड, 1925 राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
(कक) पेमाराम, एगोरियन मूवमेण्ट इन राजस्थान (1913-1947 ई.) पृ. 243
19. तरुण राजस्थान, 31 मई, 1925 ई.
20. (क) तरुण राजस्थान दिनांक 31 मई, 4 दिसम्बर, 1925, 14 जून, 1926
(क) अभयंकर, जी आर., प्रॉब्लम्स ऑफ इण्डियन स्टेट्स पूना, 1928, पृ. 404
21. भगवानदास केला, देशी राज्यों की जनजागृति, पृ. 213
22. शोभालाल गुप्ता, गांधीजी और राजस्थान, पृ. 35
23. (i) फा. नं. 315 जे/23, पृष्ठ 18, रा.रा.अभिलेखागार, बीकानेर
(ii) टाइम्स ऑफ इण्डिया, 12 जून, 1925 ई.
24. रियासत 14 जनवरी, 1928 ई.
25. (i) चौ. रामनारायण, बीसवीं सदी का राजस्थान, पृ. 96
(ii) गुप्ता, शोभालाल, गाँधीजी और राजस्थान, पृ. 57
26. जी.आर. अभयंकर, प्रॉब्लम्स ऑफ इण्डियन स्टेट्स, पृ. 410
27. चौ. रामनारायण, बीसवीं सदी का राजस्थान, पृ. 95
28. शर्मा, डॉ. बृजकिशोर, राजस्थान में किसान एवं आदिवासी आन्दोलन, पृ. 179
29. भगवान केला, देशी राज्यों में जनजागृति, पृ. 215
30. (i) चौ. रामनारायण, बीसवीं सदी का राजस्थान, पृ. 96
(ii) गुप्ता शोभालाल, गाँधीजी और राजस्थान, पृ. 55

31. ज्यूडिशियल रिकॉर्ड, फाइल नं. 315 जे/23, 1925, रा.रा. अभिलेखागार, अलवर
32. फा. नं. 315 जे/23, पत्र नं. 114 की दिनांक 11 जून, 1925 पत्र नं. 964, दि. 10 जून, 1925, पृ. 47, 34
33. ज्यूडिशियल रिकॉर्ड फा नं. 315 जे/23, 1925 राजस्थान राज्य अभिलेखागार, अलवर।
34. फाइल नं. उपरोक्त पृ. 98
35. ज्यूडिशियल रिकॉर्ड फा. नं. 315 जे/23, 1925, रा.रा.अभि. अलवर
36. फा. नं. 315 जे/23, पृ. 154
37. डॉ. पेमाराम, एगोरियन मूवमेण्ट इन राजस्थान, पृ. 244
38. (i) फा. नं. 315 जे/23, पृ. 59, रा.रा.अभि. अलवर
(ii) महाराजा जयसिंह की आज्ञा, 3 जनवरी, 1926
39. गहलोट जगदीश सिंह, जयपुर व अलवर राज्य का इतिहास, पृ. 285
39. अलवर ज्यूडिशियल रिकॉर्ड, फा. नं. 315 जे/23, 1925 रा.रा. अभि. अलवर

महाराजा सूरजमल के उत्तराधिकार-निर्धारण विषयक कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य-एक पुनरावलोकन

प्रो. शिव कुमार भनोत

महाराजा सूरजमल भारतीय इतिहास के ऐसे जगमगाते और देदीप्यमान सितारे रहे हैं जिनका सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्त्व असमानान्तर है। सर्वथा प्रतिकूल और विषम परिस्थितियों में भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन पूर्ण मनोयोग से सजगता एवं सतर्कतापूर्वक कर पाने में सफल सिद्ध हुए इस इतिहास पुरुष ने जहां साम्प्रदायिक कट्टरता से लोहा लिया वहीं देश की चिरसंचित संस्कृति की रक्षा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी।

मुगल दरबारी लेखकों, फारसी इतिहास स्रोतों और उन्हें आधार बना कर इतिहास लिखने वाले अंग्रेज इतिहासकारों ने सर्वथा गलत तरीके से महाराजा सूरजमल की छवि को विपत्तिग्रस्तों को लुटने वाले, ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्त्व के भवनों को तोड़ने वाले और मराठों का साथ नहीं देने वाले व्यक्ति के रूप में उभारी है जबकि उपलब्ध तथ्यों और साक्ष्यों का निष्पक्ष रूप से विश्लेषण करने पर उनकी छवि राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक उद्धारकर्ता के रूप में मुखरित होकर सामने आती है और यही एक ऐतिहासिक सच्चाई है। वस्तुतः उनके जीवन का एक बड़ा भाग ऐसी योजनाओं को बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने के प्रयासों में व्यतीत हुआ था जिनसे उत्तरी भारत के कृषक व खेतीहर वर्ग तथा अन्य गरीब वर्गों को देशी राज्य शक्तियों और अफगान आक्रान्ताओं के दमन और संहार से मुक्ति मिल सके। इंसानियत के शत्रु आतताइयों से टकराने में रंच मात्र भी संकोच नहीं करने वाले महाराजा सूरजमल ने जहाँ हिन्दू संस्कृति की रक्षा की¹ वहीं इस्लामिक-संस्कृति के संरक्षण में भी अपना योगदान दिया।²

महाराजा सूरजमल के नेतृत्व में भरतपुर के नवोदित जाट राज्य ने उत्तरी भारत के राजनीतिक रंगमंच पर अपनी एक विशिष्ट स्थिति बना ली थी। उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश राज में विलय से पूर्व भरतपुर का जाट राज्य उत्तर में गुड़गांव, उत्तर पूर्व में मथुरा, पूर्व में आगरा, दक्षिण में धौलपुर व करौली, दक्षिण-पश्चिम में जयपुर तथा पश्चिम में अलवर राज्यों से घिरा था। इसका क्षेत्र उत्तर से दक्षिण में 76 मील लम्बा और पूर्व से पश्चिम में 48 मील चौड़ाई में फैला था।³ उस समय इसका क्षेत्रफल

1974 वर्गमील, जनसंख्या 65 लाख और राजस्व 21 लाख रुपया सालाना था।⁴ 18वीं सदी में जाटों के चार प्रमुख क्षेत्र थे - पंजाब⁵, उत्तर प्रदेश के उत्तरी व पश्चिमी जिले, भरतपुर प्रदेश तथा आगरा के दक्षिण में चम्बल तक और उसके पार ग्वालियर तक का प्रदेश।⁶ इनमें से आगरा के पश्चिम में भरतपुर का प्रदेश वह क्षेत्र था जहाँ हिन्दुस्तान के प्रथम जाट राज्य की स्थापना हुई थी और महाराजा सूरजमल यहीं के प्रतापी नरेश हुए। प्राचीन समय में यह ब्रजमण्डलीय भूभाग शूरसेन जनपद एवं मत्स्य देश के साथ विभाजित था।⁷ कालान्तर में जाट बाहुल्य क्षेत्र हो जाने के कारण इसे "जटवाड़ा" भी कहा जाने लगा था।⁸

परिश्रमी कृषक और निर्भीक योद्धा जाति में रूप में पहचाने जाने वाले जाटों⁹ ने सिन्ध, पंजाब, राजपूताना और गंगा के दौआब के पश्चिमी हिस्से में कृषि वर्ग के आधार स्तम्भ का निर्माण किया¹⁰, यह एक असंदिग्ध सत्य है। वंशानुगत अधिकारों के प्रति कम लगाव रखने वाली यह जाति प्रजातांत्रिक मूल्यों को तरजीह देती रही है।¹¹ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समर्थक और प्रकृति से हठी¹² इस जाति के अपने सामाजिक रीति-रिवाज रहे हैं जो इन्हें उच्च जातियों में शुमार करते हैं।¹³

भरतपुर के जाट राज्य के वास्तविक संस्थापक महाराजा सूरजमल के पिता बदनसिंह थे परन्तु इसे उत्तरी भारत के इतिहास के केन्द्रीय क्षीतिज में लाने का श्रेय महाराजा सूरजमल को ही जाता है। उल्लेखनीय है कि थून की विजय के बाद चूड़ामन की जर्मीदारी और जाटों का नेतृत्व बदनसिंह को प्राप्त हुआ था। 23 नवम्बर, 1722 ई. को बदनसिंह ने स्वयं को जयपुर दरबार का सामन्त बना दिया और सवाई जयसिंह की मार्फत शाही अधीनता स्वीकार कर ली थी।¹⁴ बदनसिंह ने नवगठित जाट राज्य की राजधानी थून के स्थान पर डीग को बना दिया। यद्यपि, सवाई जयसिंह ने बदनसिंह को राजा (ब्रजराज) की उपाधि से सम्मानित किया था किन्तु, शाही मान्यता के अभाव में उन्होंने अपने को ठाकुर कहलवाना ही पसन्द किया था।¹⁵ जयसिंह ने, जो उस समय आगरा का सूबेदार था¹⁶, बदनसिंह को नगाड़ा, निशान और पचरंगी झण्डे के प्रयोग की अनुमति तथा आगरा कस्बे की कोतवाली प्रदान की।¹⁷ इसके अलावा उसे मथुरा, वृन्दावन, महावन, हिसार, छाता, कोसी व होडल इत्यादि परगने जिनकी कुल राजस्व आय 50-60 लाख रुपये थी, जागीर में भी दिये गये।¹⁸ 19 जून, 1725 ई. को हुए समझौते के अनुसार बदनसिंह ने जयसिंह को प्रतिवर्ष 83,000 रुपये पेशकश देना भी स्वीकार किया।¹⁹ इस प्रकार बदनसिंह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मुगलों से मान्यता प्राप्त व्यवस्थित और शांत जाट राज्य की संस्थापना करना था। उसने विजयों की अपेक्षा राज्य के शांतिपूर्ण विस्तार और सुदृढ़ीकरण की नीति में अधिक विश्वास किया।²⁰ अधिकांश जाट सरदारों ने बदनसिंह के नेतृत्व में अपनी आस्था प्रकट कर दी थी। उसने जाट-कछवाहों की पुश्तैनी शत्रुता को घनिष्ठ मैत्री में परिवर्तित कर दिया।

बदनसिंह ने सवाई जयसिंह के प्रति पूर्ण निष्ठाभाव दर्शाया तो बदले में जयसिंह ने भी उन्हें सम्मान व मैत्रीभाव दिया।²¹ 1 मार्च, 1731 ई. को जयसिंह द्वारा मथुरा में बदनसिंह को 'राव' का खिताब दिये जाने²² और जयसिंह के बदनसिंह के डीग स्थित डेरे पर जाते रहने के उल्लेख भी मिलते हैं²³ जो दोनों के मध्य की प्रगाढ़ता को दर्शाते हैं।

डीग में सुदृढ़ दुर्ग व महलों के निर्माण, कुम्हेर और वैर में नये दुर्गों के निर्माण और वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा बदनसिंह ने अपनी स्थिति को काफी सुदृढ़ बना लिया था।²⁴ कई इजारे और राहदारी अधिकार हासिल कर उन्होंने अपनी स्थिति को और अधिक मजबूत बना लिया था।²⁵ परन्तु, यह भी एक सत्य है सैन्य दृष्टि से बदनसिंह का कोई विशेष योगदान नहीं रहा। जाट शक्ति के सौभाग्य से उनकी सैन्य कमान उसके ज्येष्ठ एवं योग्यतम पुत्र सूरजमल के हाथों में रही, जिसने अपने पिता के शासनकाल में और बाद में जाटों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर अनेक स्वतंत्र सैन्य गतिविधियों का सफल संचालन किया। इस दृष्टि से बदनसिंह की राजकार्य से निवृत्ति से काफी पूर्व ही जाट राज्य के शासन की बागडोर अप्रत्यक्ष रूप से सूरजमल के हाथों में आ चुकी थी। सूरजमल ने युक्तिपूर्वक मेवात के इलाके में अपना वर्चस्व स्थापित कर²⁶, 1729 के माण्डू युद्ध में जयसिंह के पक्ष में मराठों के विरुद्ध भाग लेकर²⁷ अपनी स्थिति को सशक्त बना लिया था। 27 मई, सन् 1741 ई. को बख्तसिंह राठौड़ और जयसिंह के मध्य हुए गंगवाना²⁸ के युद्ध²⁹ में जयसिंह की ओर से जाटों ने भी भाग लिया था।³⁰ समकालीन स्रोत "दस्तूर-कौमवार" से इस बात की सम्पुष्टि होती है कि जाट सेना ने इस युद्ध में सूरजमल के नेतृत्व में ही भागीदारी निभाई थी।³¹

लगभग सभी समसामयिक स्रोतों से इस तथ्य की सम्पुष्टि होती है कि कुछ वर्ष शासन करने के उपरान्त दुःसाध्य नेत्र रोग³² से पीड़ित हो जाने के कारण बदनसिंह ने शासन-सूत्र अपने पुत्र सूरजमल को सौंप कर राजकार्यों से निवृत्ति ले ली थी।³³ अपने पिता बदनसिंह की मृत्यु के उपरान्त सूरजमल ही इस जाट राज्य का उत्तराधिकारी बना और उसने अपने जाट राज्य को एक स्वतंत्र राज्य का गरिमापूर्ण स्थान दिलाते हुए डीग के स्थान पर भरतपुर को राज्य की नई राजधानी के रूप में संस्थापित किया और इसके सशक्तिकरण, सुदृढ़ीकरण तथा विस्तार में पूर्ण मनोयोग से संलग्न हो गया।

इस शोध पत्र का मुख्य ध्येय महाराज सूरजमल के उत्तराधिकार को लेकर प्रचलित मत-मतान्तरों का सूक्ष्म अन्वीक्षण कर अपने भाइयों के मध्य उनकी वास्तविक स्थिति, राज्याधिकार पिता बदनसिंह द्वारा उन्हें ही प्रदान किये जाने विषयक वास्तविक कारणों और तत्सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पुनरावलोकन कर उन्हें पुनर्व्याख्यायित करना है ताकि इस विषय में एक तर्कसंगत, सही और यथार्थ की कसौटी पर खरे उतरते निष्कर्ष तक पहुंचा जा सके।

समसामयिक स्रोत-सामग्री का अध्ययन करने पर हमें यह विदित होता है कि बदनसिंह के हरम में अनेक स्त्रियां थीं। उनके 20 पुत्र थे।³⁴ उनके पुत्रों में सूरजमल और प्रतापसिंह सर्वाधिक योग्य एवं ख्यातिप्राप्त थे। यद्यपि इन दोनों में से सूरजमल के ज्येष्ठ होने के उल्लेख देखने को मिलते हैं³⁵, तथापि हमें यह तथ्य भी देखने को मिलता है कि बदनसिंह का अपने दूसरे पुत्र प्रतापसिंह के प्रति विशेष स्नेह व रुझान था तथा उसने उसे अपना उत्तराधिकारी नियत करने के उद्देश्य से प्रतापसिंह की अभिरुचियों एवं संस्कारों को शासकीय ढंग से विकसित करने में विशेष रुचि भी ली थी।³⁶ इमाद-उस-सादात³⁷ को उद्धृत करते हुए के.आर.कानूनगो ने अपने ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ जाट्स की एक पाद टिप्पणी में यह लिखा है कि, "प्रतापसिंह नामक इस युवा शक्ति का विकास (चाल ढाल एवं भद्रता में) सुरुचिपूर्ण भाषा और उत्कृष्ट शिष्टाचारों के साथ एक अभिजात्य मुस्लिम के रूप में हुआ था। अपनी पगड़ी बांधने की शैली, अपनी वेशभूषा के शौक के साथ-साथ मनपसन्द पकवानों में उसने दिल्ली के तरीकों का अनुसरण किया।"³⁸ इस प्रकार पिता बदनसिंह की इच्छा के अनुरूप ही प्रतापसिंह अपने आपको राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में तैयार कर रहा था। हमें इस आशय के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं कि प्रतापसिंह की दावेदारी को सशक्त बनाने के लिये बदनसिंह द्वारा वैर में प्रतापसिंह के लिये पृथक्क दुर्ग व महल भी बनवा दिया गया था।³⁹ सूरजमल के लिये तो कुम्हेर में दुर्ग व महल बनवाया गया ही था।⁴⁰ यद्यपि, डॉ. प्रकाशचन्द्र चांदावत सरीखे इतिहासकार यह मानते हैं कि भावी गृह-कलह की आशंका⁴¹ को निर्मूल करने के उद्देश्य से ही बदनसिंह ने कुम्हेर में सूरजमल के लिये तथा वैर में प्रतापसिंह के लिये पृथक्क-पृथक्क सुदृढ़ दुर्गों और महलों का निर्माण कराया था।⁴² परन्तु, समसामयिक स्रोत सामग्री एवं तथ्यों का परीक्षण करने पर हमें यह मान्यता सही प्रतीत नहीं होती है। समसामयिक तथ्यों के विश्लेषण से तो यही निष्कर्ष ध्वनित होता है कि बदनसिंह की इच्छा प्रतापसिंह को ही अपना उत्तराधिकारी बनाने की थी और इसके लिये प्रयासों में भी कोई कमी नहीं थी। परन्तु, यथार्थ में घटनाक्रम ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि प्रतापसिंह को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने की हार्दिक इच्छा रखने वाले बदनसिंह को कतिपय कारणों से सूरजमल को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना पड़ा। अनुमानतः 1738-40 ई. के लगभग बदनसिंह ने वैर का राज्य प्रतापसिंह को प्रदान कर दिया था और सूरजमल को अपना युवराज घोषित कर, शेष जाट राज्य का शासन प्रबन्ध उन्हें सौंप दिया था।⁴³

हमें इस आशय के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं कि राज्य के इस बंटवारे के बावजूद आगामी कुछ वर्षों तक बदनसिंह डीग में राजसभा की अध्यक्षता करते रहे। किन्तु, 2 नवम्बर, सन् 1745 ई. को अपने प्रिय पुत्र प्रतापसिंह की असामयिक मृत्यु⁴⁴ से विशुब्ध एवं नेत्र रोग की भयंकरता से पीड़ित बदनसिंह ने तत्काल राजकार्यों से पूरी

तरह निवृत्त होने का निश्चय और शासनाधिकार सूरजमल को सौंपने का निर्णय लिया। इसी कारण नवम्बर, 1745 ई. में युवराज सूरजमल शासन संचालन के पूरे शासनाधिकारों सहित जाट राज्य के वास्तविक शासक बन गये थे।⁴⁵ 7 जून, 1756 ई. में डींग में बदनसिंह की मृत्यु के बाद सूरजमल वैधानिक रूप से भी जाट राज्य के अधिपति और महाराजा बन गये थे।⁴⁶

इस दृष्टि से उपलब्ध साक्ष्यों और स्रोत-सामग्री में वर्णित तथ्यों का पुनरावलोकन करने पर प्रथमतः यह तथ्य सामने आता है कि प्रजातांत्रिक मूल्यों में आस्था रखने वाले जाट समाज में वंशानुगत दावों के स्थान पर योग्यता और सर्वग्राह्यता को सर्वाधिक तरजीह दी जाती थी। इस दृष्टि से सूरजमल, बदनसिंह के पुत्रों में सर्वाधिक योग्य और सर्वग्राह्य थे, जिसकी उपेक्षा कर पाना बदनसिंह के लिये सम्भव नहीं था। सूरजमल का व्यक्तित्व, कृतित्व और चरित्र ऐसा था कि वे जन्मजात प्रतिभा से युक्त अदम्य साहसी, दूरदृष्टा, कुशाग्र बुद्धि, सेनापति तथा कुशल प्रशासकीय प्रबन्धन गुणों से युक्त थे। अपने सैनिकों में उनकी लोकोप्रियता निर्विवाद और असंदिग्ध थी, ऐसे में उनकी विलक्षण प्रतिभा और गुणों की उपेक्षा करना बदनसिंह के लिये बहुत भारी साबित हो सकता था। बदनसिंह इस यथार्थ से भलीभांति भिन्न थे अंतः समय रहते उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा को अपने सद्विवेक और सदबुद्धि द्वारा अंकुशित और नियंत्रित कर लिया और सूरजमल को ही अपना युवराज घोषित कर दिया।

बदनसिंह इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित थे कि वे प्रतापसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाने की हार्दिक इच्छा तो रखते थे परन्तु, ऐसा करने पर जाट राज्य के भारी गृह-कलह से ग्रस्त हो जाने का अंदेश स्पष्ट दिखाई दे रहा था। जाट राज्य को इस गृह-कलह से बचाने के लिये न्यायसंगत यही था कि सूरजमल को ही वे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते और उन्होंने ऐसा ही किया। बदनसिंह द्वारा सूरजमल को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किये जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि अपने प्रारम्भिक दायित्वों के निर्वहन के समय सूरजमल ने अपनी जिस बुद्धिमता, विलक्षण प्रतिभा, नेतृत्व कौशल, अद्भुत क्षमता को सिद्ध किया था और कुछ खास कर गुजरने का जज्बा दिखाया था, उससे सूरजमल की जो विशिष्ट छवि मुखरित होकर सामने आई थी, उसे नकार पाना बदनसिंह के लिये मुमकिन नहीं रहा था और बदनसिंह को भी यह बात शीघ्र ही समझ में आ गई थी कि जाट राज्य का हित इसी में अंतर्निहित होगा कि सूरजमल को ही वह अपना उत्तराधिकारी घोषित करे, और समय रहते उसने ऐसा किया भी।

गुलाम अली के शब्दों में "वह जाट कबीले का प्लेटो था" और यद्यपि, वह एक किसान कि वेशभूषा पहनता था तथा केवल अपनी ब्रज भाषा ही जानता था, फिर

भी विवेक तथा बुद्धि में, राजस्व की व्यवस्था करने की योग्यता तथा नागरिक मामलों में निजाम आसफजहां बहादुर के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के सरदारों में उसके बराबर कोई व्यक्ति नहीं था।⁴⁷ ऐसे में उससे श्रेष्ठ उत्तराधिकारी बदनसिंह के लिये उसके पुत्रों में और कोई नहीं हो सकता था। सूरजमल के उत्तराधिकार दावे को वैण्डल⁴⁸ द्वारा सूरजमल को बदनसिंह का औरस पुत्र न मानते हुए उसकी पैतृकता को विवादास्पद बना देने से भी जोड़ कर देखा जाता है। परन्तु, यह भी सही नहीं है। उसके अनुसार सूरजमल न तो बदनसिंह का पुत्र था और न ही उसके वंश का था। वह किसी विवाहित स्त्री का औरस पुत्र था। इस स्त्री की बहिन बदनसिंह के अंतःपुर में थी। अपने पुत्र को गोद में लिये जब वह अपनी बहिन से मिलने आई, तब बदनसिंह की उस पर नजर पड़ी और उसने उसे अपनी पत्नियों में शामिल कर लिया और शीघ्र ही वह बदनसिंह की कृपापात्र बन गई। उसने उस महिला के पुत्र को भी अपना पुत्र मान लिया और वही सूरजमल नाम से जाना गया।⁴⁹ परन्तु सूरजमल के उत्तराधिकार दावे को इस बात से जोड़ कर संदेहास्पद व संशययुक्त बनाने वालों की इस बात का कोई ठोस आधार नहीं मिलता है, अस्तु इसकी प्रामाणिकता स्वतः ही संदिग्ध हो जाती है। उल्लेखनीय है कि वैण्डल की इस बात की सम्पुष्टि किसी भी समसामयिक फारसी व अन्य स्रोत से नहीं होती है। अधिसंख्य स्रोत सूरजमल को बदनसिंह का ज्येष्ठ तथा औरस पुत्र ही मानते हैं अतः उसके उत्तराधिकार दावे को संशयात्मक बनाने का प्रयास सर्वथा हास्यास्पद ही लगता है।

सूरजमल के उत्तराधिकार दावे को उसे बदनसिंह का औरस पुत्र नहीं मानते हुए कमजोर बनाने के प्रयासों की शृंखला में राम पाण्डेय के मत को भी सम्मिलित कर देखा जा सकता है। राम पाण्डेय के अनुसार सूरजमल, बदनसिंह के भाई रूपसिंह का पुत्र था और रूपसिंह की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी देवकी के साथ बदनसिंह ने "धरेजना"⁵⁰ के रूप में विवाह कर लिया था।⁵¹ उल्लेखनीय है कि अपेक्षाकृत बाद का लेखक फ्रैन्ज गोटलियब एकमात्र स्रोत है जो सूरजमल का बदनसिंह की रानी देवकी (जो कामर⁵² के चौधरी महाराम की पुत्री⁵³ थी) से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र के रूप में उल्लेख करता है।⁵⁴ ऐसा प्रतीत होता है कि राम पाण्डेय ने अपना मत फ्रैन्ज गोटलियब के मत के आधार पर व्यक्त किया है जो किसी अन्य स्रोत द्वारा सम्पुष्ट नहीं होने और बाद का होने के कारण स्वयं ही संदिग्ध एवं अप्रामाणिक कहा जाने योग्य है।

समसामयिक स्रोतों में उल्लिखित संदर्भों को देखें तो यह बात स्वतः ही गलत और निराधार भी प्रमाणित हो जाती है। उल्लेखनीय है कि समकालीन "स्याहा वाकाया कागजात" में जहाँ सूरजमल का बदनसिंह के पुत्र के रूप में सन् 1721 ई. में प्रथम और स्पष्ट उल्लेख हुआ है,⁵⁵ वहीं समसामयिक "दस्तूर कौमवार" से सन् 1735 ई.

तक रूपसिंह के जीवित रहने के प्रमाण मिलते हैं।⁵⁶ यही नहीं सन् 1731 ई. में बदनसिंह तथा रूपसिंह की पत्नी का उल्लेख एक साथ किन्तु, पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है।⁵⁷ सुजान चरित्र का लेखक कवि सूदन भी स्पष्ट रूप से रूपसिंह का सूरजमल के चाचा के रूप में उल्लेख करता है।⁵⁸ इस प्रकार वैण्डल और तदनन्तर फ्रैन्ज गोटलियब और राम पाण्डेय आदि के द्वारा सूरजमल को बदनसिंह का ज्येष्ठ और औरस पुत्र नहीं मानते हुए⁵⁹ अप्रत्यक्ष रूप से उनके उत्तराधिकार को विवादास्पद बनाने के प्रयास सर्वथा गलत, निराधार और तर्क की कसौटी पर खरे उतरते प्रतीत नहीं होते हैं।⁶⁰ इसे व्यर्थ का शब्दाडम्बर ही कहा जाये जो अधिक सही होगा।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाराजा सूरजमल, बदनसिंह के औरस और ज्येष्ठ पुत्र ही थे और इस विषय में जो भी संशय पैदा करने वाले मत हैं वे सर्वथा निराधार, अपुष्ट एवं अप्रामाणिक कहे जाने योग्य हैं। साथ ही यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसे हमें न चाहते हुए भी स्वीकार करना होगा कि प्रारम्भ में बदनसिंह अपने सर्वाधिक प्रिय पुत्र प्रतापसिंह को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे परन्तु, सूरजमल में विद्यमान जन्मजात गुणों तथा वैशिष्ट्यों के खुल कर सामने आने और उनके द्वारा अनवरत रूप से अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं योग्यता का प्रदर्शन, उत्कृष्ट कार्य प्रदर्शन एवं अपेक्षाकृत श्रेष्ठ सैन्य नेतृत्व एवं प्रशासनिक कौशल प्रदर्शन तथा उनके ज्येष्ठाधिकार आदि घटकों के प्रभावशाली होने से उनकी जो रचनात्मक और जाट राज्य के हित सम्बद्धन के लिये श्रेष्ठ एवं सर्वथा अनुकूल छवि मुखरित होकर सामने आई। उनके चलते बदनसिंह ने यथोचित समय पर ही प्रतापसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय बदल कर सूरजमल को अपना युवराज घोषित कर दिया था।

संदर्भ

1. अहमदशाह अब्दाली के ब्रज संस्कृति के रक्षण का प्रयास उल्लेखनीय हैं।
2. हिन्दूपतपातशाही के स्वप्नदर्शी मराठा-सरदारों से मथुरा तथा दिल्ली के इस्लामिक संस्कृति के प्रतीक भवनों की रक्षा को इस दृष्टि से उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। सफदरगंज व अन्य कई मुस्लिम अमीरों को भरतपुर में शरण दिया जाना भी इसी क्रम में उल्लेख योग्य है।
3. डेक ब्रोकमेन : गजेटियर ऑफ दि ईस्टर्न राजपूताना स्टेट्स, पृ. 1; ज्वाला सहाय : हिस्ट्री ऑफ भरतपुर ट्रिब्यून प्रेस, लाहौर, 1899, पृ 1; कविराजा श्यामलदास : वीर विनोद, जिल्द-3, उदयपुर, 1886, पृ. 1635
4. जी.बी. मैलिसन : दि नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1875, पृ. 97
5. ए.एच.रोज : ए ग्लॉसरी ऑफ ट्राईब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ पंजाब, जिल्द-2, लाहौर, 1911, पृ. 366-69

6. जदुनाथ सरकार : मुगल साम्राज्य का पतन, जिल्द-2, हिन्दी अनु., आगरा, 1972, पृ. 260-61
7. कनिंघम : आर्कियोलोजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द-20, 1882-83, पृ. 2
8. सूर्यमल्ल मिश्रण : वंश भास्कर, पृ. 2886, 2919
9. कालिकारंजन कानूनगो : हिस्टोरिकल एसेज, आगरा, प्रथम संस्करण, पृ. 45
10. कालिकारंजन कानूनगो : हिस्ट्री ऑफ जाट्स, कलकत्ता, 1925, पृ. 2
11. विलियम इर्विन : लेटर मुगल्स, जिल्द-1, दिल्ली, 1971, पृ. 83
12. एटकिन्सन : गजेटियर ऑफ नॉर्थ वेस्ट प्रोविन्सेज ऑफ इण्डिया, जिल्द-4, भाग-1, इलाहाबाद, 1876, भूमिका
13. आर.वी.रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ दि सैन्ट्रल प्रोविन्सेज ऑफ इण्डिया जिल्द-3, मैकमिलन एण्ड कं., लंदन, 1916, पृ. 231
14. दस्तूर कौमवार, जिल्द-7, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, जयपुर अभिलेखागार दस्तावेज, पृ. 436
15. जदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ दि जयपुर स्टेट, अप्रकाशित, श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ, पृ. 23-24; 1730 ई. में सरबुलन्द खां ने जब गुजरात से आगरा की यात्रा के दौरान जाट क्षेत्र में पड़ाव डाला था, तब बदनसिंह ने उससे राजा की पदवी दिलाने की प्रार्थना की थी।
16. जदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ दि जयपुर स्टेट, पृ. 21
17. फ्रैन्ज गोटलियब : भरतपुर के जाट राजाओं के बारे में लिखा गया फारसी वृत्तान्त, पृ. 18ब
18. वही, पृ. 18ब
19. कपटद्वारा दस्तावेज, पूर्व., संख्या 1406
20. प्रकाशचन्द्र चांदावत : महाराजा सूरजमल और उनका युग, पूर्व., पृ. 45
21. कवि सूदन : सुजान चरित्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, वि.सं. 1980, पृ. 40
22. दस्तूर कौमवार, जिल्द-7, पूर्व., पृ. 440
23. वही, पृ. 442
24. कालिकारंजन कानूनगो : हिस्ट्री ऑफ जाट्स, पूर्व., पृ. 61
25. रुस्तम अली : तारीख-ए-हिन्द, श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ संग्रह, पृ. 543, 579; दफ्तर सनद नवीस (परगना जयपुर), चिट्ठी, वैशाख कृष्णा 10, वि. सं. 1784, रा.रा.अ.बी.; वही, चिट्ठी, चैत्र कृष्णा 3 और आश्विन शुक्ला 3, वि. सं. 1783, रा.रा.अ.बी.
26. ड्राफ्ट खरीता, मार्गशीर्ष कृष्ण 11, वि.सं. 1788, रा.रा.अ.बी., आमेर रिकार्ड, मार्गशीर्ष शुक्ला 14, वि.सं. 1788, रा.रा.अ.बी.

27. रघुवीर सिंह : मालवा इन ट्रांजिशन, बोम्बे, 1936, पृ. 180
28. अजमेर के आठ मील उत्तर-पश्चिम में।
29. कविराजा श्यामलदास कृत 'वीर विनोद' और जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द-2, दोनों के अनुसार यह युद्ध आषाढ़ कृष्ण 9, वि.सं. 1798 में लड़ा गया था।
30. जेम्स टॉड ने इसे सही माना है परन्तु, डॉ. ओझा, कविराजा श्यामलदास और सूर्यमल्ल मिश्रण आदि ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है।
31. दस्तूर कौमवार, जिल्द-7, पृ. 458, पूर्व., में उल्लेख है कि, सूरजमल जाट को, जो कि जयसिंह की फौज में शामिल था, भाद्रपद शुक्ला 12, वि.सं. 1798, तदनु रूप 11 सितम्बर, 1741 ई. को विदा किया गया।
32. बदनसिंह के द्वारा प्रतिदिन एक पैसे के बराबर पारा निगलने से उसके जीवन के अंतिम दिनों में उसमें नेत्र विकार का आना उल्लिखित मिलता है। द्रष्टव्य - हरसुखराय कृत मजामाउल अखबार द्इलियट, टप्प् पृ. 272
33. फ्रैन्ज गोटलियब : पर्शियन हिस्ट्री ऑफ जाट्स, पृ. 20अ
34. फ्रैन्ज गोटलियब और हरसुखराय ने 20 पुत्र होना तथा बाद के लेखकों ने 26 पुत्र होना बताया है जिनमें से 4 के प्रारम्भ में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने का वर्णन करते हैं। राधा रमण चौबे (भरतपुर राज्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 8) इनमें से 2 को धर्मपुत्र बताते हैं।
35. सोमनाथ : सुजान विलास, पा.लि., जिला पुस्तकालय, भरतपुर, पृ. 52
36. वही, पृ. 134ब
37. मीर गुलाम अली : इमाद-उस-सादात, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, 1897
38. वही
39. कवि सोमनाथ के रस पीयूष निधि से विदित होता है कि बदनसिंह ने वैर का दुर्ग प्रतापसिंह के लिये बनाया था, मत्स्य की देन, पृ. 52
40. कवि शिवराम कृत 'नवधा भक्ति सागर' से विदित होता है कि 18वीं सदी के चौथे दशक (1735 ई. के लगभग) में सूरजमल कुमार के रूप में कुम्हेर में रहता था।
41. प्रकाशचन्द्र चांदावत : महाराजा सूरजमल और उनका युग, पूर्व., पृ. 52
42. वही, पृ. 52
43. सोमनाथ : सुजान विलास, पूर्व., पृ. 134ब
44. दस्तूर कौमवार, जिल्द-7, पूर्व., पृ. 481
45. सूदन : सुजान चरित्र, पूर्व., पृ. 7-8, पृ. 9-10; जदुनाथ सरकार : मुगल साम्राज्य का पतन, जिल्द-2, पूर्व., पृ. 269
46. प्रकाशचन्द्र चांदावत : महाराजा सूरजमल और उनका युग, पूर्व., पृ. 54
47. मीर गुलाम अली : इमाद उस सादात, पूर्व., पृ. 55

48. वैण्डल, महाराजा सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह का दरबारी था, इस कारण वह समकालीन इतिहासकारों की श्रेणी में गिने जाने योग्य है। वैण्डल ने फ्रैन्च भाषा में जाट इतिहास लिखा जिसके उद्धरण जदुनाथ सरकार द्वारा उद्धृत किये गये हैं।
49. जदुनाथ सरकार : मुगल साम्राज्य का पतन, जिल्द-2, पूर्व., पृ. 269
50. बड़े भाई की विधवा से विवाह करने की प्रथा - 'करेवा'
51. राम पाण्डेय : भरतपुर अप टू 1826, राम पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1970, पृ. 46
52. मथुरा जिले में, मथुरा से 33 मील उत्तर-पश्चिम में स्थित
53. कालिकारंजन कानूनगो : हिस्ट्री ऑफ जाट्स, पूर्व., पृ. 61
54. फ्रैन्ज गोटलियब : पूर्व., पृ. 20अ
55. दस्तूर कौमवार, जिल्द-7, पूर्व., पृ. 535
56. वही, पृ. 501
57. वही, पृ. 448
58. सूदन : सुजान चरित्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, वि.सं. 1980, पृ. 67
59. सर जनुदनाथ सरकार : मुगल साम्राज्य का पतन, भाग-2, पूर्व., पृ. 31
60. द्रष्टव्य - डॉ. नत्थन सिंह : इतिहास पुरुष महाराजा सूरजमल, दिल्ली, 1991, पृ. 50-51

बीकानेर राज्य की संस्कृति के तत्व : प्रमुख त्यौहार व मेले (1818-1949)

राजेश पंवार

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने राजस्थान की संस्कृति में मेले व उत्सव के महत्व का अंकन करते हुए लिखा है कि " सामाजिक जीवन और उससे सम्बन्धित संस्थाओं से लाकोत्सव का महत्वपूर्ण स्थान है। स्थानीय संस्कृति की अभिव्यक्ति लोकोत्सवों में स्पष्ट देखी जा सकती है, क्योंकि उनके साथ प्राचीन परम्पराएँ व विचारधाराएँ जुड़ी रहती हैं। ये विचारधाराएँ व परम्पराएँ धार्मिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक होती हैं। जब-जब लोकोत्सवों का आयोजन होता है। देश हो या प्रान्त के सांस्कृतिक पहलू के एक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। इन उत्सवों, ऋतुओं एवं विशेष अवसरों को ऐसा संयोजित किया जाता है कि जन भावना में नैसर्गिकता दिख पड़ती है। इन्हीं लोकोत्सवों में नए जीवन का संचार हो जाता है। इन अवसरों में गाए जाने वाले लोकगीतों अथवा कहीं जाने वाली लोक वार्ताओं में धार्मिक निष्ठा तथा ऐतिहासिक तथ्य छिपे पड़े हैं जो राजस्थानी संस्कृति के द्योतक हैं। राजस्थान में विभिन्न रजवाड़ों, सामन्तों व जाति पंचायतों तथा कुल विशेष में विभिन्न उत्सवों व मेलों व त्यौहारों को अपनी आन-बान का प्रतीक बना लिया था। इनमें राजस्थान की नानाविध सांस्कृतिक तत्व वेशभूषा, खान-पान, नृत्य, संगीत, गीत स्वांग लोक कलाएँ एवं इन सबसे अधिक प्रत्येक पहलू को उजागर करते हैं।¹

विविध संस्कृति, भाषाओं और भावनाओं वाली बीकानेर रियासत में अपनी प्रकृति व भौगोलिक कारणों से यहां अपनी विशिष्टताओं को इन मेलों, त्यौहारों, उत्सवों द्वारा लोगों में उत्साह व उमंग का संचार सदियों से होता रहा है। बीकानेर राज्य की संस्कृति में ये मेले, त्यौहार उत्सव रियासतों की एकता व अखण्डता के प्रतीक हैं। इनके माध्यम से बुरे कार्यों को छोड़कर आमजन को नेककर्म बनने की शिक्षा व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संस्कृति व संस्कारों का हस्तान्तरण होता है।² जन जीवन में विभिन्न भावों उदाहणार्थ रति, विरह, शौर्य भक्ति आदि को संचारित करके खेल-तमाशों, अखाड़ों, मेहन्दी पकवानों, माण्डना, बन्दनवारों एवं अलंकरणों का प्रदर्शन इन उत्सवों-मेलों की विशेषताएँ बन जाती हैं। इन सभी को ध्यान में रखते हुए बीकानेर राज्य के प्रमुख त्यौहारों व मेलों का विवेचन निम्न प्रकार से है :-

बीकानेर राज्य के प्रमुख त्यौहार-

उत्सव व त्यौहारों और मेलों का किसी देश के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इससे जातीय जीवन तो अटूट रूप से होता है। साथ ही इस देश की संस्कृति का भी इन त्यौहारों के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होता है। प्रायः सभी त्यौहारों के आयोजनों के पीछे कुछ न कुछ कारण विद्यमान रहता है। प्रायः सभी त्यौहारों के साथ कुछ न कुछ कथा जुड़ी रहती है। इन कथाओं से धर्म और सत्कार्यों को अनुप्रमाणित करने वाली गौरवमयी परम्परा सुनने को मिलती है। साथ ही चरित्र उत्थान नैतिक उत्थान इन लोक कथाओं के माध्यम से सदियों से संचारित होता है।³

लक्ष्मीनाथ जी मन्दिर, दाऊजी मन्दिर, शिव जी का मन्दिर, धूनीनाथ जी का मन्दिर, रतन बिहारी जी का मन्दिर, धार्मिक गीतों व कथाओं का केन्द्र हैं।⁴ यहां हिन्दूओं के त्यौहारों में शीतला सप्तमी, अक्षय तृतीया, रक्षा बन्धन, दशहरा, दीपावली और होली मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त गणगौर व तीज स्त्रियों के मुख्य त्यौहार हैं। रक्षाबन्धन विशेषकर ब्राह्मणों का तथा दशहरा क्षत्रियों का त्यौहार है। दशहरे के दिन बड़ी धूमधाम के साथ महाराजा की सवारी निकलती है। मुसलमानों के प्रमुख त्यौहार हैं मुहर्रम, दोनों ईद (ईदुल फितर) और ईदुल जुहा एवं शब्बेबरात हैं।⁵ बीकानेर राज्य का इतिहास तलवारों की खन-खनाहट का साक्षी है, फिर भी जनता शान्तिमय उत्सव, त्यौहारों, आमोद-प्रमोद, खेल-तमाशों आदि द्वारा अपनी सामाजिक वृत्ति का प्रदर्शन करती रही है।⁶ यहां के सामाजिक उत्सवों में गणगौर क प्रमुख स्थान है।⁷ इस अवसर पर कई स्थानों पर मेले लगते हैं कई गांवों में ऊँटों व घोड़ों की दौड़ प्रमुख रूप से आयोजित होती है। यहां 'यह कहावत प्रचलित है- गणगोरिया में घोड़ा नी दौड़ेला तो कद दौड़ेला।⁸ सारे भारत में मकर सक्रांति पर पतंग उड़ाई जाती है परन्तु बीकानेर में अक्षय तृतीय पर पतंगे इतनी अधिक उड़ाई जाती है कि आकाश में तारों की भांति छा जाती है। इस दिन जो पतंग काटता है अपने आप को भाग्यशाली मानता है और अगले वर्ष के लिए शुभ मानता है।⁹ यह दिन इतना श्रेष्ठ माना जाता है कि इस दिन गांव के लोग "अण पुछ्या सावा" अर्थात् बिना ब्राह्मण को पूछे ही विवाह का लांगिनक मुहूर्त मानते हैं।¹⁰ बीकानेर में सावन की तीज के बजाये भादवे की तीज को बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। सभी घरों में चना, गेहूं, चावल, सब बनाये जाते हैं। बहन-बेटियों को भेजे जाते हैं। औरतें दिन-भर व्रत रखती हैं। सोलह श्रृंगार कर तीज की कहानी सुनती हैं। चाँद को अर्ध देती हैं और अपने पति के हाथों सतु का ग्रास ग्रहण करती हैं। स्त्रियां इसको अपने सौभाग्य का पर्व मानती हैं।¹¹ मुन्शी सोहनलाल तवारीख के राजश्री अनुसार जसोलाई तालाब पर सावन की तीज का मेला होता था, बाजार लगता था जिसमें स्त्रियां खरीददारी करती थी।¹² बीकानेर में दीवाली का उत्सव बड़ी उमंग व

उल्लास के साथ मनाया जाता है। दीवाली के दूसरे दिन आपस में लोग एक-दूसरे के साथ सगे सम्बन्धियों से मिलते थे। इसे राम-राम सा कहा जाता था। इस प्रकार होली व दीपावली जैसे इन बड़े त्यौहारों से पारस्परिक प्रेम और सद्भावना में वृद्धि होती थी। दीपावली के दूसरे दिन 'दवात पूजा' के दस्तूर में नयी स्याही, नई कलम और नयी बही रखी जाती थी। सेठ साहुकार लोग कुमकुम के छींटे डालकर इस दिन नया लेखा प्रारम्भ करते थे। कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन भैया दूज का त्यौहार मनाया जाता था।¹³ होली बसन्त का त्यौहार है सारे भारत में मनाया जाता है। परंतु बीकानेर में होली परम्परागत रूप के अलावा विशेषताओं को लेकर मनायी जाती है। सप्तमी के दिन सुबह देवी के मन्दिर में लोग चले जाते हैं। दिन भर पूजा करते हैं और सायंकाल वहां से होली के गीत गाते हुए शहर में प्रवेश करते हैं। उनके साथ ही बीकानेर की जनता पर होली का रंग चढ़ना शुरू हो जाता है व भस्म की स्थापना करते हैं। शहर के प्रमुख हिस्सों में जैसे बारहगुवाड़, आचार्यों का चौक, बिस्सों का चौक, मरूनायक चौक, सोनगिरी कुआं आदि पर ख्याल व रम्मतें खेली जाती है। जो प्रायः 7.00 बजे से शुरू होती है। मोहल्ले के लोग विभिन्न स्वांग बनाकर नाचते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण बीकानेर प्रदेश किन्नर प्रदेश हो गया हो।¹⁴ राजस्थान भी सांस्कृतिक लोककथाओं की चित्ररत्न सुरभि से सुशोभित रहा है। साहित्य सरिता की अक्षुण्ण परम्परा जन-जन की भावनाओं के सम्पर्क से बनी है। बीकानेर सम्भाग की 'रम्मतें' आज भी मनोरंजन के सशक्त साधन को पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित किए हुए हैं।¹⁵ लालणी व्यासों के चौक, सोनगिरी की रम्मत, भादणियों की रम्मत, दजियारी रम्मत, चौतीना कुआं वाली रम्मत, बीकानेर में रम्मतों का श्री गणेश फक्कड़ दादा की रम्मत से होता है।¹⁶

बीकानेर राज्य के प्रमुख मेले

यहां का सबसे प्रसिद्ध कोलायत जी का मेला प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ल पक्ष के अन्तिम दिनों में श्री कोलायत जी में होता है और पूर्णिमा का दिन मुख्य माना जाता है। यहां कपिलेश्वर मुनी का आश्रम माना जाने से इस स्थान का महत्व अधिक बढ़ गया है और मेले के दिन हजारों यात्री दूर-दूर से यहां आते हैं। उस समय ऊँट, बैल आदि की बिक्री होती है।¹⁷ बीकानेर से 50 किलोमीटर द.प. में कोलायतन या कोलायत नामक प्राचीन तीर्थ स्थल है जहां प्रत्येक वर्ष कार्तिक पूर्णिमा को भव्य मेला लगता है। कोलायत में कपिल सरोवर के किनारे महर्षि कपिल मुनि का भव्य मन्दिर लाल पत्थर व संगमरमर से बना है। भव्य गोलाकार तालाब के किनारे विभिन्न नामों के 52 घाट बने हुए हैं।¹⁸ अतः घोड़ों की खरीद फरोख्त भी इस मेले में होती है। रियासत में यह एक बड़े मेले के रूप में है। दूर दराज व बीकानेर शहर के बहुत से लोग इस मेले में

जाया करते हैं। यहां सिक्ख सम्प्रदाय का प्रमुख गुरुद्वारा भी है। कार्तिक पूर्णिमा के दिन गुरूनानक जयंति होने से कोलायत हिन्दू, सिक्ख एकता का स्थल बन जाता है।¹⁹ बचपन से ही बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका जी, भैरव का भक्त था और करणी जी के आशीर्वाद में अटूट विश्वास था। भैरव की पवित्र मूर्ति को लेकर वे करणी माता को अपनी श्रद्धा अर्पण करने व उनका आशीर्वाद प्राप्त करने सीधे देशनोक चले गये। करणी जी की पूजा व सेवा में लग गये। 1537 में उनकी सहनशीलता से सन्तुष्ट होकर उन्हें कोडमदेसर जाने व वहां पर भैरव की मूर्ति की स्थापित करने का आदेश दिया और कहा भैरव की मूर्ति स्थापना एक राज्य के बीज बोने के समान होगी और उस शुभ समय से तू अपनी विजय की कूच पर खाना हो सकता है, तेरे राज्य की नींव पड़ गई है। बीकानेर के पश्चिम से 24 किलोमीटर दूर कोडमदेसर भैरू जी का प्राचीन मन्दिर है। बीकानेर नगर की स्थापना से पूर्व राव बीकाजी इसी स्थान पर करीब तीन वर्ष रहे। यहां पर बीकाजी ने भैरव की मूर्ति प्रतिष्ठ की थी। यहां दो सती स्मारक हैं। कोडमदेसर में हर वर्ष भाद्रपद माह की तेरस को भव्य मेला लगता है। सभी जाति वर्ग के भक्त श्रद्धा से भाग लेते हैं।²⁰ नगर के दक्षिण में सुप्रसिद्ध लक्ष्मीनारायण जी के मन्दिर के पास भांडासर जी का विशाल मन्दिर है। इस मन्दिर के निर्माणकर्ता भांडाशाह सेठ थे। इनके नाम पर ही इस मन्दिर का नामकरण भांडासर जैन मन्दिर हुआ। जिसका निर्माण सम्भवतः 1571 के आश्विन शुक्ल द्वितीय को माना गया है।²¹ बीकानेर रियासत में मुकाम गांव में विशनोई जाति का मुक्तिधाम है। यहां वर्ष में दो बार फाल्गुन की अमावस्या व आश्विन की अमावस को मेला लगता है। यहां देश के कोने-कोने से आकर श्रद्धालु भक्तजन भगवान विष्णु के अवतार गुरू जम्भेश्वर की समाधि पर श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। जम्भेश्वर ने नवमी 1593 में यहां समाधि ली थी। 1552 में कार्तिक सूदी अष्टमी को गांव से दो किलोमीटर दूर समराथल धोरों पर (कलश) स्थापना करके विशनोई धर्म की नींव रखी थी। समराथल व मुकाम दोनों जगह ही 'जम्भेश्वर' के भव्य मन्दिर बने हैं।²² इस सम्प्रदाय में 29 धर्म नियम, आचार विचार व्यवहार, पवित्रता, दया, पूजा, उपासना, अहिंसा, स्वास्थ्य, आदि मुख्यतः सम्मिलित है।²³ बीकानेर से 60 किलोमीटर दूर पूनरासर गांव में हनुमान जी का प्राचीन व चमत्कारी मन्दिर है। यहां चेत्र व अश्विन माह की पूर्णिमा के साथ भाद्रमास में ऋषि पंचमी के बाद के प्रथम मंगलवार व शनिवार को भव्य मेला लगता है। मन्दिर में हजारों श्रद्धालु पैदल आते हैं। मन्दिर की एक खासियत है कि यहां के पुजारी जैन बोहरा वंशज है। जबकि नगर के सभी मन्दिरों में ब्राह्मण ही पुजारी है। भक्तों को इस मन्दिर में आटा, घी, शक्कर, पुनरासर बाबे की रोट का भोग बनाने के लिए निःशुल्क मिलता है। पूनरासर जसनाथ सिहोरा प्रमुख गांव होने से जसनाथ जी की यहां बाड़ी है। बाड़ी में चैत्र और अश्विन माह में

सिंह पूर्व धूमधाम से मनाया जाता है।²⁴ जसनाथ जी सम्प्रदाय के प्रवर्तक कतरियासर के हमीर जी नायक जाट व उसकी पत्नी रूपादे के पुत्र थे। इनका जन्म 1536 कार्तिक शुक्ल एकादशी को हुआ। प्रसिद्ध है कि वे हमीर जी को एक तालाब के पास पड़े हुए मिले थे। 1551 अश्विन शुक्ल सप्तमी को ज्ञान की प्राप्ति हुई, 24 वर्ष की उम्र में संवत् 1563 अश्विन शुक्ल की समाधि ली। इनका मुख्य स्थान कतरियासर है। यहां प्रतिवर्ष मेला लगता है। जसनाथी सम्प्रदाय में 36 नियम हैं। इन्होंने अपनी वाणी में पशु हिंसा का विरोध किया, जीव ब्रह्मा की एकता, संसार की नश्वरता आदि पर विचार दिये।²⁵ लोक देवता गोगा जी का मेला गोगा मेड़ी तहसील नोहर में होता है। उसमें महीनों तक बैलों की खरीद फरोख्त होती है। दूर-दूर से सौदागर मवेशियों को लाते हैं।²⁶ नोहर तहसील में गोगामेड़ी स्थान में प्रसिद्ध चौहान सिद्ध गोगा की स्मृति में मेला लगता है। 1948 के बाद गोगामेड़ी के मेले के लिए विशेष रेलगाड़ियों की व्यवस्था की गई।²⁷ इस मेले में मवेशियों से राज्य में खरीद फरोख्त को 19000 सालाना मिलता है। गोगामेड़ी के मेले में 1818 से पहले से वर्तमान तक पंजाब हरियाणा, हिमाचल, गुजरात, दिल्ली, उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश के हजारों श्रद्धालु आते हैं।²⁸ मेला स्थल पर ऊँचे टीले पर बना गोगा जी का श्रद्धास्थल सर्वधर्म सद्भाव की प्रेरणा देता है। यह मन्दिर है मस्जिद है अथवा समाधि स्थल है यह बताना कठिन है। मन्दिर के पाषाण में खुदी बिस्मिला की उक्ति एक स्थापत्य कला की दृष्टि से मस्जिदनुमा दिखाई देती है। भवन के अन्दर संगमरमर की समाधि पर घोड़े पर सवार हाथ में भाले लिये गले में सांप लिये, गोगा जी की प्रतिमा खुदी है। हिन्दू-मुस्लिम, ऊँच-नीच आदि श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। कहा जाता है कि गोगा जी के आशीर्वाद से मोहम्मद गजनवी की मनोकामना पूर्ण होने पर उसने इस मन्दिर को मस्जिदनुमा बनाया। बीकानेर रियासत के भूतपूर्व राजा गंगासिंह ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। वर्तमान में यह मन्दिर देव स्थान विभाग के अधीन है।²⁹ सांपों के काटे व्यक्ति के प्राण रक्षा के सम्बन्ध में प्रचलित गोगा जी के चमत्कारों ने यहां के विशाल जन समुदाय को उनका अनुयायी बना दिया है। इनके गायों की रक्षा के लिए किये प्रसंग वंश भास्कर और यहां के लोकगीतों में भी वर्णित हुआ है। महिलाएं दीवारों पर सर्पाकार आकृतियां बनाकर कुमकुम अक्षत से पूजन करती हैं और गोगा जी के गीत गाकर वे उनके प्रति श्रद्धावत होती हैं।³⁰ बीकानेर रियासत के पोकरण कस्बे में 12 किलोमीटर उत्तर में स्थित रामदेवरा पश्चिमी राजस्थान का बड़ा पावन धाम माना जाता है। रामदेवरा को यहां रूणीचा नाम से भी जाना जाता है। इनके निर्माता रामदेव तंवर जिनकी यहां के प्रमुख राजस्थान के पंच लोकदेवता में गिनती होती है। उनका आविर्भाव 15वीं शताब्दी के पूर्व में हुआ था।³¹ मुन्शी सोहनलाल ने लिखा है कि बीकानेर में सुजानदेसर नामक स्थान पर रामदेव जी के मन्दिर में साल में दो बार मेला लगता है। विभिन्न टोलियों में रामदेव जी के भक्तों

व उनके जीवन सम्बन्धी लीलाओं का गान किया जाता है।³² राज्य में इन धार्मिक मेलों के अन्दर व्यापारिक लोग अपने माल का क्रय-विक्रय करने में संलग्न रहते थे। इस प्रकार के मेलों में गणेश जी, जाम्भेजी, भैरू जी, गोगाजी, रामदेव जी, करणी जी, व कपिल मुनि जी आदि देवी देवताओं के नाम उल्लेखनीय हैं।³³

इस प्रकार बीकानेर रियासत में इन मेले व त्यौहारों ने लोगों के जीवन में आत्म बल प्रदान करने तथा सांस्कृतिक चेतना जगाने में महत्वपूर्ण रोल अदा किया। ये एक ऐसा समय था जब पिंडारियों और मराठों से आम जन परेशान हो चुका था और 1818 की सन्धि के बाद अंग्रेजों ने भी धीरे-धीरे अपना प्रभाव बना लिया था। ये मेले व त्यौहार बीकानेर के जन मानस में सहज ऐसी क्रिया प्रतिबिम्बित करते हैं कि हम उस समय की सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं को जान सकते थे। कहा जाता है कि 1818 के समय से आधुनिकता की ओर इस रियासत ने दस्तक दी वहीं यहां की संस्कृति, रीति रिवाज, पहनावे, को इन मेलों व त्यौहारों के माध्यम से पीढ़ियों तक अपार आधार प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ

1. डॉ. गोपीनाथ शर्मा - राजस्थान का सांस्कृति इतिहास, पृ. 61-62
2. जयसिंह नीरज, शर्मा भगवती लाल-राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ.254
3. सिंह ओमप्रकाश-संचार माध्यमों का प्रभाव, पृ.55
4. सांभर देवी लाल -राजस्थान लोकात्सव, पृ.1
5. ओझा गौरीशंकर हीराचन्द-बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ.25
6. देपावत, मूलदान- श्री करणी धाम देशनोक, पृ.30
7. अरोड़ा शशि-राजस्थान में नारी की स्थिति, पृ.102
8. गहलोत सुखवीर सिंह-राजस्थान के रीति-रिवाज, पृ.220
9. अरोड़ा शशि-वही, पृ.100
10. शर्मा रामनिवास - बीकानेर के पर्वोत्सव, पृ.188
11. शर्मा जयसिंह नीरज, भगवती लाल- राजस्थान की संस्कृति परम्परा, पृ.256
12. मुशी सोहनलाल- तवारीख राज श्री बीकानेर, पृ.69
13. शर्मा रामनिवास-बीकानेर का इतिहास, पृ.75
14. ग्रथांक 10(36) व ग्रथांक (205)- बारहमास रा दूजा रा.शो.सं. चौपासनी
15. शर्मा रामनिवास-वही, पृ.66
16. शर्मा श्री रामनिवास,- लोक नाट्य व बीकानेर की रम्मत, पृ.42-46
17. ओझा गौरी शंकर हीराचन्द, वही, पृ.26
18. साहवा बही क्र.सं. 11 बही क्रमांक 9, सवत् 1818-21, पृ.146
19. मुंशी सोहनलाल -तवारीख राजश्री बीकानेर आर.आर.ए. बीकानेर, पृ.71

20. सोनी शिवकुमार-बीकानेर के प्रमुख धार्मिक स्थल, पृ.57
21. मुंशी सोहनलाल -वही, पृ.76
22. होम डिपार्टमेंट फाईल सं. रिच्यू बी 531-57 1923 में, पृ.56
23. मुंशी सोहनलाल तवारीख, पृ.72
24. सोनी शिव कुमार - वही, पृ.82
25. मुंशी सोहनलाल तवारीख, पृ.71
26. रेवेन्यू बी 2159-81 कैटल फेयर एंड गोगामेडी 1932 की फाईल सं. 66 के पृ. 72
27. ओझा गौरीशंकर हीराचन्द- वही, पृ.26
28. पी.डब्ल्यू.डी. फाईल 319 43 ए गोगामेडी फेयर कनसेशन रेल्वेस फेयर इन लोकल लोडिंग ऑन दा ओकेजन ऑफ गोगामेडी फेयर सन् 1931, पृ.45
29. तवारीख राजश्री बीकानेर पृ.24-25 ए,बी सावा मण्डी सदर संवत् 1802, पृ.2 संवत् 1818-29 नं. 9 संवत् 1822-23 न. 12 आर.आर.ए. बीकानेर
30. तवारीख राजश्री बीकानेर, पृ.12-13
31. वही
32. रेवेन्यू डिपार्टमेंट राजस्थान मारवाड़ी तीसरा हिस्सा, पृ.62
33. रामदेव जी रो छन्द ग्रन्थाक 3438 रा.शो.सं. चौपासनी, जोधपुर

बीकानेर के व्यापारी वर्ग का निष्क्रमण और उसके कारण

सुनीता स्वामी

वर्तमान में देश-विदेश के अनेक शोधअध्येता राजपूताने की भूतपूर्व रियासतों के आर्थिक विकास के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन अनेक पहलुओं में यहां का व्यापारी वर्ग भी एक प्रमुख अंग रहा है जो वैश्य जाति प्रधान था। उनका राजपूताने एवं ब्रिटिश भारत में जहां वे 18वीं सदी के बाद निष्क्रमण कर गये, इन दोनों के आर्थिक विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में राजपूताने की एक महत्वपूर्ण रियासत बीकानेर के वैश्यों का निष्क्रमण करने के कारणों पर संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह तो सर्व विदित ही है कि राजपूताने की रियासतों में उनके जन्म के प्रारम्भिक काल से ही वाणिज्य (व्यापार) का कार्य वैश्य-वर्ग के हाथों में ही रहा और उनके माध्यम से रियासतें व्यापारिक कर के रूप में भारी लाभ उठाकर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने में रहती थी।¹ रियासतों में राजा एवं उनके अधीनस्थ ठिकानेदार इस बात की प्रतिस्पर्धी में लगे रहते थे कि अधिक से अधिक वैश्य उनके यहां आकर अपना कारोबार करें। इसके लिये वे लोग इन वैश्यों को अपने यहां बसाने के लिये इनकी निःशुल्क आवास व्यवस्था एवं व्यापार में जगात की आधी अथवा पूर्ण माफी की व्यवस्था भी कर दिया करते थे।² दूसरी ओर से वैश्य भी, राजाओं एवं अपने क्षेत्र के ठिकानेदारों की आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता करने में पीछे नहीं रहते थे। राजपूताने में रियासतों एवं उनके वैश्यों के साथ ये उपरोक्त सम्बन्ध 18वीं सदी के अन्त तक इसी प्रकार पारस्परिक सहयोग से बिना किसी नयी समस्या या प्रश्न के शांतिपूर्वक चलते रहे परन्तु 19वीं सदी के मध्य में अचानक ही इस व्यवस्था में एक नया परिच्छेद शुरू हो गया और देखते-देखते यहां के वैश्यों ने अपने मूल स्थान को छोड़ कर ब्रिटिश भारत एवं दक्षिण की मराठा रियासतों की ओर निष्क्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में तो वे सिरौही, मालवा, अहमदाबाद और दिल्ली, आगरा, खुर्जा व मिर्जापुर मण्डियों की तरफ एक सांस से निकले।³ सन् 1960 ई. के आसपास इनका यह निष्क्रमण इतना जोर पकड़ गया कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ये लोग भारत की चारों दिशाओं में, पूर्व में दिल्ली, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, बिहार, मणिपुर, बर्मा, पश्चिम में

पंजाब, उत्तर में नेपाल व दक्षिण में मालवा, सूरत, बम्बई, पूना आदि समस्त महाराष्ट्र, मैसूर और मद्रास तक चले गये।⁴

सन् 1911 तक केवल बीकानेर राज्य से ही बंगाल में 8,670 लोग पहुंच चुके थे।⁵ और सन् 1921 में यह संख्या बढ़ कर 20,105 हो गई थी। इसी प्रकार पंजाब में 71,191 आसाम में 5,995, सेन्ट्रल प्रोविन्स (मध्यप्रदेश) में 2,234 और युनाईटेड प्रोविन्स (संयुक्त प्रांत) में 2,995 तक पहुंच गई थी। पंजाब को छोड़कर इनमें निष्क्रमण करने वाले अधिकतर वैश्य लोग ही थे। वैश्यों में भी अग्रवाल, ओसवाल, माहेश्वरी व सराबगी जाति के लोग ही मुख्य रूप से थे।⁶ इस तरह से इस समय तक बीकानेर के वैश्य भारत के प्रमुख नगरों एवं बन्दरगाहों तथा कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, करांची, कानपुर, रंगून, नागपुर, हैदराबाद (दक्षिण), डिब्रूगढ़, शिलांग, बंगलोर, अमृतसर, लाहौर, इन्दौर, उज्जैन, पटना, भागलपुर, मिर्जापुर, हाथरस, खुर्जा, बर्मा (रंगून, मोरमीन) आदि सर्वत्र पहुंच चुके थे।⁷ इनका यह इस प्रकार अचानक निष्क्रमण करना इतिहास के विद्यार्थी के लिये एक कौतुहल पैदा करता है। राजपुताने की विभिन्न रियासतों से इन लोगों के निष्क्रमण करने के अनेक कारण हैं जो रियासतों की स्थिति के अनुसार हर रियासत में कुछ भिन्नता लिये हुए हैं। बीकानेर राज्य की अपनी कुछ अलग परिस्थितियां थी, जिनके कारण यहां के व्यापारियों को ब्रिटिश भारत में निष्क्रमण करने के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला। इनमें मुख्य निम्न हैं:-

(1) भौगोलिक परिस्थिति

किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति का वहां के निवासियों पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव अवश्य पड़ता है। राज्य में सन् 1924 में गंगनहर आने से पूर्व बीकानेर का विशाल क्षेत्रफल जो कि भारतीय मरूस्थल के बीच में स्थित है, शायद भारत का सबसे अधिक शुष्क क्षेत्र था।⁸ यहां पर वर्षा का औसत 11 से 15 इंच वार्षिक तथा कभी कभी इससे भी कम रहता था। वर्षा के अभाव में यहां के निवासियों की स्थिति बड़ी ही दयनीय थी क्योंकि उनका जीवन बहुत कुछ वर्षा पर निर्भर रहता था। राज्य के अधिकतर भाग में पानी खारा तथा पीने योग्य नहीं था। इसलिये लोग वर्षा के जल को ही तलाबों और कुण्डों में इकट्ठा कर साल भर उसी से काम चलाते थे।⁹ वर्ष भर में एक फसल होती थी, वह भी वर्षा के अभाव में नष्ट हो जाती थी। अतः अकाल पड़ना तो बहुत ही साधारण बात थी। सन् 1868-69, 1891-92 व सन् 1896-97 के अकाल भयंकरतम थे।¹⁰ कृषि कार्य एवं पशु पालन ही यहां का मुख्य धन्धा था, अतः यहां का अधिकतर व्यापार कृषि एवं पशु पालन पर ही निर्भर था। अकाल की स्थिति में इनके इस व्यापार कार्य में विचलित स्थिति की उत्पत्ति स्वाभाविक थी। राज्य के पास उस समय इतने साधन नहीं थे कि वह व्यापारियों की सहायता कर

सके। अतः यहां का वैश्य वर्ग इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये हठात् निष्क्रमण के लिये बाध्य हुआ।¹¹

(2) राज्य की वित्तीय नीति

पाउलेट ने अपने गजेटियर में 15 ऐसे टैक्सों का विवरण दिया है जो मुख्य रूप से राज्य के व्यापारी वर्ग पर ही लगता था। इनमें से अनेक करों की उगाही राज्य अपनी इच्छानुसार सेट साहुकारों से किया करता था। सन् 1887 में जब महाराजा गंगासिंह गद्दी पर बैठे तो प्रति व्यक्ति कर भार पहले की अपेक्षा पांच गुना अधिक बढ़ गया था। इस बढ़ोतरी का कारण महाराजा के स्वयं के प्रीवीपर्स एवं भारी प्रशासनिक खर्च को पूरा करना था।¹² भारी कर व्यवस्था का सही विश्लेषण ब्रिटिश भारत एवं राजपुताने की मुख्य रियासत जयपुर और जोधपुर में लगने वाले करों के साथ बीकानेर के करों की तुलना करने पर होता है। ब्रिटिश भारत में अपनी जमीन जायदाद बेचने पर कीमत का एक प्रतिशत लिया जाता था, तो बीकानेर में उसी पर पचीस प्रतिशत वसूल किया जाता था। ब्रिटिश भारत में गोद (Adoption) लेने पर मात्र 20 रुपये लिये जाते थे तो बीकानेर में सेठों से 2000 रुपये तक वसूल किये जाते थे। ब्रिटिश भारत में उत्तराधिकार (नबबमेपवद) पर तीन प्रतिशत तो, बीकानेर में 20 प्रतिशत वसूल किया जाता था।¹² इसी प्रकार से बीकानेर में आयात कर की तुलना भी दृष्टव्य है। बीकानेर में घी (घृत), चीनी, गुड़, फैंसी गुड्स व किराना नं. 1 पर आयात कर के रूप में क्रमशः 1 रूपया आठ आना, 4 रूपया, 1 रूपया गुड़, प्रतिमन व 1 रूपया 7 आना व 7 रूपया 13 आना प्रतिशत वसूल किया जाता था, जबकि जोधपुर रियासत में इन्हीं वस्तुओं पर क्रमशः घृत पर कुछ नहीं, चीनी पर 2 रूपया, गुड़ पर 12 आना प्रतिमन व फैंसी गुड्स पर 5 रूपया व किराना पर 1 रूपया 14 आना प्रतिशत के हिसाब से कर लगता था। जयपुर में क्रमशः घृत पर कुछ नहीं, 1 रूपया 8 आना, प्रतिमन व 3 रूपया 2 आना व 5 रूपया प्रतिशत के हिसाब से आयात कर वसूल होता था।¹³ अतः यहां का वैश्य वर्ग भारी कर-भार के कारण अप्रत्यक्ष रूप से अपने आप निष्क्रमण को बाध्य हो गया।

(3) राज्य की असुरक्षित अवस्था

निर्बल राजाओं के राज्यों में राज्य का वैश्य वर्ग असुरक्षा की भावना से ग्रस्त हो गया था। राज्य के सामन्त अपने ठिकानों के वैश्यों को धन के लालच में अनेक प्रकार से तंग करने का प्रयत्न करते थे। इस उद्देश्य हेतु वे अपने ठिकानों के वैश्यों को लुटेरों एवं धाड़ैतियों से लुटवाते हुए देखे जाते थे।¹⁵ ठिकानेदार इस कार्य को सम्पन्न करवाने हेतु बावरी, मीने और थौरी जाति के लोगों को जो कि राज्य की मुख्य अपराधी जातियां थी, को अपनी नौकरी में रखा करते थे।¹⁶ पाउलेट ने जागीरदारों की इन

आदतों के विषय में लिखा है कि वे अपने पट्टों के गांवों को छोड़ कर दूसरे पट्टों के वैश्यों पर डाका डलवाया करते थे।¹⁷ इससे आगे बढ़कर सामन्त लोग वैश्यों के लेन-देन के कार्य में भी दखल देने लगे थे।¹⁸ इन सब बातों से छुटकारा पाने के लिये यहां के वैश्य ब्रिटिश भारत में यहां अंग्रेजों ने डकेतियों और ठगों पर काफी अंकुश लगा दिया था, बसने में ही अपने आपको विशेष सुरक्षित समझा और इसलिये निष्क्रमण प्रारम्भ कर दिया।

(4) राजा द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन

रियासतों में राजा व इसके ठिकानों में ठिकानेदारों की रूपयों की मांग दिन पर दिन बढ़ रही थी। राज्यों के विकास के लिये भी धन की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति यहां के प्रवासी इन धनपतियों के द्वारा ही की जानी संभव थी। इसलिये राजा स्वयं यह चाहते थे कि उनके सेठ साहुकार बाहर जाकर कमावे और उनकी सहायता करें। ये लोग बाहर से धन कमाकर लाते और राज्य के विकास में योगदान देने लगे।¹⁸ राजा इससे प्रसन्न होकर अपने इन साहुकारों का राज्य में सम्मान करने लगे। उनको सम्मानार्थ जगात में माफी¹⁹, जगात चौकियों पर उनके सामान के तलाशी की माफी²⁰, फौजदारी एवं दीवानी के मामलों में न्यायालयों में हाजिर होने की माफिया स्वीकृत की गई।²¹ इसके अतिरिक्त उनकी औरतों एवं उत्तराधिकारियों को सोना, सिरोपाव व लवाजमें से सम्मानित किया जाने लगा।²² राज्य में उनको ऊँचे पदों पर नामजद किया जाने लगा।²³ इससे प्रभावित होकर राज्य के अन्य वैश्य भी धन कमा कर यहां लाने एवं सम्मान प्राप्त करने हेतु निष्क्रमण करने लगे।

उपरोक्त कारण राज्य की आंतरिक स्थिति एवं नीति से सम्बन्धित थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य कारण थे वे ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश नीति से सम्बन्धित थे :-

(1) जीविका कमाने के अधिक अवसर

यह सत्य है कि जीविका कमाने के कम अवसर वाले स्थान में व्यक्ति अधिक अवसर वाले स्थान की ओर अपने आप आकृष्ट हो जाता है। बीकानेर के वैश्यों के प्रयास का यह एक मुख्य कारण बन गया था। 18वीं सदी के प्रारम्भ तक बीकानेर राज्य में व्यापार कार्य काफी उन्नति पर था। राज्य में राजगढ़, रेणी और चूरू के बाजार आयातित माल से भरे रहा करते थे तथा देश-विदेश के व्यापारी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक जाने के लिये अपने सामान के साथ इस राज्य में से गुजरा करते थे।²⁴ इससे राज्य को राहदारी के रूप में काफी लाभ होता था।²⁵ किन्तु भारत में ब्रिटिश के आगमन के बाद यहां का परम्परागत व्यापार एवं व्यापारिक मार्गों का महत्त्व कम हो गया। इससे राज्य की आर्थिक स्थिति गंभीर हो गई। टॉड के अनुसार यहां का समस्त व्यापार ठप्प पड़ गया था।²⁶ यह वही समय था जबकि मराठे और पिण्डारी राजपूताने

में उत्पात मचा कर यहां की स्थिति खराब कर चुके थे। व्यापार कार्य में संलग्न व्यक्ति अपना जीवन यापन चलाना भी कठिन समझ रहे थे। दूसरी ओर ब्रिटिश भारत में इस समय अंग्रेज व्यापारी अफीम, गल्ला, रूई, ऊन व कपड़े के व्यापार का विकास करने में लगे हुए थे तथा वहां स्थानीय खपत के बाद भी वे वस्तुएँ निर्यात के लिये उपलब्ध थी। अतः ऐसे समय में इन वस्तुओं के व्यापार एवं लाभ की ओर यहां के व्यापारियों का ध्यान भी गया तथा अधिक लाभ को ध्यान में रखकर वे आसाम और मालवा की ओर जाकर बस गये एवं व्यापार करने लगे। वहां भी वे उन्हीं स्थानों पर पहुंचे जहां व्यापार के अवसर अधिक खुले थे तथा जहां की ग्रामीण जनता असंगठित व्यापार के कला-कौशल से अनभिज्ञ थी।²⁷

(2) अंग्रेज व्यापारियों द्वारा स्वागत

भारत में अंग्रेजों द्वारा राजसत्ता की स्थापना से राजपूताने की विभिन्न रियासतों के व्यापारियों के लिये भारत के प्रत्येक प्रांत में आकर व्यापार करने के अनेक मार्ग खोल दिये गये। अंग्रेज व्यापारियों ने अपने व्यापारिक ऑफिसों में, जहां पहले बंगाली एवं खत्रियों का बाहुल्य था, मारवाड़ियों को भी रखना प्रारम्भ कर दिया।²⁸ इसका कारण बंगालियों एवं खत्रियों की अपेक्षा मारवाड़ी कम खर्चीले थे और दूसरे वे व्यवहार में मिलनसार एवं ईमानदार भी थे।²⁹ अंग्रेज व्यापारियों के इस प्रोत्साहन से बीकानेर के अनेक वैश्य अंग्रेज ऑफिसों में काम करने के लिये यहां से बंगाल आदि में चले गये और वहां वे अंग्रेजों के दलाल, बेनियन अपितु धीरे-धीरे वे अपने ऑफिसों के सर्वप्रधान भी हो गये।³⁰ इसके अतिरिक्त इसी समय ब्रिटिश भारत में अंग्रेजों द्वारा विकसित बाजारों में कृषकों एवं छोटे उधमी व्यापारियों को उधार पैसे की आवश्यकता थी। अंग्रेज सरकार ने ब्रिटिश भारत में उधार दिये जाने वाले पैसे की गारन्टी के लिये ऋणदाता की भूमि की बन्धक बनाये रखने की व्यवस्था को मान्यता दी और महाजनों को अनेक प्रकार की सुरक्षा प्रदान की। इससे राजपूताने के जो सर्राफ बैंकिंग कार्य के लिये ब्रिटिश भारत में गये उनमें बीकानेर के सर्राफ प्रमुख थे।³¹

(3) अंग्रेजों की दुर्नीति

ऊपर अंग्रेजों ने अपने द्वारा विकसित व्यापार को बढ़ाने के लिये देश के अन्य व्यापारियों को उनके अनुकूल परिस्थितियां पैदा करके आकर्षित किया था। इसके साथ ही उन्होंने इस प्रकार की स्थिति भी पैदा कर दी जिससे यहां के व्यापारियों को बाध्य होकर निष्क्रमण करना पड़ा। इस नीति के अनुसार अंग्रेजों ने ब्रिटिश भारत में ऐसे स्थानों पर जगात चौकियां स्थापित कर दी जिनको पार करके राजपूताने के व्यापारियों को अपना माल राजपूताने में ले जाना एवं भेजना घाटे का सौदा हो गया। इससे विवश होकर राजपूताने के व्यापारियों ने अपने व्यापारिक प्रतिष्ठान इन जगात

चौकियों एवं बंदरगाहों के बीच में खोलना उचित समझा। टॉड के अनुसार बनारस में बंगाल के समुद्री नमक की अपेक्षा राजपूताने के नमक की खपत व मांग अधिक थी किन्तु राजपूताने से नमक लाने में आयात ड्यूटी देनी होती थी, अतः बंगाल का नमक मंगाना ही अधिक सस्ता पड़ता था।³² इन परिस्थितियों में निष्क्रमण आवश्यक हो गया था।

(4) नये बंदरगाहों एवं रेल मार्गों का विकास

नये व्यापारिक मार्ग एवं नये बाजार प्रायः भिन्न-भिन्न प्रदेशों के व्यापारियों के आकर्षण और वहां नई बस्तियों के बसाने के मुख्य साधन बन जाते हैं। ब्रिटिश भारत के बंदरगाह कलकत्ता, बम्बई, मद्रास एवं कराची का भी कुछ ऐसा ही इतिहास रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में बीकानेर के अनेक वैश्य जो बैंकिंग का काम करते थे। स्वयं बीकानेर में रह कर अपने एजेन्टों के माध्यम से इन बंदरगाहों के नगरों में अपना व्यापार कार्य करते थे।³³ परन्तु बंदरगाहों का विकास होने पर वे स्वयं भी वहां चले गये। प्रारम्भ में नदी मार्गों एवं बाद में रेल मार्ग के बन जाने से भी यहां के व्यापारियों को प्रवास के लिये काफी प्रोत्साहन मिला। सन् 1860 में दिल्ली और कलकत्ते के बीच रेल मार्ग बन जाने से 1860-1900 सन् के बीच प्रवास की गति बढ़ गई। बीकानेर सन् 1937 तक देश के समस्त मार्गों से रेल द्वारा जुड़ गया था। इससे बीकानेर से भी प्रवास में विशेष गति आई।³⁴

(5) निष्क्रमण दिये हुए व्यापारी स्वयं भी अपने अन्य साथियों के प्रवास के एक कारण थे

हम पूर्व में ही यह बतला चुके हैं कि निष्क्रमण एक साथ ही नहीं हो गया बल्कि इसका स्वरूप क्रमिक था। यह क्रम 18वीं सदी में प्रारम्भ हुआ था व भारत की स्वतंत्रता प्राप्त तक निरन्तर उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा। इस क्रम में जब एक वैश्य भारत में किसी अन्य स्थान पर प्रवास कर वहां अपना व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थापित कर लेता और अपने कारोबार को बढ़ाता तो इस निमित्त विभिन्न स्थानों पर कार्य करने के लिये उसके एजेन्टों की आवश्यकता भी बढ़ जाती थी। इन दलालों के चयन में वह यहां प्रयत्न करता कि उसके मूल निवासी उसकी जाति बिरादरी के लोग ही वहां आकर उसके विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करते रहें। इससे मूल निवास से अनेक लोग स्वदेश छोड़ कर वहां चले जाते थे। यही कारण था कि प्रवास करने वाले अधिकतर व्यापारी सर्वप्रथम किसी न किसी अपने पूर्व परिचित के यहां काम करते पाये जाते थे।³⁴ इस समय कलकत्ते आदि में बीकानेर के इन प्रवासी वाशिन्दी की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि कानपुर और कलकत्ते के अनेक बाजार और वहां की अनेक गलियों में इनके अतिरिक्त और किसी अन्य व्यक्ति के दर्शन दुर्लभ हो जाते थे।

सन्दर्भ

1. ए.सी. बनर्जी- राजपूत स्टेट्स एण्ड इस्ट इण्डिया कम्पनी, पृ. 184। टॉड- एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान भाग 2, पृ. 1155, असकिर्न- दी बेस्ट राजपूताना स्टेट्स एण्ड दी बीकानेर रेजीडेन्सी, पृ. 352
2. बीकानेर परवाना बही संवत् 1900 पृ. 225। इसमें महाराजाओं द्वारा सेठ साहुकारों को राज्य में वाणिज्य व्यापार करने पर अनेक प्रकार की सुविधायें देने के परवाने जारी किये गये थे, का वर्णन मिलता है।
3. बाल चन्द मोदी- देश में मारवाड़ी जाति का स्थान, पृ. 419-500
4. बाल चन्द मोदी- पृ. 145
5. सेंसस ऑफ इण्डिया 1911 वोल्यूम XXII राजपूताना अजमेर मेरवाड़ा पार्ट 1 पृ. 72
6. सेंसस ऑफ इण्डिया 1921- बीकानेर स्टेट पृ. 12
7. पोलिटीकल डिपार्टमेंट, बीकानेर 1916 नं. 369-378, पृ. 7-14
8. सरदार के.एम. पन्नीकर, हिज हाईनेस दी महाराजा ऑफ बीकानेर- ए बायोग्राफी, पृ. 7-8
9. सेंसस ऑफ इण्डिया 1941- बीकानेर स्टेट, पृ. 33-35
10. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, जिल्द 8, पृ. 213
11. बरूआ- मैं अपनी मारवाड़ी जाति से प्यार करता हूँ, पृ. 100
सत्यदेव विद्यालंकार- एक आदर्श समत्व योगी, पृ. 21
पोलिटीकल डिपार्टमेंट, बीकानेर 1919 नं. 226-255, पृ. 35
12. प्राईम मिनिस्टर ऑफिस, बीकानेर 1934 नं. ए- 1588-97, पृ. 64
13. वही, पृ. 35
14. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास (द्वितीय खण्ड), पृ. 414
रिपोर्ट्स ऑन दी पोलिटीकल एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी राजपूताना स्टेट्स;
1870-71, पृ. 224
15. पाउलेट गजेटियर ऑफ दी बीकानेर स्टेट, पृ. 105
16. पाउलेट, पृ. 110-12
17. रिपोर्ट्स ऑन दी पोलिटीकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी राजपूताना स्टेट्स, 1875-76, पृ. 216
18. पोलिटीकल डिपार्टमेंट, बीकानेर 1919 नं. 226-255, पृ. 43
फाईनेन्स डिपार्टमेंट बीकानेर 1925 नं. बी- 1161-8, पृ. 6
19. प्राईम मिनिस्टर ऑफिस बीकानेर 1928 नं. 275-78, पृ. 1
प्राईम मिनिस्टर ऑफिस, बीकानेर 1928 नं. 310-318, पृ. 7
20. प्राईम मिनिस्टर ऑफिस, बीकानेर 1928 नं. 1-17, पृ. 27
21. कौंसिल बीकानेर 1923 नं. ए- 48, पृ. 1

22. प्राईम मिनिस्टर ऑफिस, बीकानेर 1935 नं. बी- 467-469, पृ. 1
23. बीकानेर के अनेक प्रवासी सेठ-साहूकार आनेरेरी मजिस्ट्रेट, विधान सभा सदस्य, राज्य की विभिन्न समितियों के सदस्य एवं मंत्री तक बनाये गये।
24. अर्सकिन- पृ. 351
25. उपरोक्त
26. टॉड-ग्रन्थ 2, पृ. 160
27. आसाम में मारवाड़ी उन्हीं स्थानों पर गये जहां की जनता असंगठित एवं व्यापार से अनभिज्ञ थी
28. श्री बालचन्द मोदी, पृ. 416
29. उपरोक्त
30. श्री बालचन्द मोदी, पृ. 417
31. पोलिटीकल डिपार्टमेंट, बीकानेर 1916 नं. 369-378, पृ. 7-14
32. टॉड-ग्रन्थ 2, पृ. 110
33. मुंशी सोहनलाल तवारिख राज श्री बीकानेर, पृ. 72
34. सेंसस ऑफ बीकानेर 1941, पृ. 35
35. चन्द्रराज भण्डारी- भारत के व्यापारी, इसमें व्यापारियों के परिचय में प्रायः हर अध्याय में इसकी पुष्टि होती है।

अर्बुदमण्डल में प्रचलित मुद्रा व्यवस्था एवं माप

डॉ. रवीन्द्र टेलर एवं वीरेन्द्र शर्मा

अर्बुदमण्डल कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से भारत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। राजपूताने में सिक्कों की पहली स्वतंत्र टकसाल जयपुर में स्थापित की गई किन्तु अर्बुदमण्डल से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर वहां के सांस्कृतिक परिवेश को जाना जा सकता है। अर्बुद क्षेत्र से प्राप्त शिलालेखों, ताम्रपत्रों, इकरारनामों आदि के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में कौन-कौनसी मुद्रायें एवं माप प्रचलित थे।

अर्बुदमण्डल में प्राचीन काल से केन्द्रीय सत्ता की मुद्रायें प्रचलित रही। गुप्तों के शासन काल में यहां महेन्द्रादित्य के मोर के अंकन वाले सिक्के मिलते हैं।¹ उस काल में सिक्के सामान्यतया सोने और चांदी के बनते थे। जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि नवीं से ग्यारहवीं सदी तक अर्बुदमण्डल में गुजरात के सोलंकी राजाओं के सिक्के चला करते थे, क्योंकि विमलशाह ने सोने के सिक्के बिछाकर विमलवसहि मंदिर के लिये भूमि प्राप्त की थी।²

आरासणां कुम्भारिया³ के 1344 आषाढ़ सुदि 15 के लेख से ज्ञात होता है, उस समय यहां प्रचलित सिक्का द्रम्म था। द्रम्म के प्रचलन की पुष्टि अजारी के संवत् 1223 फाल्गुण सुदि 13 रविवार के शिलालेख से भी होती है।⁴ चन्द्रावती एवं भीनमाल इस काल में व्यापारिक केन्द्र थे। भीनमाल से प्राप्त चाचिगदेव लेख में भी द्रम्म मुद्रा का उल्लेख है।⁵ द्रम्म सोने व चांदी दोनों का होता था। डॉ. अल्लेकर इसका मूल्य छः आने आंकते हैं।⁶ चांदी के सोलह द्रम्म के बराबर एक निष्क होता था, यह निष्क सोने का सिक्का था। एक निष्क में सोलह माशे होते थे। निष्क को एक कर्ष के बराबर भी माना गया है।⁷

संवत् 1200 के आस पास यहाँ हूणों की मुद्रा शैली पर प्रचलित गदहिया सिक्कों का भी प्रचलन था। सन् 1973 में कासिन्द्रा गांव से चार विन्टल गदहिया सिक्के प्राप्त हुये थे जो सिरोही कोषागार से पड़े हुए हैं। ईरान के सासानियन शासकों के सिक्के की नकल रूप में ये हूणों ने ये सिक्के ढाले थे। इन सिक्कों में एक ओर राजा का चेहरा लेख सहित और दूसरी तरफ जलते हुए अग्निकुण्ड के दोनों तरफ एक-एक पुरुष खड़ा दिखाया गया है।⁸ यह सिक्के पहले आकार में बड़े थे किन्तु बाद में इसका आकार छोटा होता गया, जिससे राजा का चेहरा पहचानना कठिन हो

गया। लोगों ने राजा के चेहरे को गधे के खुर जैसा ठहरा दिया और सिक्का गदहिया नाम से प्रसिद्ध हो गया।⁹

14वीं शताब्दी में अर्बुदमण्डल में मुस्लिम मुद्रा प्रचलन में आई जिनमें फदिया एवं पीरोजी प्रमुख थे। ये दोनों सिक्के फिरोज तुगलक द्वारा चलाये गये थे¹⁰ और गांव के विठठलेश्वर मंदिर के 1532 ईस्वी के भादवा सुदि ग्यारस के शिलालेख में इन सिक्कों का नाम आया है। फदिया मूल रूप से चांदी का सिक्का था जो पुराने दो आने के बराबर यानि रूपये का आठवां भाग था। वर्तमान में भी जालौर में शादी-विवाहों एवं शुभ अवसरों पर पैसे वितरित करने की प्रथा को फदिया देना कहते हैं। इस काल में फदिये के साथ दुगानी व दोकड़ा नामक मुद्रा भी प्रचलित थी। एक रूपये में 8 फदिये व 100 दोकड़े होते थे। एक फदिया में पांच दुगानी होती थी।¹¹

स्वर्ण मुद्राओं में अर्बुदमण्डल में अकबरी मोहरों का प्रचलन रहा था, ये मोहरें तीन प्रकार की मिली हैं। 1. हाथ की गोल, 2. डाई में ढली गोल, 3. चौकोर। इनमें एक तरफ कलमा तथा दूसरी ओर बादशाह का नाम और टकसाल के संकेत चिन्ह उत्कीर्ण हैं। राजा कुम्भा द्वारा भी टका नाम से एक सिक्का ढलवाया गया।¹² अर्बुदमण्डल में यह टका प्रचलन में रहा जो सोने एवं चांदी दोनों धातुओं से बनता था।

अर्बुदमण्डल के शासकों को प्रारम्भ में परमार एवं मुस्लिम शासकों से तथा बाद में गुजरात के सोलंकी, मेवाड़ के महाराणाओं से संघर्ष करना पड़ा। अतः सिरोही के शासक अपनी टकसालों में सिक्के नहीं ढाल पाये। सर्वप्रथम सिरोही महाराव अखैराज ने अखैशाही के नाम से चांदी के सिक्के ढाले। इसकी ढलाई सुनार एवं कंसारे करते थे। मूलतः अखैशाही शब्द सिरोही राज्य में रूपये के लिये प्रयोग में लाया जाता है।¹³ दधवाड़िया खेमराज ने महाराव अखैराज के समय का वर्णन किया है। एक छन्द में 'गालिया गरथ खजाने गेहणा' के कथन में सम्भवतः ढलाई की ओर संकेत किया है। गरथ शब्द का अर्थ है, मूल्यवान धातु की ढलाई करने से है। सिरोही की टकसाल में ढब्बूशाही सिक्के भी ढाले गये, ये तांबे के थे तथा भारी एवं मोटे होते थे।

1 छटाँक - 5 ढब्बूशाही

16 छटाँक - 1 सेर

एक सेर - 80 ढब्बूशाही

ढब्बू के भारी होने के कारण इसका प्रयोग बाट के रूप में किया जाने लगा। विक्रम संवत् 1245 वैशाख सुदि सोमवार के गोहिली गांव के लेख से जवांसे नाम की नई मुद्रा का नाम भी आया है। लेख उपयुक्त प्रकार है :-

“संवत् 1245 वर्षे वैशाख सुदी एकम सोमे गोहिली वास्तव्य रा. रणधवल रा. मुंजलदेवी ढीपड़ापन अपंकुमार केरा आदाने दिय जवांसे 16 चडावली¹⁴।

सम्भवतः जवांसे यव जौ का नाम होगा जो सोना तोलने के काम में लाया जाता था। सोना तोलने में जब-यब का तोल तोला, मासा, रत्ती - जब आदि के रूप में होता था। विक्रम संवत् 1506 आषाढ सुदि 2 के विमलवसहि मंदिर के लेख संख्या 244-245 में दानमुंडके विषय में गाडियों एवं बणजारों की पोठों की रखवाली के लिये लगाया गया 27 बलावी माफ करने का उल्लेख है। इस लेख में दुगाणी शब्द का प्रयोग हुआ है। दुगाणी एवं बनावी उस काल की प्रचलित मुद्रा थी।¹⁵ विशोपक नामक नई मुद्रा का उल्लेख लूणवसहि मन्दिर के लेख से होता है। अर्बुदमण्डल में रूपये शब्द का प्रयोग 1851 विक्रम संवत् के जीरावला मंदिर के लेख में हुआ है। लेख इस प्रकार है :- “जीर्णोद्धार करणन हजार 30111 रूपीया खरची बील लीधो श्री जीरावल वालासू”¹⁶ “रूपया भीलाड़ी 71 एकोत्तर” भीलाड़ी नामक सिक्के पर शाह आलम का लेख है। सम्भवतः यह उसी के काल था। मिस्टर वाइल्डर के अनुसार 1819 ईस्वी में यह सिक्का अजमेर में प्रचलित था। मेवाड़ में यह सिक्का भीलवाड़ा में ढाला जाता था। यह अर्बुदमण्डल में भी प्रचलित था। 100 भीलाड़ी कलदार का मूल्य शाही कलदार के 71 रूपये, 12 आने के बराबर था। इसका वजन 170 ग्रेन था। कलकत्ता तालिका के अनुसार 100 भीलाड़ी सिक्कों का मूल्य 84663 ब्रिटिश रूपये था।¹⁷ सन् 1903 में महाराव केसरीसिंह ने भीलाड़ी सिक्के व ब्रिटिश सिक्के में अदला बदली में प्रजा के नुकसान को जानकर ब्रिटिश कलदार रूपये का सिरोही क्षेत्र में प्रचलन किया। सिरोही में चल रहे भीलाड़ी सिक्कों को ब्रिटिश रूपये से बदला गया। (120 भीलाड़ी = 100 ब्रिटिश रूपये) महाराव शिवसिंह (1847-1861 ईस्वी) ने शिवशाही सिक्के की ढलाई सिरोही में करवायी। इसे जनाई कहते हैं, इसका मूल्य आधे पैसे के बराबर होता था। तांबे के भाव में परिवर्तन के कारण यह सिक्का बन्द हो गया और अंग्रेजी रूपया, आना, पाई का प्रचलन हुआ।¹⁸

मुद्रा के अतिरिक्त शिलालेख नाप-तौल के साधनों की ओर भी संकेत करते हैं। आबू के पीतलहर मंदिर के संवत् 1497 के लेख के अनुसार यहाँ अनाज के तोल के लिये सेई, माणा, पायली व पावला, घी तेल के नाम के लिये 'करस' एवं 'कलश' के नाम मिलते हैं।¹⁹

सेई - चार माणों के बराबर।

माणा - लकड़ी या लोहे का बना हुआ पात्र जिसमें चार सेर आता था।

पायली - चार पावलों के बराबर।

पावला - पाव सेर के बराबर।

स्वतंत्रता के उपरांत पूरे देश में एक समान सिक्कों एवं नाप-तौल के संसाधनों का प्रचलन किया गया एवं तब से इन पुराने नाप-तौल एवं सिक्कों का प्रचलन पूर्णतः बन्द हो गया।

संदर्भ

1. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, सिरोही का इतिहास, पृष्ठ 21
2. मुनि जयन्त विजय, आबू, पृष्ठ 33
3. मुनि जयन्त विजय, अर्बुदाचल प्रदक्षिणा 'जैन लेख सन्दोह', लेखांक 34, पृष्ठ 12
4. शोध पत्रिका, वर्ष 22, अंक 3, पृष्ठ 7
5. जैन तीर्थ सर्व संग्रह, पृष्ठ 178
6. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृष्ठ 232
7. डॉ. सोहन लाल पटनी, अर्बुद परिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 183
8. डॉ. सोहन लाल पटनी, अर्बुद परिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 183
9. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, सिरोही का इतिहास, पृष्ठ 107
10. बैवकृत राजपुताने के सिक्के, अनुवादक - मांगीलाल मयंक, पृष्ठ 161
11. राव मालदेव की बात, परम्परा भाग - II, पृष्ठ 63, 64, 85
12. बैव कृत- राजपुताने के सिक्के, उपरोक्त, पृष्ठ 8
13. डॉ. सोहन लाल पटनी, अर्बुद परिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 185
14. जैन तीर्थ सर्व संग्रह पृष्ठ 246
15. अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संग्रह, पृष्ठ 90
16. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख सन्दोह, लेखांक 177, पृष्ठ 61
17. डॉ. सोहन लाल पटनी, अर्बुदपरिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 187
18. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, सिरोही का इतिहास, पृष्ठ 21
19. डॉ. सोहन लाल पटनी, अर्बुदपरिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 188

महामन्दिर आसण तालके आयस श्री मोतीनाथजी के आसण की हथबही का सांस्कृतिक महत्त्व - एक अध्ययन

-डॉ. ज्योत्सना व्यास

छठी शताब्दी में विकसित नाथ सम्प्रदाय का भारत पर उल्लेखनीय प्रभाव रहा है। सम्पूर्ण भारत में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव हमें कई विद्वानों के ग्रन्थों से ज्ञात होता है।¹ भारत में नाथों के करीब 676 आसनों की जानकारी हमें मानसिंह पुस्तक प्रकाशन शोध केन्द्र, मेहरानगढ़ में संग्रहित लगभग 52 नाथों से सम्बन्धित बहियों से मिलता है। भारतीय इतिहास जानने के स्रोतों में बहियों का महत्त्व नकारा नहीं जा सकता है। इन बहियों से हमें तत्कालीन समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है। हम इन ठोस स्रोतों का अध्ययन कर इतिहास की पुष्टि कर सकते हैं। इसी कारण मेरे शोध पत्र का मुख्य ध्येय मानसिंह पु. प्रकाशन में संग्रहित महामंदिर ताल की हस्तबही क्रमांक 2941 (वि.सं. 1931) से ज्ञात महत्वपूर्ण जानकारियों को उजागर करने से है।

इन्हीं नाथ सम्प्रदाय के जालौर में जलंधरनाथ जी के मन्दिर के पूजारी देवनाथ जी के आशीर्वाद से 1803 ई. में महाराजा मानसिंह को मारवाड़ राज्य प्राप्त हुआ तथा 17 जनवरी 1804 ई. को उनका राज्यभिषेक हुआ।² तब महाराजा मानसिंह ने कुछ समय बाद ही मारवाड़ में नाथ सम्प्रदाय को संरक्षण प्रदान किया। महाराजा मानसिंह ने आयस देवनाथ सहित उनके चार भाई क्रमशः हरनाथ जी, सूरतनाथ जी, ओपनाथ जी तथा भीमनाथ जी का जोधपुर आगमन पर स्वागत किया। आयस देवनाथ जी को अपने सामने हाथी पर बैठाया तथा उनके भाईयों को सम्मान के साथ पालकी में बैठाकर इज्जत प्रदान की गई।³ इसके अतिरिक्त आयस देवनाथ जी को छोपरा (चौपड़ा) गाँव का पट्टा दान दे दिया गया।⁴

महाराजा ने आयस देवनाथ जी के भाईयों को अलग-अलग नाथ मन्दिरों का कार्य सौंपा। जिसमें हरनाथ जी को सिरे मन्दिर (जालौर) का आसन, सूरतनाथ जी को 1804 ई. में निर्मित निज-मन्दिर का आसण, ओपनाथ जी को गोळ गाँव

का पट्टा तथा भीमनाथ जी को 1821 ई. में निर्मित उदयमन्दिर का आसन सौंपा गया। इस प्रकार महाराजा मानसिंह ने पाँचों भाईयों को पाँच ठिकानों के आसन सौंपे।⁵ महाराजा मानसिंह ने वि.सं. 1861 (सन् 1805) में माघ सुदी पंचमी को महामन्दिर की प्रतिष्ठा करवाई देवनाथ जी को महामन्दिर का आसन प्रदान किया गया। इस अवसर पर सरदारों एवं मुस्तदियों द्वारा देवनाथ जी को भेंट चढ़ाई गई।⁶ महाराजा मानसिंह ने समस्त मारवाड़ में नाथों के मन्दिर बनाने का आदेश दिया।⁷ प्रत्येक सोमवार को महाराजा मानसिंह स्वयं महामन्दिर के दर्शन करने जाया करते थे। महाराजा मानसिंह ने अपनी नाथ आस्था को विभिन्न प्रकार से जन-जन तक पहुँचाया था।

महाराजा मानसिंह ने राज्य का प्रशासनिक कार्य भी आयस देवनाथ जी को सौंप दिया था। जिससे सरदार वर्ग प्रसन्न था। उन्होंने आयस देवनाथ जी और उनके निर्देशानुसार राजकार्य संभालने वाले इन्द्रराज सिंघवी को मारने का षडयन्त्र रचा। दीवान अरवैचन्द ने नवाब मीरखाँ के साथ मिलकर मोती महल⁸ के अन्दर दोनों को मरवा दिया। महल के अन्दर हुआ शोर शराबा सुनकर सूरजपोल एवं अन्य पोलें बन्द करवा दी गई। इस घटना से महाराजा मानसिंह बहुत क्रोधित हुए मगर आयस देवनाथ जी के भाई भीमनाथ ने महाराजा को समझाकर शान्त किया। जोधपुर गढ़ के ऊपर जयपोल के पास आयस देवनाथ को दफना कर समाधि बनाई गई।⁹ यहाँ पर पास में एक पानी का टांका भी स्थापित था। यह समाधि तथा टांका दोनों लुप्त है।¹⁰

महाराजा मानसिंह ने भीमनाथ के कहने पर महामन्दिर की गद्दी आयस देवनाथ जी के पुत्र लाडूनाथ जी को सौंपी।¹¹ आयस देवनाथ के उत्तराधिकारी लाडूनाथ के समय (1815-1828 ई.) में महाराजा मानसिंह ने सम्पूर्ण भारत के नाथ आसनों का सर्वेक्षण करवाया था तथा जिसकी सूची बही संग्राहक 203 में लिपिबद्ध कराई।¹² संभवतः यह इस प्रकार का पहला सर्वेक्षण था। इस बहीनुमा ग्रन्थ से महाराजा मानसिंह के नाथों के प्रति महान योगदान का पता चलता है। यह बहीनुमा ग्रन्थ मानसिंह पुस्तक प्रकाशन में सुरक्षित है तथा इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. हुकुमसिंह जी भाटी ने किया है।

संवत् 1885 में लाडूनाथ जी की आक्समिक मृत्यु के बाद उनके दो-तीन वर्ष के पुत्र भैरूनाथ को महामन्दिर की गद्दी पर बैठाया गया। मगर छः महिने बाद भैरूनाथ की भी मृत्यु हो गई। तब भीमनाथ ने जोधपुर की गुरु पदवी हासिल कर राज्य कार्य अपने हाथ में ले लिया तथा अपने पुत्र लक्ष्मीनाथ को महामन्दिर की

गद्दी पर बैठाया।¹³ उसके पश्चात् महामन्दिर की गद्दी पर आयस लक्ष्मीनाथ जी के पुत्र आयस मोतीनाथ जी बैठे। वि.सं. 1931 में इन्हीं आयस मोतीनाथ जी द्वारा लिखवायी गई करीब सवा सौ साल पुरानी हस्तबही के क्रमवार अध्ययन से प्राप्त जानकारी इस प्रकार है -

इस बही में आयस श्री मोतीनाथ जी के आसन के काल में गए पट्टे-परवानों की नकले, आसामियों के नामों का विवरण तथा मोतीनाथ जी के देहान्त का विवरण प्राप्त होता है। इस बही के अध्ययन से एक यह तथ्य भी उभर कर सामने आया कि आयस श्री मोतीनाथ जी द्वारा दिए गए पट्टों में शाही हुकुमत का किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इस बही में रूक्के-परवानों का उल्लेख भी किया गया है। इस बही में प्राप्त परवानों से उस समय महामन्दिर के अन्तर्गत आने वाले गाँवों की उपज से प्राप्त हासिल इत्यादि के सम्बन्ध में सम्बन्धित व्यक्ति विशेष को सूचित करते हुए कर से प्राप्त राशि को यथाशीघ्र महामन्दिर में जमा करवाने के आदेश का भी उल्लेख है। बही से तत्कालीन सामाजिक आवास की भी अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। उस समय महामन्दिर के आस-पास के क्षेत्र में 32 पावन जातियों के घरों की संख्या का उल्लेख भी इस बही में हुआ है। इन घरों की गणना वि.सं. 1931 की मिक्सर सुदी नौ को ब्रिटिश एजेण्ट के कथानुसार महामन्दिर के आयस श्री मोतीनाथ जी ने करवायी थी। जिसका सिलसिलेवार वर्णन इस बही में दिया गया है। इन घरों की संख्या 443 दी गई है। इस बही में यह भी ज्ञात होता है कि महामन्दिर में सिले जाने वाले वस्त्रों के लिए दर्जियों को प्रतिदिन 1 रुपया मजदूरी दी जाती थी। बही में शीतकाल में वस्त्रों पर होने वाले खर्च का ब्यौरा भी मिलता है तथा साथ ही जिन-जिन आसामियों के वस्त्र (धोतियाँ तथा अंगरखियाँ) बनवाए गए थे उनका भी नामोल्लेख हमें इस बही में मिलता है। इन वस्त्रों को सिलने का कार्य दरजीनियाँ करती थी।

बही में रूक्को का उल्लेख भूखण्ड देने के सम्बन्ध में मिलता है। उदाहरणतः “श्री उदयमन्दिर के पड़ाव के रास्ते झालामण्ड के मार्ग से उगवन (पूर्व) दिशा में खेत-1 के किरायेदार माली टिकम चन्द से मुकाता (किराया) के रूप में राशि जमा करवाने के पश्चात् खेत पर उनका एकाधिकार मान लिया जाए।” बही में जोधपुर परगने के थम्बुकड़ा गाँव का भी काफी जगह उल्लेख हुआ है। इस गाँव से प्राप्त हासिल की रकम का महामन्दिर आसण में आना भी उल्लेखित हुआ है। इस बही में महामन्दिर के मोती चौक के कोठार में प्राप्त सामग्रियों का भी उल्लेख मिलता है। इस कोठार का वि.सं. 1932 में निरक्षण किया गया तब वहाँ पर

स्थित शिलाखाने में प्राप्त सामग्रियों का उल्लेख भी इसी बही में दिया गया है। इन सामरिक सामग्रियों की कुल संख्या 143 दी गई है। जो इस प्रकार है:- इन सामग्रियों में चार आनी-6 नग (दो पर सोना चढ़ा हुआ है); एक बखतर का सेट (जिसमें टोप तथा अगारखियाँ भी हैं); जालीदार अंगरखी-1; बन्दूके - 58; बन्दूके (बिना कून्दे की) - 12; तलवार-1; कटारियाँ-17। इसके अतिरिक्त तमन्चा, छूरी, ढाल, छवरी (चांदी), मोरछल, हाथी दाँत की गुप्ती, पड़दला इत्यादि भी इस कोठार से प्राप्त हुए हैं। इससे महामंदिर के पुख्ता सुरक्षा के इंतजामों की जानकारी प्राप्त होती है। इन सब के साथ विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का भी उल्लेख हुआ है जैसे फिलालेन, खिनखाप, मखमल इत्यादि। इस कोठार में रसोड़े में काम आने वाले बर्तनों का भी हवाला दिया गया है।

इस बही में वि.सं. 1932 की वैशाख वदी में अमल पर हुए खर्चों का भी उल्लेख किया गया है। इसमें अमल लेने वाले आसामियों के नामोल्लेख के साथ बकाया राशि का भी वर्णन किया गया है। बही में मनवार के तौर पर सरदारों के नामोल्लेख के साथ-साथ किए गए खर्चों का भी विवरण है। इस बही में महामन्दिर ताल के प्रशासनिक ओहदेदार तथा कामदारों का भी उल्लेख मिलता है। बही में रूक्को का भी उल्लेख हुआ है जिसमें एक रूक्के से प्रकट होता है कि नाथपुर महामन्दिर में एक दुकान मुहत्ता उत्तमचन्द की थी उसे जिनगर (मोची) रामिया को किराये पर दिया गया था। इस रूक्के में वि.सं. 1932 की ज्येष्ठ वदी छः रविवार को कामदार के बाबत करारनामे का उल्लेख किया है। इस करारनामे के अनुसार जिनगर रामिया को एक दिन का एक रुपया किराये के तौर पर मुहत्ता उत्तमचन्द को देने की बात लिखी गई है। इस बही से हमें राज्य के प्रशासनिक कार्यों में कामदार के कार्य पर प्रकाश पड़ता है। आगे इस बही में इस प्रकार के काफी रूक्के व रसीदों का उल्लेख किया गया है।

वि.सं. 1933 में महामन्दिर के महलों की मरम्मत करवाने में हुए खर्चों की भी जानकारी मिलती है। इस समय घाँची जाति के रतना नाम के कारीगर को प्रतिदिन 1 रुपया हाजरी देने का उल्लेख है। आगे बही में आयस श्री मोतीनाथ जी की मृत्यु पर प्रकाश पड़ता है। बही के अनुसार आयस श्री मोतीनाथ जी की मृत्यु वि.सं. 1932 की चैत्र वदी अमावस्या घड़ी 4 दिन चढ़ने पर हुई थी। इनकी समाधि पूर्व आयस श्री लक्ष्मीनाथ जी की समाधि के पास ही बनवायी गई थी। आयस श्री मोतीनाथ जी के बाद महामन्दिर की गद्दी श्री गैबीनाथ जी को सौंपने का उल्लेख भी इस बही में है। इसमें बड़े आयस श्री मोतीनाथ जी की छः मासी

के उत्सव में दान में दिए गए कपड़ों पर किए खर्च का विवरण भी इस बही में दिया गया है।

बही के अगले पृष्ठों में आयस श्री गैबीनाथ जी महाराज के द्वारा ठीकाने के ठाकुरों को दिए गए परवानों का उल्लेख किया गया है। उदाहरणतः लाठौती के ठाकुर प्रताप सिंह को अपने अधिकृत भूखण्ड पर बकाया राशि देने हेतु आदेश दिया गया है। इस बही में आयस श्री गैबीनाथ जी द्वारा अपनी कौराणी के लिए बनवाए गए आभूषणों का उल्लेख भी मिलता है। यह आभूषण सुनार गंगाराम के मार्फत बनवाए गए थे। इस बही से एक अनोखी घटना का भी पता चलता है कि आयस श्री गैबीनाथ जी शिकार पर गए थे तथा उनकी सवारी रायपुर से गुजरने पर उन को चढ़ाई भेटों का उल्लेख भी दिया गया है। बही में महामन्दिर के पशु बाड़े में उपलब्ध पशुओं की भी सूची दी गई है जिसमें पशुओं की कुल तादाद 50 बतलायी है। इस प्रकार की कई जानकारियाँ हमें इस बही में दृष्टव्य होती हैं।

इस हस्तबही का महत्व यह है कि हमें तत्कालीन समाज के अनेक पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इस हस्तबही से हमें अंग्रेजों के शासन काल के समय भी महामन्दिर आसन के महत्व के बारे में जानकारी मिलती है। तथा यह भी साबित होता है कि अंग्रेजों द्वारा महाराजा मानसिंह के काल में इस 'उपनगर' यानि महामन्दिर में निरीक्षण करवाया गया था। तभी आयस मोतीनाथ जी ने महामन्दिर के घरों की गणना, मोती चौक में स्थित कोठार की सामग्रियों की सूची, बाड़े में पशुओं की सूची को इस हस्तबही में उल्लेखित करवाया था। अतः यह तो स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों ने महामन्दिर के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए, वहाँ की दैनिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करते थे। इसके अतिरिक्त इस बही में उल्लेखित रूक्के, परवाने, पट्टे आदि से इस बात पर भी प्रकाश पड़ा है कि अभी भी महामन्दिर आसन के अन्तर्गत कुछ गाँव थे तथा आयस श्री मोतीनाथ जी का इन पर अधिकार था। इस हस्तबही से जोधपुर के महामंदिर तालके आसन के तत्कालीन इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

संदर्भ

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1981; डॉ. हुकम सिंह भाटी, भारत में नाथा रा आसण, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर - 2003; डॉ. कमलकिशोर साँखला, राजस्थान के नाथ सम्प्रदाय का सांस्कृतिक इतिहास, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन, 2011
2. हकीकत बही जोधपुर (वि.सं. 1856-60), संख्या-8, एक 452

3. डॉ. नारायण सिंह भाटी द्वारा सम्पादित, महाराजा मानसिंह री ख्यात, पृ. 23
4. हकीकत बही जोधपुर (वि.सं. 1856-60), संख्या-8, एक 452
5. डॉ. पद्मजा शर्मा, उपरोक्त, पृ. 143
6. डॉ. नारायण सिंह भाटी, उपरोक्त, पृ. 38-39
7. डॉ. कमल किशोर साँखला, उपरोक्त, पृ. 66
8. डॉ. नारायण सिंह भाटी, उपरोक्त, पृ. 108
9. डॉ. नारायण सिंह भाटी द्वारा सम्पादित, मारवाड़ रा परगने की विगत, भाग-1, पृ. 573
10. वाई.डी. सिंह, राजस्थान के कुएँ एवं बावड़ियाँ, पृ. 57
11. डॉ. पद्मजा शर्मा, उपरोक्त, पृ. 151
12. महाराजा मानसिंह पुस्तकालय, मेहरानगढ़ में संग्रहित नाथों से सम्बन्धित बहियाँ
13. डॉ. पद्मजा शर्मा, उपरोक्त, पृ. 154

राजस्थान में प्रचलित एवं मान्य ब्याज दरें तथा विधियाँ (1750ई. - 1850 ई.)

डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत

ब्याज पर रूपया उधार लेन- देन की प्रथा प्राचीन है। मध्यकालीन राजस्थान की बोरगत बहियों के ऋण पत्रों में 'ब्याज' शब्द का प्रयोग मिलता है। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों एवं स्मृति ग्रन्थों में ब्याज सम्बन्धी कानूनों एवं नियमों का विस्तृत उल्लेख करते हुये ब्याज दरों के निर्धारण के बारे में मत प्रकट किये हैं। इन ग्रन्थों में ब्याज हेतु वृद्धि, वार्द्धि, कुसीद एवं ब्याज शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिसमें ब्याज शब्द का प्रयोग परवर्ती है।¹ प्राचीन भारत में विशेषतः मनु, नारद, बौधायन, बृहस्पति, गौतम एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों एवं धर्मशास्त्रियों ने ऋण प्रणाली में प्रचलित विभिन्न ब्याज दरों एवं उससे सम्बन्धित नियमों, सिद्धान्तों एवं व्यवस्थाओं के बारे में विशद चर्चा की थी, अपितु एक निश्चित ब्याज दर का तो उल्लेख नहीं किया, फिर भी बौधायन ने 10 प्रतिशत, गौतम ने 15 प्रतिशत एवं कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 15 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर को उचित एवं विधि सम्मत बताया था, इन ग्रन्थों में ब्याज दरों को निर्धारित करने में सामाजिक स्तरीकरण को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक वर्ण के लिये अलग-अलग ब्याज दरों को निर्धारित किया।²

मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये क्रमशः 24,36,48 एवं 60 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर निर्धारित की थी।³ पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के अभिलेखों में ब्याज दरों की जानकारी मिलती है, भीनमाल अभिलेख (वि.स. 1262) जालौर अभिलेख (वि.स. 1323) और आबू अभिलेख (वि.स. 1228) में क्रमशः 30,12, एवं 30 प्रतिशत ब्याज दरों का उल्लेख मिलता है।⁴

प्रस्तुत लेख की समयावधि में राजस्थान की ऋण प्रणाली में प्रचलित एवं मान्य ब्याज दरों तथा विधियों के अध्ययन के लिये राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर एवं लोक संस्कृति शोध संस्थान नगर- श्री, चुरू आदि संस्थानों में विभिन्न रियासतों के दस्तावेजों, बोरगत बहियों एवं निजी संग्रहों से प्राप्त अभिलेखागारीय स्रोतों से पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है। ब्याज दरें ऋण की विभिन्न पद्धतियों, ऋण की आवश्यकता, ऋणी की आर्थिक एवं

सामाजिक स्थिति, ऋण के पुनर्भरण की दशा, विभिन्न राज्यो एवं संस्थाओं में अन्तर के आधारे पर अलग-अलग थी।

निरूपित काल में ब्याज दरों का निर्धारण मासिक आधार पर किया गया है, प्रस्तुत लेख में अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ब्याज की वार्षिक दरो का प्रयोग किया है। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि सुरक्षित एवं असुरक्षित ऋणों के लिये अलग-अलग ब्याज दरें वसूली जाती थी, साहूकारों के द्वारा ऋणी को ऋण देने के एवज में किसी वस्तु, मकान, दुकान, आभूषण एवं खेत आदि को गिरवी रखा जाता था, इस प्रकार ऋणों पर ब्याज दरें असुरक्षित एवं गैर जमानती ऋणों पर वसूली जाने वाली ब्याज दरों से अपेक्षाकृत कम होती थी, क्योंकि साहूकार गिरवी रखी वस्तुआ के उपयोग एवं बैचान से मूल राशि सहित अपने ब्याज की वसूली कर सकता था। असुरक्षित ऋण देने पर ऋणदाता को जोखिम रहता था, इस कारण ब्याज दर अधिक होती थी। भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर में उपलब्ध मेड़ता के पारीक ब्राह्मण साहूकारों की लोकमणी संग्रह बहियों के विभिन्न ऋण पत्रों के गहन अध्ययन से स्पष्ट दिखाई देता है कि अडाणा (गिरवी) ऋण पर 12,15 एवं 18 प्रतिशत एवं असुरक्षित पर 24, 36 प्रतिशत तक वार्षिक दरों से ब्याज वसूला जाता था।⁵ प्राचीन भारत में भी कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में व्यापारिक जोखिम की स्थिति में 120 प्रतिशत एवं 240 प्रतिशत वार्षिक दरों तक ब्याज वसूलने का उल्लेख किया है।⁶

सुरक्षित (अडाणा) ऋणों पर ब्याज दरें

वर्ष	ऋण राशि	अडाणा (गिरवी) रखी वस्तुएं	ब्याज दर (वार्षिक)
1751 ई. ⁷	20 रूपये	तगडी	15 प्रतिशत
1751 ई. ⁸	56 रूपये	19 प्रकार के आभूषण	15 प्रतिशत
1775 ई. ⁹	31 रूपये	8 अडाणा 22 बीघे का खेत	18 प्रतिशत
1839 ई. ¹⁰	148 रूपये	गलसरी	18 प्रतिशत

असुरक्षित एवं गैर-जमानती ऋणों पर ब्याज दरें

वर्ष	साहूकार	ऋणी	ऋण राशि	ब्याज दरें
1789 ई. ¹¹	शाह राधोदास	रावत विजयसिंह	595 रूपय	24 प्रतिशत
1827 ई. ¹²	कल्याणगिरी गुसाई	बीकानेर राज्य	301 रूपय	36 प्रतिशत
1827 ई. ¹³	हिन्दुमल चोटिया	बीकानेर राज्य	1200 रूपय	36 प्रतिशत

इस प्रकार दोनों तालिकाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो रहा है कि सुरक्षित एवं असुरक्षित ऋणों की ब्याज दरों में अन्तर था। सुरक्षित ऋणों पर 15 प्रतिशत, 18

प्रतिशत एवं असुरक्षित ऋणों पर 24 एवं 36 प्रतिशत ब्याज दरे वसूली जाती थी। समकालीन बोरगत बहियों एवं दस्तावेजों के अध्ययन से राज्य ऋण, कृषिगत ऋण एवं वाणिज्यिक ऋणों पर अलग - अलग ब्याज दरें निर्धारित थी, साहूकारों द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले ऋण पर सामान्य ब्याज दर वसूली जाती थी। हकीकत बही नम्बर 4 एवं अरजी बही नम्बर 4 के अनुसार जोधपुर के महाराजा श्री विजयसिंह ने नन्दवाणा बोहरों से 15000/- रूपये रातका गांव को रहन (गिरवी) रखकर ऋण लिया, जिस पर 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज वसूलने का उल्लेख मिलता है।¹⁴

कोटा राज्य के शासकों-श्री किशोरसिंह, श्री रामसिंह, श्री भीमसिंह एवं श्री दुर्जनसाल ने कई साहूकारों एवं बोहरों से 3 प्रतिशत से 36 प्रतिशत ब्याज दरों पर ऋण लिया था।¹⁵ बीकानेर के महाराजा श्री सूरतसिंह ने 1827 ई में चुरू के सेठ मिर्जामल पोद्दार से 4 लाख रूपये 12 प्रतिशत ब्याज पर ऋण लिया था।¹⁶ इसी प्रकार 1849 ई. में जोधपुर के शासक ने सेठ राधाकिशन, रूघनाथजी, सेठ सायबराय साहूकार, हमीरमल से क्रमशः 50,000, 25,000 एवं 1150 रूपये 9 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर पर ऋण लिये थे।¹⁷ बीकानेर राज्य की कागदो री बहियों के विभिन्न दस्तावेजों में राज्य के द्वारा लघु अवधि के ऋण कई साहूकारों से लेने का उल्लेख मिलता है कि 1827 ई. में कल्याणगीर गुंसाई, सुल्तानमल पुरोहित, चतुर्भुज जोशी, जेठमल पुरोहित एवं सरकोम पुरोहित से क्रमशः 301, 51, 1001,5501, 576 एवं 1200 रूपये का ऋण लिया, जिन पर बोहरों ने 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज वसूलने का उल्लेख मिलता है।¹⁸ जो कोटा, जोधपुर राज्य की अपेक्षा ऊंची ब्याज दरें हैं। जिसका एक कारण इन ऋणों को बीकानेर राज्य ने लघु अवधि के लिये ;ण देने वाले ऐसे उभरते ब्राह्मण बोहरों से लिये थे, जो ब्याज दरों से लाभ अर्जित करना चाहते थे। कृषक अपनी सामाजिक आवश्यकताओं, कृषि उपकरणों, बीज, हल, बैल एवं सिचाई सुविधाओं के लिये महाजन से ;ण लेते थे, इस प्रकार के कृषि ऋणों पर 18,24 एवं 36 प्रतिशत वार्षिक दरों से ब्याज वसूला जाता था।¹⁹

व्यापारियों, दुकानदारों को उपलब्ध करवाया जाने वाले वाणिज्यिक ऋणों पर कृषि ऋण की अपेक्षा कम ब्याज वसूला जाता था। मेड़ता की लोकमणी संग्रह बहियों के ऋण पत्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि वाणिज्यिक ऋणों पर 9,12,15 एवं 18 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरें वसूल की जाती थी।²⁰

ब्याज वसूली की विधियां

मध्यकालीन देशीय ऋण प्रणाली के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ऋणों पर ब्याज वसूलने के कई तरीके, पद्धतियां प्रचलन में थी, ब्याज वसूलने की विभिन्न पद्धतियों एवं प्रकारों का विवेचन स्मृति ग्रन्थों में किया गया है।

प्राचीन भारत में गौतम धर्मसूत्र, बृहस्पति आदि ने 6 प्रकार के ब्याज वसूलने की विधियों का उल्लेख किया है, जिसमें कायिक ब्याज, कालिका ब्याज, कारिता ब्याज, चक्रवृद्धि ब्याज एवं भोगलाभ ब्याज आदि प्रमुख थे। राजस्थान की बोरगत बहियों एवं विभिन्न राजकीय दस्तावेजों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की ब्याज विधियां भी यहां प्रचलन में थी। स्थानीय भाषा एवं क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जाना जाता था। अतः प्राचीन कालीन ब्याज विधियों को ही आधार बनाकर अध्ययन किया गया है।²¹

1. कालिका ब्याज

प्राचीन काल में निश्चित समयावधि में ब्याज की अदायगी की जाती थी, उसे कालिका ब्याज कहते थे, अध्ययन काल में राजस्थान में ब्याज का निर्धारण प्रतिमाह के आधार पर किया जाता था, कुछ ऋण पत्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि ऋणी द्वारा साहूकार को प्रतिमाह ब्याज राशि चुकाने का उल्लेख मिलता है, लोकमणी संग्रह बहियों के कई ऋण पत्रों में मासिक ब्याज राशि के भुगतान की जानकारी मिलती है :-

कालिका (मासिक ब्याज)²²

क्र.सं.	सन्	ऋण राशि	मासिक ब्याज की किश्त
1.	1773 ई.	26.25 रूपये	6.50 टका
2.	1773 ई.	05.25 रूपये	1.25 टका
3.	1774 ई.	18.00 रूपये	4.50 टका
4.	1774 ई.	23.00 रूपये	5.75 टका
5.	1774 ई.	21.00 रूपये	5.75 टका

2. कायिक ब्याज

राजस्थान की ऋण प्रणाली में कायिक ब्याज की व्यवस्था प्रचलन में थी, जिसमें ऋणी के द्वारा स्वयं एवं उसके पारिवारिक सदस्यों और पशुओं के द्वारा शारीरिक पारिश्रमिक के माध्यम से ब्याज की अदायगी की जाती थी, श्रम प्रधान अर्थव्यवस्था में कायिक ब्याज एक सरल एवं सुगम साधन था, जिसके द्वारा ऋणी दैनिक मजदूरी एवं पारिश्रमिक राशि से ब्याज राशि को समायोजित करवा देता था, समकालीन अर्थव्यवस्था में नकदीय मौद्रिक सम्बन्धों के विकास एवं विस्तार होने के कारण इस प्रकार की ब्याज विधि साहूकारों द्वारा नियमित रूप से तो नहीं अपनायी जाती थी। स्मृतिकारों द्वारा इस ब्याज विधि का विस्तार से विवेचन किया गया है, जिससे लगता है कि प्राचीन काल में इसका अधिक प्रयोग किया जाता रहा होगा। सामान्यतया यह ब्याज पद्धति लघु ऋण में अपनायी जाती थी। लोक संस्कृति शोध

संस्थान, नगर-श्री चुरू, में उपलब्ध विभिन्न दस्तावेजों से स्पष्ट होता है कि 19वीं शताब्दी में इस प्रकार की ब्याज विधि विद्यमान थी, जिसमें खेतिहर श्रमिक (हाली), घरेलु नौकर (भोगलिया) एवं पशुओं के द्वारा श्रम करके ब्याज राशि को चुकाने का उल्लेख मिलता है। श्री श्यामसुन्दर पोद्दार संग्रह कागज नम्बर 67 के अनुसार 1833 ई. में चुरू के सेठ मिर्जामल पोद्दार से पूरा तेतरवाल एवं खेते बगड़िया ने 101 रूपये का ऋण लिया था, जिसमें खेते बगड़िया के द्वारा हाली (खेतिहर श्रमिक) के रूप में मिलने वाले 14 रूपये वार्षिक पारिश्रमिक को ब्याज में समायोजित करने का उल्लेख मिलता है।²³ श्री भाऊराम अग्रवाल की बही के पत्र संख्या-40 में उल्लेख मिलता है कि 4 रूपये 8 आना ऋण की एवज में ऋणी द्वारा अपना बैल गिरवी रखा था।²⁴ कुशल गुर्जर ने 40 रूपये ऋण के बदले अपने पुत्र हीरा को सेठ के पास भोगलिया (घरेलु नौकर) के रूप में सौपने की पेशकश की थी।²⁵

3. कारिता ब्याज

कारिता ब्याज उल्लेख करते हुये स्मृतिकारों ने लिखा है कि संकट की परिस्थितियों में ऋणी ऊंची ब्याज दर पर भी ऋण लेने के लिये सहमत हो जाता है। राजस्थान के रामचन्द्र बोहरा नन्दावाणा संग्रह के एक ऋण पत्र में साहूकार से संगतसिंह ने 201 रूपये का ऋण 90 प्रतिशत ब्याज दर पर उधार लिया था।²⁶ यह एक तरीके से सूदखोरी दिखाई देती है, लेकिन इस तरह की ब्याज दरों को सामान्यतया समाज में मान्यता प्राप्त नहीं थी। राजस्थान की ऋण प्रणाली में रामदुपट एवं दामदुपट जैसी व्यवस्थाएं भी ब्याज राशि को निश्चित करने में मदद करती थी, जिसके अन्तर्गत ब्याज राशि किसी भी दशा में मूल धन राशि से दुगुनी से अधिक नहीं हो सकती है।²⁷

4. भोगलाभ ब्याज

साहूकार ऋण की एवज में मकान, खेत, दुकान आदि को गिरवी रख लेते थे, इनका उपयोग या भोग करना भोगलिया कहलाता था। इसमें दुकान एवं मकान के किराये और खेत की उपज से ब्याज अदायगी की जाती थी, साहूकार इस विधि को आमतौर पर अपनाते थे। लोकमणी संग्रह बहियों के फाल्गुन बदी 4 वि.स. 1832 (1775 ई.) के ऋण पत्र के अनुसार बोहरा वृन्दावन व्यास एवं रामदत्त तिवाड़ी से बगसीराम देवकरण जोशी ने 31 रूपये 8 आना का ऋण लिया था, जिसके लिये 22 बीघे का खेत गिरवी रखा, उसकी ऋण उपज से ब्याज के चुकाने का करार किया गया था।²⁸ कागदोरी बही नम्बर 5 के अनुसार सेठ साहुनैण को ढेलीये कंदोई ने घर के किराये से ब्याज की अदायगी की गयी थी।²⁹ श्री श्यामसुन्दर पोद्दार संग्रह के कागज क्रमांक 121 ज्ञात होता है कि रामगढ़ शेखावटी में स्थित दुकान के किराये द्वारा ब्याज का चुकान किया गया। इस प्रकार की व्यवस्था में यदि ऋणी ब्याज सहित मूलधन

राशि को समय पर भुगतान नहीं करता तो साहूकार ऋणी की गिरवी रखी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता था।³⁰

5. चक्रवृद्धि ब्याज

राजस्थान की बोरगत व्यवस्था में चक्रवृद्धि ब्याज को कटवा ब्याज के रूप में उल्लेख मिलता है, यह ब्याज मुख्यतः ऋणी द्वारा साहूकार को निश्चित समयावधि ऋण का भुगतान नहीं करने पर वसूला जाता था, पूर्वी राजस्थान में यह समयावधि 6 माह थी, जिसके पश्चात् ब्याज को मूलधन में जोड़ कर ब्याज लगाया जाता था, इसके लिये ऋण पत्रों में 'बढोतरा' शब्द का प्रयोग किया जाता था।³¹ राजस्थान में ऋण प्रणाली में प्रचलित ऋण पद्धतियों, ऋणदाता एवं ऋणी की सामाजिक आर्थिक स्थिति और भौगोलिक अवस्थिति की विभिन्नताओं आदि के आधार पर अलग-अलग ब्याज दरें वसूली जाती थी। छोटे साहूकार जो इसी व्यवसाय में पूर्णरूपेण संलग्न थे, वह कुछ ऊंची ब्याज दरें वसूल करते थे, वहीं कृषि ऋणों पर राज्य ऋण एवं वाणिज्यिक ऋणों की अपेक्षा अधिक ब्याज वसूला जाता था, मरूस्थलीय राज्य बीकानेर में अन्य राज्यों की तुलना में अधिक ब्याज दरें प्रचलन में थी। ऋण प्रणाली में कुछ दशाओं में सामान्य से कम एवं अधिक ब्याज दरों पर लिये गये ऋण की भी जानकारी मिलती है, जो किसी विशिष्ट उद्देश्यों के लिये कम ब्याज दर पर भी ऋण दिये जाते थे। अलवर राज्य ने चुरू के सेठ मिर्जामल पोद्दार को अलवर में दुकान खोलने के लिये 3 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर पर 25 हजार रूपये का ऋण दिया था।³² सामान्यतया राजस्थान की ऋण प्रणाली में 6 से 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरें मान्य एवं प्रचलन में थी। जिसमें 12,15,18,24 एवं 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरें प्रमुखतया प्रचलन में थी।

सन्दर्भ

1. प्रो. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, नई दिल्ली, 2000 पृष्ठ 227-48.
2. वही.
3. वही.
4. के.सी. जैन, एशियन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृष्ठ 507.
5. बी. एल. भदानी, पैजेन्ट आर्टिजन्स एण्ड एन्टरप्रेनर्स रावत पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 317 'खत रे नकल की बही, चिह्ना व खता री बही 1/1, वि.स. 1820 (1763 ई.) कागदा री बही नम्बर 33/2, वि.स. 1884 (1827 ई.) बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर (रा.रा.अ.बी.)
6. ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृष्ठ 217.

7. लोकमणी संग्रह बही, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान बीकानेर
8. वही.
9. वही.
10. गोविन्द अग्रवाल, चुरू मण्डल का शोध पूर्ण इतिहास, चुरू, 1976, पृष्ठ 461.
11. जे.के. ओझा, मेवाड़ में नगर सेठ संस्था, जयपुर, 2003, पृष्ठ 35-37.
12. कागदो रही बही नं. 33/2, वि.स. 1884 (1827 ई.), बीकानेर रिकार्ड्स, रा.रा.अ. बी.
13. वही.
14. शिवदत्तदान बारहट, जोधपुर राज्य का इतिहास (1753-1800 ई.), पृष्ठ 171.
15. मधु टंडन सेठिया, राजपूत पॉलिटी, जयपुर, 2003, पृष्ठ 266.
16. गोविन्द अग्रवाल, चुरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, चुरू, 1976, पृष्ठ 486.
17. सनद परवाना बही नम्बर 116, वि.स. 1906 (1849 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, रा.रा. अ.बी.
18. कागदो री बही नम्बर 33/2, वि.स. 1884 (1827 ई.), बीकानेर रिकार्ड्स, रा.रा. अ.बी.
19. बी. एल. भदानी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 317.
20. वही.
21. प्रो. रामशरण शर्मा, वही.
22. लोकमणी संग्रह बही, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर.
23. श्री श्यामसुन्दर पोद्दार संग्रह कागज क्रमांक 67, लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर-श्री, चुरू, मरू-श्री, चुरू, जनवरी-जून 1980, पृष्ठ 25-26.
24. गोविन्द अग्रवाल, पूर्वोक्त पृष्ठ 461.
25. वही.
26. बृजकिशोर जावलिया, सोशियो इकॉनॉमिक कन्डीशन इन राजस्थान (1650-1750), जोधपुर, 2002, पृष्ठ 136-37.
27. वैचारिकी शोध पत्रिका, बीकानेर, भाग 13, अंक 1, जुलाई 1997, पृष्ठ 24.
28. ऋण-पत्र, फाल्गुन बदी 4, वि.स. 1832 (1775 ई.), लोकमणी संग्रह बही, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर.
29. कागदो री बही नम्बर 5, वि.स. 1834 (1777 ई.), बीकानेर, रिकार्ड्स, रा.रा.अ.
30. श्री श्यामसुन्दर पोद्दार संग्रह कागज क्रमांक 121, लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर-श्री चुरू, मरू श्री अंक 2-3, 1980, पृष्ठ 25.
31. दिलबागसिंह, दी रोल ऑफ महाजनस् इन दी रुरल इकॉनॉमी इन इस्टर्न राजस्थान ड्यूरिंग एटीथ सेन्चुरी, सोशल साइन्सटिस, नम्बर 22, मई 1974, पृष्ठ 24.
32. शोधक शोध पत्रिका, जयपुर भाग 17, 1988. पृष्ठ 133.

अलवर राज्य में लघु उद्योग एवं उनका विकास

(1775 ई. से 1948 तक)

डॉ. फूलसिंह सहारिया

राजस्थान के पश्चिमोत्तर भाग की अरावली पर्वत श्रृंखला की गोद में अलवर राज्य स्थित है। जो कि भौगोलिक दृष्टि से 27.50 से 28.150 अक्षांस तक व 76.100 से 77.150 देशान्तर तक फैला हुआ था।¹ यह उत्तर से दक्षिण 80 मील लम्बा पश्चिम से पूर्व की ओर 60 मील चौड़ा है।² अलवर राज्य की स्थापना 1775 में राव प्रतापसिंह द्वारा की गई।³ अलवर राज्य में लोगों की जीविका के प्रमुख साधन कृषि एवं पशुपालन थे लेकिन इनके साथ-साथ लघु-कुटीर उद्योग भी थे जिससे अपनी आजीविका चलाते थे। उनके धन्धे ज्यादातर पैतृक व्यवसाय थे। अलवर राज्य के लघु-कुटीर उद्योग धन्धे निम्नलिखित थे-

चर्म उद्योग

अलवर राज्य के गाँव शाहपुर की जूतियां प्रसिद्ध थीं।⁴ इसी तरह तिजारा के जूते अधिक चलाऊ और सुन्दर होने के कारण उनकी मांग दूर-दूर तक थी। रतना⁶ नामक मोची इस काम का मुख्य शिल्पकार था। उसके वंशज भी सिद्धहस्त शिल्पकार रहे थे।⁷ चर्म उद्योग के अन्य स्थल नारायणपुर, नरैठ और अलवर में देहली दरवाजा स्थित मौहल्ले में परम्परागत जूती बनाने वाले हैं।⁸ कृषि कार्य हेतु काम आने वाला चमड़े की वाल्टी 'चड़स' को रैगर बस्ती से 20 सेर अनाज में खरीदा जाता था। इसी तरह कुम्हार के द्वारा बनाये गये मिट्टी के बर्तनों से पूर्ति की जाती थी। घरेलू सामान तथा दस्तकारी से बनाये गये सामान को स्थानीय हठवाडों में भेजा जाता था जहां से लोग इन्हें खरीदते थे।⁹

कुम्भकार उद्योग

मौरोड़ी गाँव के कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाने के साथ-साथ 'उखल'¹⁰ बनाने के लिए प्रसिद्ध थे।¹¹ अलवर के आस-पास कई तहसीलों में परम्परागत चाक से मिट्टी के बर्तन और कलात्मक सजावटी सामान और टेराकोटा से कलात्मक सामान बनाने वाले स्थानों में नारायणपुर, राजगढ़, कटूमर, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, तिजारा थे।¹² परगना किशनगढ़ के बम्बौरा, फतहवादापुर, हरसौली इस्माइलपुर, बाघोड़ा कस्बों में मिट्टी के अच्छे बर्तन बनाये जाते थे।¹³

गलीचा, कपड़ा उद्योग

शाहपुर के कोली 'रेजी' अच्छी बनाते थे, हरसौरा में छापी हुई 'जाजम' 'तोषक' आदि वस्तुएं बड़ी प्रशंसनीय और चित्तार्थक होती थी। यहां छपी हुई 'जाजम', 'लिहाफ' आदि स्थानीय लोगों के काम तो आते ही थे लेकिन बाहर भी इनकी लगातार मांग रहती थी। यहां के 'छीपी' लोग इस उद्योग और परिश्रम को देखकर इस शिल्प कार्य को बड़ी चतुराई से करते थे।¹⁴ रंगाई का कार्य राजगढ़¹⁵ में तथा चूंदड़ी को छोड़कर शेष सब प्रकार की रंगाई के लिए अलवर 1920 ई. तक विख्यात रहा है। यहां की 'रंगत' तथा बधाइयों में जो चमक रहती थी वह कहीं नहीं पायी जाती थी। रंगाई का कार्य प्रायः मुस्लिम परिवारों द्वारा 5 भागों में - (i) दुरूखी (ii) मोठड़ा (iii) लहरिया गण्डेदार (iv) अबरई (v) हल्की रंगत होती थी।

'दुरूखी' देशभर में अलवर में ही होती थी। इसमें मलमल के कपड़े के दोनों ओर अलग-अलग दो रंग चढ़ाये जाते थे। यह सामान्य बात नहीं है। यह उन सिद्धहस्त कारीगरों का श्रम साध्य और प्रशंसनीय कार्य था।¹⁶ 'पगड़ी' (फेंट) और 'ओढ़नी' पर डाई द्वारा रंग चढ़ाने के लिए केलिको प्रिंटिंग इण्डस्ट्री प्रमुख थी। इस रंगाई और छपाई के कारखाने अलवर राज्य में अलवर, राजगढ़, प्रतापगढ़ और नारायणपुर में थे। लोगों की बड़ी संख्या इस कार्य में व्यस्त रहती थी। एक गली आज भी अलवर में रंगभरियो की गली के नाम से प्रसिद्ध है। यहां के छीपा रजाई, ब्लाऊज और लहंगा के कपड़ों पर छपाई करते थे।¹⁷

राजाओं और वायसराय को अलवर नरेश दुरूखी भेंट करते रहे थे जिसके लिए 1920 ई. तक देश-विदेश से बनाने के आदेश होते रहे। अलवर में मौहम्मद खां पुत्र रमजान खां, करीमबख्स पुत्र अब्दुल रहमान, मजीद पुत्र शेर मौहम्मद 'दुरूखी' और 'लहरिये' के लिए प्रसिद्ध रंगरेज थे। 12 मार्च 1896 ई. को राष्ट्रीय स्तर की मेरठ प्रदर्शनी में 'चूंदड़ी' के 'बन्धेज' और 'लहरिया' रंगाई कला पर मोहम्मद खान पुत्र रमजान खान को प्रथम पुरस्कार मिला। 1930 ई. के बाद रंगरेजी कला अलवर से लुप्त हो गई।¹⁸

अलवर के 'पेचे', चीरे की रंगत, उन्नावी, सबजकाही बगैरह हर तरह के रंग तारीफ के लायक थे और मछली मकाम का बना हुआ तोड़ेदार व चापदार धमका मशहूर है।¹⁹ अलवर राज्य में रजवाडों के समय दूसरे राज्यों से आये कारीगरों ने गलीचा और कालीन बनाने की कला को आरम्भ किया जो कि अलवर, नारायणपुर, अजबगढ़, हमीरपुर, माधोगढ़, बानसूर, चतरपुरा, रतनपुरा, राजगढ़ में पावटा, खोह, घाटड़ा इनके प्रमुख केन्द्र रहे हैं।²⁰ बहतूखुर्द के 'गलीचे' उत्तम किस्म के होते थे।²¹ ग्राम बहादरपुर में पगड़ी पेची का व्यवसाय था। यहां की बनी पगडियां दूर-दूर तक

प्रसिद्ध थी जो कि मालवा, इन्दौर, बगरा उज्जैन आदि स्थानों को निर्यात की जाती थी।²² अलवर की 'सादा' और 'जरी की पगडियां' मशहूर थीं। अलवर (मारवाड़ी पगड़ी) जयपुर, उदयपुर (पीली पगड़ी) प्रसिद्ध थी आज भी अलवर, कटूमर और लक्ष्मणगढ़ क्षेत्रों में पुराने कारीगर अपना पैतृक कार्य कर जिंदा रखे हुए हैं।²³ हमीरपुर गाँव के 'लखेरे' कांच की चूड़ियां बनाने का कार्य करते थे जिसे स्त्रियां बहुत पसंद करती थी।²⁴ सौंठ खरेटा गाँव की 'तम्बाकू' अत्यधिक प्रसिद्ध थीं। इसी प्रकार मौली, छिलोड़ी व खरेटा में 'पत्थर की चक्कियां' व 'कुण्डियां' बनाकर अपनी रोजी-रोटी निकालते रहे।²⁵ खोहरा मलावली में भी 'पत्थर की चक्की', 'कुण्डी', 'सिलबट्टे' बनते रहे हैं। यहां का पत्थर कम घिसता है। इसके अतिरिक्त नोटबोली में भी 'कुण्डी' बनती है। यहां का पत्थर कच्चा है।²⁶ ग्राम खोहरी के 'मीणे' तथा 'बाबरिया', 'ईडवा', 'ईड़ी', 'छींका', 'सरकी' आदि बनाने में अपनी कार्यपुटता और कौशलता का परिचय देते थे जिससे उनकी जीविका चलती थी।²⁷

कागज उद्योग

तिजारा में देशी कागज²⁸ बनता था जिसे 'सोमी' कहा जाता था। यह अच्छा और प्रसिद्ध था। शाह आलम के समय यह उद्योग अपने चर्म पर था। विलायती चिकने एवं चमकीले कागज के आ जाने पर इस कागज की खपत कम हो गई और बाद में यह बनना बन्द हो गया।²⁹ कागज के साथ-साथ घटिया किस्म का शीशा तैयार किया जाता था। यहाँ के कारीगर बहुत निपुण और कुशल थे, जिन्हें दरबार के हित में कार्य करने के अलावा कहीं अन्यत्र कार्य करने पर प्रतिबन्ध था।³⁰ खेती के अतिरिक्त मजदूरी, पशुपालन, 'मूँज' बटकर 'बान' बनाने के उद्यम के साथ-साथ विविध लघु उद्योग थे जिनसे लोगों की जीविका चलती थी।³¹

बानसूर के रामपुर गाँव में लोहे के 'डोल', 'कड़ाही', 'कड़ाह', 'कड़छला', 'तवा', 'बांक की ढकोली' और 'तराजू के पलड़े' आदि वस्तुएँ बनाते और अपनी आजीविका चलाते थे।³² बानसूर क्षेत्र में 'बसई' में 'खजूर की चटाइयां' बनाई जाती थी, जो प्रसिद्ध थी। राजगढ़ के पास 'कांकवाड़ी का बांस' अच्छी किस्म का है, जिसका उपयोग 'बरछी के डण्डे', 'लाठी' के काम में लिया जाता था।

काष्ठ उद्योग एवं घानी उद्योग

राजगढ़ में लकड़ी के खराद का काम खाती लोग बहुत अच्छा करते थे। खाती समुदाय लकड़ी के दरवाजे, चौकी, खिड़की, पट्टे एवं घरेलू सामान बनाने के साथ-साथ कृषि कार्य में काम आने वाली वस्तुएँ हल, गाड़ी, धनक और चकली, रथ और भैली कलात्मक शैली में बनाते थे।³³ घानी का कार्य तेली समुदाय करता था।

अलवर राज्य में तेल व्यवसाय अपनी पहचान रखता है। तेल-तिल सरसों और अलसी से तेल निकालकर लोगों को दिया जाता है।³⁴

आतिशबाजी-बारूद कार्य

अलवर के मुंशी बाजार में रहमत अली, हैसियत अली की दुकान आतिशबाजी के लिए प्रसिद्ध रही है। मौहल्ला दारूकूटा में मुन्ना, रमजान, महबूब अली, मकसूद अली आतिशबाजी के कारीगर रहे हैं। अलवर के अतिरिक्त राजगढ़, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, बहादुरपुर, थानागाजी कस्बों में भड़बूजे और चर्मकार आतिशबाजी फुलवारी का काम करते थे।³⁵ अलवर शहर के पूर्व में 'देसूला' और 'अग्यारा' से नमक, शोरा निकाला जाता था, जिससे शीशा बनाया जाता था। 'शीशे को चूड़ियों' और 'बोतलें' बनाने के काम में लिया जाता था।³⁶ कमालपुरा ढाढोली व आगर में खारा नमक अत्यधिक मात्रा में मिलता है।³⁷ छत की पट्टियों का पत्थर राजगढ़, रेवाड़ी और मांढन के क्षेत्रों की पहाड़ियों से निकलता है। राजगढ़ में 20 फुट लम्बी 2 फुट चौड़ी पट्टी निकलती है। अजबगढ़ के पत्थरों को रेल्वे स्टेशनों की तामीरों में बहुत काम में लिया है। राजगढ़ के आस-पास के क्षेत्रों से सफेद पत्थर एवं नीला पत्थर खूब मिलता है। इस पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े करके भट्टों में पकाकर चूना बनाया जाता था। राजगढ़ में चूने के भट्टे खूब मिलते हैं तथा यह चूने के लिए प्रसिद्ध रहा है।³⁸ वर्तमान में चूने का कार्य बन्द हो चुका है। यहाँ अभ्रक, लाल मिट्टी, एक किस्म का नमक, शोरा और पोटाश (खार, जवाखार या सज्जी) भी मिलते हैं। उक्त धन्धों से उनकी रोजी-रोटी निकलती थी। खो-दरीबा में ताँबे की खाने, थानागाजी क्षेत्र के प्रतापगढ़ व अजबगढ़, झिरी से सफेद पत्थर निकाला जाता है जो कि मकराना जैसा संगमरमर है।³⁹ झिरी के पत्थर को दिल्ली भेजा जाता था। काला संगमरमर रामगढ़ के पास 'माँडल' से, गुलाबी संगमरमर अलवर के दक्षिण में बलदेवगढ़ से निकालते थे, इससे कई परिवारों की रोजी चलती थी।⁴⁰

अलवर राज्य में लोहे निर्माण के कारखाने थे। यहाँ बड़ी मात्रा में लोहा मिलता था जिसकी जानकारी काफी देर से मिली, परन्तु यह लोहा अच्छी-अच्छी किस्म का नहीं होने के कारण बड़ी मात्रा में लोहा यूरोप से आयात किया जाता था।⁴¹ अलवर राज्य में 200 भट्टियां लोहा गलाने की थीं जिनमें 37 भट्टियां 1878 में कार्य कर रही थीं। इन भट्टियों से 18,500 मन (660 टन) वार्षिक उत्पादन था। इस लोहे निर्माण कार्य में 5,92000 मन (21-142 टन) लकड़ी से 14800 मन कोयले का निर्माण किया जाता था। 37 भट्टियों से आय 9300 रुपये होती थी। इस उद्योग से काफी लोगों की जीविका चलती थी। इस उद्योग से राज्य की आय बहुत कम होने पर भी लोगों की जीविका को ध्यान में रखते हुए इसे बन्द नहीं किया गया।⁴² अकबरपुरा,

पृथ्वीपुरा, बालेटा, दादिया, राजगढ़, टहला, नया गाँव, गोला का बास में लोहा बनाने का काम होता था। इन जगहों से लोहा गलाने की भट्टियाँ मिली हैं।⁴³ यहाँ लोहे के ढेर पाये जाते हैं।⁴⁴ राज्य में लगभग 90 मन ताँबा निकलता था परन्तु ब्रिटिश सरकार के सिक्का 'टका' के प्रचलन के कारण इसकी कीमत और उत्पादन कम होने लगा था।⁴⁵ माचाड़ी कस्बे में दो प्रकार की धमाकेदार बन्दूकें बनाई जाती थीं जिन्हें तोड़ीदार व चापदार बन्दूकें कहा जाता था जिनकी कीमत 25 रूपये प्रति बन्दूक होती थी।⁴⁶

अलवर राज्य में लघु उद्योग दस्तकारी सामाजिक वर्गीकरण के आधार पर पैतृक धन्धे थे। इन उद्योगों में पूरे परिवार का श्रम लगता था। ये व्यवसाय लोगों की आवश्यकता के साथ-साथ प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे परन्तु जिन पैतृक कार्यों में लगे लोग केवल अपने परिवार की रोटी-रोजी ही निकाल पाते थे और समय के साथ-साथ इनके श्रम की मजदूरी भी निकलना मुश्किल हो जाने के कारण ये धन्धे लुप्त प्राय होते गये। अंग्रेजों के आगमन के साथ बाहरी वस्तुओं के आने और मशीनीकरण के प्रयोग से वस्तुएं अच्छी किस्म की और सस्ती होने के कारण यहाँ के बाजारों में अपना स्थान बनाने लगी और स्थानीय दस्तकारों द्वारा बनी देशी वस्तुओं में श्रम ज्यादा होने एवं मूल्य कम मिलने से ये व्यवसाय कम होते चले गये।

सन्दर्भ

1. श्यामलदास, वीर-विनोद, भाग-2, जिल्द-2, पृ. 1355
2. गहलोट, जगदीश सिंह - राजपूताने का इतिहास, भाग-3, पृ. 217
3. श्यामलदास, वीर-विनोद, भाग-2, जिल्द-2, पृ. 1377
4. जोशी, पिनाकीलाल, अलवर राज्य का इतिहास, 1939, पृ. 43-110
5. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
6. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा (तहसीलदार तिजारा अनु-अनिल जोशी), पृ.53
7. क्रमांक 478, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 4, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
8. मत्स्यदर्पण, स्मारिका, जिला प्रशासन अलवर एवं पर्यटन विभाग राजस्थान, पृ. 13
9. मायाराम-राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अलवर-1968 पृ. 268-69
10. 'उखल', दो-ढाई फुट ऊँचा तथा एक फुट व्यास का मिट्टी का बना एक बर्तन जिसे अनाज छरने के लिए ओखली का काम करता था।
11. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, रा. रा. अभि. बीकानेर
12. मत्स्यदर्पण, जिला प्रशासन अलवर एवं पर्यटन विभाग राजस्थान, पृ. 13-14
13. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा पृ. 64
14. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, रा. रा. अभि. बीकानेर
15. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा पृ. 57

16. जोशी, पिनाकीलाल, अलवर गजट 1928 अप्रकाशित, रा. रा. अभि. बीकानेर
17. मायाराम-राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अलवर-1968 पृ. 269
18. गति सितम्बर-अक्टूबर (संयुक्तांक-विशेषांक) 2009, पृ. 31
19. श्यामलदास, वीर-विनोद, (राज्य अलवर की तवारीख) पृ. 1372
20. मत्स्यदर्पण, स्मारिका, जिला प्रशासन अलवर एवं पर्यटन विभाग राजस्थान, पृ. 13
21. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा, पृ. 56
22. अनिल जोशी-अलवर दर्शन, पृ. 149
23. मत्स्य दर्पण स्मारिका, जिला प्रशासन अलवर एवं पर्यटन विभाग राजस्थान, पृ. 14
24. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, पृ. 304, रा. रा. अभि. बीकानेर
25. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा, पृ. 53
26. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा, पृ. 57
27. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, पृ. 206, रा. रा. अभि. बीकानेर
28. गहलोट, जगदीश सिंह-राजपूताने का इतिहास, भाग-3, पृ. 221
29. क्रमांक 478, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 4, रा. रा. अभि. बीकानेर
30. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 77
31. क्रमांक 478, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 4, रा. रा. अभि. बीकानेर
32. क्रमांक 318, बन्धांक 43, ग्रन्थांक 4, पृ. 303-304 रा. रा. अभि. बीकानेर
33. मायाराम-राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अलवर-1968 पृ. 270
34. वही
35. गति, मासिक, वर्ष 3, अंक 9-10, सितम्बर-अक्टूबर, पृ. 31
36. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 30
37. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा, पृ. 53
38. मखदमू, शेख मौहम्मद, अरजंग तिजारा, पृ. 53
39. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 85
40. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 76
41. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 77
42. मखदमू, शेख अजरंग-तिजारा पृ. 53
43. श्यामलदास, वीर-विनोद, भाग-2, जिल्द-2, पृ. 1359
44. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ. 77
45. पाऊलेट, मेजर. पी. डब्ल्यू-गजेटियर ऑफ उलूर, पृ.
46. गहलोट, जगदीश सिंह-राजपूताने का इतिहास, भाग-3, पृ. 221

रियासतकालीन टोंक का स्थापत्य : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

अनुराग विजय, डॉ. एच.सी. जैन एवं प्रो. आर.के. वर्मा

रियासतकालीन टोंक के सांस्कृतिक व ऐतिहासिक महत्त्व के स्थापत्य में मोमिना मंसूर का मकबरा, भौमगढ़ या अमीरगढ़, जामा मस्जिद, रघुनाथजी का मन्दिर एवं तख्ता, सुनहरी कोठी, मछली भवन, रंगीन कोठी, अदालत शरा शरीफ, मीलाद वाली कोठी, ईदगाह कोठी व बाग, अरबी फारसी शोध संस्थान, फिरोजबाग की गोल कोठी, घण्टाघर, फ्रेजर ब्रिज, घरहट वाली हवेली आदि प्रमुख हैं। इस आलेख में इन्हीं की चर्चा होगी।

मकबरा मोमिना मंसूर - टोंक पर अकबर के आधिपत्य के समय मोमिना मंसूर को टोंक का प्रबन्धक नियुक्त किया गया। मोमिना मंसूर की आकस्मिक मृत्यु के बाद उनके पिता को यहाँ का प्रबन्धक बनाया गया जिन्होंने अपने बेटे का मकबरा बमोर दरवाजे के भीतर बनवाया। इस मकबरे पर नवाब मोहम्मद अली खाँ ने एक दरवाजा बनवाया। कालान्तर में इस मकबरे पर प्रत्येक गुरुवार को मेला लगने लगा जिसमें नर्तकियाँ नृत्य करती थी जिससे इस मकबरे को आशिकों का मजार कहा जाने लगा। बाद में नवाब वजीर खाँ ने इस साप्ताहिक मेले तथा नाच गाने को बन्द करवा दिया।

भौमगढ़ या अमीरगढ़ या बाला किला - टोंक पर आमेर की अधीनता के समय आमेर शासक माधोसिंह ने यहाँ एक किले का निर्माण करवाकर इसे भौमियों को सौंप दिया, जिससे यह किला भौम गढ़ कहा जाने लगा। 1817 ई. में टोंक रियासत की स्थापना के साथ ही यह किला टोंक के प्रथम नवाब अमीर खाँ को मिल गया। अमीर खाँ ने इसमें अनेक निर्माण कराये तथा इसका नामकरण अमीरगढ़ कर दिया। इस किले के आन्तरिक व बाह्य दरवाजों का निर्माण नवाब वजीरूद्दोला ने करवाया था। 1877 ई. में इसमें नूर महल, रंग महल तथा शीश महल बनवाये गये। इसके अन्दरूनी भाग में एक छोटा किला बनवाया गया, जिसे बाला किला नाम दिया गया, इसमें तीन मस्जिदें, चार कूएँ तथा दो बंगले बनवाये गये। इस बाला किले की विशेषता इसके परकोटे के बाहर बनवायी गयी मिट्टी की मोटी दीवार थी, जब किले पर तोपों से गोले दागे जाते थे तो ये गोले मिट्टी में धँस जाते थे तथा किले को कोई हानि नहीं पहुँचती थी। इसके

चारों तरफ 10 से 15 फिट गहरी खाई भी थी। इस प्रकार यह अजेय था। नवाबी काल के अन्तिम दौर तथा उसके बाद इस किले को खजाने की आस में नष्ट करवा दिया गया। वर्तमान में इसका नाम मात्र का ही अस्तित्व रह गया है। इस किले के समीप खुदाई में जैन तीर्थकरों की अति प्राचीन व दुर्लभ 26 प्रतिमाएँ भी मिली थी जिनको टोंक की नसिया में प्रतिष्ठापित कर दिया गया।

जामा मस्जिद - टोंक की जामा मस्जिद देश की बड़ी मस्जिदों में से एक है। यह अपनी विशालता, सुन्दरता, दीवारों पर सोने से चित्रकारी, बेल-बूटों व मीनाकारी के लिए देश में प्रसिद्ध है। इसके निर्माण का कार्य 1830 ई0 में प्रथम नवाब अमीर खाँ ने शुरू करवाया। इनके काल में 75 प्रतिशत कार्य पूरा कर लिया गया। बाद में इसे नवाब इब्राहीम अली खाँ ने पूरा करवाया। इसके दो विशाल दरवाजे मुगल शैली में बने हैं तथा इसकी चार विशाल मीनारें दूर से ही दिखाई देती हैं, इन पर भी सुन्दर चित्रकारी की गयी है। मस्जिद की मुख्य इमारत के तीन गुम्बद दिल्ली व आगरा में निर्मित शाहजहाँ कालीन मस्जिदों के समान हैं। गुम्बदों की भीतरी दीवारों पर सोने व मीनाकारी का कलात्मक कार्य किया गया है। मस्जिद के छज्जों पर ईरानी व मुगल शैली के फूल-बूटे व गुलदस्ते चित्रित किये गए हैं।

रघुनाथजी मन्दिर एवं तख्ता - 1817 ई0 में टोंक रियासत की स्थापना के साथ ही प्रथम नवाब अमीर खाँ ने अपने साथियों व प्रजाजनों को टोंक में बसाया। इनके प्रमुख साथियों में रायदाताराम जी थे, जो कि राजा निरंजनराय, जिन्होंने अमीर खाँ की तरफ से अंग्रेजों से सन्धि की थी, के पुत्र थे। अमीर खाँ ने रायदाताराम जी को अपनी तरफ से प्रशासन के महत्त्वपूर्ण कागजात पर हस्ताक्षर करने का अधिकार दे रखा था। रायदाताराम जी ने उस समय की हिन्दू प्रजा को अपने साथ जामा मस्जिद के सामने बसाया, यह तख्ता मोहल्ला कहलाया। इस मोहल्ले में रायदाताराम जी ने अनेक सुन्दर कोठियाँ एवं एक ऐतिहासिक मन्दिर जिसे रघुनाथजी का मन्दिर कहते हैं, बनवाया। यह मन्दिर उस काल के हिन्दू वास्तुशिल्प का अद्भूत उदाहरण है। इसकी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है, जो आज भी सुरक्षित है।

सुनहरी कोठी - नजर बाग में स्थित सुनहरी कोठी टोंक के नवाबों की शानोशौकत का जीता जागता नमूना है। इसे अमीर खाँ का महल या क़सरे ज़र निगार (चमकीली सुनहरी कोठी) कहा जाता था। कई दशकों में पूर्ण होने वाले इस कोठी के निर्माण का कार्य प्रथम नवाब अमीर खाँ ने 1826 ई0 में प्रारम्भ करवाया। इस भवन में 1834 ई0 से 1864 ई0 के मध्य नवाब वजीरूद्दोला ने प्रथम मंजिल बनवायी उनके बाद चौथे नवाब इब्राहीम अली खाँ ने 1867 से 1885 ई0 में इसे वर्तमान रूप दिया। उस समय सोने का भाव 15 रूपये तोला था और एक कारीगर को 15 पैसे प्रतिदिन की

मजदूरी दी जाती थी तब इसकी लागत 10 लाख रूपये आयी थी। इसका प्रारम्भिक रूप एक बारहदरी के रूप में ही था। इसकी दीवारों व छतों में काँच, रत्न सोने की बेलबूटियाँ, फूल, पच्चीकारी एवं मीनाकारी का कलात्मक स्वरूप आज भी आकर्षण का केन्द्र है। इसे शीश महल भी कहा गया है। इसकी तुलना आगरा किले के शीशमहल से की जाती है। सुनहरी कोठी 4 भागों में विभाजित एक हालनुमा बड़ी इमारत है। इसमें बाहर जाने के लिये कलात्मक घुमावदार सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसके दो भागों में छत चमकीले गुलाबी रंग लिये है और उसमें गुलाबी रंग के कलात्मक डिजाइनों के गुलदस्ते व फूल पत्तियाँ बनी हैं। सोने की पच्चीकारी और शीशे के छोटे-छोटे रंगीन टुकड़ों से फूल बनाये गए हैं। दोनों भागों के प्रत्येक हिस्से में दरवाजे हैं जो बरामदे में खुलते हैं। यहाँ की हर मेहराब अलग तरह की है। खम्बों पर सोने व शीशों के टुकड़ों से चित्रकारी की गयी है। दुसरे दोनों भागों में बड़े मेहराब हैं जिसके दोनों ओर छत पर छोटे-छोटे कई रंगीन दर्पण जड़े हैं। इसके प्रत्येक हिस्से में सोने की नक्काशी है। इस सुनहरी कोठी के मेहराब और खम्बों राजपूत शैली के हैं तथा चित्रकारी फारसी शैली की है।

कहा जाता है कि इसके फर्श पर ईरानी कालीन बिछाये जाते थे, चाँदी के चिरागों की हलकी रोशनी असंख्य छोटे - छोटे दर्पणों से प्रतिबिम्बित होती थी और इत्र की महक से सुगन्धित वातावरण के बीच राजकाज से जुड़ी महत्वपूर्ण बातचीत के लिये बैठके हुआ करती थी तथा नृत्य की महफिले सजा करती थी।

मछली भवन - यह भी नजर बाग की कोठियों में से एक है। इसे भी अमीर खाँ व वजीरूद्दोला के समय बनाया गया था। इस कोठी में नवाबी खानदान के लोग रहते हैं। इसकी दीवारों पर भी रंगीन कोठी, सुनहरी कोठी, नजरबाग पैलेस एवं अन्य नजरबाग की कोठियों के समान सुन्दर व दुर्लभ चित्रकारी की गयी है।

अदालत शरा शरीफ - प्रथम नवाब अमीर खाँ ने रियासत की स्थापना के बाद टोंक में इस्लामी कानून लागू किये। अतः टोंक में इस्लामी कानूनों के अन्तर्गत न्यायिक कार्यों के लिये एक अदालत की आवश्यकता पड़ी। इस हेतु अमीर खाँ ने एक अदालत बनवायी जो 'शरा शरीफ अदालत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। टोंक की शरा अदालत का महत्व पूरे देश में था। कहा जाता है कि भारत की अन्य प्रमुख मुस्लिम रियासतों जैसे हैदराबाद, लखनऊ आदि में मुस्लिम कानून तो लागू थे परन्तु ऐसी अदालत नहीं थी जो शरीयत व हदीस के नियमों के अनुसार न्याय दे सके। अतः इन रियासतों से भी शरीयत व हदीस के नियमों के अनुसार न्याय के लिये मुकदमें टोंक की शरा-शरीफ अदालत में आते थे और इस अदालत के फैसलों को पूरे देश में माना जाता था।

मीलाद वाली कोठी - यह कोठी भी नजर बाग की कोठियों में से एक है। इसे नवाब इब्राहीम अली खाँ (1867-1930) ने बनवाया था। नवाब साहब को ईद का जुलूस निकलवाने तथा मीलाद की महफिले आयोजित करवाने का बहुत शौक था। उन्होंने 1896 में टोंक में मीलाद की महफिलें आयोजित की जाने की प्रथा को प्रारम्भ किया। बारावफात के पवित्र अवसर पर टोंक नवाबों की ओर से नजर बाग पैलेस में मीलाद वाली कोठी में आयोजित होने वाली सात दिवसीय मीलादुन्नबी की महफिलें आपसी भाईचारे व हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए दुनिया में मशहूर थीं। महफिलों में शामिल होने वाले सभी वर्गों के लोगों में देसी घी से तैयार हाने वाले लड्डू वितरित किये जाते थे। कहा जाता है कि मीलाद वाली कोठी के चारों द्वारों पर से 100 मन देसी घी के लड्डू बाँट दिए जाते थे। नवाबी परिवार से सम्बन्ध रखने वाले बुजुर्गों ने बताया कि नवाब इब्राहीम अली खाँ हजरत मुहम्मद साहब के दीवाने थे तथा स्वयं अच्छे शायर भी थे। उन्होंने अपने कार्यकाल में देश के कोने कोने से मौलवियों व विद्वानों के माध्यम से हदीस ए पाक जमा करवाकर सात जिल्लों में मीलाद शरीफ में पढ़ी जाने वाली नातिया-नज्मों को लिखवाकर पढ़वाना शुरू करवाया। आज भी टोंक में बड़े जोश के साथ मीलाद की ये जिल्लें पढ़ी जाती हैं। नवाब के महल नजर बाग को दुल्हन की तरह सजाया जाता था। कहा जाता है कि टोंक रियासत में होने वाली मीलाद शरीफ की महफिलें जितनी भव्यता से आयोजित की जाती थी उस समय की किसी अन्य मुस्लिम रियासत की मीलादों में वैसी भव्यता नहीं होती थी।

ईदगाह कोठी एवं बाग - बहीर मोहल्ले के सामने ईदगाह के समीप एक ऐतिहासिक बाग है जिसे ईदगाह बाग कहा जाता है। इस बाग में एक भव्य कोठी बनी हुई है। ईदगाह में टोंक के प्रथम नवाब अमीर खाँ के समय से ही दोनों ईदों पर नमाज अदा की जा रही है। इस बाग के पास एक तालाब है जो ईदगाह तालाब कहलाता है। इस तालाब से एक छोटी नहर ईदगाह तक आती है जिसमें ईद की नमाज से पहले नमाजी वजू करते हैं। इस के पास एक आलीशान कोठी, जिसे ईदगाह कोठी कहा जाता है, को नवाब इब्राहीम अली खाँ ने बनवाया था। यह कोठी भी टोंक के नवाबी काल की शानोशौकत व भव्यता का बेजोड़ नमूना है। इसकी दीवारों पर भी उस काल की दुर्लभ चित्रकारी की गयी है। यह दो मंजिला तथा एक बड़े भू-भाग में बनी भव्य इमारत है। इसके ऊपर रियासत का प्रतीक चिन्ह लगाया गया था। इस कोठी के बाहर व बाग में बड़े - बड़े पैड़ लगवाए गए थे जिन पर सावन में झूले डाले जाते थे।

अरबी फारसी शोध संस्थान - टोंक के तीसरे नवाब मोहम्मद अली खाँ को दुर्लभ पुस्तकें एकत्रित करने का बहुत शौक था। उनका स्वयं का एक बड़ा पुस्तकालय था। 1867 ई. में लावा की घटना के कारण जब उन्हें देश निकाला देकर बनारस भेज दिया गया तो वे अपने साथ अपना पुस्तकालय भी ले गये। वहाँ उन्होंने मिस्र, इराक,

बगदाद, ईरान, हैदराबाद आदि से अनेक अमूल्य ग्रन्थ अपने पुस्तकालय के लिए एकत्रित किए थे। उनके निधन के पश्चात् अब्दुल रहीम खाँ इस पुस्तकालय को वापस टोंक ले आए। इस पुस्तकालय में उस समय लगभग 3 हजार दुर्लभ पुस्तकें थी। इस पुस्तकालय की काफी पुस्तकें आजादी के पश्चात् मौलाना अबुल कलाम आजाद तत्कालीन शिक्षा मंत्री, भारत सरकार ने नेशनल आरकाइव्ज के लिए मंगवा लीं। शेष पुस्तकें आज भी इस संस्थान के पास सुरक्षित हैं। इसके पश्चात् राजस्थान सरकार ने 1961 में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर का एक शाखा कार्यालय अरबी एवं फारसी भाषाओं पर शोध, उत्थान एवं विकास हेतु टोंक में स्थापित किया। इसमें अरबी, फारसी तथा उर्दू के ग्रन्थ उक्त पुस्तकालय से स्थानान्तरित किए गये। चूंकि यह कार्यालय एक शाखा के रूप में कार्य करते हुए अरबी व फारसी भाषा के विषय में न्याय नहीं कर सकता था अतएव राज्य सरकार ने 4 दिसम्बर 1978 को इस शाखा कार्यालय को स्वतन्त्र निदेशालय घोषित कर दिया। निदेशालय घोषित होने के पूर्व यह पुस्तकालय पाँच बत्ती स्थित जिला पुस्तकालय, टोंक का एक हिस्सा था जो नजर बाग स्थित चबूतरे वाली कोठी में संचालित होता था।

फिरोजबाग की गोल कोठी - साहिबजादा सर मो. उबेदुल्ला खाँ बहादुर फिरोजे जंग टोंक के चौथे नवाब इब्राहीम अली खाँ के चाचा एवं रियासत के नायब थे। जब इब्राहीम अली खाँ अल्प व्यस्क थे तब उन्होंने ही प्रशासन सम्भाला। ये नायब साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके निर्देशन में टोंक में अनेक इमारतें बनवायी गयीं जिनमें दरबार हाई स्कूल, फिरोज बाग की गोल कोठी, एजेन्टी बंगला आदि प्रमुख हैं। फिरोज बाग की कोठी बनवाने का उद्देश्य टोंक में रह रहे अंग्रेज अफसरों व स्थानीय जनता को अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति के समान एक क्लब उपलब्ध कराया जाना था। इस क्लब को बॉरटन क्लब भी कहा जाता था, वर्तमान में यह खलील क्लब कहलाता है। टोंक के लोकप्रिय नवाब सआदत अली खाँ को क्रिकेट खेलने का शौक था। ये बायें हाथ के स्पिन बॉलर थे। इन्होंने भारत के चयनित व अच्छे खिलाड़ियों को टोंक बुलाकर बॉरटन क्रिकेट क्लब के नाम से सआदत टीम बना रखी थी। इस इमारत को नवाबी काल से ही खेल गतिविधियों के काम में लिया जाता रहा है। सआदत अली खाँ ने ही इस कोठी के सामने क्रिकेट का मेदान और पवेलियन बनवाया, जो सआदत पवेलियन के नाम से प्रसिद्ध है।

घण्टाघर - टोंक का घण्टाघर अपने विशिष्ट स्थापत्य के लिये अपनी अलग पहचान रखता है। यह शहर के मुख्य बाजार जो कि घण्टाघर के नाम से ही जाना जाता है, में स्थित है। इसकी मीनारनुमा इमारत 60 फिट ऊँची तथा तीन मंजिला है साथ ही इसकी तीसरी मंजिल पर चारों दिशाओं में चार बड़ी घड़ियाँ लगी हैं। ये घड़ियाँ इतनी बड़ी हैं कि इनमें दूर से ही समय देखा जा सकता है। 1936 ई. में टोंक में फैली हैजे

की महामारी को रोकने के लिए नवाब सआदत अली खाँ ने बहुत प्रयास किये थे। उन्होंने महंगी से महंगी दवाइयाँ मरीजों को घर-घर जाकर बाँटीं। महामारी खत्म होने पर जनता ने जनसहयोग से कुछ धन अपने प्रिय नवाब को नजराने के तौर पर दिया, इस धन में शाही खजाने से कुछ और धन मिलाकर घण्टाघर की नींव रखी गयी। इस प्रकार इसे नवाब सआदत अली खाँ द्वारा 1936 ई0 में बनवाया गया।

फ्रेजर ब्रिज - नवाब सआदत अली खाँ को जनता की सुख सुविधाओं व निर्माण कार्यों से लगाव था। उन्होंने 1936 ई. में जनता व व्यापारियों की सुविधा के लिए बनास नदी पर एक पुल बनवाया, जिसका नाम टोंक के तत्कालीन वाइस प्रेसीडेन्ट अंग्रेज अफसर मेजर फ्रेजर के नाम पर फ्रेजर ब्रिज रखा। नवाबी काल में इस ब्रिज के किनारे नौगजे बाबा की दरगाह के पास एक मेला लगता था जो हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रतीक था। आजादी के बाद भी काफी वर्षों तक यह ब्रिज नदी पार करने का एकमात्र जरिया बना रहा।

संदर्भ

1. शादां मुंशी बसावन लाल, अमीरनामा।
2. अकबरशाह नजीबाबादी, अमीरनामा।
3. मोहम्मद एजाज खाँ, तारीख-ए-टोंक।
4. पण्डित रामकरण जोशी, तारीख-ए-परगनात-टोंक।
5. सिंहल हनुमान प्रसाद, टोंक का इतिहास।
6. जिला दर्शन, जिला सूचना केन्द्र टोंक।
7. राजस्थान जिला गजेटियर, राजस्थान सरकार।
8. दीवान शमसुद्दीन, हफ्तादह साला अमीर बिस्त साला वजीर।

अलवर रियासत में प्रशासन का विकास- ब्रिटिश प्रभाव के विशेष संदर्भ में

डॉ. रमेश चन्द खण्डूरी एवं जगतसिंह मीना

राव प्रतापसिंह जयपुर रियासत से पृथक होकर 25 नवम्बर 1775 को स्वतंत्र अलवर राज्य की स्थापना की। प्रशासनिक पुनर्गठन और अंग्रेजी प्रभुसत्ता की स्थापना से पूर्व प्रशासनिक तंत्र का प्रमुख दीवान होता था जो मुख्य रूप से वित्त व राजस्व मामलों को देखता था।¹ अलवर राज्य द्वारा ईस्ट इण्डिया के साथ 1803 की प्रतिरक्षात्मक सहायक संधि के पश्चात् प्रशासन में कम्पनी का हस्तक्षेप बढ़ने लगा। यह हस्तक्षेप उस स्थिति में बहुत अधिक बढ़ जाता था। जब अल्पवयस्क उत्तराधिकारी शासक बनता था। राजा की अल्पवयस्कता का लाभ उठाकर दीवान द्वारा स्वेच्छपूर्वक प्रशासन चलाने से अव्यवस्था एवं असंतोष उत्पन्न हो जाता था। प्रशासनिक अराजकता का लाभ उठाकर कम्पनी द्वारा पोलिटिकल एजेंट की अध्यक्षता में राज्य परिषद् का गठन कर रियासत का प्रशासन चलाया जाता था। सम्पूर्ण अपीलों का निस्तारण परिषद् के द्वारा किया जाता था। राज्य प्रशासन द्वारा सन् 1874 में निचली अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने के लिए एक स्वतंत्र अपील विभाग की स्थापना की गई, जिसके परिणामस्वरूप परिषद् के अधिकारों में कमी आई। यद्यपि अभी भी गंभीर अपराधों का निस्तारण परिषद् के द्वारा ही किया जाता था। राजा के वयस्क होने पर परिषद् को भंग कर दिया जाता था लेकिन पोलिटिकल एजेंट का प्रशासन पर प्रभाव पूर्ववत् बना रहता था।²

राज्य का प्रशासनिक स्वरूप महाराजा जयसिंह के द्वारा पूर्ण शासकीय शक्तियों को ग्रहण करने के पश्चात् उभरकर सामने आया। 1906 में प्रशासनिक पुनर्गठन कर राज्य परिषद् तथा महकमा आलिया हुजूरी के दतरों को मिलाकर उसे महकमा आलिया हुजूरी नाम दिया गया। इसमें 4 सदस्य थे। प्रत्येक सदस्य प्रशासन की चार शाखाओं-राजस्व न्यायिक गृह और विभागीय में से एक के लिए उत्तरदायी था। उन्होंने एक परामर्शदात्री समिति जो कि हिजहाइनस कौंसिल के नाम से जानी जाती थी का गठन किया। इसके सदस्यों की नियुक्ति स्वयं महाराज द्वारा मंत्रियों, अधिकारियों और गैर अधिकारियों में से तीन वर्ष के लिए की जाती थी।³

1907-08 में सभी विभागों को महकमा आलिया हुजूरी की चार शाखाओं के

अधीन पुनर्गठित किया गया। ये शाखायें थीं - राजस्व, न्यायिक गृह तथा सेना। राज्य के समस्त विभागों को उक्त चार शाखाओं के अधीन रखते हुए पुनः वर्गीकृत किया गया और प्रत्येक शाखा को एक प्रभारी मंत्री के अधीन रखा गया। 1907-08 में ही प्रशासनिक सुधारों के क्रम में छोटे एवं अब तक उपेक्षित विभागों को समूहों में गठित किया गया। इन समूहों को निरीक्षण अधिकारी के अधीन रखा गया इनमें निर्देशनकारी विभाग को सेरिस्था तथा अधीन रखे गये छोटे विभागों को सेगा कहा गया। सेरिस्था अधिकारियों को हाकिम और सेगा अधिकारियों को मुंसरिम कहा गया। राज्य के समस्त विभागों को तदनुसार पुनर्गठित किया गया और उन्हें व्यवस्थित आधार पर योग्य अधिकारियों के अधीन रखा गया।⁴

1923 में महाराजा जयसिंह की यूरोपीय यात्रा के कारण अनुपस्थिति में प्रशासन में प्रधानमंत्री का पद सृजन कर उसे प्रशासन में पूर्व दीवान के भांति अधिकार दिये गये। इस पद को स्थायी बना दिया गया।⁵ 1933-34 में राज्य प्रशासन का पूर्णतया पुनर्गठन कर राज्य को प्रशासनिक दृष्टि से दो जिलों उत्तरी जिला अलवर और दक्षिणी जिला राजगढ़ में विभाजित कर उन्हें जिला अधिकारी के प्रभार में रखकर राजस्व एवं अपराधिक शक्तियां प्रदान की गयीं। राजस्व शक्तियों के क्रियान्वयन के रूप में उसे कलैक्टर कहा गया और अपराधिक शक्तियों के उपयोग के समय उसे जिला मजिस्ट्रेट कहा गया। जिला अधिकारी राजस्व मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता था। निजामतों में नाजिम प्रशासनिक अधिकारी होता था।⁶

1944-45 के दौरान सम्पूर्ण प्रशासन राजा के द्वारा उसकी परिषद् की सहायता से चलाया जा रहा था जिसका अध्यक्ष स्वयं राजा और उपाध्यक्ष प्रधानमंत्री होता था। जबकि अन्य मंत्री इसके सदस्य होते थे। परिषद् कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करती थीं। इसके आदेश ही अलवर सरकार के आदेश माने जाते थे। अंतिम कार्यकारी सत्ता राजा में निहित होती थी। इस परिषद् की प्रति सप्ताह दो बैठक होती थी। कार्यकारी परिषद् के अलावा एक सलाहकार परिषद् भी थी। 1944-45 के दौरान प्रधानमंत्री के अलावा मिनिस्टर इनवेस्टिंग, गृहमंत्री एवं राजस्व मंत्री थे।⁷ ब्रिटिश शासन के हस्तक्षेप से पूर्व राज्य के किसान परिवारों को परम्परागत रूप से अपने भू क्षेत्रों पर पैतृक अधिकार प्राप्त थे। जिन्हें विस्वेदार के नाम से जाना जाता था।⁸ वे जब तक नियमित रूप से राज्य को लगान देते रहते थे तब तक उन्हें बेदखल नहीं किया जाता था। कभी-कभी जर्मीदार अपने अधीनस्थ गाँवों को भू राजस्व वसूली की दृष्टि से ठेके पर दे देते थे। रियासत में इस समय भू राजस्व की वसूली की सबसे खराब मानी जाने वाली पद्धति इजारा प्रचलन में थी जिसमें सबसे अधिक बोली लगाने वाले को निश्चित समय के लिए निश्चित भूमि दे दी जाती थी। राज्य में भू राजस्व प्रति बीघा औसत पैदावार के आधार पर निर्धारित किया जाता था। फलतः राज्य की भू राजस्व आय में विविधता

रहती थी। भू राजस्व वसूली का कार्य राजा के निकट सम्बन्धियों द्वारा किया जाता था। ये लोग किसानों से दमनकारी तरीके से भू राजस्व की वसूली करते थे। लगान नगद या वस्तु दोनों में लिया जाता था।⁹

रियासत के ब्रिटिश प्रभाव में आने के पश्चात् उपरोक्त मुगलकालीन प्रभावित भू राजस्व प्रणाली की त्रुटियों को दूर करने, किसानों की दशा में सुधार करने व भू राजस्व के रूप में राज्य की आय निश्चित करने की दृष्टि से 1859 में कैप्टन ईम्पे द्वारा स्थायी कर निर्धारण की पद्धति लागू करते हुए तीन वर्षीय अस्थायी बन्दोबस्त किया गया। इस बन्दोबस्त के पूर्ण होने के पश्चात् इम्पे ने ही दस साला बन्दोबस्त का प्रारम्भ किया और राज्य के वार्षिक राजस्व को बढ़ाकर रूपये 17,19,875 निर्धारित किया।¹⁰ राज्य में ब्रिटिश नीति के अनुरूप पहला स्थायी बन्दोबस्त मेजर पाउलट द्वारा 1876 में किया गया। इसमें सबसे पहले सभी खालसा गाँव की पैमाइश करके रिकार्ड तैयार करवाकर 21 लाख रुपये भू राजस्व निश्चित किया गया। भूराजस्व अब उसे नगद रूप में वसूला जाने लगा। पहला भूमि बन्दोबस्त बीस वर्ष के लिए किया गया था। अतः दूसरा स्थायी भूमि बन्दोबस्त 1899 में हुआ जिसमें कुल भू राजस्व बढ़ाकर 20,73,487 निर्धारित किया। भू राजस्व की कुल राशि उत्पादन का 1/2 से 1/5 हिस्से के मध्य निर्धारित की गयी। तीसरा बन्दोबस्त 1922 में सम्पन्न हुआ। 1923-24 में भू राजस्व की नई दरें लागू कर कुल भू राजस्व 29,39,112 निर्धारित किया गया। इन बढ़ी हुई दरों के कारण किसानों में असंतोष भड़क गया। फलतः सरकार को बढ़ी हुई दरों में संशोधन करना पड़ा।¹¹ सम्पूर्ण भू राजस्व प्रशासन 1933 तक राजस्व कमिश्नर के निर्देशन में संचालित था लेकिन इसके पश्चात् किये गये प्रशासनिक पुनर्गठन में राजस्व प्रशासन राजस्व मंत्री के अधीन कलेक्टर, सहायक कलेक्टर प्रथम, सहायक कलेक्टर द्वितीय, तहसीलदार कानूनगो, पटवारी द्वारा संचालित किया जाने लगा।¹²

रियासत के प्राक् ब्रिटिश प्रभाव काल में राजा मुख्य न्यायाधीश था एवं न्यायिक शक्तियों का केन्द्र बिन्दु था। राजा न्यायिक निर्णय प्रचलित रीति-रिवाजों व परम्पराओं के आधार पर करता था। धार्मिक मामलों में पुरोहित व अन्य मामलों में पंचों की सलाह ली जाती थी। राजा के पश्चात् केन्द्रीय प्रशासन में न्यायिक मामलों का प्रमुख अधिकारी दीवान था। वह अधीनस्थ अधिकारियों की अपील सुनता व न्यायिक राज्यादेश को अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों द्वारा लागू करता था। राजधानी व बड़े परगनों में कोतवाल भी न्यायाधीश का कार्य करते थे। ग्रामीण स्तर पर विवादों का निपटारा ग्राम चौधरी या पटेल के अलावा जाति पंचायतों के द्वारा भी किया जाता था। लिखित न्यायिक संहिता का अभाव था एवं दण्ड व्यवस्था कठोर थी। इन परम्परागत न्यायालयों में अधिकांश निर्णय मौखिक वाद-विवाद के पश्चात् सुनाये जाते थे। उनमें औपचारिकताएँ कम होती थीं और समय भी कम लगता था। अतः

न्याय व्यवस्था सस्ती एवं सरल थी जिसका उद्देश्य समाज में समन्वय स्थापित करना था न कि अधिकारों का निर्धारण करना।¹³

ब्रिटिश हस्तक्षेप के पश्चात् उपरोक्त परम्परागत न्यायिक प्रणाली कम्पनी एवं पश्चिमी मानदण्डों के अनुरूप न होने के कारण दोषपूर्ण मानी गई। अंग्रेजों को अपनी न्याय व्यवस्था पर बहुत अभिमान था जिसे वे राजपूताना में लागू करना चाहते थे। वह दिखाना चाहते थे कि अंग्रेज सरकार प्रजा हितैषी है और उसकी न्यायिक नीतियां जन कल्याणकारी हैं। उन्होंने प्रारम्भ में सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था में यह मानते हुए बदलाव नहीं किया कि जनता रूढ़िवादी है। अतः प्रारम्भिक चरण में रियासत में अपीलीय अदालतें स्थापित करने की सलाह दी गयी। ये अदालतें महाराजा विनयसिंह के शासनकाल में स्थापित की गयी। अंग्रेजी हस्तक्षेप के कारण विशेष रूप से शासक की अल्पवयस्कता के समय न्यायिक कार्य पोलिटिकल ऐजेन्ट की अध्यक्षता में परिषद् द्वारा किये जाने लगे। यहां तक कि दीवानी और फौजदारी न्यायधीशों की नियुक्ति भी परिषद् द्वारा की जाती थी।¹⁴

1875 में न्यायिक व्यवस्था में सुधार कर अपीलीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय को निचली अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने के लिए एक समर्थ स्वतंत्र न्यायालय के रूप में अधिकृत किया गया। इसकी स्थापना के परिणामस्वरूप राज्य परिषद् के सदस्यों में असंतोष उत्पन्न हुआ क्योंकि इससे उनके अधिकारों में कमी आ गई थी। यद्यपि गंभीर और राज्य को प्रभावित करने वाले मामलों का अंतिम निर्णय परिषद् द्वारा ही किया जाता था। अधीनस्थ न्यायालयों के रूप में जिला सत्र न्यायालय, दीवानी न्यायालय, तहसीलदार न्यायालय आदि न्यायिक कार्य करते थे। राज्य में सभी अदालतें ब्रिटिश कानून व सिद्धांतों के अनुसार निर्देशित थी जो सामान्य जन की समझ से परे थे।¹⁵ 1895 में पुलिस प्रशासन को न्यायिक विभाग से पृथक कर दिया गया। अब तक पुलिस विभाग फौजदारी अथवा न्यायिक विभाग का ही अंग था और फौजदार उस समय मजिस्ट्रेट एवं पुलिस अधीक्षक के कर्तव्यों का संयुक्त रूप से निर्वहन करता था।

महाराणा जयसिंह ने अपने कार्यकाल में किये गये प्रशासनिक पुनर्गठन के अंतर्गत महकमा आलिया हुजुरी के परिषद् सदस्य के अधीन न्यायिक शाखा स्थापित की। 1907-08 के प्रशासनिक पुनर्गठन में न्यायिक शाखा का कार्य प्रभारी मंत्री को सौंप दिया गया। अब राज्य में समस्त न्यायिक कार्य भारतीय दण्ड संहिता, पुलिस अधिनियम 1861, भारतीय आपराधिक संहिता आदि के अनुसार किया जाने लगा।¹⁶ 1919-20 में जयसिंह ने न्यायिक प्रशासन में रूचि लेते हुए ग्रामीण स्तर पर कम व्यय में न्याय दिलाने हेतु पंचायत बोर्ड स्थापित कर उन्हें दीवानी, फौजदारी एवं राजस्व शक्तियां प्रदान की। इन संस्थाओं की लोकप्रियता व उपयोगिता इतनी बढ़ी कि

1928-29 तक राज्य में इनकी संख्या लगभग 1556 हो गई। आगामी वर्षों में समस्त ग्रामों में पंचायत बोर्ड गठित कर दिये गये।¹⁷

महाराजा जयसिंह के समय ब्रिटिश कानून के अनुसार न्यायिक कार्य किया जा रहा था। वे प्रजा हितैषी व प्रगतिशील शासक थे उन्होंने राज्य की आवश्यकतानुसार नियम एवं कानून बनाये जिससे राज्य में कानूनों की संख्या बढ़कर 100 के लगभग हो गई। 1923-24 में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक कर न्यायपालिका को स्वतन्त्र पहचान दी गई। इसी वर्ष दीवानी और फौजदारी कार्य न्यायिक अधिकारियों को सौंप दिये गये। उन्होंने न्यायिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाकर 1928 में उच्च न्यायालय की स्थापना की घोषणा की। उच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन और अपीलीय मामलों के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में स्थापित किया गया।¹⁸ राज्य उच्च न्यायालय का 1941 में पुनर्गठन किया गया अब इसमें मुख्य न्यायाधीश के साथ एक से अधिक न्यायाधिपति नियुक्त कर नियम एवं विनियम परिवर्तित किये गये। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष परिस्थितियों में ही अपीलें केवल महाराजा के समक्ष रखी जाती थीं। न्याय प्रबन्ध के कार्य में महाराजा की सहायता एक न्यायिक समिति द्वारा की जाती थी।¹⁹ राज्य में 1943 में पृथक से विधि विभाग की स्थापना की गयी। जिसका प्रमुख दायित्व विभाग द्वारा बनाये नियमों एवं विनियमों को राजपत्र में अधिसूचित करवाना, राज्य से संबंधित समस्त वैधानिक मामलों में सलाह देना, सरकारी अपीलों और पुनरावलोकन में राज्य का प्रतिनिधित्व करना आदि था। विभाग का प्रभारी राज्य के कानूनी हितों के लिए उत्तरदायी था।²⁰

ब्रिटिश हस्तक्षेप के पश्चात् स्थापित की गई न्यायिक व्यवस्था या न्यायिक परिवर्तनों का राजा और प्रजा दोनों ने ही स्वागत नहीं किया क्योंकि ये सब परिवर्तन ब्रिटिश सरकार ने अपने हित और अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिए किये थे। इस न्यायिक प्रणाली में अनेक दोष थे। इसमें अपीलीय व्यवस्था पूर्णतः दोषयुक्त थी। अब न्याय जनसाधारण के लिए मिलना कठिन हो गया। यह अधिक औपचारिकतापूर्ण, व्ययपूर्ण, जटिल एवं लम्बी थी। इस व्यवस्था के कारण ग्रामीण न्यायालयों या पंचायत व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। इससे स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्था को धक्का लगा फलतः जनता में तीव्र आक्रोश उत्पन्न हुआ।

महाराजा श्यौदान सिंह के समय 1871 में अलवर में कोतवाली की स्थापना की गई, इसका प्रभारी कोतवाल होता था। जिसके अधीन तीन अहलकार, अनेक चौकीदार और नजरबाज हुआ करते थे। अभी कोतवाल के कर्तव्य मुगलकालीन कोतवाल के अनुरूप यथावत थे। 1896 तक पुलिस का न्याय विभाग के अधीन था। 1896 में पुलिस को न्यायिक विभाग से पृथक कर दिया गया। अजमेर-मेरवाड़ा के

पुलिस निरीक्षक को पुलिस अधीक्षक नियुक्त किया गया। पुलिस अधीक्षक एवं फौजदार की शक्तियाँ स्पष्ट रूप से चिन्हित नहीं किये जाने के कारण फौजदार ने 1903 तक अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाये रखा। पुलिस से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण निर्णय राज्य परिषद् एवं पॉलिटिकल एजेन्ट द्वारा लिये जाते थे। जिस कारण विभागीय कार्यों में अनावश्यक विलम्ब होता था।²¹

1903 में पुलिस विभाग के प्रथम पुनर्गठन के लिए पंजाब सरकार के पुलिस अधिकारी एल.एम. टामकिन्स की सेवायें राज्य द्वारा ली गईं। उसने पुलिस अधीक्षक को पर्याप्त शक्तियाँ प्रदान की। पुलिस थानों की संख्या बढ़ाकर 19 कर दी गई। उन्हें 2 श्रेणियों- अ तथा ब में विभक्त कर दिया गया। अ श्रेणी के पुलिस थाने अलवर कोतवाली, अलवर सदर, राजगढ़, लक्ष्मणगढ़, मण्डावर, बानसूर, बहरोड़, किशनगढ़ में प्रभारी के रूप में निरीक्षक लगाये गये। जबकि ब श्रेणी के थाने - थानागाजी, तिजारा, टहला, नीमराणा, नारायणपुर, टपूकड़ा, माण्डण, गोविन्दगढ़ में उपनिरीक्षक को प्रभारी नियुक्त किया गया। पुलिस की कार्य प्रणाली अब भारतीय दण्ड संहिता, पुलिस अधिनियम 1861, अलवर राजस्व मेनुअल अधिनियम 1903, नगरपालिका अधिनियम 1903 के अनुरूप की जाने लगी। पुनर्गठन से पूर्व पुलिस भर्ती के कोई निश्चित नियम एवं योग्यता के मापदण्ड नहीं थे और न ही प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था थी। अब भर्ती प्रक्रिया में प्रत्याशी की शारीरिक योग्यता को विशेष महत्व दिया जाने लगा।²² 1915-16 में सहायक पुलिस अधीक्षक और 1918-19 में पुलिस महानिरीक्षक तथा पुलिस उपमहानिरीक्षक के पदों का सृजन किया गया लेकिन बाद में पुलिस उपमहानिरीक्षक का पद समाप्त कर दिया गया। विभाग के सर्वोच्च अधिकारी महानिरीक्षक की नियुक्ति राजेन्द्र शासन द्वारा की जाती थी। उपनिरीक्षक व निरीक्षक की नियुक्ति महानिरीक्षक द्वारा राजेन्द्र शासन की अनुमति से होती थी। पुलिस महानिरीक्षक पुलिस से सम्बन्धित मामलों में राजेन्द्र शासन का सलाहकार होता था। वह 1861 के पुलिस अधिनियम के परिच्छेद 12 के अनुसार महाराज सरकार की अनुमति से पुलिस बल के नियम-विनियम बनाता था।²³

पुलिस प्रशिक्षण हेतु 1917 में प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया। पुलिस लाइन में समय-समय पर प्रशिक्षण आयोजित किया जाते थे। राज्य से बाहर फिल्लौर, मुरादाबाद के केन्द्रों में प्रशिक्षण हेतु भेजे जाने की व्यवस्था थी। राज्य में गम्भीर अपराधों की रोकथाम व अनुसंधान हेतु प्रथम पुलिस पुनर्गठन में गुप्तचर विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग का कार्य राजनैतिक शाखा, अनुसंधान शाखा, अपराधिक जन जाति शाखा में विभक्त था।²⁴ ग्रामीण क्षेत्रों में अपराधों की रोकथाम, शांति व्यवस्था व सूचना प्राप्त करने के लिए पुलिस थानों व चौकीयों के साथ-साथ ग्रामीण चौकीदारों की नियुक्ति की जाती थी।²⁵ 1933-34 में रियासत को पुलिस विभाजन की दृष्टि से

2 जिलों उत्तरी जिला अलवर एवं दक्षिण जिला राजगढ़ में विभक्त कर दिया गया। उत्तरी जिलें में 9 तथा दक्षिण जिलें में 10 पुलिस थाने स्थापित किये गये। द्वितीय पुलिस पुनर्गठन में सशस्त्र पुलिस बल भी स्थापित किया गया। 1944-45 के दौरान पुलिस प्रशासन में पुलिस महानिरीक्षक के अधीन पुलिस अधीक्षक, सहायक पुलिस अधीक्षक, निरीक्षक, उपनिरीक्षक, सार्जेन्ट, लॉस सार्जेन्ट व सिपाही सहित पुलिस बल संख्या 992 थी।²⁶

प्राकब्रिटिश प्रभाव से पूर्व अलवर रियासत की सेना भी समकालीन अन्य राजपूत रियासतों की सेना की भाँति जागीरदार या सामन्तों के सहयोग व निष्ठा पर निर्भर थी। जागीरदार आवश्यकता पड़ने पर अपनी क्षमता या सामर्थ्य के अनुसार नियमित रूप से निश्चित सैनिकों के साथ शासक सेवा में उपस्थित होते थे। राज्य के पास अंगरक्षकों के रूप में एक सैनिक टुकड़ी के अलावा कोई निजी सेना नहीं होती थी। बख्शी सेना विभाग का अध्यक्ष होता था। उसकी सहायता के लिए सहायक बख्शी, खबरनवीश, किलेदार, हवलदार, दारोगा, तोपची आदि होते थे। सेना इस समय परम्परागत रूप से हाथी घुड़सवार, ऊँट पैदल विभागों में विभक्त थी। मुगलों की भाँति बारूद, तोपे, छोटी तलवारें, हल्की ढालें जैसी उपयोगी अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया जाता था।²⁷

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मराठा एवं पिण्डारियों के आक्रमणों का सामना करने के लिए अलवर राज्य में कर्नल फ्रांसीसी मेल के 300 सैनिकों के साथ स्थायी सेना का गठन किया गया। इस सेना के अच्छे कार्यों से प्रभावित होकर प्रतापसिंह ने अपने युवराज बख्तावर सिंह के नाम पर बख्तावर पलटन की स्थापना की। इसी तरह बलदेव पलटन के नाम से दूसरी पलटन राजगढ़ में तैयार की गई। इस तरह स्थायी वैतनिक सेना के गठन की प्रक्रिया से राज्य में केन्द्रीय सैन्य पद्धति का प्रारम्भ हुआ। केन्द्रीय सेना एवं राज्य से बाहर की सेनाओं की सहायता से राजा द्वारा बाह्य आक्रमणों व सामन्तों के विद्रोह को कुचलने के कारण शासक व अधीनस्थ सामन्तों के मध्य संघर्ष की स्थिति बन गई जिसका अंत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ की गयी 1803 की संधि के पश्चात् ही संभव हो सका। इस संधि के पश्चात् अलवर रियासत को बाह्य आक्रमणों के लिए सेना की कोई आवश्यकता नहीं रही। कम्पनी सरकार ने रियासत की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। 1884 के पश्चात् मध्य एशिया में रूस के बढ़ते खतरों की आशंका को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज भारतीय सेना संगठित करने लगे। इसलिए उन्होंने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि रियासतों की भाँति अलवर राज्य में भी इम्पीरियल सर्विस ट्रुप्स के नाम से नई सेना का गठन किया। इसकी दो सैन्य इकाईयाँ थीं - अश्वारोही व पैदल सेना। इस सेना की भर्ती, प्रशिक्षण उपकरण एवं अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था अंग्रेजों द्वारा की जाती थी,

यद्यपि इसका व्यय रियासत द्वारा किया जाता था। अलवर की इम्पीरियल सर्विस ट्रुप्स ने प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों में सक्रिय भागीदारी की। राज्य की स्थानीय सेना इकाई में 1892-93 में निर्मांकित संघटक सम्मिलित थे - अश्वसेनातोपखाना, पैदल सेना, बख्तावर पलटन, खास चौकी, नकदी रिसाला, दुर्ग रक्षक आदि।²⁹ 1906-07 तक सभी रिसालों को नकदी रिसालों में परिवर्तित कर दिया गया। अब रिसालों को स्थान के नाम से पुकारा जाने लगा जहाँ वे स्थित थे। महाराजा जयसिंह का सेना के प्रति अत्यधिक लगाव होने के कारण 1921 में रियासत की सेना का नवीनीकरण कर उसे अलवर रियासत सेना का नाम दिया गया।³⁰

अलवर रियासत में स्थानीय स्वायत्त शासन की दृष्टि से महाराजा शिवदान सिंह के समय 1871 में पहली नगरपालिका स्थापित की गयी जिसका उद्देश्य सफाई व स्वच्छता की व्यवस्था करना था। नगरपालिका की आय हेतु नगर की आय पर प्रति रूपया 2 पाई कर लगाया जाता था। इसी वर्ष राजगढ़ और तिजारा में भी नगर कमेटियाँ स्थापित की गईं। 1906-07 में नगरपालिका अधिनियम 1903 पारित किया गया। 1907-08 के दौरान सभी नगरपालिकाओं को अलवर नगरपालिका अध्यक्ष के अधीन कर दिया गया। वह समस्त नगरपालिकाओं के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने के लिए अधिकृत था। प्रारम्भ में समस्त नगरपालिकायें सरकारी संस्थाओं के रूप में थी। क्योंकि इनमें सरकारी अधिकारी तथा सरकार से मनोनीत व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था।³¹ वर्ष 1934 में राज्य की समस्त नगरपालिकाओं को समाप्त कर दिया गया। नगरपालिका अधिनियम 1903 को समाप्त कर उसके स्थान पर अलवर नगरपालिका एवं लघु कस्बा कमेटी अधिनियम 1934 बनाकर इसके तत्वावधान में अलवर नगरपालिका एवं राजगढ़ लघु कस्बा कमेटी स्थापित की गईं। नगरपालिकाओं में सरकार नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को मनोनीत करती थी। सन् 1939 में अलवर नगरपालिका में 24 में से 20 सदस्य चुने हुए रखे गए। मनोनीत सदस्यों में से एक हरिजन व एक महिला सदस्य थे। अब नगरपालिका का उपसभापति निर्वाचित होने लगा था। सभापति पूर्ववत् सरकारी अधिकारी रहा। सन् 1944 में राजगढ़ व तिजारा नगरपालिकाओं के अधिकतर सदस्य भी निर्वाचित होने लगे। अगस्त 1945 में सभी नगरपालिकाओं में सभापति निर्वाचित किये जाने लगे।³² इससे स्पष्ट है कि अब रियासत जनता अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगी थी।

महाराजा जयसिंह ने गांव में स्थानीय स्तर पर ही सस्ता व सरल तरीके से न्याय प्रदान करने के लिए पंचायत बोर्ड की स्थापना की थी। इनमें पंचों को सरकार द्वारा नामजद किया जाता था तथा सचिव सरकारी कर्मचारी होता था। इनकी उपयोगिता व लोकप्रियता के कारण 1931-32 तक राज्य के सम्पूर्ण गांव में पंचायतों की स्थापना कर दी गई।³³ लेकिन बाद में ये पंचायतें भारी अर्थदण्ड लगाने के कारण बदनाम होने

लगीं तथा इनके निर्णयों की निष्पक्षता पर संदेह किया जाने लगा। सरकार भी अधिक जुर्माना करने वाले पंचायत बोर्डों को ईनाम व सिरोपाव देने लगी। इस प्रकार धीरे-धीरे ये ग्रामीण लोगों के कष्ट का कारण बनने लगी।³⁴ अतः 1934 में महाराजा जयसिंह के देश निष्कासन के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री वायली द्वारा पंचायतों को समाप्त कर दिया गया।³⁵ महाराजा जयसिंह द्वारा ग्रामीण जनता के हित के लिए स्थापित इन संस्थाओं को समाप्त करने के कार्य का तीव्र विरोध किया गया। इन संस्थाओं द्वारा न्यायिक और पुलिस कार्यों में बड़ी उपयोगी भूमिका निभाई गई थी लेकिन अधिक आय के लालच में सरकार की जुर्माना वसूलने की नीति के कारण इन संस्थाओं का दुरुपयोग किया जाने लगा जिससे ये अपने मूल लक्ष्य से भटक गईं।

संदर्भ

1. व्यास, रामप्रसाद आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास 1998, पृ. 342-343
2. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 405-407, अलवर, 1968,
3. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1905-1906, पृ. 1
4. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1907-1908, पृ. 2
5. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 412, 1968, अलवर
6. राजस्थान अभिलेखागार, अलवर, बस्ता नं. 19, फाईल नं. 10 पेज नं. 78
7. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1944-1945, पृ. 22-23
8. असिसमेन्ट रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट, 1899 पृ. 41
9. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि बम्बई, 1959, पृ. 6-7
10. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 406, 1968, अलवर
11. शर्मा वी.के., पीजेन्ट मूवमेन्ट इन राजस्थान, पृ. 186, जयपुर 1990
12. अलवर स्टेट गजट, 1 सितम्बर 1933, भाग-25, पृ. 1,2,3
13. व्यास, रामप्रसाद आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास 1998, पृ. 361-362, जयपुर 1998
14. जोशी, अनिल, विनय अंक, अलवर, 1969 पृ. 30
15. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 409, 1968, अलवर
16. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 410, 1968, अलवर
17. फाईल नं0 29, 'ए ब्रीफ सिनोपसिस' पृ. 9, रा.अभि. अलवर
18. मायाराम, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 412, 1968, अलवर
19. उपरोक्त पृ. 414
20. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1943-44, पृ. 81-83
21. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 503-504, अलवर, 1968
22. उपरोक्त पृ. 503-509

23. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1919-20, पृ. 59 एवं रा.अ. अलवर बास्ता नं0 208, फा. नं. 73, पृ. 2
24. अलवर अभिलेखागार, बस्ता नं. 398, फाईल नं. 39, पृ. 21
25. राज्य अभिलेखागार बीकानेर, पुलिस इन्स्पेक्टर जनरल मारवाड द्वारा महकमा खास जोधपुर को प्रेषित गोपनीय पत्र नं. 2-सी दिनांक 30.10.1906, फाईल नं. 8
26. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1944-45, पृ. 76
27. शर्मा, जी.एन., राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1981, पृ. 475
28. गहलोत, रघुवीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 301-302, जयपुर-1990
29. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1892-93, पृ. 7
30. एचीसन, सी.यू. ट्रिटीज, एनोजमेन्ट्स एण्ड सनदस जि-111, पृ. 350
31. जोशी अनिल, विनय अंक, पृ. 207, अलवर 1969, ए.आर. 1907-08, पृ. 38
32. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ अलवर स्टेट-1945-46, पृ. 47-57
33. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 561, 1968, अलवर
34. जोशी, अनिल, विनय अंक, अलवर, 1969 पृ. 207
35. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ. 560, 1968, अलवर

बीकानेर राज्य में संगीत व नृत्य- महाराजा गंगासिंह के सन्दर्भ में

गोपाल कृष्ण व्यास

महाराजा गंगासिंह को अपने राज्य में अन्य राज्यों के राजा-महाराजाओं की भांति संगीत, नृत्य तथा चित्रकला जैसी अमूल्य निधि विरासत के रूप में मिली। इन्होंने उक्त कलाओं के प्रतिभासम्पन्न कलाकारों को अपने यहाँ राज्याश्रय दिया और राज्य की ओर से अपने पूर्वजों की इस कलात्मक धरोहर को अपने मूलरूप में बनाये रखने तथा इसमें समय-समय पर नवीनीकरण व समन्वय करने के प्रशंसनीय प्रयास किये।¹

राज्याश्रय प्राप्त कलाकार अपनी कला की पूर्णता से राज्य के अतिथियों को आश्चर्यचकित करने में प्रवीण थे। इंग्लैण्ड के राजघराने के सदस्यों तथा वायसरायों के बीकानेर आगमन पर भारतीय संगीत व नृत्य द्वारा उनका स्वागत और मनोरंजन किया जाता था।² महाराजा की रजत जयन्ती तथा स्वर्ण-जयन्ती के महत्वपूर्ण अवसरों पर संगीत व नृत्य के भव्य कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये।³ राजपरिवार के सदस्यों के जन्म-दिवसों और राजकुमार व राजकुमारियों के विवाहोत्सवों के उपलक्ष्य में संगीत की महफिलों व मुजरों का आयोजन किया जाता था।⁴ इन उत्सवों में भाग लेने के लिए भारत के प्रसिद्ध कलाकारों को मनोरंजनार्थ आमन्त्रित किया जाता था। उक्त कार्यक्रमों में सिद्धेश्वरी, हीराबाई बड़ोदकर, मेनका, केसरबाई, गौहर बेनजीर आदि गायिकाओं के अतिरिक्त प्रसिद्ध नर्तकी दमयन्ती एवं ट्रावनकोर राज्य के राज-नर्तक कत्थककलि गोपीनाथ को भी बीकानेर में अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर दिया गया।⁵

राज्य में संगीत के संरक्षण का महत्त्व इसी तथ्य से स्पष्ट है कि इसके लिए एक अलग से विभाग था जिसे गुणीजनखाना कहा जाता था। इन विभाग के अन्तर्गत संगीतशालाएँ भी चलती थीं जिनमें विभिन्न राग-रागनियों, सार्जों तथा नृत्य-कला की उच्च शिक्षा दी जाती थी। संगीत-शिक्षकों को आकर्षक वेतन दिया जाता था और उद्यमान प्रतिभाओं को छात्रवृत्तियाँ भी दी जाने की व्यवस्था थी। संगीतशालाओं में शास्त्रीय रागों, बीकानेर माड एवं नृत्य में 'त' वर्ग की शैली पर आधारित शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी। सार्जों में सारंगी, शहनाई, नक्कारा, तबला, सितारा, तानपुरा, जलतरंग, करनाल आदि का अभ्यास कराया जाता था।⁶

गुणीजनखाना संगीत व नृत्य की शिक्षा के अतिरिक्त विशिष्ट अवसरों पर संगीत व नृत्य के कार्यक्रमों को प्रस्तुत करता था।⁷ गुणीजनखाने के अतिरिक्त आलमखाना भी संगीत से सम्बन्धित था।⁸ नौबतखाना और नक्कारखाना आलमखाने के अंग थे। नित्य प्रतिदिन, युद्ध व उत्सवों के अवसर पर नौबत व नगाड़ा बजवाने की व्यवस्था इस विभाग का मुख्य कार्य था। इन दोनों विभागों के कार्यों से समन्वय का पूरा ध्यान रखा जाता था।⁹ इन विभागों के पदों पर दमामी व कत्थक जातियों का ही विशेषाधिकार था। दमामी जाति ने संगीत तथा कत्थक जाति ने नृत्य में वंशानुगत दक्षताव निपुणता प्राप्त कर रखी थी।¹⁰ गुणीजनखाने के कलाकारों को विशिष्ट अवसरों पर प्रोत्साहन हेतु मूल्यवान पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता था। गायकों, वादकों व नृतकियों को जरी की पोशाकें और सोने-चांदी के आभूषण प्रदान किये जाते थे।¹¹

संगीत व नृत्य में लोकगीत व लोकनृत्य को उचित स्थान प्राप्त था। बीकानेरी माड शैली में लोकगीत गाये जाते थे, जो जन-भावनाओं से ओत-प्रोत होते थे। ऐलची, झीणी केसर, दारूदाखांळी, राणा काछवा, बधाई, जच्चा, लूहर, विवाह-गीत आदि बड़े लोक प्रिय गीत थे।¹² शास्त्रीय संगीत के रागों का आधार लेकर राजस्थान में वंशानुगत गायकों द्वारा गायी जाने वाली शैली माड कही जाती है। इसमें गायक लय, तान, स्वर, ताल, अलाप आदि का प्रयोग करते हैं। माड शैली में रागों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। माड शैली देस, सौरठ, पीलू, बिहाग आदि रागों में विशेष लोकप्रिय है तथा राजस्थानी लोकगीत भी इस शैली में गाये जाते हैं। इस शैली में गीत का प्रारम्भ तारसप्तक (उच्च स्वर) से किया जाता है। इसमें लगने वाले ठेके (तालें) अन्य शैलियों के ठेकों से भिन्न होते हैं। राजस्थान में भी क्षेत्रीय भावनाओं के आधार पर माड शैली में भिन्नता पायी जाती है।¹³ लोक-नृत्यों में डांडिया, घूमर, दीपक नृत्य आदि अपनी विशिष्ट शैली के कारण जनप्रिय थे। लोक-नृत्य के साथ नगाड़े की बाज अनिवार्य होती थी।¹⁴

महाराजा ने बड़ी रूचि व लगन से लोकगीतों तथा उनकी धुनों को राज्य के बैंडमास्टर विलियम जेम्स द्वारा पाश्चात्य शैली में भी स्वरांकन करवाया। इस महती कार्य में गुणीजनखाने के मुख्य कलाकारों में राजगायक शमसुद्दीन खां, सारंगीवादक गोपे खां, माड गायिका अल्लाह-जिलाई बाई आदि ने योगदान दिया। महाराजा के इस प्रयत्न से बीकानेर लोकगीत आज भी पाश्चात्य देशों में लोकप्रिय है। बीकानेरी लोकगीतों को रोमन आंग्लभाषा में संक्षिप्त व्याख्या सहित 'इण्डियन म्युजिक' नामक पुस्तक में लिखा गया। विदेशी अतिथियों को यह पुस्तक 'सान्ध्य संगीत' कार्यक्रम के समय भेंट की जाती थी।¹⁵ महाराजा ने गुणीजनखाने के कलाकारों को अन्य राज्यों की

गायन एवं नृत्य-शैली समझने तथा अपनाने का अवसर देने हेतु संगीतज्ञों व नृत्याचार्यों को भी अपने राज्य में आमंत्रित किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आमन्त्रित कलाकारों में महाराष्ट्र के पटवर्द्धन, भातखण्डे, शंकरराव, पटियाले के मियाँ जानखाँ, आशिक अलीखाँ तथा शाम चौरासी (उत्तर प्रदेश) के सलामतअली, नज़ाकतअली और भारत के विभन्न भागों से गोपाल महाराज, शंभूमहाराज, अच्छन महाराज, लच्छू महाराज जैसे महान् गायक एवं नृत्याचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनमें से कतिपय को अल्पावधि के लिए गुणीजनखाने में प्रशिक्षण हेतु नियुक्त भी किया गया।¹⁶

गुणीजनखाने के कई कलाकारों ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी, जिनमें हुसैनबख्श 'लंगड़े' शमसुद्दीन खाँ, अल्लाह जिलाई बाई, कासमखाँ चन्दवानी, कासमखाँ डग्गा, बिहारीलाल हनुमान प्रसाद आदि चोटी के कलाकार थे। हुसैनबख्श 'लंगड़े' ने शास्त्रीय संगीत में पूर्णता प्राप्त की और उन्हें 'उस्ताद' की पदवी प्रदान की गई थी।¹⁷ शास्त्रीय संगीत के एक अन्य गायक कलाकार मिर्चखाँ थे जिन्हें 'तान-सम्राट' की उपाधि से विभूषित किया गया। इनके दो पुत्रों रूकनदीनखाँ व शमसुद्दीनखाँ ने अपने पिता के पदचिह्नों पर चलते हुए शास्त्रीय संगीत में निपुणता प्राप्त की। शमसुद्दीनखाँ काफी लम्बे समय तक संगीत विद्यालय के मुख्य उस्ताद बने रहे। उनकी विशेषता यह थी कि दाँतों के बीच सुइयाँ लगाकर 'नाभि की तान' लेने में उन्होंने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। महाराजा ने इस राज गायक को भव्य हवेली बनवा कर दी। इन्होंने राग भोपाली में ख्याल ईज़ाद किया। यह उनकी मौलिक देन थी। शमसुद्दीन खाँ ने बड़ा ख्याल, छोटा ख्याल, ललित, देस, जौनपुरी आदि रागों व तुमरी और तराना का प्रद नि भारत की प्रसिद्ध रियासतों में कर बीकानेर राज्य का गौरव बढ़ाया। महाराजा द्वारा इनको 'संगीत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया।¹⁸

अल्लाह जिलाई बाई समस्त भारत में माड गायिका के रूप में प्रसिद्ध हुई और यह अपने-आप में 'माड स्कूल' कही जाती है। इसने शास्त्रीय संगीत की शिक्षा हुसैनबख्श 'लंगड़े' से प्राप्त की। इसे गुणीजनखाने का रत्न कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसने भी कई राज्यों में अपनी कला का प्रदर्शन कर धन और यश अर्जित किया। इनके गीतों में माधुर्य है।¹⁹ गुणीजनखाने के कलाकार कासमखाँ चन्दवानी अद्वितीय नकारची थे। उन्होंने नक्कारे को तेज धारदार चाकू, छुरी व उस्तरो से तथा चोभों (नगाड़ा बजाने की लकड़ियों) पर तेल छिड़ककर आग प्रज्वलित कर नक्कारा बजाने में ऐसी विशिष्टता प्राप्त की जो अनहोनी मानी जायेगी। वे 'शोलों की बाज' के बादशाह कहलाते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि तेज, धारदार उपकरणों व जलती हुई चोभों के तनिक भी चिह्न नगारे की चाम पर नहीं पड़ते थे।²⁰

गुणीजनखाने के प्रसिद्ध नर्तक बिहारीलाल व हनुमान प्रसाद थे। नुकीली कीलों व तेज धार वाली तलवारों पर नृत्य करके वह दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देता था। आशिक हुसैन उर्फ भूरेखाँ ने बीकानेर राज्य से बम्बई जाकर नृत्य सम्राट के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की।²¹ बख्तावरी, हुसैनी, छगनी, बदरी, मगनी, गवरा जवाहर, लाड बदन आदि बाईयाँ कुशल गायिकाएँ व नर्तकियाँ थीं।²² बीकानेर राज्य के गुणीजनखाने ने हुसैनबख्श 'लंगड़े' शमसुद्दीनखाँ और अल्लाह जिलाई बाई जैसे बेजोड़ गायक कला-प्रतिभाओं को उत्पन्न कर उन्हें कला-जगत् में अमर कर दिया। महाराजा के शासनकाल में संगीत व नृत्य-कला का जो प्रशंसनीय विकास बीकानेर राज्य में हुआ, व सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

महाराजा संगीत व नृत्य की बारीकियों के अच्छे ज्ञाता ही नहीं थे, बल्कि कलाकारों को निर्देश देने की क्षमता भी रखते थे। वे ललित-कलाओं के संरक्षक थे। उन्होंने सदैव कलाकारों को आदर दिया तथा उचित अवसरों पर पुरस्कारों से सम्मानित किया। उनके राज्याश्रय में गायकों, वादकों व नर्तकों ने अपनी कला-दक्षता द्वारा केवल बीकानेर राज्य में ही नहीं बल्कि अन्य रियासतों तथा ब्रिटिश भारत में बड़ी प्रसिद्धि पायी।

संदर्भ

1. के.एम.पन्नीकर- हिज हाईनेस महाराजा आफ बीकानेर, पृ.372, लन्दन, 1937, पर लिखते हैं कि दशहरा आदि उत्सव नृत्य संगीत के साथ धूमधाम से मनाये जाते थे।
2. फाईल नं.15, 1925 ई., नं.1, 1928 ई., नं.43, 1930 ई., प्रेस कटिंग रजिस्टर, बीकानेर
3. बीकानेर गोल्डन जुबली (1887-1937), पृ.69-79; बीकानेर 1937।
4. फाईल नं. 633, 1930 ई., सार्दुल म्युजियम, लालगढ़, बीकानेर।
5. भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1, गंगा ट्रस्ट, बीकानेर।
6. वही।
7. वही।
8. कागदों की बही, नं. 94, संवत् 1939।
9. फौज खरच री बही सं.1875/1818 ई., भैय्या संग्रह, बीकानेर; बीकानेर के वीर-पृ. 32, बीकानेर।
10. राजस्थान की जातियाँ-देखिये दमामी, दोलीजात आदि। जोधपुर; रमेशचन्द्र गुणर्थी-राजपरिजन परिचय, 1941 ई.।
11. बीकानेर गोल्डन जुबली, पृ.98-99; भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1
12. भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1

13. वही
14. बीकानेर गोल्डन जुबली- पृ.96-99।
15. यह पुस्तक लालगढ़ पुस्तकालय में उपलब्ध है।
16. भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1
17. वही
18. भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1; यंग इण्डिया-अंक xvi, नं.2, फरवरी, 1941-पृ.32।
19. भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1
20. वही
21. वही
22. के.एम.पन्नीकर, पृ. 373-374

रियासतकालीन राजपूताने के पारगमन सैनिक अभियान के संदर्भ और स्रोत

डॉ. डी.सी. चौबे एवं डॉ. एन.के. शर्मा

जैसा कि विद्वान लोग जानते हैं कि काफी आरजू और मिन्नतें करने के उपरान्त अंग्रेज अधिपति राजपूत शासकों से 1818 की संधियों के लिए तैयार हुए थे। चार्ल्स मेटकाफ की मध्यस्थता से संधियाँ सम्पन्न हुई थीं। काफी दिनों तक अंग्रेज शासक राजपूताने के साधन और संसाधन के बेहतर उपयोग पर विचार करते रहे। उसी समय उनकी नजर अफीम उगाने वाले राजस्थान के दक्षिणी पूर्वी भाग पर पड़ी। उस समय चीन में मालवा की अफीम की मांग बढ़ती जा रही थी। अफीम पर अंग्रेजी आधिपत्य और उससे अंग्रेजों को होने वाले लाभ की कहानी इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है। मैं इस शोध पत्र के माध्यम से उन दस्तावेजों की चर्चा करूँगा, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि राजपूताने की किन-रियासतों की सेनायें पारगमन सामुद्रिक अभियान पर गईं। रियासतों की सेनायें 1818 से 1945 तक कई बार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संवर्द्धन और रक्षा के लिए विदेशी अभियान पर गईं।¹ पारगमन सैनिक अभियानों पर शोध करने वाली दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर माधवी थाम्पी लिखती हैं कि मध्यपूर्व, दक्षिण-पूर्व एवं सुदूरपूर्व के एशियाई देशों में अंग्रेजी सत्ता ने वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष से सैनिक ले गए, जिसका विवरण हम आगे देंगे पर लम्बी मूँछों वाले राजस्थानियों एवं पगड़ीधारी सिक्खों को इन्होंने पुलिस सेवा में लगाया। 1903 ई. में महाराजा जगतजीत सिंह ने कोलम्बो और दक्षिण-पूर्व एशिया एवं चीन-जापान की यात्रा की थी, ने लिखा है कि थाईलैण्ड, मलेशिया, सिंगापुर, हाँगकाँग एवं चीन के बदमाश लोग एवं अन्य समाजकण्टक इन बड़ी-बड़ी मूँछों वाले राजस्थानी एवं गब्बरशेर जैसे पगड़ीधारी सिख पुलिसवालों से बहुत आतंकित रहते हैं। इसलिए अंग्रेजों ने इन्हें भारी संख्या में दक्षिण-पूर्व एवं सुदूर-पूर्व में अपने कब्जा वाले देशों पर इनकी सेवा लेकर अपना आधिपत्य कायम किया था। प्रो. थाम्पी आगे लिखती हैं कि अपना पारगमन प्रमुख विस्तार के लिए अंग्रेज प्रभुओं ने निम्नवत सैनिकों को विदेश ले गए।²

वैलेजली पहला गवर्नर-जनरल था, जिसने भारतीय सैनिकों को विदेश में भेजना प्रारंभ किया था। इस सिलसिले में 14वीं मद्रास नेटिव इन्फैन्ट्री (MNI) 1840

में अफीम युद्ध में भाग लेने चीन गई थी। एक सैनिक स्रोत के अनुसार 1824 से 1841 ई. के मध्य ब्रिटिश हित साधने के लिए 20,000 भारतीय सैनिक विदेश गए।³ 1801 ई. में नेपोलियन के भूमध्य सागर में प्रसार को रोकने के लिए मिस्र में भेजी गई थी। 1808 ई. में लार्ड वेलेजली ने 600 भारतीय सैनिकों को दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित मकाओ में तैनात किया था। सैंतीसवीं मद्रास नेटिव इन्फैन्ट्री चीन में गई जिनसे 1841 में चीन के गाँवों के लोगों ने लोहा लिया था और उससे सम्बन्धित देशभक्ति के गीत चीन में आज भी गाये जाते हैं - जैसे कि 1962 ई. में भारत-चीन युद्ध से सम्बन्धित गीत हमारे लोग गाते हैं। मद्रास सैन्य कमांड की सेपर्स एण्ड माइनर्स की कई कम्पनियाँ चीन में गई थीं। 1842 ई. में बंगाल सेना की राजपूत रेजीमेंट चीन में युद्ध लड़ने गई थी। भारतीय सैनिकों की चीन में उपस्थिति की चर्चा ऑक्टरलोनी ने अपनी पुस्तक 'चाइनीज वार' में वर्णित किया है।

ठाकुर दरियाव सिंह कानपुर के पास के संचेड़ी गाँव के रहने वाले थे उनकी डायरी में लिखा है कि कोटा, ग्वालियर और जयपुर की सेनायें द्वितीय अफीम युद्ध (1856 ई.) में अंग्रेजों की तरफ से भाग लेने चीन गई थीं।⁴ यह डायरी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित है। ठाकुर दरियाव सिंह बताते हैं कि हमारे पूर्वज राजपूत कई बार समुद्रपार अभियान पर गये थे।⁵ उनके पुत्र ठाकुर गदाधर सिंह ने अपनी प्रकाशित डायरी 'चीन में तेरह मास' में लिखा है कि कोटा, ग्वालियर और 7वीं बंगाल राजपूत रेजीमेंट चीन में घटित हुए बक्सर विद्रोह को दबाने के लिए चीन गये थे।⁶ डायरी से जानकारी मिलती है कि कई राजपूत नरेश और रियासत के अधिकारी चीन में युद्ध के सिलसिले में गये थे। ठाकुर गदाधर सिंह 7वीं बंगाल राजपूत इन्फेन्ट्री में सूबेदार मेजर थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में राजपूतों की वीरता और साहस का वर्णन किया है। उन चीनी लोगों को मीरजाफर और जयचन्द का वंशज कहा है जो 'लीगेशन' में आकर अपने देश चीन की सैनिक कमजोरी की जानकारी अंग्रेजों को देते थे। विप्लवकारी चीनियों के बारे में वे लिखते हैं कि चीन का स्वतंत्रता का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से 150 वर्ष पहले भारत का भविष्य अंग्रेजों के हाथों में चला गया था। ठाकुर गदाधर सिंह की डायरी से जानकारी मिलती है कि भारत से अफीम चीन भेजी जाती थी और उसकी खेती मालवा प्रदेश और बंगाल में की जाती थी। राजपूताने की अफीम से अंग्रेजों को चीन के साथ भुगतान संतुलन को सुधारने में मदद मिलती थी।⁷ दूसरी डायरी मथुरा ने डॉक्टर की है जो किसी रियासतकालीन सेना के साथ चीन गया था। अन्य डायरियों से रियासत काल के राजस्थान की राजनैतिक और सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।⁸

द्वितीय अफीम युद्ध (1856 ई.) में 47वीं, 65वीं एवं 70वीं बंगाल नेटिव इन्फैन्ट्री के राजपूत रेजीमेंट में हाँगकाँग और चीन में गई थीं। जून-जुलाई 1859 ई. में 8वीं, 11वीं, 15वीं एवं 19वीं पंजाब नेटिव इन्फैन्ट्री की बटालियनें सुदूर-पूर्व (चीन और जापान) में अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापना के लिए विदेश गई थीं। 1841 ई. में हाँगकाँग का ब्रिटिश प्रभुत्व में हस्तांतरण में भारतीय फौजों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कपूरथला के महाराजा जगतजीत सिंह ने अपने सुदूर-पूर्व की यात्रा में लिखते हैं कि तिन-सिन में तीन सिख कम्पनी बड़ी तन्मयता से अपने अंग्रेज प्रभुओं के लिए लगी हुई थीं।⁹ इन्होंने शानहाईक्वान में 30वीं पंजाब इन्फैन्ट्री के सैनिकों से मुलाकात की थी।

महाराजा गंगासिंह की डायरी से जानकारी मिलती है कि वे अपने 'कैमरे कोर' के साथ कई बार अंग्रेजों की सहायता में विदेश गये।¹⁰ बीकानेर अभिलेखागार से प्राप्त ग्रन्थों से जानकारी मिलती है कि महाराजा गंगासिंह लम्बे कद काठी एवं सुदृढ़ सैनिक गुणों से भरपूर व्यक्ति थे। बहादुरी और लोकोपकार के गुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे। उन्होंने तीन महाद्वीपों एशिया, अफ्रीका और यूरोप पर युद्ध लड़े। 1900 ई. में अपने 'कैमल कोर' के साथ चीन में बाक्सर विद्रोह के अभियान पर जाने वाले वे पहले महाराजा थे। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्र की सेनाओं के साथ उन्होंने अपनी विशेष सेवा प्रदान की। उन्हें फ्रांस में बुलाकर 'कैमल कोर' स्वेज नहर के पूर्व की सुरक्षा व्यवस्था में लगी हुई थी। गंगा रिसाला ने तुर्की में अंग्रेजों की ओर से युद्ध लड़ा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान महाराजा गंगासिंह ने अपनी सेना और अंग्रेजी सेना के कंधे से कंधा मिलाकर युद्ध किया था। गंगासिंह अपने अंग्रेज अधिपति के मध्य-पूर्व (पश्चिमी एशिया) में कई सैनिक अभियान पर गये थे।

रियासतकालीन राजपूताने के सेना के पारगमन सैनिक अभियान की चर्चा कानोता के ठाकुर अमर सिंह की डायरी में मिलती है। इस डायरी पर रूडोल्फ महोदय ने 'रिवर्सिंग द गेज' नामक पुस्तक लिखी है।¹¹ अमरसिंह की डायरी के अनुसार जोधपुर लांसर सर कर्नल प्रताप के नेतृत्व में चीन में गई थी। इस डायरी में जयपुर से शंघाई तक लांसर के मूवमेंट और उसके साथ घटित होने वाली छोटी-बड़ी घटनाओं का जिक्र है। इस डायरी से जानकारी मिलती है कि अंग्रेजी राज के सैनिक भारतीय सैनिकों और अधिकारियों को अपना गुलाम समझते थे। सर कर्नल प्रताप से जूनियर अंग्रेज अधिकारी यह अपेक्षा करता था कि वे उसे सैल्यूट करें। अमरसिंह ने ब्रिटिश राज के भारतीय और यूरोपीय सैनिकों के द्वैत और द्वन्द्व का जिक्र किया है। वे लिखते हैं कि हम लोग राज के बहादुर सैनिक हैं या भाड़े के टट्टू। इस डायरी को रियासतकालीन राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के लेखन में उपयोग किया जा

सकता है। राजपूताने में आधुनिक शिक्षा के स्वरूप और केन्द्रों के बारे में भी इस डायरी से जानकारी मिलती है। माधवी थाम्पी नामक चीनवेत्ता ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन्स इन चाइना' में लिखा है कि राजपूताने की चार फौजें जैसे जोधपुर लांसर के घुड़सवार सैनिक, बीकानेर के 'कैमल कोर', कोटा और अलवर की पैदल सेना चीन के सैनिक अभियान पर गई थी।¹²

प्रारम्भ में मालवा के कपास और बाद में इस क्षेत्र में उपजाई जाने वाली अफीम से अंग्रेजों को अपने विदेशी व्यापार में काफी मुनाफा प्राप्त हुआ। चीन पर आधिपत्य स्थापित करने (1860 ई.) के पश्चात् अंग्रेजों ने चीन में भारतीय माल बेचकर अपनी आर्थिक समृद्धि को बढ़ाया। प्रारंभ में मध्य भारत, गुजरात एवं राजपूताना के कपास को बेचकर अंग्रेजों ने चीन के साथ चाय के व्यापार से बिगड़े भुगतान संतुलन को संवारा था। उस समय चीन में कपास की खेती बिगड़ गई थी, पर कपास की मांग बनी हुई थी, परन्तु 1810 ई. के बाद चीन ने स्वयं कपास का उत्पादन, आपूर्ति और मांग में संतुलन स्थापित कर लिया। पुनः अंग्रेजों के सामने चीन को भुगतान में दी जाने वाली चांदी की किल्लत हो गई। चाय की मांग ब्रिटेन और यूरोप में बहुत ज्यादा थी। 1821 ई. तक चीन में अफीम की खपत और व्यापार में ईजाफा हुआ। पर कुछ सख्त तटवर्ती चीनी प्रांतीय गवर्नरों ने चीन की खेती पर बैन लगा दिया। भारत से बम्बई और कलकत्ता के जहाजों ने चीन में अफीम की आपूर्ति करना प्रारंभ किया। कम्पनी सरकार की निगाह पड़ी और बंगाल अफीम (गाजीपुर से भागलपुर तक गंगा के दाहिनी घाटी में) और मालवा अफीम (मध्यप्रदेश, गुजरात एवं दक्षिणी-पूर्वी राजपूताना) की खेती, परिवहन और व्यापार पर आधिपत्य स्थापित कर इसे चीन के बाजार तक जाना सुनिश्चित कर दिया। 1821 में 5000 चेस्ट अफीम चीन भेजी गई। वह 1831 ई. में कम्पनी सरकार द्वारा 9000 चेस्ट और 1839 ई. में 40,000 चेस्ट। इस अफीम के व्यापार से कम्पनी सरकार का चीन के साथ व्यापारिक घाटा सुधर गया। जब चीन ने अपने देश में अफीम को आने से रोकने की कोशिश की तो दो अफीम युद्ध हुए। इन अफीम युद्धों में भारतीय सैनिकों के दम पर अंग्रेजों ने सुदूर-पूर्व में अपने साम्राज्यवाद को सर्वोच्च किया।¹³

रियासतकालीन सैनिक इतिहास और सैन्य संगठन के ढाँचे और संचालन के लिए महाराजाओं, दरबारियों और सैनिक अधिकारियों की डायरियों का अध्ययन सैनिक इतिहास में उपयोगी होगा। इन डायरियों से इस बात की जानकारी मिल सकती है कि किस प्रकार से राजपूताने के सैनिकों और अफीम का अंग्रेजी राज ने साम्राज्यिक उपयोग किया। शोधार्थियों को रियासतकाल के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के डायरियों का

अध्ययन करना चाहिए। इनसे राजस्थान के इतिहास पर नये परिप्रेक्ष्य में नवीन जानकारी प्राप्त हो सकती है।

संदर्भ

1. सिंह, गदाधर, मेरी एडवर्ड सप्तम तिलक यात्रा, लखनऊ 1903, पृ. 11
2. सिंह दरियाव, डायरी - अप्रकाशित, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृ. 19
3. थाम्पी, माधवी, इंडियन्स इन चाइना, नई दिल्ली, 2005 पृ. 145
4. सिंह दरियाव, डायरी - अप्रकाशित, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृ. 19
5. सिंह, गदाधर, चीन में तेरह मास, लखनऊ 1903, पृ. 25
6. वही,
7. वही पृ. 302
8. गर्ग, महेन्दुलाल चीन दर्पण, 1902 ई. पृ. 101
9. सिंह जगतीत, माय ट्रैवल्स इन दी फार ईस्ट, लंदन, 1905 पृ. 28
10. देवड़ा, जी.एस.एल. द्धसम्पा.ऋ महाराजा गंगासिंह सेन्टेनरी वॉल्यूम, बीकानेर 1980
11. अमर सिंह की डायरी, 4 जुलाई 1901 ई. एवं रूडोल्फ एण्ड रूडोल्फ, रिवर्सिंग द गेज, नई दिल्ली 2003, पृ. 151
12. थाम्पी माधवी, इंडियन्स इन चाइना, नई दिल्ली 2003, पृ. 156-157
13. थाम्पी, माधवी, इंडियन्स इन चाइना, नई दिल्ली, 2005 पृ. 66-67

बीकानेर के अनजाने राष्ट्र के स्वतन्त्रता सेनानी : शौकत उस्मानी

डॉ. महेन्द्र पुरोहित

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में पूरे भारत वर्ष से अनेकानेक व्यक्तियों ने भाग लेकर अपना यथोचित सहयोग प्रदान किया इनमें से कईयों ने अपनी पहचान स्थापित की तो कई नींव की ईंट बन गये। ये नींव की ईंट बने व्यक्ति अपने ही समान एक शहर में वर्षों तक अनजान बने रहे और देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दशकों तक गुमनामी के अंधेरे में खोये रहे। देश कि स्वतंत्रता के पश्चात भी जनतांत्रिक सरकार ने पता नहीं क्यों इन पर स्वतन्त्र विचरण पर प्रतिबन्ध लगाये क्या अज्ञात भय था शायद इन पर कोई जान लेवा हमला न कर दें या इनको नेता बनाकर अराजकता का माहौल स्थापित करने की कोशिश न कर ले या फिर सुरक्षा की दृष्टि से कोई और अन्य कारण। बहरहाल कोई भी कारण रहे इससे ये दशकों तक अपने ही देश में गुमनामी के अंधेरे में खोये रहें। इन्ही नींव की ईंटों में कुछ व्यक्ति थे। बीकानेर के शौकत उस्मानी तथा जानकी प्रसाद बगरहट्टा वृन्दावन के राजा महेन्द्र प्रताप सिंह आदि।

शौकत उस्मानी ऐसी सखिसयत थे जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए न केवल रियासत को ही छोड़ा वरन् देश छोड़ दूर देश रूस तक पैदल ही पहुंच गये। शौकत उस्मानी का जन्म बीकानेर में 20 दिसम्बर 1901 को उस्तों के मौहल्ले में एक पत्थर नक्काश श्री बाउद्दीन के घर श्रीमति भूरी के गर्भ से मौलाबख्श के रूप में हुआ। जन्म के छः माह बाद ही सिर से पिता का साया उठ गया तो उसके छः माह बाद ही माता का भी। उनका पालन पोषण दादी नूरजहां ने किया। दादी उसे बचपन से ही कहानियों की जगह सुनाती भी सतावन की जंगे-आजादी की दास्ताने फिरंगी के खिलाफ बगावत की। यहीं से मौलाबख के मस्तिष्क में देश से अंग्रेज पलीत को भगाने की बैठ गई। 1857 की क्रांति उनके लिए प्रेरणा बनी।

प्रारम्भ में उनकी शिक्षा मस्जिद में लगने वाली मकतब में शुरू हुई लेकिन मौलाबख्श की जिज्ञासा शान्त न होने कारण घर के पास ही जैन उपासरे से होती हुई अंग्रेजी स्कूल तक का सफर तय किया। अंग्रेजी स्कूल कालान्तर में डूंगर मेमोरियल कॉलेज, वर्तमान के रा.फोर्ट उ.मा.वि स्टेशन रोड़ नवस्थापित भवन में स्थानान्तरित हो गई। इसी विद्यालय में अध्ययन के दौरान उनमें छिपी भावना देश से अंग्रेजी पलीत को

भगाना है, हिलोरे मारने लगी। इसी समय वे मौलाबख्श से पहले मोहम्मद शौकत फिर शौकत उस्मानी बन गये। इस कॉलेज स्कूल के प्रधानाचार्य श्री तिवाड़ी जी का, जो स्वयं राष्ट्रवादी थे, उन पर काफी प्रभाव पड़ा। वे शहर के हृदय स्थल कोटगेट पर स्थित गुण प्रकाश सज्जनालय, वाचनालय, जो वर्तमान में भी है नित्यजाते और बॉम्बे क्रॉनिकल तथा मोतीलाल नेहरू द्वारा संचालित इण्डिपेंडेंट समाचार पत्र पढ़ते। यह काल प्रथम विश्व युद्ध का था।

इसी समय देश में होमरूल आन्दोलन भी शुरू हो चुका था, 1917 की रूसी क्रांती, जलियावाला बाग हत्याकांड, 1919 की क्रांतिकारी घटनाएं, 1920-21 का राष्ट्रव्यापी खिलाफत आन्दोलन जैसी बहुत सी उत्तेजक घटनाएं थी जिन्होंने शौकत उस्मानी के दिलों दिमाग पर गहरी छाप छोड़ी। 1918 में ही श्री तिवाड़ी जी का निधन हो जाने पर कॉलेज स्कूल के प्रधानाचार्य श्री सम्पूर्णानन्द जी बनकर आए जो आगे चलकर उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री एवं राजस्थान के दूसरे राज्यपाल रहे। शौकत उस्मानी पर इस राष्ट्रवादी शिक्षक का गहरा प्रभाव पड़ा। यहीं से उन्होंने दुस्साहसिक कार्य करने शुरू किये। 1919 में शौकत उस्मानी और मैट्रिक के कुछ छात्रों ने पुस्तिकाएं बांटनी चालू की और पोस्टर चिपकाए तो रियासती पुलिस का ध्यान इस ओर गया। उनके चाचा को बुलाकर हिदायत दी गई। यहीं से उन्होंने से भूमिगत कार्यवाही जारी रखने का निर्णय लिया। 1919 के अंत और 1920 के शुरूआत में परीक्षा देने अजमेर गये। जहां उर्स के मेले में साथ ही राजनीतिक सम्मेलन हो रहा था। यहां उन्होंने तिलक, पटेल, खारपड़े और अर्जुन लाल सेठी को सुना। इससे इनकी अंग्रेज पलीत को भगाने की भावना को अत्यधिक ऊर्जा मिली।¹

7 मई 1920 को शौकत उस्मानी अपने मिशन पर चल निकले जो पुनः 26 सितम्बर 1920 को आए। भगवान रामचन्द्र जी ने तो 14 वर्ष का ही वनवास भोगा लेकिन शौकत उस्मानी ने तो 56 वर्ष का भोगा।² 7 मई 1920 की रात को एक मोची के भेष में वे बीकानेर से फिराजपुर होते हुए लाहौर पहुंचे। वहां कांग्रेस के नेताओं मौलाना जफर अली ख़ाँ और सैयद हबीब से मिले और फिर अपना गर्म कोट 36 रूपये में बेचकर पेशावर पहुंचे।³ अपने 300 साथियों के साथ पैदल ही पेशावर से वे दर्रा-ए-खैबर को पारकर जबल-उस-सिराज पहुंचे जहां उन्होंने सैन्य प्रशिक्षण प्राप्त किया। यहां से 80 व्यक्ति पैदल ही खतरनाक पहाड़, पथरीली चट्टाने, बर्फाली चोटियों, रक्त जमा देने वाली शीत हवाओं, गहरे और संकरे दर्रों को भूखे प्यासे तथा डाकुओं के खतरों से जूझते हुए मजार-ए-शरीफ पहुंचे। यहां आकर इनमें भी दो घडे हो गये 40 लोग राष्ट्र के लिए रूस जाना चाहते थे तो 40 लोग खलीफा के लिए तुर्की।⁴ यहां के गवर्नर ने उन्हें सोबियत रूस के तिरमिज में प्रवेश करवा दिया। फिर तिरमिज से ये नावों द्वारा रवाना हुए लेकिन कुछ दूरी पर ही तुर्कमानियों ने इन्हें मारपीट

कर बंदी बना लिया और यातनाएं दी अंत में ये किकी शहर के किले में पहुंचे। यहां तक पहुंचते ये 76 रह गये। यहां से ये ताशकन्द के लिए रवाना हुए।

ताशकन्द में उस्मानी और उनके साथियों का भव्य स्वागत हुआ। एम.एन.राय, मोहम्मद अली और मौलाना अब्दुल रब, खलील आदि दो अलग अलग दलों में स्वागत करने पहुंचे। एम.पी.टी आचार्य उस समय अन्दीजान में थे।⁵ नवम्बर 1920 में आचार्य के ताशकन्द लौटने पर प्रथम सप्ताह में ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की गई।⁶ शौकत उस्मानी प्रारम्भ में लगभग 6 माह दूर रहे। यहां से उन्हें विशेष प्रशिक्षण हेतु मास्को भेजा गया। जहां प्रथम बार 7 फरवरी 1921 को उस्मानी ने प्रिंस क्रोपटफिन की श्रद्धांजलि सभा में लेनिन को देखा तथा सुना। फिर दूसरी बार क्रेमलिन में प्रतिनिधि मण्डल में शामिल होकर मिले।⁷ यहीं पर उन्हें जर्मन, जापान, इंग्लैण्ड आदि के कम्युनिस्ट नेताओं से भी मिलने का अवसर मिला। चूंकि भारतीयों के आपस में गंभीर वैचारिक मतभेद थे अतः भारत को रूस द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता काट ली गई। इससे उस्मानी को गहरा धक्का लगा और भारत लौटने का मानस बना लिया।⁸

इसी उधेडबुन में श्री उस्मानी ने सोवियत नेता स्टालिन से मिलने का निर्णय लिया। चूंकि वे रूसी भाषा जानते थे अतः सीधे ही उसके पास जा पहुंचे और कहा मैं वापस भारत जाना चाहता हूँ कृपया इसकी व्यवस्था करें। स्टालिन ने उन पर अपनी नजर गड़ाते हुए पूछा -“यदि अध्ययन पूरा नहीं करके जाना चाहते हो तो फिर यहां किसलिए आये थे? श्री उस्मानी ने कहा “वह भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सहायता लेने आया था। लेकिन राय ने बताया कि कॉमिन्टर्न इसके लिए तैयार नहीं है। ‘स्टालिन ने कहा’ तुम भारतीयों में आपस में ही विवाद है। श्री उस्मानी ने प्रत्युत्तर में कहा “मैं उन भारतीयों में नहीं हूँ” तब स्टालिन ने हथियार देने का वादा किया और उस्मानी से हाथ मिलाया। साथ ही भारत के विस्फोटक हालात देखते हुए भारत न जाने की सलाह दी लेकिन उस्मानी कहां मानने वाले थे। वे रवाना हो ही गया।⁹

22 जनवरी 1922 को श्री उस्मानी अजरबैजान व ईरान होते हुए बंबई पहुंचे। दो माह पश्चात् यू.पी. में जाकर अध्यापन कार्य करते हुए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की गतिविधियों की जानकारी मास्को में अपने दोस्तों को भेजते रहे। श्री उस्मानी ने भूमिगत रूप में ही क्रांतिकारी कम्युनिस्ट साहित्य वितरित करना उचित समझा। कानपुर में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने उनकी मुलाकात श्री गणेश शंकर विद्यार्थी से करवा दी, श्री विद्यार्थी का घर क्रांतिकारियों के आश्रय स्थल था, जिससे श्री उस्मानी को काफी लाभ मिला।¹⁰ चार माह पश्चात् पुनः ईरान जाकर बम्बई लौटे। वे यू.पी., बंगाल, पंजाब और राजस्थान में आजादी की अलख जगाते रहे। कानपुर, बनारस

और रोहतक उनकी गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र थे। वे प्रतिबंधित साहित्य वितरित करने वाली गुप्त एजेन्सी के यू.पी. के प्रमुख थे।¹¹

श्री उस्मानी 8 मई 1923 को सरकार विरोधी प्रतिबंधित साहित्य वितरण हेतु पुनः कानपुर आए जहां वे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये। इसका सभी समाचार पत्रों ने विरोध किया तथा पैरवी के लिए पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल नेहरू तथा डॉ. अंसारी जैसी हस्तियां आगे आईं। गांधीजी स्वयं जेल में उनसे मिलने आए। उन्हें जेल में बहुत यातनाएं दी गईं, लेकिन वे झुके नहीं। उन्होंने कहा “मुझे मालूम है कि ज्यादा से ज्यादा तुम मुझे फांसी पर लटका दोगे, जिसकी मुझे परवाह नहीं।”¹² 12 मई को श्री उस्मानी को पेशावर जेल में स्थानान्तरित कर दिया। इसे पेशावर षडयन्त्र केस के नाम से जाना जाता है। पेशावर जेल में उस पर जुल्म के पहाड ढहाये गये, जुओं से भरी कंबल, गीता फर्श, मारपीट और 8 पौंड भारी जंजीरें उनके शरीर पर डाली गईं। लाख यातनाओं और बार-बार दिये लालच के बाद भी उन्होंने सरकार को एक शब्द की भी जानकारी नहीं दी। यही उनकी मुलाकात प्रख्यात क्रांतिकारियों एस. ए.डांगे, मुज्जफर अहमद और नलिनिदास गुप्ता से हुई थी।¹³

कानपुर - बोल्शेविक षडयन्त्र केस

16 मार्च 1929 को कानपुर के संयुक्त न्यायाधीश क्रिस्टी की अदालत में बोल्शेविक षडयन्त्र केस की सुनवाई हुई। आरोपियों को आई.पी.सी. की धारा 121-ए के तहत आरोपित किया गया। इनमें चार अभियुक्त श्री उस्मानी, डांगे, मुज्जफर अहमद और नलिनीदास गुप्ता ही उपस्थित थे, अन्य चार शरणार्थी यूरोप, जमानत हो जाने तथा क्षमादान के कारण अनुपस्थित थे।¹⁴ उस्मानी और साथियों पर ब्रिटिश सरकार के खात्मे के लिए सशस्त्र क्रांति करने के षडयन्त्र का आरोप लगाया गया। उनके द्वारा 15 फरवरी 1923 को एम.एन. राय को लिखे पत्र को भी सबूत के रूप में रखा गया।¹⁵ सशस्त्र हस्तक्षेप ही आखिरी इलाज है, जो भारत के सर्वहारा को मौत के मुंह से बचा सकता है।¹⁶ पं. मोतीलाल नेहरू, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि बचाव कमेटी में थे। सभी आरोपियों को चार-चार वर्ष की सख्त सजा हुई। जेल में क्रांतिकारियों से होने वाले दुर्व्यवहार के विरोध में उस्मानी ने 03.07.24 से 30.07.24 तक 27 दिन भूख हड़ताल की। 26 अगस्त 1927 को झांसी जेल से उन्हें रिहा किया गया।¹⁷ यहां से वे लाहोर गये, लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी ने उन्हें झांसी व कानपुर पर बुला लिया, जहां ‘काकोरी केस’ के नायकों से उनकी मुलाकात हुई।

26 दिसम्बर 1927 को कांग्रेस के मद्रास महाधिवेशन में श्री उस्मानी ने राजस्थान कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। उनका स्वागत करने के लिए स्वयं नेहरू जी मंच से उतर कर आए।¹⁸ इस दौरान उस्मानी भगत सिंह, चन्द्र शेखर

आजाद आदि से भेंट कर चुके थे। जून 1928 में उस्मानी पुनः सोवियत संघ के लिए रवाना हुए। यह विश्व इतिहास का महत्वपूर्ण समय था, जब कॉमिनटर्न का छठा अधिवेशन होने को था। उस्मानी को इसके अध्यक्ष मण्डल में शामिल कर लिया गया। वे स्टालिन से तीसरे स्थान पर आसीन किए गए।¹⁹ दिसम्बर 1928 में वे पुनः बम्बई आ गए। इसके बाद वे कलकता, पंजाब आदि स्थानों पर मजदूरों व आम जनता में सरकार विरोध आह्वान करते हुए कानुन पर आ गए। यहां से उन्होंने पुनः क्रांतिकारी गतिविधियां चालू कर दी। फलतः 20 मार्च 1929 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। यहां से उन्हें मेरठ ले जाया गया। उनके अन्य साथियों को भी अलग-अलग स्थानों से गिरफ्तार करके मेरठ जेल लाया गया। यह मेरठ षड्यन्त्र केस कहलाता है। उस्मानी व इनके साथियों पर “सोवियत संघ की मदद से भारत में ब्रिटिश सत्ता उखाड़ फेंकने का आरोप लगाया गया।

12 जून 1929 को शुरू हुए इस मुकदमें का फैसला 16 जनवरी 1935 सेशन जज ने सुनाया, जिसके मुताबिक सभी को कड़ी सजाएं दी गईं। उस्मानी व अन्य को 10 साल की काले पानी की सजा सुनाई गई। 3 अगस्त 1933 को आगरा जेल में उन्हें सूचना मिली कि उनकी सजा 10 से 3 साल कर दी गई है, वे 10 जुलाई 1935 को रिहा हुए।²¹ इस रिहाई के बाद वे अजमेर आ गये। अजमेर में पं. जवाहर लाल नेहरू के आगमन पर जब मजदूर नेताओं ने आन्दोलन शुरू करने का प्रस्ताव रखा तो नेहरू जी ने तपाक से कहा “तुम उस्मानी से क्यों नहीं कहते, वह सब कर लेगा।”²²

अजमेर में आन्दोलन के बाद वे अन्य शहरों से होते हुए आगरा गए। सरकार ने अपना गुस्सा क्रांतिकारियों पर उतारना शुरू किया। इसके लिए डी.आई.आर. (भारतीय सुरक्षा कानून) अध्यादेश पारित किया गया। 14 जुलाई 1940 को उस्मानी को आगरा में गिरफ्तार कर लिया गया। कई जेलों से स्थानान्तरित करते हुए 24 जून, 1942 को उन्हें फतहगढ़ जेल में लाया गया। उस्मानी के व्यक्तियों, उनके दबंग व्यक्तित्व क्रांतिकारी विचारों व सशस्त्र क्राति के प्रेरणा स्रोत होने के कारण सरकारी कुनबा उनसे भयभीत रहता था तथा उन्हें ‘आतंकवादी व हिंसक क्रांतिकारी’ के खिताबों से नवाजा जाता था। उनके साथ कोई रियायत या सहानुभूति नहीं की जाती थी। उन्होंने पूछताछ के दौरान साफ कहा कि (रिहाई के बाद) “मैं सोवियत संघ के समर्थन में लेख लिखूंगा और देश में आजादी के लिए लड़ाई लड़ूंगा। मैं दूसरे दशक से ही फासिज्म और साम्राज्यवाद का विरोधी रहा हूँ।”²³ 8 अगस्त 1942 के ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ में उस्मानी व साथियों ने गांधी जी के 21 दिन की भूख हड़ताल के समर्थन में 16 दिन भूख हड़ताल की। जेल में उन्हें भयंकर यातनाएं दी गईं।²⁴ 8 जनवरी 1945 को उन्हें रिहा कर दिया।

1946 में कांग्रेस की अन्तरिम सरकार बनी। मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लिए अड़ी हुई थी। उस्मानी देश विभाजन के सख्त विरोधी थे। बीकानेर की साम्प्रदायिक सद्भाव की परम्परा उनमें कूट-कूट भरी थी। लीग की सीधी कार्यवाही ने देश को दंगों और मारकाट के हवाले कर दिया। उस्मानी शांति के दूत बनकर बंगाल गये और विभाजन के विरोध में जनमत बनाने लगे। लेकिन आखिर वह सब हो गया, जिसका उस्मानी दिल से विरोध कर रहे थे। इस बीच वह रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गये। आर.एस.पी. ने उन्हें करांची, जम्मू आदि स्थानों पर भेजा। बाद में वे पाकिस्तान में गुलाम मोहम्मद से मिले। गुलाम मोहम्मद ने उस्मानी से पाकिस्तान में डिप्टी मिनिस्ट्री देने का प्रस्ताव रखा, लेकिन भारत की नागरिकता छोड़ने की शर्त पर। वे पक्के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने पद व लाभ से आन्दोलन में हिस्सा नहीं लिया था। अतः उन्होंने भारत की नागरिकता छोड़ने की शर्त साफ तौर पर नामंजूर कर दी। अब पाकिस्तान में उनका विरोध शुरू हो गया तथा उन्हें ‘भारतीय एजेण्ट’ कहा जाने लगा।²⁵

श्री उस्मानी ने भारत आने की आज्ञा मांगी, लेकिन पता नहीं क्यों - इनको भारत आने की इजाजत नहीं दी गई। वे 7 सितम्बर 1952 को करांची से लन्दन चले गये, जहां से ढाई माह बाद बम्बई आए, जो 15 अप्रैल 1955 को पुनः लन्दन चले गये। जहां 1961 तक रहे। 1962 में चीन युद्ध के समय लौट आए। लेकिन 1964 में मिश्र चले गये। जहां वे अंग्रेजी पत्रों अलफहत, इजीप्शियन गजट, बम्बई के फ्री प्रेस जर्नल, दिल्ली के रेडियन्स तथा कलकता के कंपास आदि में सम्पादक, सहसम्पादक तथा प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते रहे। अप्रैल 1974 में वे कांहीरा से अपने दोस्त बीकानेर के ही लेफ्टिनेण्ट कर्नल शतानन्द जी, जो दिल्ली के पटपड़गंज में अपने छोटे से प्लॉटनुमा कृषि फार्म में रहते थे, के पास रहने को आ गये, जो जहां वे अपने अंतिम समय 26 फरवरी, 1978 की रात अंतिम श्वास तक रहे।²⁶

शौकत उस्मानी 1920 के बाद प्रथम बार 26.09.1976 को बीकानेर के लोगों के विशेष आग्रह (कां. शिवकिशन जोशी ऊर्फ सन्नु काका) पर बीकानेर पधारे।²⁷ बीकानेर में उनका भव्य स्वागत किया मोहत्तों का चौक, उस्तों के चौक में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन हुआ, जहां उन्होंने स्वयं बीकानेर से निकलने की तमाम घटनाएँ सुनाई, बीकानेर से लाहौर, पेशावर, अफगानिस्तान के दुर्गम पहाड़ी रास्ते, किर्की का युद्ध, मास्को में लेनिन व स्टालिन से मुलाकात, पेशावर, कानपुर व मेरठ केस की यातनाएं, आन्दोलन, आजादी के बाद विभाजन आदि सभी। 1977 में वे दो बार बीकानेर आए। एक बार तो सी.पी.आई. के प्रत्याशी कां. योगेन्द्रनाथ हांडा के चुनाव प्रचार में।²⁸ श्री शौकत उस्मानी द्वारा लिखित अपनी आत्मकथा तो अप्रकाशित रही, लेकिन शिक्षक नेता श्री गिरधरलाल जी व्यास निवासी छबीली घाटी, बीकानेर

जिनका अभी डेढ़ वर्ष पूर्व ही लगभग 87 वर्ष की आयु में निधन हुआ, ने उन पर 'शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व' तथा 'मध्याह्न का क्षितिज जानकी प्रसाद बगरहट्टा' लिखकर उन्हें अमर बनाया।²⁹

संदर्भ

1. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. श्री गिरधारीलाल व्यास, पृ. 11
2. कविवर श्री बुलाकीदास बावरा हाल निवासी धोबी धोरा, सूरसागर, बीकानेर में 26.09.1976 को जब उस्तों का मौहल्ले में उनके पैतृक घर के आगे उनका सार्वजनिक अभिनन्दन समारोह हो रहा था।
3. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 13
4. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, पृ. 9, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
5. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 21 तथा ग्रंथमाला-11, पृ. 9, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
6. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 21
7. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 23
8. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, पृ. 9, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
9. वही
10. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, पृ. 10, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
11. वही
12. वही, पृ. 27
13. वही, पृ. 30
14. वही, पृ. 11,
15. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 33
16. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, पृ. 11, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
17. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास तथा पृ. 11, ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
18. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।

19. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 39
20. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 40-43
21. वही, पृ. 46-52
22. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास तथा पृ. 13, ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
23. ग्रंथमाला - 11 राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमरपुरोधा शौकत उस्मानी, प्रकाशक राजस्थान स्वर्ण जयंती समारोह समिति, जयपुर।
24. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारीलाल व्यास, पृ. 54-56
25. वही, पृ. 58-59
26. श्री बसंत कुमार दाधीच हाल निवासी तेलियों की नई मस्जिद के सामने, फड़ बाजार, बीकानेर, जो अपने ताऊजी ले. कं. शतानन्द जी की सेवा हेतु उनके पास रहते थे, वे राजा महेन्द्र प्रताप सिंह और श्री शौकत उस्मानी दोनों वहीं रहते थे, उनकी भी सेवा में रहते थे। श्री बसंत कुमार दाधीच को रात्री को ताश खेलते तथा पैर मालिश करते समय अपने संस्मरण सुनाते थे।
27. श्री शब्द सरण शर्मा, ले. क. शतानन्द जी के बड़े भतीजे, से नि. प्रधानाचार्य हाल निवासी IV-E-189, जय नारायण व्यास कॉलोनी, बीकानेर के अनुसार।
28. श्री भवानीशंकर व्यास 'विनोद' से नि. प्रधानाचार्य हाल निवासी पवनपुरी बीकानेर जिन्होंने श्री उस्मानी के उस्तों के चौक में 26.09.1976 को हुए सार्वजनिक अभिनन्दन में मंच संचालन किया था। जहां गिरधारीलाल जी व्यास भी उपस्थित थे।
29. शौकत उस्मानी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ले. गिरधारी लाल व्यास 1996 प्रकाशक राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., चमेली वाला मार्केट एम.आई. रोड, जयपुर तथा मध्याह्न का क्षितिज जानकी प्रसाद बगरहट्टा, संपादक गिरधारी लाल व्यास 2006, प्रकाशक हर प्रसाद बगरहट्टा 'बगरहट्टा निवास' 6, औद्योगिक क्षेत्र, रानी बाजार, बीकानेर।

साहित्य एवं ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में बीकानेर की शोध संस्थाओं का योगदान - एक ऐतिहासिक विश्लेषण

कनिका भनोत

किसी नगर में साहित्य-इतिहास के क्षेत्र की शोध-संस्थाओं का उद्गम आकस्मिक घटनाएं नहीं हुआ करती हैं। उनके उद्गम एवं स्थापना के मूल में कतिपय प्रभावशाली कारण होते हैं। कोई प्राणवान साहित्य प्रेमी या इतिहासज्ञ, वहां की जनता का इतिहास एवं साहित्य प्रेम, इतिहास स्रोतों एवं साहित्य के प्रचार प्रसार संरक्षण की आवश्यकता, परम्परा आदि उनके जनक बन कर आते हैं।

बीकानेर नगर में इस समय छोटी बड़ी 25 के लगभग साहित्य एवं इतिहास के क्षेत्र में कार्यरत शोध संस्थाएं हैं जो भाषा, साहित्य, कला, इतिहास एवं संस्कृति से सम्बन्धित विविध प्रकार की सृजनात्मक गतिविधियों का संयोजन एवं संचालन करती हैं। इनमें से कुछ संस्थाएं विशुद्ध रूप से शोध संस्थाएं हैं जबकि कई संस्थाएं ऐसी हैं जिनका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक अनुसंधान, सृजन, समीक्षा, पत्रकारिता, संगोष्ठी समायोजन और ग्रंथ प्रकाशन इन संस्थाओं के प्रमुख कार्यक्षेत्र हैं। यह विषय बड़ा विशद् है और एक-एक संस्था पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखा जा सकता है तथा इनका मूल्यांकन, विश्लेषण, संश्लेषण, वर्गीकरण तथा योगदान विवेचन अपने आप में एक बड़ा कार्य है जो इस शोध-लेख द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। इस शोध-लेख का उद्देश्य नगर की इन संस्थाओं का परिचय, इतिहास, कार्यक्षेत्र, प्रकाशन एवं योगदान को सतही तौर पर स्पर्श करना मात्र है ताकि इस विषय पर एक ही स्थान पर समस्त सामग्री संकलित कर विषय पर शोधपरक दृष्टि डाली जा सके। यह विषय आरम्भ में जितना सरल एवं बोधगम्य प्रतीत होता था, बाद में उतना ही जटिल एवं गम्भीर सिद्ध हुआ। नगर की कतिपय महत्वपूर्ण शोध-संस्थाओं का विवेचन इस प्रकार है -

श्री सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट :

बीकानेर नगर की साहित्य एवं इतिहास के क्षेत्र की संस्थाओं में यह संस्था सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। इस संस्था की स्थापना संस्कृत, हिन्दी एवं विशेषतः

राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं इतिहास के विकास के लिये की गई थी। 12 नवम्बर, सन् 1944 ई. को बीकानेर के स्व. नरेश महाराजा शार्दूलसिंह ने अपनी 42वीं वर्षगांठ के अवसर पर इसका उद्घाटन किया। इस संस्था की स्थापना का सर्वाधिक श्रेय बीकानेर रियासत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री के.एम.पन्नीकर¹ महोदय को है।² उन्हीं की प्रेरणा से महाराजा शार्दूलसिंह ने इस संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रथम पदाधिकारियों में महाराजा शार्दूलसिंह (संरक्षक), करणीसिंह जी एवं अमरसिंह जी (उपसंरक्षक), श्री के.एम.पन्नीकर (अधिष्ठाता), ठाकुर रामसिंह एवं डॉ. दशरथ शर्मा (1946-48 ई.) (अध्यक्ष), प्रो. नरोत्तमदास स्वामी (साहित्य मंत्री), सेठ अगरचन्द नाहटा (कोष मंत्री), प्रो. नाथूराम खड़गावत (प्रधानमंत्री) थे।³ इनमें से अधिसंख्य अब शेष नहीं रहे हैं। ये सभी अपने समय के उद्भूत विद्वान रहे हैं। इंस्टीट्यूट की 'राजस्थान भारती' नामक शोध पत्रिका राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिका रही है।⁴ स्थापना से सन् 1952 तक स्व. प्रो. नाथूराम खड़गावत; 1953 से 1956 तक श्री अक्षयचन्द्र शर्मा; 1956 से 1968 तक श्री लालचन्द कोठारी तथा सन् 1969 से श्री गोपाल जोशी सरीखे विद्वतजन इस संस्था के महासचिव पद पर कार्यरत रहे। स्व. प्रो. विद्याधर शास्त्री प्रभृति विद्वान इस संस्था से जीवनपर्यन्त संलग्न रहे। इस संस्था को ठाकुर रामसिंह जी, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', दामोदरदास मोहता, राजवी श्री अमरसिंह, ठा. सगतसिंह, श्री चन्द्रदान चारण, श्री दीनानाथ खत्री, श्री शंभूदयाल सक्सेना, श्री जसवन्तसिंह खींची, श्री सत्यनारायण पारीक जैसे विद्वतजनों ने पुष्पवित एवं पल्लवित किया। डॉ. टैस्सीटोरी के नाम पर भाषण पीठ स्थापना, बीकानेर में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रंथों का सूची-पत्र बनाना⁵, साहित्य एवं इतिहास विषयक शोध-कार्य, प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व साहित्यिक कृतियों का सम्पादन एवं प्रकाशन, संगोष्ठियों का समायोजन, आसनपीठ एवं व्याख्यान आयोजित करना इस शोध संस्था के महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र एवं उपलब्धियां रही हैं।

विविध शोध उपाधियों की प्राप्ति हेतु पंजीकृत शोधार्थियों के अतिरिक्त अन्य शोध-जिज्ञासुओं ने भी इस संस्था की सेवाएं प्राप्त की हैं। इस क्रम में शिव स्वरूप अचल, डॉ. माधोदास व्यास, मोहनलाल जिज्ञासु, कृष्णचन्द्र क्षेत्रिय, डॉ. स्वर्णलता अग्रवाल, डॉ. नरेन्द्र भानावत, मथुरा प्रसाद अग्रवाल, उषा देसाई व आलमशाह आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं जो क्रमशः 'राजस्थानी गद्य साहित्य का विकास और इतिहास', 'काव्य दोष', 'राजस्थान के चारणों का डिंगल साहित्य', 'खुमाण रासौ-एक अध्ययन', 'राजस्थान का बेलि साहित्य', 'राजस्थान के लौकिक प्रेमाख्यान', 'राजस्थानी लोकगीत', 'माघवानलकामकंदला-साहित्य और गणपति का माघवानल कामकंदला प्रबन्ध', 'सूर्यमल्ल मिश्रण का वंश भास्कर-ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययन' इत्यादि विषयों पर अनुसंधानरत रहे।⁶

इस संस्था ने कला, लोक साहित्य, प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास तथा संस्कृति के अनेक ग्रंथों का संपादन एवं पाठानुसंधान भी प्रस्तुत किया। इस संस्था द्वारा प्रकाशित एवं संपादित ग्रंथों में से 'अचलदास खीची री वचनिका'⁷, 'पंचार-वंश दर्पण'⁸, 'विनयचन्द्र कृति-कुसुमांजलि'⁹, 'धर्मवर्द्धन-ग्रंथावली'¹⁰, 'जिनराज सूरी कृति कुसुमांजलि'¹¹, 'समय सुन्दर रास पंचक'¹², 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा'¹³, 'जिन हर्ष-ग्रंथावली'¹⁴, 'दम्पति विनोद'¹⁵, 'सीताराम चौपाई'¹⁶, 'पीरदान ग्रंथावली'¹⁷ इत्यादि रचनाओं एवं राजस्थान-भारती शोध पत्रिका के कतिपय विशेषांकों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. तैस्सीतोरी विशेषांक, पृथ्वीराज राठौड़ विशेषांक, महाराणा कुम्भा विशेषांक, लोक साहित्य विशेषांक तथा भारतीय संस्कृति विशेषांक इस पत्रिका के संग्रहणीय संदर्भ अंक कहे जा सकते हैं। पत्रिका में समय-समय पर प्रकाशित डॉ. दशरथ शर्मा, नरोत्तमदास स्वामी, अग्रचंद नाहटा सरीखे विद्वानों द्वारा लिखित लेखों की वृहद् सूचियां भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

इस संस्था के तत्वावधान में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री रामकृष्ण दास, डॉ. जी. रामचन्द्रन, डॉ. कैलाशचन्द्र काटजू, डॉ. सत्यप्रकाश, डॉ. डब्ल्यू. एलन,

डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डॉ. तिबेरियो तिबेरी आदि अनेक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानों के भाषण आयोजित हो चुके हैं जो इस शोध-संस्था की महत्ता को स्थापित करते हैं। इस शोध-संस्था द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण वांगमय ही अपने आप में विशिष्ट महत्त्व रखता है तथापि कुछ प्रकाशन तो ऐसे हैं जिनका सृजनात्मक एवं समालोचनात्मक साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इनमें अचलदास खीची री वचनिका¹⁸, हम्मीरायण¹⁹, हरि रस²⁰, राजस्थानी नीति दूहा²¹, दलपत विलास²², जिनाज कृति कुसुमांजलि²³, धर्मवर्द्धन ग्रंथावली²⁴, सीताराम चौपाई²⁵, राजस्थानी रा दूहा²⁶, बरस गांठ²⁷, महादेव पार्वती री बेलि²⁸ तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार इस शोध संस्था द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक शोध पत्रिका - 'राजस्थान भारती' के जिन विशेषांकों का जिक्र पूर्व में किया गया है उनमें से भी डॉ. तैस्सीतोरी विशेषांक²⁹, पृथ्वीराज राठौड़ जयन्ती विशेषांक³⁰ महाराणा कुम्भा विशेषांक³¹ तथा लोक साहित्य विशेषांक³² तो ऐसे अंक हैं जिन्हें कई अर्थों में संदर्भ-ग्रंथ कहा जा सकता है।

श्री अभय जैन ग्रंथालय :

यह बीकानेर नगर की साहित्य-इतिहास के क्षेत्र की एक ऐसी शोध संस्था है जिसकी स्थापना एवं विकास न तो राज्याश्रय की देन है और न ही किसी विद्वत समूह की संस्था के प्रश्रय का परिणाम है, वरन् व्यक्तिगत प्रयासों का परिणाम है। यद्यपि राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी द्वारा प्रकाशित 'परम्परा' नामक शोध पत्रिका के 'राजस्थान के ग्रंथागार' नामक विशेषांक में श्रीलाल नथमल जोशी द्वारा इस संस्था

विषयक एक आलेख लिखा गया है³³ परन्तु इस आलेख को एक सतही सिंहावलोकन मात्र कहा जा सकता है अतः तत्सम्बन्धी विवरण का समावेश यहां अपरिहार्य हो जाता है। यह बीकानेर नगर की एक ऐसी संस्था है जिसने साहित्य एवं इतिहास के साथ ललित कला के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। संस्था की स्थापना सन् 1920 में³⁴ अभयराज नाहटा की स्मृति में श्री अग्रचंद नाहटा द्वारा की गई।³⁵ इस संस्था का महत्त्व मात्र ग्रंथागार के ही रूप में नहीं है वरन् संगोष्ठियों का समायोजन, शोध-कार्य निर्देशन, प्राचीन ग्रंथ प्रकाशन एवं कलात्मक उपकरण संचय आदि इस संस्था की उल्लेखनीय प्रवृत्तियां रही हैं। नाहटों की गुवाड़ में स्थित इस संस्था की तीन मंजिलों में अभय जैन ग्रंथालय अवस्थित है और ऊपरी एक मंजिल शंकरदान नाहटा कला भवन की है। इस संस्था में 60 हजार से भी अधिक हस्तलिखित और मुद्रित ग्रंथ हैं।³⁶ हस्तलिखित ग्रंथ 40 हजार हैं जिनमें पत्राकार हस्तलिखित 25 हजार एवं गुटकाकार 15 हजार हैं। शेष 20 हजार मुद्रित पुस्तकें हैं। इनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं के ग्रंथ नागरी, गुजराती, बंगला, उड़िया आदि लिपियों में सन् 1243 से लगाकर 20वीं शताब्दी तक के हैं। ग्रंथ ताड़पत्र, भोजपत्र एवं कागजों पर लिखे हुए हैं।

इस संस्था में संगृहीत नागरी लिपि के ताड़पत्रीय ग्रंथों में पाशुपताचार्य वामेश्वरध्वज कृत 'प्रबोध सिद्धि' नामक न्याय ग्रंथ उल्लेखनीय है। बंगला लिपि में ताड़पत्रीय ग्रंथों में 'संधिवृति', 'चण्डीदेवी महात्म्य' आदि प्रतियां तथा उत्कल लिपि में 'ब्रह्म विद्या यंत्र' और भागवत आदि की प्रतियां हैं। नागरी लिपि की प्रतियां 14वीं शताब्दी की, बंगला लिपि की प्रतियां 17वीं शताब्दी की तथा उत्कल प्रतियां आधुनिक काल की हैं। कागज पर लिखे ग्रंथ सन् 1343 से लगाकर 20वीं शताब्दी तक के हैं। इनमें से हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या लगभग 15 हजार हैं। ये सब पत्राकार हैं। इनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती आदि भाषाओं की हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह है। इस शोध संस्था की हस्तलिखित प्रतियों में सभी विषयों के ग्रंथ हैं जैसे, जैन आगम, प्रकरण, कथाएं, रास, स्तुति, स्तोत्र, ऐतिहासिक वृत्तान्त, तीर्थमालाएं, आचार्य एवं श्रावकों के रास, नगर वर्णनात्मक गजलें, बावनी, छतीसी, वैद्यक, तंत्र मंत्र आदि ग्रंथों के साथ ही जैनेतर सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रंथ, स्तोत्र, शकुन, सामुद्रिक, स्वरोदय, रत्न परीक्षा, राजस्थानी में रचित वार्ताएं, गीत, दोहे, बेलि, सलोका, छन्द, विवाह, धमाल, विवाह, लड़ आदि अनेकानेक विषयों के ग्रंथ भी हैं।

इस शोध संस्था के ग्रंथागार में ऐतिहासिक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। कतिपय महत्त्वपूर्ण वंशावलि, तीर्थ मालाएं³⁷, पट्टावलियां³⁸, नगर वर्णनात्मक गजलें³⁹, राजाओं के पत्र व खास रुक्के⁴⁰, चिट्ठी पत्री एवं आदेश-पत्र⁴¹, विभिन्न ज्ञान भण्डारों के सूची पत्र⁴² इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त लेखन

कला के सुन्दर उदाहरण⁴³, विद्वानों के हस्ताक्षर, पंचांग व जन्म पत्रियां⁴⁴, दुर्लभ ग्रंथों की प्रेस कापियां एवं विख्यात कवियों का साहित्य-संग्रह⁴⁵ इस ग्रंथागार के अन्य वैशिष्ट्य हैं।

इस शोध संस्था के कला विभाग में प्राचीन चित्र, पुराने सिक्के⁴⁶, मिट्टी की सीलें⁴⁷, हाथी दांत की वस्तुएं और धातु की वस्तुओं⁴⁸ का संग्रह है। अनेक हस्तलिखित सचित्र पुस्तकों का भी संग्रह किया गया है।⁴⁹ श्री अभय जैन ग्रंथालय के संस्थापक श्री अगरचंद नाहटा ने प्राचीन जैन साहित्य के अनेक शोध विषयों के निर्धारण एवं शोध कार्य निर्देशन की दृष्टि से उल्लेखनीय मार्गदर्शन शोधार्थियों को दिया। इस संस्था में जैन साहित्य से सम्बन्धित विशेष शोध कार्य हुआ है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय इस संस्था के प्रकाशनों में 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह', 'समय सुन्दर-कृति कुसुमांजलि', 'ज्ञानसागर ग्रंथावली', 'बीकानेर जैन लेख संग्रह', तथा 'सीताराम चौपाई', 'जीव दया प्रकरण काव्यत्रयी', 'राजा श्रीपाल और मैना सुन्दरी' तथा 'सती मृगावती' आदि इसके अन्य साहित्यिक प्रकाशनों का उल्लेख यहां प्रासंगिक है।

भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान :

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में व्याप्त नवचेतना की लहर से प्रभावित होकर बीकानेर के कतिपय शिक्षानुरागियों ने बीकानेर में प्रौढ़ एवं समाज शिक्षा का अभियान आरम्भ किया, फलतः 19 अगस्त सन् 1948 ई. को भारतीय विद्या मंदिर की स्थापना की गई। इस संस्था का उद्देश्य हिन्दी, राजस्थानी एवं अन्य भाषाओं के माध्यम से प्रारम्भिक से उच्च शिक्षा तक की व्यवस्था तथा साहित्यिक एवं ऐतिहासिक शोधकार्य संपादन रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में इस संस्था के अंतर्गत भारतीय विद्या मंदिर रात्रि विद्यालय, राजस्थान बाल भारती और भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की गई। इस प्रकार यह शोध संस्था विद्या मंदिर की ही एक शाखा है। यह संस्था राजस्थान शिक्षा विभाग से 70 प्रतिशत अनुदानित है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक शोध में इस संस्था का महत्वपूर्ण योगदान है। इस संस्था में एक पुस्तकालय है जिसमें 1500 के लगभग हस्तलिखित एवं लगभग 12 हजार मुद्रित पुस्तकें हैं। इस पुस्तकालय में प्रायः कतिपय हस्तलिखित ग्रंथ एवं अप्राप्य मुद्रित संदर्भ ग्रंथ शोधार्थियों के उपयोगार्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। संस्था में प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाएं मंगवाई व संरक्षित की जाती हैं। संस्था में विशेष रूप से संत-साहित्य और लोक-साहित्य सम्बन्धी सामग्री पर कार्य हो रहा है। बड़ी मात्रा में लोक कथाओं, लोक नाट्यों, शिलालेखों, लोकगीतों, भजनों, लोकगाथाओं, मुहावरों व लोकोक्तियों का संग्रह किया गया है। मुख्यतः राजस्थानी साहित्य एवं राजस्थान के इतिहास एवं संस्कृति विषयक अध्ययनों एवं शोध कार्यों के लिये यह संस्था शोधार्थियों का तीर्थ स्थल है। वर्तमान में

इस शोध संस्था के अध्यक्ष श्री माधोदास जी मूंधड़ा, मंत्री श्री मूलचंद पारीक हैं तथा इसकी प्रबन्ध समिति में श्री सत्यनारायण पारीक, श्री रामेश्वर पाण्डेय, डॉ. बाबूलाल शर्मा, श्री एस.एन.हर्ष, श्री बी.डी.जोशी सरीखे विद्वतजन सम्मिलित हैं। इस संस्था में आने और यहां संगृहीत शोध-सामग्री का उपयोग करने वाले विद्वानों में श्री गोविन्दलाल गुप्त, श्री कृष्णकुमार शर्मा, श्री राम बातेरा, भगवतीलाल शर्मा, श्री मनोहर शर्मा, श्री ओंकारनाथ चतुर्वेदी, रामकिशोर मोर्य, श्री रिछपालसिंह शेखावत, श्री नानूराम संस्कृता, कुमारी राज सक्सेना के नाम उल्लेखनीय हैं जिनके शोध विषय क्रमशः 'लोक गाथाएं', 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास', 'ढोला मारू रा दूहा में इतिहास', 'संस्कृति व साहित्य', 'बातां', 'राजस्थानी संत साहित्य', 'जान कवि के प्रेमाख्यानों का आलोचनात्मक अध्ययन', 'राजस्थानी साहित्य में लोक देवता' तथा 'राजस्थानी में बिश्नोई पंथ' इत्यादि थे।

इस संस्था द्वारा प्रकाशित कृतियों में 'रासौ साहित्य और पृथ्वीराज रासौ', 'प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा', 'नागदमण', 'रणमल्ल छन्द', 'छन्द राउ जैतसी रो - बीटू सूजे रो कहियो', 'गोगाजी चौहान की राजस्थानी गाथा', 'अलखिया सम्प्रदाय', 'अमीय हलाहल मदभरे', 'गोर ब्यावलो', 'मौक्तिक संकलन', 'मरूधरा रो इटालवी मोभी', 'वामन विराट' एवं 'रसौ वै सः' उल्लेखनीय हैं। इस शोध संस्थान द्वारा 'वैचारिकी' नामक एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है। संस्था के तत्वावधान में समय-समय पर समीक्षात्मक काव्य गोष्ठियां, विचार गोष्ठियां, कथा गोष्ठियां, पुस्तक समीक्षा गोष्ठियां, भाषण मालाएं आदि आयोजित की जाती रही हैं।

उपर्युक्त तीन संस्थाओं के अतिरिक्त इन्हीं संस्थाओं के समान महत्त्व की कतिपय अन्य शोध संस्थाएं भी हैं जिनमें मुख्य हैं - 'हिन्दी विश्व भारती', 'राजस्थानी भाषा प्रचार प्रकाशन संस्थान', 'वातायन संस्थान', 'श्री जुबिली नागरी भण्डार', 'गुण प्रकाश सज्जनालय', 'संहिता', 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय', 'राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर' एवं 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर' इत्यादि। इनमें से प्रत्येक शोध-संस्था पर स्वतंत्र रूप से शोध आलेख या पुस्तक प्रणयन हो सकता है। शोध पत्र प्रस्तुतिकरण हेतु निर्धारित समय सीमा के बन्धन के कारण इस शोध आलेख में मात्र तीन संस्थाओं के अध्ययन का ही समावेश किया जा सका है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि बीकानेर नगर की साहित्य एवं इतिहास क्षेत्र की इन शोध-संस्थाओं ने हिन्दी एवं राजस्थानी की गौरव वृद्धि हेतु साहित्यिक अनुसंधान, सर्जना, समालोचना, भाषा विकास एवं लोक साहित्य आदि के क्षेत्रों में तथा राजस्थान के इतिहास एवं संस्कृति विषयक अनुसंधान में अमूल्य योगदान दिया है। इन शोध-संस्थाओं तथा इनके योगदान का मूल्यांकन करने पर इस निष्कर्ष

पर सहज ही पहुंचा जा सकता है कि सर्वथा पिछड़े हुए बीकानेर जैसे मरू प्रदेश में अवस्थित होते हुए भी ये संस्थाएं शोध की दृष्टि से राष्ट्रीय स्तर का मूल्यवान कार्य कर रही हैं। इसके अतिरिक्त नगर के समुन्नत साहित्यिक वातावरण एवं परिवेश के निर्माण में भी इन संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर नगर की ये शोध संस्थाएं जिस निष्ठा एवं जागरूकता से हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा एवं साहित्य तथा राजस्थान के इतिहास एवं संस्कृति की श्रीवृद्धि कर रही हैं, भविष्य में इससे भी अधिक उत्साह एवं कर्तव्य निष्ठा से प्रयत्नशील रहते हुए इन क्षेत्रों को समृद्ध एवं समुन्नत बनाएंगी।

संदर्भ

1. श्री के.एम.पन्नीकर साहित्य एवं इतिहास प्रेमी विद्यानुरागी प्रशासक थे। इन्होंने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया जिनमें से - 'हिज हाइनेस दी महाराजा ऑफ बीकानेर' इनकी उल्लेखनीय कृति हैं, ऑक्सफोर्ड, 1937
2. राजस्थान भारती, परिचय अंक
3. द्रष्टव्य : सन् 1946 की इंस्टीट्यूट की विवरण पत्रिका
4. सन् 1944 से प्रकाशित होने वाली; भाषा, साहित्य, कला, इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विषयक राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिका; वर्तमान में प्रकाशन नहीं हो रहा
5. इन ग्रंथों की संख्या लगभग ढाई लाख है।
6. इनमें से अधिसंख्य विषयों पर शोध-उपाधियां प्राप्त हो चुकी हैं। डॉ. शिव स्वरूप शर्मा 'अचल' का शोध प्रबन्ध - "राजस्थानी गद्य साहित्य, उद्भव और विकास" इसी संस्था द्वारा प्रकाशित किया गया है।
7. यह पन्द्रहवीं शताब्दी का पद्यात्मक ऐतिहासिक ग्रंथ है। यह राजस्थानी साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं में से है। इसमें वचनिका के साथ सानुवाद 'लाला मेवाड़ी' की बात भी दी गई है। प्रारम्भ में डॉ. दशरथ शर्मा का ऐतिहासिक परीक्षण और अन्त में शब्दकोश दिया गया है। इसका संपादन श्री दीनानाथ खत्री ने किया है।
8. दयालदास सिंढायच कृत इस ग्रंथ का संपादन डॉ. दशरथ शर्मा ने किया है।
9. इसका संपादन श्री भंवरलाल नाहटा ने किया है।
10. इसका संपादन श्री अगरचंद नाहटा ने किया है।
11. इसका संपादन श्री अगरचंद नाहटा ने किया है।
12. महामहोपाध्याय समय सुन्दर कृत पांच काव्य कथासागर इस पुस्तक में संकलित हैं। संपादन भंवरलाल ने किया है।
13. डा. रामसिंह, प्रकाश परिमल और रमेश जैन द्वारा संपादित इस कृति में बीस शोधपूर्ण निबन्ध संकलित हैं।
14. जसराज या जिनहर्ष (जैन कवि) की लघु रचनाओं का यह वृहद् ग्रंथ श्री अगरचंद नाहटा ने संपादित किया है।

15. महाराजा अनूपसिंह (बीकानेर) की लघु रचनाओं का यह वृहद् ग्रंथ श्री अगरचंद नाहटा ने संपादित किया है।
16. समय सुन्दर जी रचित इस राजस्थानी रास-काव्य का संपादन श्री अगरचंद नाहटा ने किया है।
17. चारण कवि पीरदान लालस की समस्त रचनाओं का संग्रह, जिसका संपादन श्री अगरचंद नाहटा ने किया है।
18. शिवदास गाडण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' 15वीं सदी का वीर रसात्मक चंपूकाव्य है।
19. 16वीं शताब्दी कालीन इस कृति में भांडउ ने हम्मिरदेव का चरित्र गान किया है।
20. चारण कवि ईशरदास रचित 17 रचनाओं में से हरिरस उनकी सर्वप्रमुख रचना है।
21. नीति के दोहों को लेकर राजिया, नाथिया, शेखरा, भैरिया, जसवंत, भोजिया, कानिया, उदैराज, फूसिया, किसनिया, समन, चकारिया, मोतिया आदि सैंकड़ों कवियों के दोहे आज भी यहां के लोक जीवन के कंठहार बने हुए हैं।
22. अकबरकालीन यह रचना ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।
23. यह सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्धकाल की जैन (खरतरगच्छीय) कवि जिनराज सूरी का काव्य संकलन कृति है।
24. जैन कवि धर्मवर्द्धन की काव्य रचनाओं का संकलन
25. जैन कवि समय सुंदर रचित इस ग्रंथ में रामकथा का वर्णन है।
26. इसमें राजस्थानी जीवन की विशेषताओं से सम्बन्धित दूहों का संकलन है।
27. मुरलीधर व्यास द्वारा लिखित 25 कहानियों का संकलन है।
28. कवि किसना द्वारा रचित चारणी बेलि साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति है।
29. यह विशेषांक इटालियन विद्वान तैस्सीतोरी की राजस्थानी साहित्य सेवा का बहुमूल्य सचित्र कोश है।
30. बीकानेर नरेश पृथ्वीराज राठौड़ (जिन्हें 'बेलि क्रिसन रूक्मणी री' का रचनाकार माना जाता है) की स्मृति में सन् 1960-61 में राजस्थान भारती के इस विशेषांक को प्रकाशित किया गया।
31. महाराणा कुम्भा के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चरित्र पर प्रकाश डालने वाला राजस्थान भारती का यह विशेषांक सन् 1963 में प्रकाशित हुआ।
32. दिसम्बर, सन् 1966 में प्रकाशित
33. श्रीलाल नथमल जोशी : अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, आलेख (परम्परा, भाग संख्या 71-72, राजस्थान के ग्रंथागार), राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोध पुर, पृ. 116-123
34. उपर्युक्त, पृ. 119 (श्रीलाल नथमल जोशी इसका प्रारम्भ वि.सं.2000 में मानते हैं)

35. चाचा अग्रचंद के साथ उनके भतीजे भंवरलाल नाहटा का भी इस संस्था की स्थापना में उल्लेखनीय योगदान रहा।
36. रजिस्टर में चढ़ी अंतिम पाण्डुलिपि का क्र. 56934 है। परम्परा, उपर्युक्त, पृ. 119
37. भारत के भौगोलिक साधनों में जैन तीर्थमालाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
38. जैन श्रमण संघ के विविध गच्छों का इतिहास उनकी पट्टावलियों में पाया जाता है।
39. जैन कवियों ने भारत के अनेक नगरों का वर्णन इस साहित्य में किया है।
40. जैनाचार्यों व जैन समाज तथा राजपूत नरेशों के मध्य पत्र व्यवहार, परवाने आदि।
41. जैनाचार्य अपने आज्ञानुवर्ती मुनियों को विहार और चतुर्मास करने के लिये आदेश पत्रादि भेजते रहते थे।
42. स्थानीय ज्ञान भण्डारों के सूची पत्रों के अतिरिक्त अनेकानेक बाह्य ज्ञान भण्डारों के सूची पत्र भी यहां संग्रहीत हैं।
43. 16वीं शताब्दी का एक गुटका यहां प्राप्य है जो स्वर्ण व रजत अक्षरों में लिखित है।
44. अनेक विद्वानों के हस्ताक्षर एवं संवत् 1701 से लेकर आज तक के पंचांग यहां उपलब्ध हैं। बीकानेर के नरेशों की जन्मपत्रियां भी यहां प्राप्य हैं।
45. अन्य संग्रहालयों की ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण दुर्लभ पुस्तकें यहां प्रेस कापियों के रूप में सुरक्षित हैं।
46. पुराने सिक्कों का संग्रह विशेष नहीं है, फिर भी कृषाणकालीन सोने का हविष्क का सिक्का एवं 2000 वर्ष तक के पुराने चांदी व तांबे के सिक्के यहां संग्रहीत हैं।
47. सारनाथ और राजगृह से प्राप्त बौद्ध सीलें।
48. पित्तलमय बुद्ध की मूर्ति, उदयरामसर के टीलों से निकले लोहखण्ड, तांबे का घण्टाकर्ण यन्त्र आदि।
49. कपड़े पर रचित चित्रावली में एक बौद्ध चित्रपट है जो 700 वर्ष प्राचीन है।

बीकानेर समाज की धड़ व्यवस्था (जाति व्यवस्था का प्रकार) का एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. मुकेश हर्ष

बीकानेर शहर रियासत काल में सबसे बड़ा शहर था। शहर मजबूत परकोटे से घिरा था।¹ सफील² में बुर्ज और मोर्चे बनाये गये थे। चूने व पत्थर से मजबूत परकोटे का निर्माण किया गया था। शहर की हिफाजत के लिए यह चारदीवारी उम्दा थी। इसमें प्रमुख पाँच दरवाजे, तीन बारियाँ थीं। इसमें पाँच दरवाजे कोट दरवाजा, शीतला दरवाजा, गोगा दरवाजा (दिल्ली दरवाजा)³, नत्थूसर दरवाजा व तीन दरीची जो बारियों के नाम से मशहूर हैं। हमालों की बारी, कसाईयों की बारी, भीनासर बारी आदि रखी गई थी।⁴ जिनमें मजबूत किवाड़ लगे हुए थे। किवाड़ों पर पहरा भी चलता था। सब दरवाजे सात बजे शाम को बंद हो जाते। सिर्फ कोट दरवाजा रात दस बजे तक खुला रहता। शहर के मकान नजदीक व साफ सुथरे थे। आज भी हर मुहल्ले को गुवाड़ या सराय बोलते हैं, जो कि एक संयुक्त परिवार की तरह बसे थे। हर जाति के या मुहल्ले के प्रतिष्ठित व्यक्ति के नाम से मुहल्ले बसे थे। डॉ. मूर साहिब ने बीकानेर शहर का निरीक्षण किया व जानकारी लिखी। तंग गलियाँ, मुख्य सड़कों से होती हुई दरवाजों, बारियों तक पहुँचती हैं। इस शहर की बसावट की कोई बराबरी नहीं कर सकता।⁵ शहर की जमीन कही ऊँची कहीं नीची थी। बरसात में शहर से गुजरना मुश्किल हो जाता था। शहर में पुष्करणा ब्राह्मण भी खूब आबाद थे।⁶ पुष्करणा ब्राह्मण (गुर्जर ब्राह्मण की एक शाखा) के 14 गोत्र व 84 जातियाँ व उनके कुछ उपभाग भी थे। पुष्करणा ब्राह्मण 'बी' क्लास की श्रेणी में ब्राह्मण आते थे।⁷ यह समाज अपने आप में श्रेष्ठ सामाजिक ढाँचे में बंधा हुआ था। इस दृष्टि से इनके सामाजिक अवदान को हम अग्रांकित चरणों के माध्यम से समझ सकते हैं।

धड़-धड़पति स्थिति व कार्य -

जाति पंचायत व्यवस्था के क्रम में धड़ धड़पति की व्यवस्था थी। जो जाति पंचायत का समग्र विकसित रूप था। बीकानेर राज्य की सामाजिक इतिहास में विक्रम की 18वीं शती (1701-1800 वि.सं.) में बीकानेर में समस्त प्रकार के ब्राह्मण "तीन धड़ों"⁸ में विभक्त थे। इन धड़ों का गठन मुख्यतः राज्यकुल, वैश्य (माहेश्वरी आदि)

व ब्राह्मण वर्ग के व्यक्तियों के निधन पर मृतक संस्कार⁹ के निमित्त 13वें दिन होने वाले ब्राह्मण भोज¹⁰ में भोजन व इसके उपरांत अधिकतम नकद दक्षिणा प्राप्ति के लक्ष्यों आदि को लेकर हुआ। इन तीन धड़ों में पुष्करणा ब्राह्मण, छःन्याति के ब्राह्मण, श्रीमाली ब्राह्मण व अन्य ब्राह्मणों आदि में से कुछ जातियों व उप जातियों के लोग सम्मिलित होते थे। जैसा कि हर संगठन में होता है अर्थात् मतभेद व विघटन। ठीक वैसे ही पुष्करणा ब्राह्मणों की धड़ में कुछ टूटन दिखाई देती रही। ऐसे समय में रत्ताणी व्यास व कुछ अन्य पुष्करणा ब्राह्मण जातियों ने समाज को एकता के सूत्र में बांधन वाली इस धड़ को संतुलित करने का प्रयास किया। उन्होंने नई धड़ के संगठन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।¹¹

पुष्करणा ब्राह्मणों की प्रथम धड़ बीकानेर के जूठानी व्यासों के तत्वावधान में गठित हुई। किन्तु कहा जाता है कि आचार्य शिरोमणि श्री महानंद का किसी बात के लिए जूठानी व्यासों से विवाद हो गया। अतः उन्होंने पुष्करणा ब्राह्मणों की एक अन्य धड़ बनाने का विचार किया। नवीन धड़ राज्यानुमति के बिना बननी संभव नहीं थी। उस समय बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह व महानंदजी का विशेष संबंध था। फिर भी जूठानी व्यासों की सदस्य संख्या, धन प्रतिष्ठा अधिक थी। राज्य कुल में उनका स्थान था। इस कारण प्रारंभ में अलग धड़ नहीं बनायी जा सकी।¹² महानंदजी का विवाह रत्ताणी व्यास परिवार में हुआ। ऐसे समय में महाराजा अनूपसिंह¹³ ने महानंदजी आचार्य से कहा कि श्री रत्ताणी व्यासों का उन्हें सामाजिक स्तर पर व्यापक समर्थन मिल जायें तो उन्हें (महाराजा अनूपसिंह) प्रस्तावित नवीन धड़ को स्वीकृति देने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अंततः महानंदजी को रत्ताणी व्यासों से नवीन धड़ बनाने में सहयोग मिला। फिर तत्कालीन महाराजा अनूपसिंह¹⁴ (1695 वि.सं.-1728 वि.सं.) ने महानंदजी को नवीन धड़ गठित करने की स्वी ति प्रदान कर दी। महानंदजी ने उस धड़ का नाम “श्री लक्ष्मीनाथजी की धड़” रखा था।¹⁵ यद्यपि धड़ विभाजन लाभदायी नहीं था। फिर भी इन धड़ों का सामाजिक महत्व अब भी बना रहा। फिर एक विवाद (दुआ देने को लेकर, हर्ष-व्यास जाति में विवाद) के कारण महानंदजी को धड़पति¹⁶ व लक्ष्मीनाथजी की धड़ का अलग से निर्माण किया गया।¹⁷

इस प्रकार पुष्करणा न्याति में दो भागों में विभाजित होने पर भी संभवतया वांछित सुधार नहीं हो पाया। जिसका आभास महाराजा श्री अनूपसिंह द्वारा श्री महानंद आचार्य को व श्री धरणीधरजी को लिखे गये पत्र से मिलता है। मूल पत्र इस प्रकार है- “स्वस्ति श्री महाराजधिराज महानंद धरणीधर जोग 5 सुप्रसाद बांचीजो। तथा कोई ब्राह्मण मूंडे मारग हाले गोली घर में घाते थोरी धड़ रा तनु थो सजा दीवी और पांत माहे

जी मायो तेरो आलंभो थानू छै। और कुमारग चाले गोली घर घाते तेने धड़ सूं बार काढो और बीजी धड़ री पांत मोहे बेने घातसी सो सजा पासे। संवत् 1747 मिती जेठ सुदी 5 मुकाम राई चूरू सूं कोस चार परे।”¹⁸

कहा जाता है कि “पुष्करणा ब्राह्मणों की धड़ का लक्ष्य सामाजिक एकता व दोषमुक्त सुसंस्कृत समाज की संरचना करने के विचारों से भी ओतप्रोत था। राजाओं व राज्यकुल विशिष्ट व्यक्तियों, वैश्यों व ब्राह्मण समुदाय में मृतक संस्कार पर ब्राह्मण भोज होता था। जिसमें बीकानेर के विभिन्न ब्राह्मण समुदाय ‘तीन धड़े’ भोजन करते थे। इस भोजन से पूर्व जातीय संगठन की पूर्वानुमति आवश्यक थी। भोजन के उपरान्त ब्राह्मणों को नकद दक्षिणा दी जाती थी। प्रारम्भ में प्रति व्यक्ति दो रुपये द्वारा भी ब्राह्मणों को दी जाती थी। इन धड़ों के धड़पति ब्राह्मणों की दक्षिणा के रुपये एक मुश्त प्राप्त कर उनका अपनी अपनी धड़ के ब्राह्मणों में विभाजन करते थे। यह तत्कालीन सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू था। फिर धड़े विभाजित होती गयी। फिर एक एक या दो दो जातियों का संयुक्त भाईपा बनना प्रारम्भ हो गया।”

उपर्युक्त धड़ विषयक विवेचन से स्पष्ट होता है कि पुष्करणा ब्राह्मण समाज में धड़ के प्रमुख व्यक्ति धड़पति का सामाजिक स्तर पर विशिष्ट स्थान बनने लगा तथा उसके द्वारा दक्षिणा प्राप्ति व विभाजन करने जैसे पहलू ने समाज के व्यक्तियों को अलग-अलग धड़ बनाने के लिए प्रेरित किया। जाति पंचायत व धड़ आदि विषय पृथक गहन शोध के विषय भी हैं।

संदर्भ

1. तवारीख राजश्री-मुंशी सोहनलाल, पृ. 14
2. सफील-परकोटा
3. 1795 वि.सं. शिलालेख का अवलोकन किया गया।
4. बीकानेर शहर की बसावट एक व्यवस्थित तरीके से की गयी है, जिसमें समाज के ढाँचे का विशेष ध्यान रखा गया है।
5. तवारीख राजश्री, मुंशी सोहनलाल, पृ. 14-15
6. वही, पृ. 16
7. मर्दुमशुमारी मारवाड-1891, जोधपुर, पृ. 2
8. धड़-सिर रहित शरीर (शाब्दिक अर्थ) जातीय संगठन या समूह।
9. 16 संस्कारों में अंतिम संस्कार होता है।
10. पुष्करणा ब्राह्मण समाज में यह भोज 12वें दिन होता है जिसे बारहवां कहते हैं। मर्दुमशुमारी मारवाड-पृ. 180, 1895 जोधपुर

11. रत्ताणी व्यासों का इतिहास एवं वंशावली, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व्यास, पृ. 73, परमानंद पब्लिकेशन्स, बीकानेर
12. न्यात-संचालन का कार्य लंबे समय तक जूठोजी के पास रहा। आचार्य वंशावली, रमलणलाल आचार्य 1968, बीकानेर पृ. 14
13. कहा जाता है कि महाराज अनूपसिंह का बौद्धिक रत्ताणी व्यासों से घनिष्ठ संबंध था।
14. बीकानेर राज्य का इतिहास, गौरीशंकर, हीराचंद ओझा, वोल्यूम-I, पृ. 196-214 जोधपुर, द्वितीय संस्करण 2007
15. आचार्य वंशावली पृ. 14, रमण आचार्य 1968, बीकानेर
16. धड़-जातिय समूह व धड़पति-समूह का प्रमुख, यह संस्था अपने प्रभाव में जाति पंचायत से ऊपर हुआ करती थी।
17. रत्ताणी व्यासों का इतिहास एवं वंशावली, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व्यास, पृ. 98 बीकानेर
18. यह धड़ (जाति पंचायत से जुड़ा) के संदर्भ में प्रारंभ में दिया गया आदेश पत्र था।

बीकानेर क्षेत्र में जातिवाद एवं छुआछूत के विरुद्ध स्वामी केशवानन्द (1883-1972 ई.) का योगदान

डॉ. तमन्ना सिंह

बीकानेर सम्भाग की संगरिया नाम की छोटी सी मण्डी को अपने सामाजिक शैक्षिक कार्यों का आधार बनाकर राष्ट्रीय स्तर तक पहचान बनाने वाले आधुनिक युग के बहुमुखी प्रतिभा के धनी स्वामी केशवानन्द सीकर जिले के मगलूणा नाम के छोटे से गांव में जन्म लेने के बाद अभाव ग्रस्त बाल्यकाल को झेलते हुए युवावस्था से पहले ही अनाथ हो गये व पंजाब के फाजिल्का में साधु वेश धारण कर पंजाब से ही राष्ट्रहित व समाजहित में लग गये। असहयोग आंदोलन व सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेकर वे ब्रिटिश जेल में रहे। इसी दौरान अबोहर-फाजिल्का क्षेत्र में शिक्षा प्रसार व जन जागृति का अभियान प्रारम्भ किया। सन् 1932 में उन्होने संगरिया में पहले से स्थापित जाट-एंग्लो संस्कृत मिडिल स्कूल का कार्यभार संभाला। यहां से चालीस वर्षों के अपने घटनापूर्ण जीवन में स्वामी जी ने बीकानेर संभाग के सुदूर ग्रामीण अंचल में 287 शालाओं की स्थापना कर उनका संचालन किया। सभी शालाओं के लिए पाठ्यक्रम व प्रशासनिक नियमन संगरिया से स्वामी जी द्वारा किया जाता था। शिक्षा प्रसार के साथ-साथ स्वामी जी सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध भी सतत् प्रयासरत् थे। उनका सामाजिक कद इतना वृहद् हो चुका था कि सन् 1956 में अमृतसर के प्रसिद्ध स्वर्ण मंदिर के स्वर्ण पत्रकों का जीर्णोद्धार जैसा बड़ा आयोजन उनके हाथों करवाया गया। राजस्थान की विधानसभा द्वारा उन्हें दो बार सर्व सम्मत उम्मीदवार के तौर पर राज्यसभा में निर्वाचित किया गया। वे सन् 1952-1964 तक राज्यसभा सदस्य रहे।

भारत सरकार ने उनके राष्ट्रहित कार्यों का सम्मान करते हुए उन पर सन् 1999 में डाक टिकट जारी किया। राजस्थान की सरकार ने बीकानेर स्थित कृषि वि.वि. का नामकरण स्वामी केशवानंद राजस्थान कृषि वि.वि. कर उनके सामाजिक-शैक्षणिक कार्यों का सम्मान किया है। स्वामी जी के कार्यों का दायरा काफी वृहद् है। इस शोध पत्र में उनके सामाजिक सुधार कार्यों के संदर्भ में जाति-भेद व छुआछूत के विरुद्ध उनके कार्यों की विवेचना की गयी है। तत्कालीन समाज में सामाजिक-कुरीतियों व बुराइयों की एक लम्बी सूची थी। स्वामी केशवानंद ने प्रत्येक कुप्रथा पर प्रहार करने व सुप्रथा स्थापित करने का उपक्रम किया। सदियों से भारतीय समाज

जाति-पाँति के विभाजन से युक्त रहा है। इसी भाव ने छुआछूत या अस्पृश्यता जैसे सामाजिक अपराध को जन्म दिया। यह घृणित बुराई हमारे समाज में व्याप्त संकुचित जातिवादी सोच के कारण उत्पन्न हुई है। वस्तुतः जाति एक बन्द-वर्ग है और जातिवाद उस बन्द के सदस्यों की 'हम' की भावना है। समाजविद् काका कालेलकर का कहना है कि, "जातिवाद अन्ध और परिमित समूह भक्ति है, जो न्याय के सामान्य सामाजिक मानदण्डों के औचित्य, नैतिकता तथा सार्वभौमिक-भ्रातृत्व की उपेक्षा करती है।" जब एक जाति के सदस्य दूसरी जातियों की तुलना में अपनी जाति को उच्च मानते हैं और दूसरी जातियों के लाभ की चिन्ता किए बिना अपनी जाति के स्वार्थ की रक्षा करते हैं तो इस प्रकार की भावना तथा कृत्य जातिवाद कहलाता है। यही ऊँच-नीच की भावना अस्पृश्यता को जन्म देती है। अपने को उच्च समझने वाली जाति के लोग स्वयं से निम्न समझने वाली जाति के लोगों को हेय-दृष्टि से देखते हैं और छुआछूत की प्रवृत्ति अपनाते हैं। किसी भी सभ्य समाज के लिए जाति-भेद तथा छुआछूत का अवलम्बन एक पीड़ादायी पहलू है। स्वामी केशवानंद ने जातिवाद एवम् छुआछूत की प्रथा को भारत के सुन्दर सामाजिक ढाँचे पर कोढ़ की तरह माना है।¹ स्वामी जी ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आजीवन-संघर्ष किया तथा अपने जीवन में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आचरण धारण कर अपने अनुयायियों को प्रेरित करने का कार्य किया। साधुत्व धारण करने के पचात् जैसे ही स्वामी जी का यायावरी जीवन समाप्त हुआ व सामाजिक सरोकारों से जुड़ाव हुआ तो जातिवादी समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना से उनके मन में वेदना ओर तीव्र हुई। स्वामी जी ने अपने इस कार्य का प्रथम प्रारम्भ अबोहर-फाजिल्का क्षेत्र के गाँवों से किया। स्वामी जी अपने सुधार कार्यों में प्रायः एक अनोखा प्रयोग अपनाते थे। इस हेतु वे बड़े व सम्पन्न गाँवों से इसकी शुरुआत करते थे।² जाति-पाँति के घिनोने स्वरूप पर स्वामी जी खिन्न थे। छुआछूत की कुप्रथा के संबंध में उन्होंने कहा, "मैं उस जात-पाँत के जहर को देख रहा हूँ कि इसने किस प्रकार मनुष्य को सुन्दर बनाते हुए भी भीतर से इसके दिल पर पक्का खूंखारी राक्षसी रंग चढ़ा दिया है। आज मनुष्य की कद्र नहीं रही। आज तो अपनी जाति का आदमी चाहिए, फिर चाहे वह कितना ही बुरा क्यों न हो। दूसरी जाति का देवता भी उसे पसन्द नहीं है।"³

स्वामी केशवानन्द ने जाति-व्यवस्था के बुरे स्वरूप तथा छुआछूत की घृणित प्रथा को बचपन में ही महसूस कर लिया था। बाल्यकाल में गाँव में ब्राह्मणों का महत्व तथा वर्चस्व देखा। एक ग्वाले के रूप में छुआछूत का अनोखा स्वरूप देखा। सभी जाति के ग्वाले साथ-साथ गायें चराते, साथ घूमते, साथ खेलते-कूदते परन्तु खाने की गठड़ी व पानी की लोटड़ी अलग-अलग थी। जाट की लोटड़ी अलग व चमार, नाई, मुसलमान सबकी अलग-अलग। अगर जाट की लोटड़ी का पानी खत्म हो जाता तो प्यास से प्राण भले ही निकले वह चमार या मुसलमान, नाई की लोटड़ी का पानी नहीं

पी सकता था। जीवन और मृत्यु के प्रश्नों से भी बड़ा था, जातिवाद व छुआछूत का आडम्बर।⁴ जातिवादी छुआछूत का बड़ा अनुभव स्वामी केशवानंद ने तब किया जब फाजिल्का में उन्होंने संस्कृत पढ़ने की इच्छा जाहिर की। बीरमा (स्वामी जी का बचपन का नाम) को संस्कृत पढ़ने का हक केवल इसलिए नहीं था कि उसकी जाति जाट थी। यह हक उसे तब होता जब वह ब्राह्मण होता, जो कि वह बन नहीं सकता था। अतः जाति बन्धन से उन्मुक्त होकर, साधु बनकर, बीरमा संस्कृत पढ़ने वालों की जमात में शामिल हो सका। बीरमा से स्वामी केशवानंद बनने तक के सफर में जातिवाद एवम् छुआछूत की घृणित सामाजिक कुप्रथा का दंश स्वयं स्वामी जी ने भोगा था। स्वामी केशवानंद बनकर वे जाति-व्यवस्था से मुक्त हो गए थे। अब वे उस कुप्रथा की पीड़ा से बाहर थे। स्वामी जी ने समाज को उस पीड़ा से उन्मुक्त करने का बीड़ा उठाया। जाति व्यवस्था की यह बुराई समाज के सभी स्तरों पर मौजूद थी। राज के अधिकारी तक इसी नीति का पालन कर रहे थे।⁵ स्वामी जी के द्वारा जाट स्कूल में सभी जातियों के छात्रों को एक साथ रखने व पढ़ाने पर बीकानेर रियासत के अधिकारी उग्र नाराजगी व्यक्त करते हुए प्रायः कहते थे, 'इसाई ही हो जाओ फिर।'⁶ जातिगत भेदभाव राज के स्तर पर कायम था। जाट द्वारा नाम के साथ सिंह लगाने पर दरबार को एतराज था। जाट, राजपूतों के बराबर पलंग पर नहीं बैठ सकते थे।⁷ दरोगों से ठाकुर जाति के लोग भेद रखते थे व अत्याचार करते थे।⁸ ठाकुर किशन सिंह रासलाणा को अगर कोई जाट सामने मिल जाता तो उससे जाति भेद के आधार पर एक रुपया नजर लेता, न देने पर रंगरूटों के साथ जाकर जुल्म करता।⁹ जातिभेद व छुआछूत के नाम पर यह स्थिति उन लोगों की थी जो का तकारी करते थे व लगान भी देते थे जो राज की आय का मुख्य साधन भी था। तत्कालीन समाज में निम्न कही जाने वाली जातियों के प्रति तथाकथित ऊँची जाति वालों का तथा राज करने वाली जातियों का व्यवहार कितना कष्टप्रद था, इसे आसानी से समझा जा सकता है। स्वामी केशवानन्द ने इस स्थिति के लिए अशिक्षा व अज्ञानता को जिम्मेवार माना। अतः समाज सुधार के अपने प्रयासों में शिक्षा-प्रचार के साथ इस प्रकार सुधार अभियान चलाया जिससे क्रमिक रूप से लोगों में छुआछूत के विरुद्ध जागरूकता आई व जातिवादी-संकीर्णता के ताने-बाने में टूटने का क्रम शुरू हुआ। स्वामी केशवानंद ने सामाजिक ढाँचे को नजदीक से पढ़ा था। वे जानते थे कि जाति-व्यवस्था भारतीय सामाजिक ढाँचे की एक प्रायः अपरिहार्य व्यवस्था है। अतः इस ढाँचे को तोड़ने का प्रयास करने की अपेक्षा स्वामी जी ने जातीय-भेदभाव को कम करने, उसमें समरसता का भाव पैदा करने तथा ऊँच-नीच के भावों पर आधारित छुआछूत को मिटाने का प्रयास किया। उन्होंने स्वयं अपने जीवन व्यवहार से तथा अपने निर्देशन में संचालित शिक्षा-संस्थाओं व अन्य संस्थाओं में इस प्रकार का वातावरण निर्माण किया कि

कालान्तर में स्वामी केशवानंद के आस-पास एवम् उनके अनुयायियों व श्रद्धालुओं में जातीय विभेद तथा छुआछूत जैसे प्रश्न नजर आने बन्द हो गए।

स्वामी जी द्वारा किए गए कार्य व्यवहार एवम् प्रयासों से जाति-भेद व छुआछूत की कुप्रथा को मिटाने के उनके सदप्रयासों को उचित रूप से समझा जा सकता है। स्वामी केशवानंद पर महात्मा गाँधी के छुआछूत के प्रश्न पर इस कथन का व्यापक असर था कि, “जब तक एक भी व्यक्ति पीड़ित है और अन्य नागरिकों के साथ समानता का व्यवहार नहीं हासिल कर पाता है। हम स्वतंत्रता का उपभोग (आनंद) नहीं ले सकते।¹⁰ स्वामी केशवानंद एक ऐसी समाज-व्यवस्था में अपना कार्य कर रहे थे जिसमें छुआछूत की पराकाष्ठा न केवल पारिवारिक-सामाजिक स्तर पर थी अपितु राज-व्यवस्था तक में यह सोच मौजूद थी। इस प्रकार के समाज में प्रगतिशील और सुधारवादी आचरण के लिए अधिक जगह नहीं थी। स्वामी जी का स्वयं का छुआछूत विरोधी जाति-निरपेक्ष आचरण तथा उनके द्वारा चलाई जा रही शिक्षण-संस्थाओं में विभिन्न जातियों, विशेषकर उस जमाने में अछूत मानी जाने वाली जातियों के छात्रों के साथ सवर्ण या ऊंची कही जाने वाली जातियों के छात्रों के संयोजन से बना वातावरण कट्टरपंथी विचार के लोगों को अखरता था। स्थानीय स्तर पर स्वामी जी का इस कुप्रथा के विरुद्ध आचरण स्वामी जी की शिक्षा-संस्था के विरोध करने का बड़ा कारण बन गया था। जाट स्कूल संगरिया को उपहासात्मक उपमाएं दी गईं। इसे ढेढिया स्कूल, नास्तिकों का अड़डा, आदि कहा जाने लगा।¹¹ लेकिन स्वामी केशवानंद इस प्रकार के विरोध या प्रतिकार से विचलित होने वाले नहीं थे। उन्होंने अपनी राह नहीं बदली, अलबता अपनी चाल की गति अवश्य बढ़ा दी।¹²

स्वामी केशवानंद ने प्रारम्भ से ही अछूतोद्धार तथा छुआछूत विरोध का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अबोहर क्षेत्र में पंचकोसी पहला ऐसा गाँव था जहाँ के सवर्ण लोगों ने तत्कालीन समय में अछूत कही जाने वाली जातियों को अपने साथ ही कुएं पर पानी भरने की इजाजत दे दी। स्वामी केशवानंद की प्रेरणा से गाँव के चौधरी मोहरू राम पूनियां ने इस कार्य में अग्रणी होकर कार्य किया।¹³ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में स्वामी जी तथा गाँव वालों का यह कार्य सामाजिक आश्चर्य पैदा करने वाला था। अनेक रूढ़िवादी लोगों ने इस पर नुक्ताचीनी भी की लेकिन स्वामी जी के व्यक्तित्व एवम् प्रभाव के समक्ष उनका स्वर ऊंचा नहीं था।¹⁴ स्वामी केशवानंद के साथ जीवन पर्यन्त कोई-न-कोई तत्कालीन समय में नीची कही जाने वाली जातियों का सदस्य निकटस्थ सहयोगी तथा सहायक रहा। प्रारम्भ में धर्मपाल (जिसका मूल नाम खैरदीन मेहतर था और स्वामी जी ने अपने सानिध्य में लेकर उसका नाम धर्मपाल रखा) उनका निजी सहायक था। बालूराम (चमार जाति) स्वामी जी के लिए विभिन्न घरों से खाना मांगकर लाता था तथा स्वामी जी की कुटिया में स्थित अतिथि-शाला में रसोइया था।

बालूराम के हाथ का बना खाना ही स्वामी जी के अतिथियों को खाना होता था।¹⁵ यह समझने लायक बात है कि स्वामी जी की प्रतिष्ठा व स्तर को देखते हुए उनके पास समाज के किस हैसियत के लोगों का आतिथ्य रहता था। निश्चय ही जनसामान्य के अलावा तत्कालीन सवर्ण लोगों की उनमें बड़ी संख्या होती थी। स्वामी जी की कुटिया में बालूराम के हाथ का खाना-खाकर वे निश्चित ही अपनी सोच में कुछ-न-कुछ बदलाव लाने को प्रेरित या मजबूर होते थे। स्वामी जी का स्पष्ट संदेश था कि, “यहाँ (ग्रामोत्थान विद्यापीठ में) न तो कक्षाओं में और न छात्रावासों में किसी प्रकार का भेदभाव (छुआछूत) किया जाता है। यहाँ हम न केवल प्रीति-भोज व सहभोज आयोजित करते हैं, साथ ही विभिन्न गाँवों में अपनी मंडलियां भेजकर छुआछूत विरोधी वातावरण बनाने का कार्य करते हैं।¹⁶ स्वामी केशवानंद अपने हरिजन कर्मचारियों व उनके बच्चों की शिक्षा आदि का पूरा ध्यान रखते थे।¹⁷

गणपत सिंह वर्मा (धानक) भटिण्डा, स्वामी जी के सम्पर्क में आया। वह अत्यंत असहाय स्थिति में व जरूरत मंद गरीब व आंशिक शिक्षित था। स्वामी जी ने उसकी व्यथा सुनकर प्रथम तो यह कहा कि केवल मरूस्थल ही नहीं बल्कि पंजाब में पुनः शिक्षा-जोत जगानी होगी, साथ ही उसे संस्था के पुस्तकालयाध्यक्ष के सानिध्य में रखा। उसे पढ़ाया लिखाया। वर्मा बाद में वकों तक संस्था के केन्द्रीय कार्यालय में एकाउन्टेंट रहे।¹⁸ उनकी पुत्री उच्च राजपत्रित अधिकारी बनी, उनके पुत्र उच्च शिक्षित हैं। रामजीलाल (धानक) स्वामी जी का जीप ड्राइवर एवम् निजी सहायक की तरह था। उसे गाँवों में व संस्था में बिना जाति-भेद के स्वामी जी के सहयोगी के रूप में जीवन-पर्यन्त सम्मान मिला।¹⁹

धर्मपाल वाल्मिकी (खैरदीन मेहतर) स्वामी जी के सानिध्य में रहकर शिक्षित बना, फिर भजनोपदेशक बना। स्वामी जी ने उसके पुत्र की उच्च शिक्षा की व्यवस्था की। धर्मपाल ने बाद में राजनीति में प्रवेश किया तथा राजस्थान विधानसभा के सदस्य बने। उनका पुत्र पुलिस में राजपत्रित अधिकारी बना। उनका पौत्र अखिल भारतीय सेवा में चयनित हुआ। उनकी पौत्रवधु एक उच्च शिक्षित ब्राह्मण लड़की हैं।²⁰ धर्मपाल के परिवार को यह सामाजिक प्रतिष्ठा तथा ऊंचाई स्वामी केशवानंद के कारण मिली। धर्मपाल ने तभी तो स्वामी जी के प्रति कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में कहा है, “हमारे महापुरूष तथा पवित्र ग्रंथ कहते हैं कि अच्छे कार्य करने वाला व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। लेकिन स्वामी जी के आशीर्वाद से, मैं अपने जीवन में ही स्वर्ग के आनंद उठा रहा हूँ। मेरा बेटा व पोता अधिकारी हैं तथा पौत्र-वधु एक उच्च शिक्षित ब्राह्मण लड़की हैं। मैं सबसे खुश व्यक्ति हूँ।²¹ वस्तुतः स्वामी जी के सम्पर्क ने न जाने कितने धर्मपालों का कल्याण किया है।²² धर्मपाल के लड़के चानण का पहले डूंगर कॉलेज बीकानेर में प्रवेश हो गया था लेकिन शीघ्र ही उसकी जाति के कारण बड़ा

बवाल मचा। राजशाही का दौर था, अतः स्वामी जी ने उसे वहाँ से हटाकर उसका प्रवे। लाहौर में करवा दिया।²³

स्वामी केशवानंद जाति-पांति से दूर तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण मनोवृत्ति के सख्त खिलाफ थे। लेकिन वे स्वामी दयानंद के विचारों से काफी प्रभावित थे। फलस्वरूप हिन्दुवादी संस्कारों के पालक थे। राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में ईसाई तथा मुस्लिम धर्मावलम्बियों के द्वारा धर्मान्तरण के निरन्तर प्रयास चलते थे। योवनावस्था में ही आर्य-समाज के प्रभाव में आने के कारण हिन्दु-धर्म पर मण्डरा रहे धर्मान्तरण के खतरे को स्वामी केशवानंद अनदेखा नहीं कर सकते थे। स्वामी जी को यह जानकर बड़ा आघात लगा कि बहावलपुर राज्य के चानणा गाँव के सभी वार्दों ने हिन्दु-धर्म त्याग कर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया है। चानणा एक ऐसा गाँव था जिसमें रहने वाले सभी वार्दि हरिजन (मेघवाल) थे। मुस्लिम राज के अधिकारियों के दबाव में सभी गांव वालों ने धर्मान्तरण किया था। स्वामी केशवानंद ने चक नत्थू ढाका के चौधरी हरि चन्द्र ढाका के सहयोग से पूरे गाँव का पुनः धर्मान्तरण करवाकर हिन्दु-धर्म में वापसी करवाई। पुनः धर्मान्तरण का यह कार्य जाट विद्यालय संगरिया के आर्य-समाजी अध्यापक महीपाल शास्त्री ने सम्पन्न करवाया। स्वामी जी ने इस धर्मान्तरण (इस्लाम ग्रहण करना) का कारण मुख्यतः अशिक्षा को माना था। अतः उसी समय वहाँ एक हरिजन पाठशाला की स्थापना कर दी।²⁴

स्वामी जी के आने से पूर्व भी जाट विद्यालय संगरिया में यद्यपि सभी जाति के छात्र पढ़ते थे, लेकिन बिश्नोइयों का खाना अलग रसोईया बनाता था।²⁵ हरिजनों के बच्चे भी छात्रावास में रहते थे परन्तु उन्हें रोटी-पानी अलग बिठाकर दिया जाता था।²⁶ स्वामी जी का मत भिन्न था। उनका कहना था कि शिक्षा-प्रसार से स्थिति बदलेगी। उपयोगी कार्य करने वाले अपने ही भाइयों को शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अछूत नहीं समझेंगे।²⁷ स्वामी जी ने छात्रावासों में चली आ रही व्यवस्था से खिन्नता व्यक्त की तथा छात्रों को समझा-बुझाकर एक ही स्थान पर एक साथ बैठकर भोजन करने की प्रथा डाल दी।²⁸ स्वामी जी ने छुआछूत के विरोध में समझाते हुए लोगों से कहा, “यह भारत का दुर्भाग्य है कि जो लोग हमारे घरों की सफाई करते हैं, हमें रोगों से बचाते हैं, हमारे लिए खेतों में, कल-कारखानों में काम करते हैं, पसीने की कमाई खाते हैं, उनसे हम घृणा करते हैं। याद रखो, वह दिन दूर नहीं कि जब आप सबको अपना मल-मूत्र स्वयं साफ करना व ढोना पड़ेगा। यदि हम अपना भला चाहते हैं तो हमें अभी से छुआछूत त्याग देनी चाहिए और स्वच्छता-सफाई में आत्मनिर्भर होना चाहिए।²⁹ स्वामी जी के प्रयासों का ही फल था कि साहित्य सदन अबोहर में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में न केवल हरिजनों की भागीदारी रही अपितु सम्मेलन के आयोजन में उनका

भरपूर सहयोग रहा।³⁰ 8 फरवरी, 1944 को स्वामी जी की अध्यक्षता में हरिजन सम्मेलन आयोजित हुआ।³¹

स्वामी जी ने अपनी विभिन्न शिक्षा-योजनाओं में स्थापित व संचालित शालाओं में भी सभी जातियों के छात्रों को समानता के आधार पर बिना भेदभाव के शिक्षा देने की पक्की व्यवस्था की थी। स्वामी जी शालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट में सभी जानकारियाँ निरन्तर प्राप्त भी करते थे। श्रीगंगानगर जिले के गाँव केलणिया (वर्तमान में हनुमानगढ़ जिला) में स्वामी जी द्वारा संचालित मरुभूमि सेवा कार्य में पाठशाला के तत्कालीन छात्र मोहनलाल आर्य के संस्मरण से इसे समझा जा सकता है - प्रथम अध्यापक हंसासर (झूझूनु) के चौ. लेखराम आर्य। स्कूल के पास केवल एक झोंपड़ा था। कक्षाएं खुले में लगती थीं। बिना जातिगत भेदभाव पढ़ाया जाता था। छात्रों में 29 जाट, 2 ब्राह्मण, 3 सि, 2 नाई, 1 सुनार, 1 स्वामी, 1 चारण व 1 राजपूत जाति से था। चौ. लेखराम रात्रि में प्रौढ़ों को भी पढ़ाते थे। प्रौढ़ों में 10 जाट, 2 हरिजन, 1 सुथार, 1 राजपूत व 1 वै य था।³² कमोबेश यही स्थिति स्वामी जी द्वारा संचालित उन सैकड़ों स्कूलों एवं अन्य सदनों व संस्थाओं की थी। स्वामी जी जातिवाद व छुआछूत की घृणित प्रथा के विरुद्ध अपनी प्रणाली से प्रहार कर रहे थे। जिसमें जबरिया या दबाव की नीति नहीं वरन् ज्ञानवान बनाकर जाग्रत करना था। जातिपांति के दुष्परिणामों की स्वामी जी निरन्तर व्याख्या छात्रों में भी प्रसारित करते रहते थे।³³ स्वामी जी सरकार की इस नीति के खिलाफ थे कि हरिजनों के लिए पृथक् छात्रावास निर्माण करने व इनमें केवल हरिजन छात्रों को प्रवेश देने पर ही राजकीय सहायता मिल सकेगी। स्वामी जी द्वारा संरक्षित व संचालित जाट स्कूल व बाद में ग्रामोत्थान विद्यापीठ तथा अन्य समस्त शालाओं में हरिजन छात्र अन्य छात्रों के साथ ही पढ़ते थे व संगरिया में अन्य जाति के छात्रों के साथ ही छात्रावासों में रहते थे व साथ ही खाते-पीते थे। स्वामी जी का सरकारी-नीति के सम्बन्ध में खिन्नता-पूर्वक कहना था, “हमने उस जमाने में छुआछूत नहीं होने दी जब यह बुराई जोरों पर थी, अब हमारी अपनी सरकार कहती है कि जातियों को एक साथ मत रखो। हरिजनों को ओरों से अलग, अकेले में क्यों रखना है? समझ से परे है।³⁴ लेकिन स्वामी जी व्यवस्था पालक थे। अतः सरकारी-व्यवस्था के अनुपालन में हरिजनों के लिए संस्था में पृथक् से छात्रावास के निर्माण की अनुमति प्रदान कर दी, लेकिन वे इस अलगाववाद को समाज-हित में नहीं मानते थे।³⁵ 24 मई सन् 1947 को बीकानेर राज्य का मेघवंश (चमार) सम्मेलन पन्नालाल बारूपाल ने बुलाया था। यहां पर स्वामी जी ने अपनी शिक्षा, समाज-सुधार तथा राष्ट्रोत्थान योजनाओं पर व्यापक प्रकाश डाला तथा मेघवंश-समाज को भी जागृत होने के लिए प्रेरित किया।³⁶ स्वामी केशवानन्द को इस सम्मेलन में अध्यक्षता का मान देकर सम्मानित³⁷ करना दलित समाज में उनकी लोकप्रियता का सूचक था।³⁸

स्वामी केशवानंद के समक्ष जातिवाद के सम्बन्ध में एक बड़ा-प्रश्न वर्षों से खड़ा था। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जातिवाद के धुर विरोधी स्वामी केशवानंद ने 1932-33 में एक ऐसी संस्था का संचालन क्यों स्वीकार कर लिया जिसकी स्थापना जातिवादी सोच के साथ की गई थी तथा जिसके नाम के साथ जाति सूचक सम्बोधन था - जाट एंग्लो संस्कृत मिडिल स्कूल। स्वामी जी द्वारा इस संस्था का कार्यभार ग्रहण करने तथा बाद में इसके संचालन के तरीके व अन्त में इसके नाम व स्वरूप में परिवर्तन के उनके कार्यों में ही इस प्रश्न का उत्तर निहित है। यह एक तथ्य है कि जाट एंग्लो संस्कृत मिडिल स्कूल के संस्थापक चौ. बहादुर सिंह भोभिया व उनके सहयोगियों ने इसकी स्थापना मुख्यतः जाट जाति में शिक्षा-प्रचार, जाट-जाति की सम्पूर्ण उन्नति के प्रयास, जाट-जाति में से कुप्रथा निवारण, वेद तथा संस्कृत साहित्य का प्रचार, हिन्दी साहित्य की उन्नति तथा प्रचार, राज्य के लिए सच्चे राजभक्त पैदा करना तथा जाति में पारस्परिक प्रेम तथा एकता की स्थापना के उद्देश्य से की थी।³⁹ यदि संस्था के उद्देश्यों में से जाट शब्द को पृथक् कर दिया जाए तो इसके भी वही उद्देश्य थे जो स्वामी जी ने अपने लिए निर्धारित कर रखे थे। संस्था के संस्थापक सामान्य सामाजिक कार्यकर्ता थे। अतः वे अपनी जाति के प्रति सोच को प्राथमिकता दे रहे थे तथापि, इस स्कूल ने प्रारम्भ से ही सभी जातियों के बच्चों की शिक्षा के लिए द्वार खोल रखे थे। इसके संस्थापक स्वामी केशवानंद की तरह महान् नहीं थे, लेकिन उन्होंने स्वामी जी का संरक्षण प्राप्त कर इलाके के लिए अनजाने ही एक बड़ा कार्य कर दिया था। स्वामी जी ने जाट स्कूल में अपने प्रारम्भिक वर्षों में परिसर में अध्ययनरत् छात्रों व सेवारत कर्मचारियों में जाति-भेद व छुआछूत का भाव समाप्त करने का प्रयत्न किया। इस ओर उनको मिल रही सफलता ने उन्हें उत्साहित किया और सन् 1948 में उन्होंने जाट स्कूल के साथ लगा जाति सूचक शब्द हटा दिया और बड़े दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति वाला नामकरण कर दिया जो 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' था।

स्वामी जी ने अपने निकटतम सहयोगी चौधरी हरिश्चन्द्र नैण से सन् 1948 में कहा कि स्कूल से जाट शब्द उड़ा दो। हरिश्चन्द्र इससे खिन्न हो गए कि जाट शब्द लोगों को क्यों खटकता है।⁴⁰ स्वामी जी ने जल्दबाजी नहीं कि वे थोड़े समय के लिए चुप हो गए। लेकिन अब वे दृढ़ निश्चय कर चुके थे कि जाति सूचक शब्द हटाना ही है। संभवतः संस्था के अधिकांश छात्र व कर्मचारी तथा इलाके के लोग अब मानसिक तौर पर जातीय-संकुचितता से बाहर आ रहे थे। संस्था के भूतपूर्व छात्रों की बड़ी संख्या का सोच व्यापक बन चुका था। यह स्थिति स्वामी जी भांप चुके थे।⁴¹ नवम्बर, 1948 में जाट स्कूल का नाम बदलने के प्रश्न पर मीटिंग हुई। स्वामी जी दृढ़ थे कि जाति सूचक 'जाट' शब्द हटाना चाहिए। मनीराम सिहाग तथा कुछ लड़कों ने भारी

विरोध भी किया। स्वामी जी अड़ गए, उग्र हो गए। चेतावनी दी कि या तो नाम बदलो वरना मैं स्कूल छोड़ता हूँ। एक पन्द्रह-सदस्यीय समिति का गठन किया गया तथा उसे यह जिम्मा सौंपा गया कि जाट-महासभा रोहतक वगैरह से सलाह करके 1 जनवरी, 1949 तक नाम के बारे में सुझाव दें। स्वामी जी के निकटस्थ सहयोगी चौधरी हरिश्चन्द्र नैण ने कहा कि जाट शब्द हटाने पर लोग चंदा बंद कर देंगे। इस पर स्वामी जी का कहना था, "परवाह नहीं, मैं मांगने भी नहीं जाऊंगा। अड़ गए।⁴² चौ. हरिश्चन्द्र ने चौ. कुम्भाराम आर्य को कहा कि जाटों को स्वामी जी ने भड़का दिया है, चन्दा कौन देगा।⁴³ चौ. कुम्भाराम का रुख स्वामी जी के पक्ष में ही था।⁴⁴ स्कूल के नामकरण पर भिन्न-भिन्न मत आ रहे थे। जाट सभा ने छाजूराम हाई स्कूल नाम रखने का सुझाव दिया। चौ. हरिश्चन्द्र ने प्रथम बहादुर सिंह का नाम सुझाया व बाद में स्वामी जी के नाम पर रखने का सुझाव दिया। स्वामी जी ने किसी प्रस्ताव को नहीं माना। स्वयं स्वामी केशवानंद ने 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' नामकरण करने का सुझाव रखा और वहीं मंजूर हुआ।⁴⁵ स्वामी केशवानंद ने अपनी शिक्षा व समाज सुधार योजनाओं में अपनी सर्वाधिक प्रिय-संस्था से इस संकुचित प्रतीक शब्द को हटा दिया था। स्वामी जी का लक्ष्य ग्रामोत्थान था उसका प्रतीक उन्होंने संगरिया स्थित इस संस्था को बना दिया था।

जातिप्रथा एवं छुआछूत की कुप्रथा पर स्वामी जी का संघर्ष अनवरत् एवं अबाध था। आजादी के बाद तो उनकी शिक्षण-संस्थाओं से निकले सैकड़ों पूर्व छात्र-छात्राएं तथा उनके अनुयायियों ने इस संकीर्ण सोच से अपने को लगभग दूर रखा है। सरकारी मूल्यांकन में भी सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन एवं पिछड़े वर्ग के उत्थान में स्वामी जी की संस्था के योगदान को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है।⁴⁶

स्वामी केशवानंद तो इस बात पर भी आश्चर्य व्यक्त करते थे कि समाज में अस्पृश्य (जिसे स्वामी जी घोर अपराध के बराबर मानते थे) कहे जाने वाली जातियों के अंदर भी छुआछूत है। "कितनी असहज बात है कि अस्पृश्यता के प्रश्न पर समाज से नाराजगी व्यक्त करने वाले लोग खुद अपने समूह में ऊंच-नीच का भाव रखते हैं, दुख की बात है।⁴⁷ मेघवंश सम्मेलन में स्वामी जी ने इस प्रवृत्ति के त्याग हेतु प्रेरित किया।⁴⁸

स्वामी केशवानंद एक अति पिछड़ी सामाजिक व्यवस्था वाले परिवार में बाल्यकाल भोग कर आये थे। तत्कालीन समाज एवम् परिवार व्यवस्था की कठिनाइयां एवम् दर्द उनकी स्मृतियों में चिरस्थायी थे। उन्होंने लक्ष्य निर्धारित किया था कि आने वाली संताने एक सरल, सुदृढ़ तथा गतिमान समाज के सुख भोगे, इसके लिए उपाय करना आवश्यक है।⁴⁹ वे सामाजिक न्याय के समर्थक थे। वे पिछड़े तथा दलित वर्गों के आर्थिक एवम् सामाजिक उत्थान के लिए जीवन पर्यन्त जुटे रहे।⁵⁰ स्वामी जी के कार्यक्षेत्र के शोध सर्वेक्षण में यह पाया गया है कि सन् 1932 से बीकानेर राज्य क्षेत्र में

स्वामी केशवानंद के सक्रिय होने के बाद सामाजिक सुधारों के सिलसिले में तेजी आयी। यद्यपि इसमें आर्य समाज का भी कुछ प्रभाव रहा तथा सुधारवादी प्रक्रिया में उसकी भी भूमिका रही परन्तु सर्वेक्षणों में यह पाया गया कि यहां के अधिकांश सुधारवादी लोगों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अपने सुधारवादी कार्यों तथा परिवर्तित जीवन शैली पर स्वामी केशवानंद के शिक्षा व समाज सुधार प्रयत्नों का ही व्यापक प्रभाव माना है। स्वामी जी ने इस क्षेत्र में अपने सुधारवादी कार्यों से एक पूरी पीढ़ी को ऐसे सामाजिक नेतृत्व के रूप में तैयार कर दिया जो न केवल स्वयं सुधारवादी विचारों के धनी थे अपितु उन्होंने एक बड़ा वर्ग सात्विक दृष्टिकोण वाले लोगों का खड़ा कर दिया था।⁵¹ एक समाज-सुधारक के रूप में अपने छः दशक लम्बे प्रयासों से स्वामी केशवानंद समकालीन इतिहास के एक महत्वपूर्ण पात्र बन गये हैं।

संदर्भ

1. स्वामी केशवानंद पेपरस्; उपलब्ध, स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट, संगरिया।
2. साक्षात्कार; ज्याणी, रामनारायण (स्व. रामनारायण ज्याणी स्वामी केशवानंद के निकट सहयोगी तथा चौधरी बाहदुरसिंह भोभिया समाज जागृति परमार्थ संस्थान व स्वामी के इवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट संगरिया के संस्थापकों में से थे)
3. स्वामी केशवानंद का पत्र कुलभूषण को दिसम्बर 23, 1946, उपलब्ध, स्वामी के इवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट, संगरिया।
4. स्वामी केशवानंद पेपरस्।
5. निजी डायरी; चौ. हरिश्चन्द्र नैण, उपलब्ध, सर छोटूराम स्मारक कलात्मक संग्रहालय, संगरिया, सितम्बर 19, 1938 (रामनगर, श्रीगंगानगर निवासी नैण पे से वकील थे तथा स्वामी केशवानंद को पंजाब से संगरिया लाने वाले लोगों में से थे। वे प्रखर सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे बीकानेर राज्य में का तकारान की तरफ से राजसभा के सदस्य नामजद थे बीकानेर लेजिसलेटिव असेम्बली के पत्र क्रमांक 838 दिनांक 1-12-1929 द्वारा उनकी नियुक्ति हुई। उन्होंने सन् 1905 से सन् 1974 तक नियमित रूप से दैनिक डायरी लिखी। इन डायरियों में उनके सत्य लेखन का यह प्रमाण है कि उन्होंने अपनी कमियों व त्रुटियों का भी बेबाकी से जिक्र किया है समकालीन समाज एवम् व्यवस्था की जानकारी का यह अच्छा मूल स्रोत है)
6. वही, अप्रैल 11, 1941
7. वही, मई 10 एवम् 11, 1941
8. वही, सितम्बर 3, 1941
9. वही, सितम्बर 19, 1941
10. स्वामी केशवानंद पेपरस्।
11. फेरसिंह, स्वामी केशवानंद - सेवा, श्रम और शिक्षा का एक अध्याय, संगरिया

- 1975, पृष्ठ 135; जुनेजा, एम.एम., ए बायोग्राफी ऑफ स्वामी केशवानंद, हिसार, 1996, पृष्ठ 140, साक्षात्कार, ज्याणी, रामनारायण।
12. साक्षात्कार, सारण, दौलतराम (पूर्व केन्द्रीय मंत्री एवम् स्वामी जी के समाज सुधार कार्यक्रम में निकट सहयोगी)
13. स्वामी के इवानंद पेपरस्, मास्टर तेगराम पेपरस्, उपलब्ध, स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट (स्वर्गीय मास्टर तेगराम स्वामी जी के निकट सहयोगी व पंजाब के भूतपूर्व विधायक थे), विद्याभास्कर, रामावतार, बालगीत, अबोहर, अप्रैल 1952.
14. साक्षात्कार, डॉ. जाखड, बलराम (भूतपूर्व लोकसभा अध्यक्ष व पूर्व राज्यपाल डॉ. जाखड स्वामी जी की संस्था के पूर्व छात्र और निकट सहयोगी रहे हैं)
15. डॉ. विनय कुमार पेपरस्(उपलब्ध, स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट (डॉ. कुमार चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय हिसार के कुलपति रहे वे स्वामी जी की संस्था में केन्द्रीय कार्यालय में अधीक्षक पद पर कार्य कर चुके थे)
16. केशवानंद, स्वामी समाज शिक्षा का अग्रदूत ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया, जुलाई 10, 1954, पृष्ठ 6
17. स्वामी के इवानंद का पत्र, आदे। पालनार्थ, जाट एंग्लों संस्कृत मिडिल स्कूल रिपोर्ट्स, संगरिया, अक्टूबर 26, 1942
18. कपिलदेव शास्त्री पेपरस्, उपलब्ध, स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट, संगरिया।
19. साक्षात्कार, तूर, सरदार शेरसिंह (स्वामी जी के निकट सहयोगी, उनकी जीवनी के लेखक तथा स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट के कोषाध्यक्ष)
20. चौधरी कुम्भाराम आर्य पेपरस्, उपलब्ध, स्वामी केशवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट।
21. स्मारिका(सितम्बर 13, 1990 (स्वामी जी के जीवन एवम् शिक्षाओं तथा कार्यों के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी के इवानंद स्मृति चैरिटेबल ट्रस्ट संगरिया द्वारा सन् 1984 से सन् 1997 तक तथ्यात्मक साप्ताहिक युक्त प्रकाशन करवाया गया है। ये स्मारिकाएँ स्वामी जी के समकालीन व निकट सहयोगियों द्वारा लिखित साप्ताहिक से परिपूर्ण हैं)
22. वही, सितम्बर 13, 1984
23. साक्षात्कार, तूर, सरदार शेरसिंह।
24. स्वामी केशवानंद पेपरस्, जुनेजा, एम.एम., वही, पृष्ठ 142-143, सारण, डी सी, स्वामी केशवानंद, आगरा, 1985, पृष्ठ 15
25. जाट एंग्लो संस्कृत मिडिल स्कूल कार्य-विवरण, माह जुलाई, 1936
26. शेरसिंह, वही, पृष्ठ 135
27. दीपक, अबोहर, फरवरी, 1937
28. शेरसिंह, वही, स्मारिका, सितम्बर 13, 1984
29. शेरसिंह, वही, पृष्ठ 138, स्वामी केशवानंद पेपरस्।

30. दीपक, दिसम्बर-जनवरी, 1941-42
31. वही, जून, 1944
32. स्मारिका, सितम्बर 13, 1996
33. ग्रामोत्थान पत्रिका, प्रबंध संपादक, सक्सैना गोविन्द, संपादक, भारतीय, रामकृष्ण (संरक्षक-स्वामी केशवानंद) सितम्बर, 1952, पृष्ठ 7 से 10
34. स्वामी केशवानंद पेपरस्।
35. साक्षात्कार, तूर, सरदार शेरसिंह, सारण, दौलतराम।
36. चतुर्वेदी, बनारसी दास एवम् जधीना, ठाकुर देशराज, संपादक, केशवानंद- अभिनंदन ग्रंथ, संगरिया, 1958, संदेश एवम् श्रद्धाजंलि, पृष्ठ 13
37. सारण, डी सी, वही, पृष्ठ 16
38. साक्षात्कार, सारण, दौलतराम।
39. श्री जाट एंग्लो-संस्कृत मिडिल स्कूल, संगरिया मण्डी, राज्य श्री बीकानेर का 1 जनवरी सन् 1917 लगायत अग्वीर सितम्बर सन् 1925 ईस्वी तक के आय-व्यय का विवरण, प्रकाशक - मैनेजिंग कमेटी, अजमेर, अक्टूबर, 1925
40. निजी डायरी, वही, मार्च 29, 1948
41. साक्षात्कार, तूर, सरदार शेरसिंह, डॉ. जौहरी, अवध बिहारी (डॉ. जौहरी स्वामी जी के निकट सहयोगी व स्वामी के वानंद महाविद्यालय संगरिया के राजनैतिक विज्ञान विभाग के सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष हैं)
42. निजी डायरी, वही, नवम्बर 13, 1948
43. वही, नवम्बर 15, 1948
44. चौधरी कुम्भाराम आर्य पेपरस्।
45. निजी डायरी, वही, दिसम्बर 26, 1948
46. डिस्ट्रिक्ट गजिटियर, गंगानगर, राजस्थान सरकार, पृष्ठ 572
47. स्वामी केशवानंद पेपरस्।
48. वही।
49. साक्षात्कार, डॉ. जाखड़, बलराम।
50. स्मारिका, सितम्बर 13, 1996 (देवेगौड़ा, एच डी-भूतपूर्व प्रधानमंत्री भारत सरकार)
51. डॉ. जौहरी, ए बी, पौलिटिकल एलीट एण्ड द प्रोसेस ऑफ पोलिटिकल मॉडर्नाइजे इन (ए स्टडी इन द कन्टेस्ट ऑफ गंगानगर डिस्ट्रिक्ट), पीएच.डी. थिसिस, युनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1991, पृष्ठ 188-199

विकिरण चिकित्सा : एक ऐतिहासिक अध्ययन

(बीकानेर का विशेष संदर्भ)

डॉ. अनिला पुरोहित एवं सुशील मोयल

वर्तमान विश्व में एलोपैथी चिकित्सा पद्धति का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है तथा इससे सटीक ईलाज होता है। डॉ. मरीज के रोग की जांच के लिए विशेष जांचें करवाता है। जिसमें एक्सरे एक प्रमुख जांच है। इससे शरीर के आंतरिक अंगों का चित्रण किया जाता है। एक्सरे में विशेष रूप से हड्डीयां, फेंफड़े, आहारनाल आदि अंग स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। हड्डी रोग विशेषज्ञ विशेष रूप से एक्सरे जांच का प्रयोग करता है। शरीर में पथरी, आहारनाल में रूकावट, मस्तिष्क की रूधिरवाहिनियों की रूकावट की जांच के लिए विशेष एक्सरे जांचों का प्रयोग किया जाता है।

एक्सरे व कम्प्यूटर तकनीक के मिलाप से सिटी स्केन व डिजीटल एक्सरे प्रणाली विकसित हुई है जिसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं है। सिटी स्केन शरीर के प्रत्येक भाग का सुक्ष्मतम चित्रण लेने में सक्षम होती है। प्रो. डब्ल्यू.सी. रॉन्जन ने एक्सरे किरणों की खोज 8 नवम्बर 1895 में की। यह खोज एक चमत्कारिक खोजों में से एक थी जो अकस्मात् हुई। यह ठीक तरीके से नहीं बताया जा सकता की भारत में प्रथम एक्सरे मशीन कब स्थापित हुई थी। डॉ. के.पी. मोदी ने अपने अध्ययन 'इण्डियन जनरल ऑफ इमेजिंग' में यह बताया कि सन् 1902 में एक केमिस्ट ने एक्सरे मशीन भारत में मंगवाई थी। सन् 1912 में दिल्ली अंग्रेजी हकुमत की राजधानी बनी थी और सन् 1918 में दिल्ली में प्रथम एक्सरे मशीन लेडी हार्डिंग हॉस्पिटल में स्थापित हुई थी। सन् 1923 में इसी हॉस्पिटल में रेडियोलॉजी डिपार्टमेंट की स्थापना हुई थी। ये एक्सरे मशीन सिंगल फेज की होती थी।

बीकानेर में विकिरण चिकित्सा का इतिहास

बीकानेर राज्य में एलोपैथी चिकित्सा पद्धति की शुरुआत सन् 1848 में डॉ. कॉलरिस के आगमन से शुरू हुई थी। वे कुंवर सरदार सिंह के इलाज हेतु बीकानेर आये थे। बीकानेर के मुख्य चिकित्सालय पी.बी.एम. का निर्माण सन् 1894 में हुआ था। सन् 1937 में इसे पी.बी.एम. (प्रिन्स बिजय सिंह मेमोरियल हॉस्पिटल) नाम दिया गया। सन् 1940 में महाराजा गंगासिंह ने अपने शासन के गोल्डन जुबली के अवसर पर टी.बी. हॉस्पिटल का निर्माण करवाया। इसी वर्ष टी.बी. अस्पताल में

एक्सरे मशीन की स्थापना करवाई जो सन् 1996 तक कार्य करती रही। यह मशीन जी.ई. कम्पनी की थी। पी.बी.एम. अस्पताल में एक्सरे विभाग की स्थापना सन् 1911-12 में महाराजा गंगासिंह जी के अथक प्रयासों से हुई थी। सन् 1919-20 में नयी एक्सरे मशीनें आई जो 10 केवी ट्रांसफार्मर की थी जिसके साथ स्क्रिनिंग की सुविधा शामिल थी। सन् 1943 में 200 एम.ए. की एक मशीन स्थापित की गई जिसको वर्तमान में उन्नत करके काम में लिया जा रहा है जिसकी गुणवत्ता उच्चस्तरीय है।

बीकानेर का कैंसर उपचार में विशेष योगदान

महाराजा गंगासिंह जी ने एक्सरे विभाग का विस्तार कर इसे 'गंगा एक्सरे व रेडियम इंस्टीट्यूट' नाम दिया। महाराजा गंगासिंहजी के अथक प्रयासों द्वारा कैंसर पीड़ितों को एक्सरे व रेडियम थैरेपी दी जानी संभव हुई जो उस समय में उत्तर-पश्चिमी भारत का एकमात्र केन्द्र था। पी.बी.एम हॉस्पिटल के एक्सरे विभाग के निर्माण में बम्बई के वास्तुविदों की सेवाएं ली गई थी। रेडियोलॉजी विभाग में कैंसर के उपचार के लिए सन् 1942 में 140 एमजी रेडियम खरीदा गया जो कैंसर मरीजों के ईलाज में डीप थैरेपी हेतु प्रयोग में लाया जाता था। डीप थैरेपी हेतु मशीन महाराजा गंगासिंहजी कनाडा से लाए थे।

बाद में कैंसर विभाग में कोबाल्ट 60 मशीन का प्रयोग किया जाने लगा जो सन् 1957 में सरकार द्वारा स्थापित करवाई गई थी। वर्तमान में बीकानेर में कैंसर के उपचार में उत्तरी भारत में एक प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित है। बीकानेर में कैंसर के उपचार के लिए पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों से पीड़ित व्यक्ति ईलाज हेतु आते हैं। एक्सरे की अत्यधिक उपयोगिता हानिकारक होती है क्योंकि स्वयं एक्सरे किरणें शरीर के लिए घातक है जिससे कैंसर भी हो सकता है। अतः आवश्यकता है कि एक्सरे का उपयोग जरूरी होने पर ही किया जाना चाहिए।

बीकानेर राज्य में रेल यातायात का विकास (1887-1943 ई.)

डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन

महाराजा गंगासिंह जी ने यह अनुभव किया था कि बीकानेर राज्य का भविष्य सिंचाई और रेल यातायात के विकास पर निर्भर करता है। जहाँ तक सिंचाई सुविधाओं का प्रश्न था, उसमें अनेक कठिनायाँ थी। बीकानेर राज्य की अपनी कोई नदी नहीं थी, रेगिस्तानी क्षेत्र में नहर-निर्माण भी सरल कार्य नहीं था, यह योजना अन्य पड़ोसी राज्यों की दया पर निर्भर थी अतः उन्होंने परिस्थितियों को भाँपते हुए रेल उद्योग के विकास पर बल दिया। बीकानेर के लिए रेल उद्योग एक स्थाई और लाभकारी विनियोजन है जो यहाँ के निवासियों को रोजगार के अवसर प्रदान करेगा और बीकानेर राज्य की जनता को उनकी एक स्थाई समस्या अकालों की भीषण विभीषिका से राहत दिला सकेगा। अतः जोधपुर राज्य के तकनीकी अनुभवों का लाभ उठाने के लिए 13 जुलाई, 1889 ई. को जोधपुर महाराजा के साथ एक समझौता किया² जिसके अनुसार-

1. बीकानेर और जोधपुर महाराजा ने जोधपुर बीकानेर को रेल लाईन से जोड़ने की स्वीकृति प्रदान की। यह रेल लाईन जोधपुर बीकानेर रेलवे कहलायेगी तथा पूर्ण रूप से दोनों राज्यों की सम्पत्ति होगी। दोनों राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में रेलों की आय के स्वामी होंगे।
2. रेल लाईन बिछाने, उसके रख-रखाव एवं अन्य व्यय के लिए बीकानेर राज्य धन उपलब्ध करायेगा।
3. बीकानेर राज्य जोधपुर राज्य को 20 लाख रुपये 4 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर उधार देगा जिसकी अदायगी 3 लाख रुपये वार्षिक किश्त के रूप में जोधपुर राज्य करेगा।
4. रेल लाईन बिछाने पर अनुमानित व्यय का ब्यौरा दोनों राज्य भारत सरकार को देंगे।
5. रेल लाईन बिछाने और देखभाल करने का कार्य जोधपुर रेलवे का मैनेजर अस्थाई तौर पर करेगा एवं रेल लाईन बिछाने का कार्य जोधपुर से आरम्भ किया जायेगा।

6. रेल कर्मचारी एवं पुलिस आदि की व्यवस्था मैनेजर के अधीन होगी। बीकानेर राज्य के क्षेत्र में यह व्यवस्था बीकानेर महाराजा की स्वीकृति से होगी।

7. बीकानेर क्षेत्र की रेल लाईन पर दीवानी और फौजदारी का अधिकार बीकानेर महाराजा का होगा।

8. भारत सरकार की स्वीकृति से यह रेल लाईन बिछाने का कार्य शुरू होगा एवं उसका प्रतिनिधि इस रेल लाईन का निरीक्षण कर सकेगा।

9. रेल लाईन के साथ-साथ तार लाईन बिछाई जायेगी जिसका उपयोग दोनों राज्य करेंगे। दोनों राज्य अपने-अपने क्षेत्र में तार लाईन का व्यय भी वहन करेंगे। तार लाईन के उपयोग में भारत सरकार के रेल-तार नियम लागू होंगे।

जोधपुर महाराजा ने 30 जुलाई, 1889 ई. को और वायसराय द्वारा 27 अगस्त, 1889 ई. को उपर्युक्त समझौते को स्वीकृति प्रदान की।³ यह समझौता राज्य के सीमित साधनों को देखते हुए रेलवे से आय बढ़ाने हेतु बुद्धिमतापूर्ण कार्य था। इसने राज्य के व्यापारिक मार्गों को पुनः रेलवे के माध्यम से जीवित करने का कार्य कर दिया। 8 अप्रैल, 1891 ई. को जोधपुर से मेड़ता तक, 16 अक्टूबर, 1891 ई. को मेड़ता से नागौर तक एवं 9 दिसम्बर, 1891 ई. को नागौर से बीकानेर तक रेल लाईन को यात्रियों और माल ढोने के लिये खोलकर बीकानेर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर दिया गया।⁴

बीकानेर राज्य में रेलों का विकास

बीकानेर राज्य में रेलों का विकास बड़ी तीव्रता से हुआ। 2 जून, 1898 . को उत्तरी क्षेत्र में बीकानेर से दुलमेरा तक रेल खोल दी गई जिससे दुलमेरा की पत्थर की खानों से लाभ उठाया जा सका। 1 जनवरी, 1901 ई. को दुलमेरा से सूरतगढ़ तक रेल यात्रियों के लिए खोल दी गई। 9 सितम्बर, 1902 ई. को सूरतगढ़ से भटिंडा तक रेल लाईन खोल देने से बीकानेर राज्य का पंजाब से सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया।

उत्तर-पश्चिमी बीकानेर में 1 अगस्त, 1923 ई. को हनुमानगढ़ से श्री गंगानगर, 1 मई, 1927 ई. को श्री गंगानगर से केसरीसिंहपुर एवं 1 सितम्बर, 1927 ई. को केसरीसिंहपुर से रायसिंहनगर, 1 अक्टूबर, 1927 ई. को सूरतगढ़ से रायसिंहनगर, 30 मार्च, 1929 ई. को सरूपसर से अनूपगढ़ को यात्रियों हेतु रेलें खोल कर बीकानेर का सम्पर्क सिंचित क्षेत्र से स्थापित किया। राज्य के उत्तर-पूर्व में 15 सितम्बर, 1927 ई. को हनुमानगढ़ से नोहर तक, 15 सितम्बर, 1928 ई. को नोहर से भादरा तक एवं 13 नवम्बर, 1930 ई. को भादरा से सादुलपुर (राजगढ़) तक यात्रियों के लिये रेलें खोल दी गई।⁵

राज्य के पूर्वी क्षेत्र में 24 नवम्बर, 1912 ई. को बीकानेर से रतनगढ़ एवं 1 मार्च, 1941 ई. को सादुलपुर से रेवाड़ी तक यात्रियों और माल ढोने हेतु रेल खोलकर

दिल्ली से सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। बीकानेर के दक्षिणी भाग में 30 अक्टूबर, 1922 ई. को बीकानेर से श्री कोलायत तक रेल लाईन बिछाई गई जो यात्रियों के लिए आरम्भ की गई।⁶

उपर्युक्त रेल लाइनों के अलावा दो ब्रांच ला नें क्रमशः रतनगढ़ से सरदारशहर और सुजानगढ़ से हिसार तक तैयार कराई गई। बीकानेर राज्य में अन्य राज्यों की तुलना में रेलों का विकास तीव्र गति से हुआ। बीकानेर राज्य में रेल मार्गों की लम्बा प्रति हजार प्रति वर्ग किलोमीटर 56 कि.मी. थी जो अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। रेल ला न की लम्बा प्रति हजार प्रति वर्ग कि.मी. को दर्शाती हुई सारणी क्र. 1 दृष्टव्य है⁷ :-

सारणी क्रमांक-1

तुलनात्मक आँकड़े

क्रम. सं.	राज्य	रेल लाईन की ल. प्रति हजार प्रति वर्ग कि.मी.
1.	बीकानेर	56
2.	जोधपुर	40
3.	मैसूर	39.32
4.	ग्वालियर	33.52
5.	हैदराबाद	32

1891 ई. की तुलना में 1943 ई. में बीकानेर राज्य की रेलों की लम्बा 1118.35 कि.मी. बढ़ गई। 1943 ई. में इन रेलों से 37,45,333 रुपये की आय प्राप्त हुई।⁸

रेल प्रशासन

बीकानेर राज्य में रेलों की लम्बाई बढ़ जाने से उसकी अलग प्रशासनिक व्यवस्था करना आवश्यक समझा जाने लगा। एक मैनेजर दो राज्यों की रेलों की देखभाल अच्छी तरह नहीं कर सकता था। आर्थिक दृष्टि से रेलों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी जो सम्मिलित प्रशासन में सम्भव नहीं थी अतः महाराजा गंगासिंह जी ने 22 जनवरी, 1922 ई. को जोधपुर महाराजा को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा जिसमें कहा गया कि जोधपुर-बीकानेर रेलवे का सम्मिलित प्रशासन दोनों राज्यों के लिये बड़ा सफल और उपयोगी सिद्ध हुआ। आज दोनों की रेलें विस्तृत हो गई हैं अतः आर्थिक दृष्टि से उन पर विशेष ध्यान देकर हमें राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना चाहिये। इस दृष्टि से सम्मिलित प्रशासन समाप्त कर अलग प्रशासन स्थापित करना उचित ही नहीं उपयोगी भी रहेगा।⁹

1 नवम्बर, 1924 ई. को बीकानेर राज्य की स्वतंत्रता रेल प्रशासन व्यवस्था स्थापित कर सम्मिलित प्रशासन समाप्त कर दिया गया। जोधपुर राज्य ने बीकानेर रेलवे के रेल इंजन और अन्य महत्वपूर्ण मरम्मत का कार्य उस समय तक करते रहने का वचन दिया जब तक बीकानेर रेलवे अपना कारखाना नहीं खोल लेती।¹⁰ 1925 ई. में बीकानेर रेलवे ने 22 लाख 25 हजार रुपये खर्च करके लालगढ़ में एक कारखाने (वर्कशॉप) की स्थापना की।¹¹ कुछ समय बाद 20 लाख रुपये व्यय करके एक रनिंग शैड की भी स्थापना कर ली गई।¹²

रख-रखाव एवं यात्री सुविधाएँ

बीकानेर में रेलों के विकास के साथ-साथ अन्य व्यवस्थाओं पर भी बहुत धन खर्च किया गया। देपालसर, हड़माल और श्रीकरणपुर में शैड निर्मित किये गये।¹³ जामसर, दुलमेरा और पलाना में साईड लाइनें डाली गई।¹⁴ मालगाड़ी के खुले डिब्बों को बन्द डिब्बों में परिवर्तित किया गया।¹⁵ यात्रा को आरामदेह एवं सुविधाजनक बनाया गया। 1937-38 ई. में दिल्ली आने-जाने वाले यात्रियों के लिये तृतीय श्रेणी में आरक्षण सुविधाएँ उपलब्ध कराया गया।¹⁶ 1940-41 ई. में यात्री डिब्बों की लम्बा 53 फुट से बढ़ाकर 57 फुट कर दी गई लेकिन प्रति यात्री बैठने का स्थान यथावत ही बना रहा।¹⁷

1941 ई. में 21 यात्रियों पर डिब्बे में 1 शौचगृह की व्यवस्था की गई। रेलों में बिजली की व्यवस्था की गई।¹⁸ 1942-43 ई. में डिब्बों में प्रति यात्री बैठने का स्थान 18"X18" से बढ़ाकर 20"X19" कर दिया गया।¹⁹ रेलवे स्टेशनों पर यात्रियों की सुविधा हेतु अल्पाहार की व्यवस्था, ठहरने हेतु कमरे और हॉल निर्मित करवाए गए। स्टेशनों पर यात्रियों हेतु पीने के पानी की व्यवस्था की गई।²⁰ स्त्रियों के लिये यात्रा सुरक्षित करने हेतु उनके डिब्बों के दरवाजों पर थम बोल्ट लगवाए गए।²¹ रेलों के विकास एवं यात्री सुविधाओं में वृद्धि के कारण यात्रियों की संख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक था। यात्रियों की संख्या एवं जितने टन चारा ढोया गया उसे सारणी क्रं. 2 में उल्लिखित आँकड़ों में देखा जा सकता है²² :-

सारणी क्रमांक - 2

वर्ष	यात्रियों की संख्या	रेलों द्वारा माल ढोया (टनों में)
1939-40	20,58,245	6,90,90,773
1940-41	24,36,756	5,48,37,287
1941-42	29,27,256	6,33,45,233

रेल दुर्घटनाएँ

रेल यातायात विकास के साथ रेल दुर्घटनाओं का क्रम जुड़ा हुआ है। बीकानेर रेलवे भी इसका अपवाद नहीं थी। 1939-40 ई. में 69 रेल दुर्घटनाएँ हुईं जिनमें एक रेलकर्मचारी मारा गया। सन् 1940-41 में केवल 46 रेल दुर्घटनाएँ हुईं जिनमें 15 यात्री मारे गये एवं सन् 1941-42 में 70 रेल दुर्घटनाएँ हुईं जिनमें 10 यात्री और 2 रेल कर्मचारी मारे गये।²³

बिना टिकट यात्रा

1941-42 ई. में बीकानेर रेलवे में 14,539 यात्री बिना टिकट यात्रा करते हुए पकड़े गए और 1942-43 ई. में 22,052 यात्री बिना टिकट यात्रा करते हुए पकड़े गए। 14,539 यात्रियों से 20,794 रू. और 22,052 यात्रियों से 45,751 रू. जुमाने के रूप में वसूल किए गए। 1942 ई. में बिना टिकट यात्रा करने वाले यात्रियों के लिए विशेष निरीक्षण व्यवस्था आरम्भ की गई।²⁴

रेल सामान

1935-36 ई. में रेलों का रोलिंग स्टॉक सारणी क्रं. 3 के आँकड़ों से समझा जा सकता है²⁵ :-

सारणी क्रमांक - 3

रेलों का रोलिंग स्टॉक

क्र. सं.	नाम वस्तु	संख्या
1.	रेल इंजन	54
2.	रेल मोटर व निरीक्षण ट्रॉली	06
3.	सवारी डिब्बे	142
4.	अन्य यात्री डिब्बे	42
5.	महाराजा के सैलून	03
6.	सामान भण्डारण	1260

1941-42 ई. में रेल इंजनों की संख्या में 3 की वृद्धि हुई और एक रेल कार खरीदी ग।

रेलों पर व्यय :-

रेल लाइनें बिछाने तथा उनके रख-रखाव एवं नया सामान खरीदने तथा यात्री सुविधाएँ बढ़ाने पर समय-समय पर बहुत अधिक धन खर्च किया गया। प्रतिवर्ष विनियोजन बढ़ता ही गया जो सारणी क्रमांक 4 में उल्लिखित आँकड़ों से समझा जा सकता है²⁶ :-

राजस्थान इतिहास कांग्रेस - 359

वर्ष	सारणी क्रमांक - 4 रेलवे पर वर्षवार किया गया व्यय कुल विनियोजन रूपयों में
1897-98	9,73,473
1898-99	22,12,230
1905-06	52,53,878
1909-10	81,69,535
1910-11	95,56,576
1911-12	1,04,86,728
1912-13	1,08,56,822
1913-14	1,13,60,580
1914-15	1,20,16,023
1915-16	1,20,79,277
1916-17	1,20,96,935
1917-18	1,21,18,833
1918-19	1,20,89,958
1919-20	1,27,92,344
1920-21	1,53,67,805
1921-22	1,86,73,554
1922-23	1,99,11,772
1923-24	2,10,99,852
1924-25	2,60,36,586
1925-26	2,78,21,508
1926-27	2,98,60,758
1927-28	3,27,66,877
1928-29	3,37,63,512
1929-30	3,53,84,028
1930-31	3,61,40,394
1931-32	3,64,32,189
1932-33	3,64,37,418
1933-34	3,64,58,051

राजस्थान इतिहास कांग्रेस - 360

1934-35	3,64,87,084
1935-36	3,66,15,528
1936-37	3,74,00,519
1937-38	3,71,01,194
1938-39	3,82,71,246
1939-40	3,86,74,554
1940-41	4,30,17,621
1941-42	4,28,15,499
1942-43	4,28,87,565

1897-98 ई. में जो धन रेलों पर व्यय किया वह 1942-43 ई. में बढ़कर 13 गुना हो गया।

रेलों से आय

1897-98 ई. में रेलों पर विनियोजित धन से 1,17,456 रुपये का लाभ प्राप्त हुआ जो 1942-43 ई. में बढ़कर 71,76,314 रुपये हो गया जो 60 प्रतिशत अधिक था।

रेलों के विकास का राज्य की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

बीकानेर राज्य में रेलों के विकास ने जहाँ राज्य को एक नवीन तथा स्था आय का साधन उपलब्ध कराया वहीं दूसरी ओर बीकानेर राज्य का सम्बन्ध अन्य राज्यों से स्थापित किया। बीकानेर राज्य में होने वाले निर्माण कार्यों को तीव्रता से पूरा करने में रेलों की भूमिका सराहनीय रही। गंग नहर के निर्माण हेतु चूना, कांकर ले जाने कार्य रेलों द्वारा किया गया जिससे नहर निर्माण शीघ्र सम्भव हो सका। व्यापारिक दृष्टि से जामसर की रूड्डी, दुलमेरा का पत्थर और पलाना की खान से कोयला अन्य राज्यों को बेचकर राज्य ने असीमित धन अर्जित किया। बीकानेर की जनता को हर वर्ष पड़ने वाले अकालों से सुरक्षा प्रदान करने का कार्य रेलों के विकास से ही सम्भव हो सका। बीकानेर का व्यापारी वर्ग रेलों द्वारा देश के विभिन्न भागों में गया और शीघ्र ही देश का महत्त्वपूर्ण व्यापारी बन गया और राज्य में असीमित धन सम्पदा उनके माध्यम से आने लगी। महाराजा गंगासिंह जी का 56 वर्ष का शासनकाल रेलों के विस्तार के इतिहास में बीकानेर का स्वर्णयुग था। 1891 ई. में जहाँ रेलों की लम्बा 76.40 कि. मी. थी तथा आय शून्य थी वहाँ 1943 ई. में 1394.75 कि.मी. रेलों की लम्बा तथा 71,76,314 रु. की आय हो ग। यह उनकी सूझ-बूझ, दृढ़ संकल्प, दूरदर्शिता और जन कल्याण की भावना का प्रतीक है।

सन्दर्भ

1. पन्नीकर, के. एम. - हिज हाईनेस द महाराजा ऑफ बीकानेर, ए बायोग्राफी पृ. 65
2. कान्ट्रेक्ट रिलेटिंग टू जोधपुर-बीकानेर रेलवे सिस्टम (कलकत्ता-सुपरिनटेण्डेण्ट, गवर्नमेंट प्रिंटिंग इंडिया, 1922 ई.)
3. वही
4. फोर डिक्लेरेशंस ऑफ प्रोग्रेस इन बीकानेर, पृ. 99
5. फोर डिक्लेरेशंस ऑफ प्रोग्रेस इन बीकानेर, पृ. 99
6. वही
7. वही, पृ. 103
8. एड० रिपोर्ट 1942-43 ई., अनुच्छेद-25
9. पन्नीकर, के.एम - पूर्वोक्त, पृ. 282-283
10. वही
11. सिंह, वा . पी. - सन ऑफ द सोशल महाराजा गंगासिंह, पृ. 136
12. पन्नीकर, के. एम. - पूर्वोक्त, पृ. 285
13. एड० रिपोर्ट 1935-36 ई., अनुच्छेद-94
14. वही
15. वही
16. वही, 1936-37 ई., अनुच्छेद-61
17. वही, 1939-42 ई., अनुच्छेद-42
18. वही, अनुच्छेद-32
19. वही, अनुच्छेद-35
20. वही, अनुच्छेद-39-40
21. वही, 1941-42 ई., अनुच्छेद-43
22. वही, 1939-42 ई., अनुच्छेद-38
23. एड. रिपोर्ट, 1939-42 ई., अनुच्छेद-44
24. वही, 1942-43 ई., अनुच्छेद-32
25. वही, 1935-36 ई., अनुच्छेद-96
26. वही, 1939-42 ई., अनुच्छेद-104

बीकानेर राज्य में किसानों की ऋणग्रस्तता व सरकारी नीतियाँ (1887 ई.-1947 ई.)

डा. मयंक गुप्ता

समीक्षाधीन काल (1887 ई.-1947 ई.) के तद्विषयक स्रोतों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि बीकानेर राज्य में कृषक सामान्यतः कृषिजन्य कारणों से ऋण लेता था। अकाल व अन्य प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप फसलों को हुए नुकसान तथा अन्य आकस्मिक जरूरतों की पूर्ति हेतु वह ऋण लेने जैसे कदमों की ओर उन्मुख होता था। वहीं सामान्य वर्षों में भी बीज, कृषि उपकरण व पशु खरीदने के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था भी अक्सर वह ऋण द्वारा ही करता था।¹ ये ऋण या तो राज्य से 'तकावी' के रूप में मिलता था अथवा गांव के महाजन (साहूकार) से। सामान्यतः ऐसे ऋण चुकाने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी, क्योंकि इनकी मात्रा अधिक नहीं होती थी।² कई बार कृषकों के कृषि उत्पादों की कीमत कम रहने के कारण ऋणग्रस्त रहने के उल्लेख भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भू-राजस्व चुकाने व अन्य जरूरतों के लिए धन की व्यवस्था करने के लिए उपज का अधिक भाग बेचना पड़ता था। अतः उनके पास उपज कम बचती थी, जिस कारण उन्हें ऋण की आवश्यकता पड़ती थी।³ स्थानीय महाजन व्यक्तिगत जमानत, फसल व भूमि गिरवी रखकर ही ऋण देते थे। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि बीकानेर राज्य में सर्वाधिक 25 प्रतिशत भूमि गंगानगर क्षेत्र में साहूकारों के पास गिरवी रखी हुई थी।⁴ कई बार साहूकार किसानों को पशु, बीज व चारा खरीदने हेतु इस शर्त पर ऋण देते थे कि वह उपज उस साहूकार को ही बेचे। इस पद्धति से किसान को भुगतान के रूप में अधिक धन देना पड़ता था।

इसके अतिरिक्त सामाजिक कार्यों जैसे- विवाह, जन्म, मृत्यु के अवसर पर धन की जरूरत भी किसानों की ऋणग्रस्तता का बड़ा कारण थी। यह स्थिति साहूकारों को कृषकों का शोषण करने का अवसर प्रदान करती थी, क्योंकि राज्य सिर्फ कृषि कार्यों के लिए ही 'तकावी' देता था। विशेषतः राज्य की नोहर व भादरा तहसील में कृषकों द्वारा सीमा से अधिक व्यय करने के उदाहरण मिलते हैं।⁵ इस प्रकार किसान नियमित ऋण भुगतान के बाद भी साहूकारों के अविवेक व लालच के कारण निरन्तर ऋणी बना रहता था। साथ ही ब्याज दरों का अत्यधिक होना (12 प्रतिशत से 24 प्रतिशत) भी इसका एक कारण था।⁶

बीकानेर राज्य में कृषि मुख्यतः वर्षा पर निर्भर थी। अतः मानसून आने पर साहूकार इस उपयुक्त अवसर मानकर देनदार कृषकों को वसूली हेतु न्यायालय में व्यक्तिगत रूप से तलब करवाता था। ऐसे में किसान के काशत से अलग रहने के कारण उचित काशत नहीं हो पाती थी, जिससे उत्पादन कम होता था और वह नियमित भूराजस्व चुकाने में भी असमर्थ हो जाता था।⁷ अतः कृषकों को राहत देने के लिए सरकार ने 1890 ई. में उन्हें दीवानी न्यायालयों, कौंसिल, तहसील व निजामत कार्यालयों में 15 जून से 15 अक्टूबर तक तलब करने पर प्रतिबंध लगा दिया ताकि वर्षा के दिनों में खेत छोड़ने से उन्हें हानि न हो।⁸ इस बात के उल्लेख भी मिलते हैं कि कई बार साहूकार किसानों पर अकाल के समय भी ऋण चुकाने या अपनी भूमि कम कीमत पर बेचने के लिए दबाव डालते थे। अन्यथा वे किसानों को कैद की सजा दिलाने से भी नहीं चूकते थे। अतः सरकार कई बार किसानों के हित में अकाल के कारण ऋण चुकाने में असफल रहे किसानों को कैद की सजा का नियम स्थगित भी कर देती थी।⁹ परन्तु इस छूट की आड़ में कई सक्षम किसान भी ऋण चुकाने से इन्कार कर देते थे। अतः सरकार ने साहूकारों को अच्छी फसल होने की स्थिति में ऋणी किसानों की फसल जब्त करवाकर ऋण वसूलने का अधिकार दे दिया। लेकिन फसल का एक निश्चित हिस्सा जब्ती से मुक्त रहता था ताकि किसान अपना गुजारा कर सके।¹⁰

बीकानेर राज्य द्वारा किसानों की ऋणग्रस्तता को रोकने हेतु कई उपाय किए गए। जिनमें साहूकारों का पंजीकरण अनिवार्य करना, उन्हें लाइसेन्स देना, मोहर युक्त लेखा पुस्तकों का प्रयोग, तहसीलदार द्वारा इन पुस्तकों का आकस्मिक निरीक्षण व सहकार आन्दोलन को प्रोत्साहित करना शामिल था।¹¹ यद्यपि इस बात के उल्लेख भी मिलते हैं कि सरकार साहूकारों के हितों की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं करती थी। राज्य द्वारा ब्याज की अधिकतम दर एक रूपया प्रति सैंकड़ा करने के प्रस्ताव को साहूकारों द्वारा अस्वीकृत करने के बाद सरकार ने ब्याज की अधिकतम दर 24 प्रतिशत वार्षिक निश्चित कर दी।¹² इसके अतिरिक्त राज्य कृषि कार्यों जैसे- बीज, हल, पशुओं की खरीद, नए कुएं बनवाने व उनकी मरम्मत आदि के लिए कृषकों को तकावी (सरकारी कृषि ऋण) भी देता था।¹³ इन ऋणों की ब्याज दर 6 प्रतिशत वार्षिक थी।¹⁴ 1891 ई. में बीज व बैलों की खरीद हेतु 40,000 रु. 'तकावी' ऋण के लिए स्वीकृत किए गए और स्थानीय तहसीलदारों द्वारा इनका वितरण किया गया।¹⁵ 1899 ई. के अकाल के दौरान कृषकों को बीज, अनाज, पशु व कृषि उपकरण खरीदने के लिए 120000 रु. स्वीकृत किए गए।¹⁶ इसी प्रकार 1911-12 ई. में 28680 रु. तथा 1915-16 ई. के सूखे के दौरान 200000 रु. इस हेतु जारी किए गए।¹⁷ 1921-22 ई. में 145319 रुपये, 1922-23 ई. में 15121 रु. व 1925-26 ई. में 12200 रु. 'तकावी' के रूप में दिए गए।¹⁸ 1938-39 ई. के अकाल के बाद मानसून प्रारंभ होने पर राहत शिविरों

में रह रहे लोगों को कृषि कार्यों हेतु 163096 रु. तकावी के रूप में दिए गए।¹⁹ वही 1939-40 ई. के अकाल में कृषकों को दो वर्ष के लिए बिना ब्याज के 500000 रु. का ऋण दिया गया क्योंकि लगातार दो वर्षों के अकाल के कारण वे ब्याज चुकाने की स्थिति में नहीं थे।²⁰

तद्विषयक स्रोत सामग्री से यह तथ्य भी प्रकट होता है कि बीकानेर राज्य ने साहूकारों पर नियंत्रण स्थापित करने व 'तकावी' ऋण देने जैसे उपायों के साथ-साथ सहकारिता कार्यक्रमों को भी प्रोत्साहित किया। इसका उद्देश्य कृषकों की ऋणग्रस्तता कम करना, उन्हें साख सुविधा उपलब्ध कराना व बचत को बढ़ावा देना था। इस क्रम में 1920 ई. में सहकारिता समिति का रजिस्ट्रार नियुक्त करके 'सहकारिता समिति एक्ट' पारित किया गया।²¹ सहकारिता कार्यक्रम के अन्तर्गत 'को-ऑपरेटिव क्रेडिट सोसाइटियाँ' खोली गईं और इनके माध्यम से 12.5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर ऋण दिया जाने लगा। 1936 ई. तक प्राथमिक समितियों की संख्या 106 तथा सदस्य संख्या 2338 थी तथा इनकी कार्यशील पूंजी 592093 रु. थी। यह उल्लेखनीय है कि भादरा तहसील में इसे अत्यधिक सफलता मिली। यहां 1200 सदस्यों सहित 57 सहकारी समितियाँ थीं। वहीं गंगानगर डिवीजन में 62 समितियाँ थीं जिनकी सदस्य संख्या 1550 थी। इसके अतिरिक्त गंगानगर में 1930 ई. में 'लैंड मोरगेज सेंट्रल को-ऑपरेटिव बैंक' की स्थापना की गयी। इसका उद्देश्य जरूरत के समय भूस्वामियों को ऋण उपलब्ध करवाना था। इसकी क्रियाशील पूंजी 177658 रु. थी।²² उल्लेखनीय है कि यह बैंक इस नहरी क्षेत्र में उन्नतिशील कृषकों में काफी लोकप्रिय हुआ और इसकी दीर्घावधि ऋण योजना का लाभ कई कृषकों ने उठाया।²³ इस प्रकार सहकारी समितियों के माध्यम से कृषकों की ऋणग्रस्तता की समस्या को दूर करने का प्रयास किया गया। वहीं दूसरी ओर इनके माध्यम से कृषकों में स्वावलम्बन व बचत की प्रवृत्ति विकसित हुई।

उपरोक्त तथ्यों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि बीकानेर राज्य कृषकों से भू-राजस्व वसूलने के साथ-साथ उन्हें उदार शर्तों पर ऋण भी उपलब्ध करवाता था। परन्तु यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि राज्य द्वारा कम ब्याज पर 'तकावी' ऋण दिए जाने के बाद भी कृषकों की स्थानीय साहूकारों पर निर्भरता समाप्त नहीं हुई क्योंकि एक तो राज्य सिर्फ कृषि कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करता था और किसानों को पारिवारिक व सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए साहूकारों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वहीं विभिन्न वर्षों के तकावी ऋण के आंकड़ों से भी यही प्रतीत होता है कि 'तकावी' ऋण की राशि बीकानेर जैसे बड़े राज्य के लिए काफी कम थी, फिर भी 'तकावी' ऋण के कारण किसानों की साहूकारों पर निर्भरता कुछ कम अवश्य हुई।

अतः स्वतंत्रता के बाद सरकार ने इस समस्या को दूर करने के लिये कृषकों को कृषि ऋणों के साथ-साथ अकृषि ऋण भी प्रदान करने की नीति प्रारंभ की।

संदर्भ

1. रिपोर्ट ऑफ बीकानेर बैंकिंग एन्क्वायरी कमेटी, 1930 ई., पृ.13, राजस्थान राज्य अभिलेखागार पुस्तकालय, बीकानेर।
2. फोर डिक्टेड्स ऑफ प्रोग्रेस इन बीकानेर स्टेट, 1937 ई., पृ. 37-38, रा.रा.अ.पु
3. बीकानेर सेन्सस रिपोर्ट, 1931 ई., पृ.139, रा.रा.अ.पु.बी.
4. रेवेन्यू कमिश्नर गंगानगर, फाईल नं. 2666, 1946 ई., राजस्थान राज्य अभिलेखागार
5. बीकानेर सेन्सस रिपोर्ट, 1931 ई., पृ. 139, रा.रा.अ.पु.बी.
6. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. बी 307-349, 1926 ई., रा.रा.अ.बी.
7. प्रोसिडिंग्स ऑफ लेजिस्लेटिव असेम्बली बीकानेर, 3.9.1915, पृ. 34-35
8. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, नोटिफिकेशन नं. 9, 17.6.1916, रा.रा.अ.बी.
9. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. बी 307-349, 1926 ई. रा.रा.अ.बी.
10. ऑफिस ऑफ रेवेन्यू मिनिस्टर, बीकानेर, नोटिफिकेशन नं. 13, 6.4.1929
11. बीकानेर सेन्सस रिपोर्ट, 1931 ई., पृ 138-141, रा.रा.अ.पु.बी.
12. प्रोसिडिंग्स ऑफ लेजिस्लेटिव असेम्बली बीकानेर, 7.5.1923, पृ. 54, रा.रा.अ.पु. बी.: रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. बी 307-349, 1926 ई., रा.रा.अ.बी.
13. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. बी 124-127, 1926 ई, रा.रा.अ.बी
14. प्रोसिडिंग्स ऑफ लेजिस्लेटिव असेम्बली बीकानेर 10.1.1913, पृ.3, रा.रा.अ.पु.
15. रिपोर्ट ऑन रिलीफ आपरेशन्स अण्डरटेकन इन नेटिव स्टेट्स-मारवाड़, जैसलमेर, बीकानेर, 1891-92 ई, पृ. 35, रा.रा.अ.पु.बी.
16. रिपोर्ट ऑन फेमिन रिलीफ आपरेशन्स इन बीकानेर स्टेट, 1899-1900 ई, पृ.20
17. महकमा खास, बीकानेर, फाइल नं. 1562, 1906-10 ई., रा.रा.अ.बी.
18. पी.एम. ऑफिस बीकानेर, फाइल नं. ए 510, 1929 ई., रा.रा.अ.बी.
19. रिपोर्ट ऑन फेमिन रिलीफ आपरेशन्स इन बीकानेर स्टेट, 1938-1939, पृ. 23
20. रिपोर्ट ऑन फेमिन रिलीफ आपरेशन्स इन बीकानेर स्टेट, 1939-40 ई., पृ. 70
21. दृष्टव्य को-ऑपरेटिव सोसाईटिज एक्ट बीकानेर नं. 3, 1920 ई., रा.रा.अ.पु.बी.
22. रेवेन्यू कमिश्नर गंगानगर, फाइल नं जी/518, 1937-38, रा.रा.अ.बी.
23. रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बीकानेर स्टेट, 1945-47 ई, पृ. 58

सिरोही के देवडा राजवंश की उत्पत्ति

उदयसिंह देवड़ा

भारतवर्ष में देवड़ा चौहान कुल का एक मात्र राज्य सिरोही रहा है। वर्तमान का सम्पूर्ण सिरोही जिला एवं आस-पास का भू-भाग भूतपूर्व सिरोही रियासत का क्षेत्र रहा है, जिसका प्राचीन काल में अर्बुद-प्रदेश, अर्बुदांचल, अर्बुद मण्डल आदि नामों से उल्लेख मिलता है। मौर्यों, गुप्तों, हूणों, प्रतिहारों, चालुक्यों एवं परमारों के पश्चात् इस भू-भाग पर देवड़ा चौहानों का अधिकार रहा, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति पश्चात् भी 05 जनवरी, 1949 तक सिरोही रियासत के भारत संघ में विलय होने तक बना रहा।¹ चौहानों की कई प्रमुख शाखाओं में देवड़ा भी एक प्रसिद्ध शाखा रही है, जिसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित रहे हैं। सिरोही रियासत की ख्यात अनुसार नाडोल शाखा के चौहान शासक मानव सिंह उर्फ माणीजी के पुत्र देवराज से देवड़ा शाखा प्रचलित होना माना गया है।² वही वंश भास्कर में चौहानों की निर्वाण शाखा से देवड़ा शाखा की उत्पत्ति मानी गई है। मुहणोत नैणसी की ख्यात में अलग ही मत प्रस्तुत किया गया है। इस ख्यात के अनुसार नाडोल के आसराज नामक राजा के वहां वचनबद्ध होकर कोई देवी पत्नी के रूप में रहीं एवं उसकी संतान देवीपुत्र होने से देवड़ा कहलाई।³ नीमराणा की वंशावली के अनुसार राव लाखन के 24 पुत्रों में से चौबीसवें पुत्र देवराज से देवड़ा शाखा की उत्पत्ति मानी गई है।⁴

उपर्युक्त साहित्यक मतों के साथ ही साथ शिलालेखों में भी देवड़ा राजवंश के उत्पत्ति विषयक भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। देवड़ा राजवंश के इन विभिन्न मतों में तिथिक्रम, राज्य स्थान एवं मूल पुरुष को लेकर इतिहासकार एक मत नहीं हैं। संक्षिप्ततः 'देवड़ा' चौहानों के उत्पत्ति विषयक निम्नानुसार मत प्रचलित रहे हैं:-

महाकवि चन्द्रबरदायी द्वारा प्रस्तुत 36 राजपूत राजवंशों की सूची में देवड़ा राजवंश का पृथक राजवंश के रूप में उल्लेख हुआ है।⁵ कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि सन् 1148 ई. से पूर्व ही 36 राजवंश बन चुके थे। उस समय देवड़ा चौहानों की उत्पत्ति हो चुकी थी और भीनमाल पर उनका स्वतन्त्र शासन हो चुका था। स्पष्ट है उक्त राजवंश 'देवड़ा' राजवंश को सिरोही व जालोर राज्य स्थापना से पूर्व होना प्रमाणित करती है। परन्तु पृथ्वीराज रासों की एतिहासिकता संदेहास्पद है। यह ग्रन्थ काव्य मात्र है, इतिहास नहीं।

मुहणोत नैणसी की ख्यात में नाडोल के राव लाखण के वंश में आसराव (अश्वराज) नामक राजा हुआ जिसके वहां वचनबद्ध होने के कारण देवी (पत्नी बनकर) रहीं। उसी के गर्भ से अश्वराज के तीन पुत्र हुए जो देवडा कहलायें⁶ उक्त कथा की रचना, देवडा चौहानों की कुल देवी आशापुरा की उपासना से संबंध होने का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि किसी देवी का वचनबद्ध होकर राजा की रानी बनकर रहना एवं वचनभंग होने पर अन्तर्धान होना इतिहास में कवियों की कल्पना मात्र रही है। साथ ही देवी के पुत्र देवडा होते तो आसराज के अन्य पुत्र देवडा क्यों नहीं कहलाये। वंश भास्कर में सांभर के माणिकराज का पुत्र निर्वाण से 'नीरवाण व देवडा' षाखाएं प्रचलित होने का उल्लेख मिलता है।⁷ उक्त ग्रन्थ में देवडों की उत्पत्ति के संबंध में निम्न पद भी पाया जाता है:-

*इण कुल ही देवट अभिमानी, मही भुजंग हुवो रणमानी,
कुल जिणरो देवडा कहावें, दान समर अनुपम दरसावे।⁸*

परन्तु निर्वाण से देवडा शाखा निकलना तर्क सम्मत नहीं हैं। नीमराणा की वंशावली में लिखा है कि नाडोल धणी राव लाखण के चौबीसवें पुत्र देवराज से देवडा शाखा की उत्पत्ति होना बताया गया है।⁹ जो नाडोल से देवडाओं की उत्पत्ति दर्शाती है। खिलचीपुर की हस्तलिखित ख्यात में सांभर के राजा विशालदेव के चौबीस पुत्रों में से एक देवी सिंह के वंशज देवडा कहलाये गये।¹⁰ ऐसा अंकित है। यह ख्यात नाडोल से पृथक सांभर से देवडा वंश के चलने का संकेत करती है। आबू पर्वत पर अचलेष्वर के मंदिर के बाहर वि.स. 1225 और 1229 (ई.स. 1168 और 1172) के शिलालेख में 'देवडा' नाम मिलता है।¹¹ जो महत्वपूर्ण साक्ष्य माना जा सकता है। अचलेश्वर महादेव मंदिर में लगे वि.स. 1377 (ई.स. 1320) के शिलालेख में मानवसिंह को उदय सिंह (जालोर) का बडा भाई लिखा है।¹² इसी शिलालेख में देवडा शाखा का उल्लेख मिलता है, जो जालोर के सोनगरों से उत्पत्ति प्रमाणित करती है। रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार सिरोही की ख्यात में लिखा है कि राव मानवसिंह के पुत्र का नाम देवराज था, जिसके नाम पर उसके वंशज देवडा चौहान कहलाये।¹³ परन्तु ओझाजी ने भी नाडोल या जालोर से वंशक्रम से उत्पत्ति विषयक इस प्रश्न का सही खुलासा नहीं किया है।

सिरोही राज्य के बड़वों की बही, राजपुरोहितों एवं कुलगुरुओं की पुस्तक में जालोर के सोनगरा चौहान शासक समरसिंह के पुत्र मानवसिंह के पुत्र देवराज से देवडा चौहान कहलाने का वृत्तान्त मिलता है।¹⁴ यहां प्रतापमल का नाम तक नहीं है।

बांकीदास की ख्यात में लिखा है कि "सोनगरा महणसी रै घरवासे देवी रहै। उण रै पुत्र हुओ नाम देवों, देवारै वंश रा देवडा कहाणों।"¹⁵ अर्थात् सोनगरा मानवसिंह के

देवी स्वरूपां रानी की कोख से उत्पन्न देवा नामक पुत्र से देवडा शाखा चली। चौहान कुल कल्पद्रुम में शाकम्भरी से नाडोल एवं नाडोल से जालोर षाखा के सोनगरा चौहानों से सिरोही के देवडा चौहानों का उद्भव बताया गया है।¹⁶ साथ ही पुराने 'देवडों' के लुप्त या गुम हो जाने का लिखा है। आबू स्थित विमलवसहि देवालय लेख में मानवसिंह के पुत्र 'प्रतापमल्ल' का उल्लेख है। इस प्रस्तर लेख में 'देवराज' का नाम तक नहीं है।¹⁷ कई इतिहासकारों ने देवडा चौहान राजवंश को अतिप्राचीन माना है तो कईयों ने सिरोही के देवडाओं की उत्पत्ति जालोर के सोनीगरा चौहानों से मानी है। डा. विजय कुमार त्रिवेदी एवं महाराजा सिरोही जिन्होंने सिरोही के इतिहास पर विशद प्रकाश डाला है उन्होंने भी सिरोही देवडा राजवंश को जालोर के सोनीगरा वंश से उदय होना माना है।¹⁸ राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स सिरोही में सिरोही के देवडा राजवंश का अभ्युदय जालोर के सोनीगरा चौहान समरसिंह के पुत्र मानवसिंह से होना एकमत स्वीकार किया गया है।¹⁹ इस संबंध में उक्त मतों के अतिरिक्त एक अन्य रोचक एवं महत्वपूर्ण वृत्तान्त जो कि जनश्रुतियों एवं सिरोही के नये राजा के राजतिलक की परम्परा के प्रमाणों से भी पुष्ट है वह इस प्रकार है-आबू विजय से पूर्व जालोर से निर्वासित सोनीगरा मानवसिंह का बरलूट की जागीर पर अधिकार था। सोनीगरा मानवसिंह एक दिन संध्याकाल में सिरणवा पहाड़ के निकट से गुजर रहे थे, जहां एक ग्राम में उन्होंने कुछ युवतियों को खेलते हुए देखा। राजा ने कुछ पल रुककर उन युवतियों का खेल देखा। इस दौराज वे उन युवतियों में से एक अति सुन्दर युवती पर मोहित हो गये, जो एक छीपा जाति की कन्या थी।

खेल समाप्ति पर सभी कन्याएं अपने-अपने घर जाने लगी तब सोनीगरा महणसी उस अतिसुन्दर कन्या के पीछे-पीछे उसके घर का पता लगाने चल दिये। वह कन्या देवी स्वरूपा होने से राजा का मन भांप गई और घर जाने के बजाय समीप के सिरणवा पर्वत की ओर चल दी। राजा ने पीछा किया, जहां एकान्त पर्वत पर पहुंचकर वह कन्या अपने असली रूप में देवी के रूप में प्रकट हुई। तब राजा को भूल का अहसास हुआ। राजा ने क्षमायाचना की। देवी ने राजा को अपनी अगुली चीरकर रक्त से तिलक कर पुत्रवान एवं राज्यवान होने का आशीर्वाद दिया और तत्पश्चात् पहाड़ों में भयंकर नाद के साथ समा गयी। जहां आज भी पहाड़ों के ऊंचे दर्रे पर मातर माता के रूप में उस देवी का प्राचीन मंदिर स्थापित है, जो आस्था का प्रमुख स्थल भी है। कहते हैं कि उस दिन से सोनीगरा महणजी मानवसिंह स्वतन्त्र राजा के रूप में अपने राज्य का उत्तरोत्तर विस्तार कर बाकडियां बडगाम के स्वतन्त्र शासक बनें। उनके पुत्र देवीप्रसाद स्वरूप देवराज हुए और यही से देवडा राजवंश चला। छीपा जाति की कन्या द्वारा नये राजा का राजतिलक करने की परम्परा आज दिन तक कायम है।²⁰

उक्त घटनाक्रम के संबंध में महाराजा सिरौही ने 'सिरौही राज्य का इतिहास' नामक लेख में सिरणवा पहाड की अधिष्ठात्री देवी मातृ-माता (मातर माता) के मानव सिंह (महणसी) के स्थान पर उनके पुत्र देवराज पर वरदायी होने का उल्लेख किया है।²¹ सिरौही के देवडा राजवंश की उत्पत्ति के संबंध में उपर्युक्त मतों का गहनता से अध्ययन एवं विश्लेषण करने पर मुख्य रूप से दो विचारधारयें सामने आती हैं। प्रथम मतानुसार तो जालोर के सोनीगरा से पूर्व नाडोल या सांभर से देवडा राजवंश की उत्पत्ति मानी गई है वहीं द्वितीय मत के अनुसार जालोर के सोनीगरों में से ही पृथक होकर सिरौही का देवडा राजवंश चला। उपरोक्त दोनों ही मतों के संबंध में ऐतिहासिक साक्ष्य हैं एवं वंशावली भी प्रस्तुत की गई है। प्राचीन शिलालेख, साहित्य एवं भीनमाल आदि में देवडों का राज्य स्थान होना जहां प्राचीन मत का प्रतिपादन करते हैं।²²

वहीं देवडा चौहानों का एकमात्र राज्य स्थान सिरौही होना एवं जालोर के सोनीगरों से वंशावली एवं ऐतिहासिक सम्बद्धता प्रमाणित होना सोनीगरा जालोर से सिरौही राज्य स्थापना के साथ देवडा शाखा की उत्पत्ति विषयक द्वितीय सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।²³ यद्यपि देवडा चौहानों की उत्पत्ति विषयक उपरोक्त दोनों ही सिद्धान्त तर्क सम्मत प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति के इस प्रथम सिद्धान्त अनुसार सिरौही पूर्व देवडा राजवंश न्यून या अधिक रूप से प्रचलित होना सिद्ध होता है। उक्त वंश के सांचोर या भीनमाल समेत कुछ क्षेत्र पर अधिकार भी होना प्रमाणित होता है परन्तु इन सब के उपरान्त सिरौही के वर्तमान देवडा राजवंश का उन प्राचीन देवडा शाखा से सम्बद्धता सिद्ध नहीं होती है। अतः यहां यह कहना उचित होगा कि सिरौही पूर्व भी देवडा राजवंश का उदय हो चुका था परन्तु सिरौही के देवडा राजवंश का अभ्युदय मानवसिंह सोनीगरा से ही माना जाना चाहिये, क्योंकि यदि नाडोल में ही देवडा शाखा का अभ्युदय होता तो उसके वंश में कीर्तिपाल देवडा कहलाते, जबकि जालोर में राज्य स्थापना के फलस्वरूप ये चौहान स्वर्णगिरी दुर्ग पर अधिकार होने से स्वर्णगिरा चौहान और कालान्तर में अपभ्रंश वंश सोनीगरा चौहान कहलायें।²⁴ ठीक वैसे ही चौहानों की अन्य शाखायें नाडोल से नाडोला, सांचोर से सांचोरा, बाली से बालेचा आदि राज्य स्थान से पृथक शाखा नामकरण प्रचलित हुई।

यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि जालोर से निर्वासित मानवसिंह (माणीजी या माणिक्यराय) ने सर्वप्रथम बरलूट में 1206 ई. में अपनी जागीर कायम की जहां उसे सोनीगरा कहा गया है।²⁵ बरलूट में प्राचीन बावडी जो मानवसिंह द्वारा निर्मित है, को आज भी सोनीगरा बावडी पुकारा जाता है।²⁶ यदि उक्त मानवसिंह देवडा वंश का होता तो उसे सोनीगरा नहीं कहा जाता। इसी प्रकार बांकीदास की ख्यात में भी महणसी सोनीगरा के घर देवी होना लिखा है।²⁷

यदि उक्त महणसी देवडा शाखा के होते तो उसका गौत्र सोनीगरा क्यों लिखते? साथ ही देवडा शाखा पहले से मौजूद होती तो जालोर के शासक सोनीगरा नहीं देवडा कहे जाते। सिरौही राजवंश के देवडा चौहान अपनी उत्पत्ति सोनीगरा से मानते हैं न कि सीधे ही नाडोल या अन्य शाखा से। सिरौही राज्य में नये राजा का राजतिलक छीपा जाति की कन्या के अंगुली के रक्त से होने की परम्परा भी देवी पुत्र देवडा होने की घटना को सोनीगरा मानवसिंह से जोड़ती है न कि नाडोल के आसराज से। इतना ही नहीं जहां देवराज या प्रतापमल्ल के पिता मानवसिंह के लिए सोनीगरा एवं उनके पुत्र बीजड (विजयराज) के लिए देवडा शब्द का प्रयोग हुआ है।²⁸ जो सिरौही के देवडा राजवंश के प्रचलन का प्रारम्भिक नाम है। सन् 1276 ईस्वी के टोकरा शिलालेख में बीजड को देवडा कहा गया है जो कि मानवसिंह के पौत्र थे।²⁹ उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सिरौही के वर्तमान देवडा राजवंश के सशक्त रूप से सिरौही में सत्तासीन होने एवं उसकी सम्बद्धता सोनीगरा जालोर से अधिक प्रमाणित होती है।

यही कारण है कि सिरौही पूर्व की प्राचीन देवडा शाखा राज्य सत्ता के अभाव में उपेक्षित एवं कमजोर हो चुकी होगी ऐसी स्थिति में प्राचीन देवडा वंश ने अपने चौहान वंशीय सिरौही के नवीन सशक्त देवडा राजवंश से अपनी सम्बद्धता जाहिर कर दी होगी अतः अनुमान है कि प्राचीन देवडा शाखा ने सिरौही के वर्तमान देवडा राजवंश में स्वयं को विलीन कर दिया होना प्रतीत होता है। सिरौही का वर्तमान देवडा राजवंश जालोर के सोनीगरा समरसिंह के पुत्र मानवसिंह से सम्बद्ध है और इसी मत को स्वीकार करते हुए सिरौही के देवडा अपनी उत्पत्ति सांभर से नाडोल, नाडोल से जालोर, जालोर से सिरौही में मानते हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिरौही के देवडा राजवंश की उत्पत्ति जालोर की सोनीगरा चौहान राजवंश से हुई।

सन्दर्भ

1. बी.एन. ढोंडियाल : राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, सिरौही : गवर्नमेंट सेन्ट्रल प्रेस जयपुर 1967 पृष्ठ 82
2. रामवल्लभ सोमानी : राजस्थान के ऐतिहासिक शोध लेख, पृष्ठ 159.
3. मुहणौत नैणसी की ख्यात : सम्पादक डा० मनोहर सिंह राणावत : श्री नटनागर शोध संस्थान 1987, पृष्ठ 137.
4. हरनाम सिंह चौहान : चौहान चंद्रिका : हरनामसिंह चौहान : सोहागपुर, होशंगापुर 1925 पृष्ठ 183.
5. रघुनाथसिंह काली पहाडी : क्षत्रिय राजवंश : श्री शार्दूल शेखावाटी इतिहास शोध संस्थान काली पहाडी, झुन्झुनु (राज.) 1993 पृष्ठ 269
6. मुहणौत नैणसी की ख्यात : पूर्वोक्त : पृष्ठ 137

7. सूर्यमल्ल मिश्रण : वंश भास्कर मूल लेखक खंड-2 संपादक पंडित रामकर्ण आसोपा : मरूधर प्रकाशन चौडा रास्ता जयपुर-3 पृष्ठ 1188
8. सूर्यमल्ल मिश्रण वंश भास्कर : पूर्वोक्त : पृष्ठ 1188, 17
9. हरनाम सिंह चौहान पूर्वोक्त पृष्ठ 183
10. लल्लूभाई भीमभाई देसाई : चौहान कुल कल्पद्रुम भाग 1, पृष्ठ 198
11. शिलालेख : अचलेश्वर महादेव मन्दिर आबूपर्वत वि.स. 1225 एवं 1229 (ई.स. 1168 व 1172)
12. शिलालेख : अचलेश्वर महादेव मन्दिर आबूपर्वत वि.स. 1377 (1320 ईस्वी)
13. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : पूर्वोक्त : पाद टिप्पणी पृष्ठ सं. 99
14. सिरौही के देवडा चौहानों के बड़वा कमलसिंह नि. मन्दसौर (एम.पी.) के चोपडे का अवलोकन करने पर पाया गया कि जालोर के सोनीगरा मानवंसिंह के पुत्र 'देवराज' से देवडा राजवंश चला।
15. बांकीदास री ख्यात (देवडा री वार्ता) संपादक पं. नरोत्तमदास स्वामी : राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर जयपुर 1956 वा.स. 1828
16. लल्लूभाई भीमभाई : पूर्वोक्त पृष्ठ 199, 200
17. महण सिंह भट सुभटाग्रणी पृथुय अजनिष्ट नदगंजः
प्रतापमल्ल स्तदनु प्रतापी बभूव भूपालसदस्तु मान्यः।।
(विमलवसहि जैन मंदिर आबूपर्वत वि.स. 1378 श्लोक 15 व 16)
18. (अ) डा. वी.के.त्रिवेदी युग युगीन सिरौही : प्रकाशक हिस्ट्री कांग्रेस सिरौही 2001 पृष्ठ 09
(ब) महाराजा रघुवीर सिंह सिरौही : आलेख : सिरौही राज्य का इतिहास राजपूत गौरव सन् 2006 पृष्ठ
19. बी.एन डोंडियाल : पूर्वोक्त पृष्ठ 58
20. सिरौही रियासत में नये राजा को तिलक दस्तूर आज भी छीपा जाति की कन्या की अंगुली को चीरकर उसके द्वारा रक्त से किया जाता है, जो परम्परा आज तक कायम है।
21. महाराजा सिरौही : सिरौही राज्य का इतिहास नामक लेख : राजपूत संपा. सुधीर कुमार : सुनील गौरव ऑफसेट प्रिन्टर्स स्टेशन रोड चिडावा जिला-झुन्झुनु (राज.) 2006 पृष्ठ 09
22. आर.बी.सिंह : हिस्ट्री ऑफ चाहवान्स : नंद किशोर एवं संस, चौक वाराणसी 1964 पृष्ठ 54

23. चारण महेश दास आढा द्वारा मुहणोत नैणसी को दी गई देवडा राजवंश की वंशावली सिरौही के देवडा राजवंश का वंशक्रम सांभर के सम्राट वाक्पतिराज के पुत्र लाखण (नाडोल संस्थापक) के वंश में कीर्तिपाल (जालोर के शासक) के समरसिंह सोनीगरा के पुत्र मानवसिंह से बतलाया है, जो कि सिरौही के देवडा राजवंश का मूल पुरुष माना गया है। सिरौही रियासत के बड़वा, कुलगुरु एवं राजपुरोहित की बही में भी उक्त वंशक्रम को ही दर्शाया गया है।
24. डा. त्रिवेदी : युगयुगीन सिरौही : पूर्वोक्त पृष्ठ 2
25. महाराजा रघुवीर सिंह : पूर्वोक्त पृष्ठ 09
26. सिरौही से 16 किमी. पश्चिम में जालोर सडक मार्ग पर बरलूट ग्राम स्थित है।
27. बांकीदास की ख्यात : सम्पादक : पं. नरोत्तम दास स्वामी : राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर जोधपुर 1956 बात सं. 1828
28. सिरौही में यह परम्परा देवडों के नये राजा के राजतिलक के समय आज भी छीपा जाति की कन्या की अंगुली के रक्त से तिलक किया जाता है।
29. शिलालेख : ग्राम टोकरा तहसील रेवदर वि.स. 1333 फाल्गुन बदी 6

कला-क्षेत्र में जयपुर रियासत का योगदान

डॉ. किरन सरना एवं कु. प्रगति तिवारी

भारतीय परिदृश्य में राजस्थान का सांस्कृतिक वैभव बेजोड़ है। त्यागमयी ललनाओं, साहसी वीरों और गरिमामयी संस्कृति का यह प्रदेश अनेक ऐतिहासिक मोड़ों से गुजरने के उपरान्त भी अपनी समन्वयात्मक जीवन पद्धति के लिये प्रसिद्ध रहा है। राजस्थान का नाम स्वयं एक सांस्कृतिक एकता का सूचक है, जो युगों से भारतीय परम्परा से जुड़ा रहा है।¹ राजस्थान की राजधानी जयपुर वस्तुतः एक ऐसा नगर है जिसकी रचना, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, कला, हस्तशिल्प और जन जीवन के रंग सांगोपांग वर्णन करने योग्य हैं।

जयपुर एक नयनाभिराम नगर मात्र नहीं, एक सांस्कृतिक बोध एवं साकार स्वप्न है, जिसमें जीवन के रंग-रङ्ग, सुरुचि और आनन्दाभूति के मानदण्ड, योद्धा के शौर्य, विद्याव्यसनी की कल्पना और हस्तशिल्पों के हुनर का ताना-बाना इस प्रकार गुंथा हुआ है कि एक अपने ही प्रकार की मौलिकता की सृष्टि हो गई है। जयपुर का अपना व्यक्तित्व है जो न केवल इस नगर में विद्या, विज्ञान और कला कौशल के त्रिवेणी संगम से उभरा है, वरन् उन मूल्यों का भी प्रतीक है जो जीवन को सुखद और समरस बनाने में सहायक होते हैं। यही कारण है कि जयपुर को आज के वास्तुकार और स्थापत्य-मर्मज्ञ भी संसार के सर्वसुन्दर नगरों में गिनते हैं। जयपुर उन इने-गिने नगरों में से है जिन्हें देखकर दर्शक का उनकी आत्मा से तादात्म्य होता है।² महाराजा सवाई जयसिंह ने जयपुर शहर का निर्माण सन् 1727 ई. में (पौष कृष्णा 1 संवत् 1784 वि. - उस दिन 18 नवम्बर पड़ा था)³ कराना प्रारम्भ किया और जयपुर को बड़े वैज्ञानिक और नियमब) तरीके से बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। वे महान् गणितज्ञ, ज्योतिषि, नसत्रशास्त्री तथा कला-प्रेमी राजा थे, अतः उन्होंने वेधशाला, चन्द्रमहल, जयनिवास बाग, तालकटोरा, सिसोदिया रानी का महल जैसी भव्य इमारतें बनाकर जयपुर को एक नवीन आयाम दिया।⁴ अपने महल के आस-पास के चौकों में ही जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह ने छत्तीस कारखाने स्थापित किये थे। राज्य की 'बावन कचेहरियाँ और छत्तीस कारखाने' जयपुर निवासियों की जुबान पर बार-बार आते थे। जब तक राजाओं का राज रहा, जयपुर में तो कोई छुट्टी या तातील तभी मुकम्मिल मानी जाती थी जब छत्तीस कारखाने भी बंद रहें और उनमें कोई काम-काज न हो।⁵

सवाई जयसिंह ने ही कारखानों की कल्पना की और इसे मूर्त रूप दिया। अपने कलात्मक वस्तुओं के संग्रह और आवश्यकताओं को देखते हुये उसने कारखानों की संख्या 36 निर्धारित की। आधार तो मुगलों वाला ही था, किन्तु जयपुर में इन कारखानों की संख्या और इनके नाम सर्वथा नये थे-ऐसे जो जयपुर के जन-साधारण की समझ में आये। बखतराम साह इस सम्बन्ध में कहता है-

यह हुतौ कारखानै तनौस् ।

पारसी नाम ता मध्य दोस ।।

नृप काढि हिंदवी नाम कीन ।

गृह संग्या यह ठानी नवीन ।। 52 ।⁶

स्पष्ट है कि कारखानों की व्यवस्था तो स्पष्टतः मुगल या फारसी अनुकरण पर की गई थी, पर उनके नाम दोषपूर्ण मानकर जयसिंह ने 'हिंदवी' नाम ही रखे और उनकी संख्या अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार निश्चित की। पण्डित गोपालनारायण बहुरा के अनुसार उन दिनों के कारखानों की पूरी सूची तो अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है।⁷ किन्तु जयसिंह के पुत्र माधोसिंह प्रथम ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। उसकी आज्ञा से दलपतराय ने संस्कृत में 'राज-नीति निरूपण शतकम्' नामक ग्रंथ लिखा था जिसमें 'यवन परिपाट्यनुसार' कारखानों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं:-

शय्यागार-सुखसेजखाना

मज्जनगृह-गुसलखाना, हम्माम।

देवायतन-तसबीहखाना।

पुस्तकालय-कुतुबखाना।

चित्रागार-तसबीरखाना।

भैषज्य गृह-औषधिखाना, दवाईखाना।

फलागार-मेवाखाना।

कोष्ठागार-जखीरा, अम्बर, कोठार।

महौषधिशाला-मोदीखाना।

कुप्पशाला-रिकाबखाना।

कांस्यागार-ठठेरखाना।

महानस-बबर्चीखाना (रसौड़ा)

जलगृह-आबदारखाना, पाणेरा।

तांबूलगृह-तंबोलखाना

प्रतिश्रय-बिलोरखाना, लंगर ।
 क्रयशाला-इबतियाखाना ।
 सीवनागार-किरकिरायखाना ।
 नेपथ्यागार-तौशकखाना, कपड़द्वारा ।
 सुगन्धागार-खुशबोयखाना, सोंधखाना ।
 वर्णागार-रंगखाना ।
 कलादागृह-जरगरखाना ।
 रत्नागार-जवाहरखाना, रत्नगृह ।
 प्रहरणकोश-कोटखाना, सिलहखाना ।
 संस्तरगृह-फर्शाखाना ।
 श्रीगृह-खजाना ।
 दानकोश-बेहला ।
 मन्दुरा-अस्तबल, तबेला ।
 गजशाला-फीलखाना ।
 संदानिनी-गावखाना ।
 उष्ट्रशाला-शुतरखाना ।
 यानशाला-रथखाना ।
 पालकागार-पालकीखाना ।
 दारुकर्मालय-खातिमबंदखाना ।
 दीपिकागार-शमअ, चिरागखाना ।
 ज्योतिरालय-मशालखाना ।
 लेखशाला-दतरखाना ।
 मृगयागार-शिकारखाना ।
 शकुनिकालय-कोशखाना ।

यह सूची जैसा कहा जा चुका है, यवन परिपाटी के अनुसार है। सवाई जयसिंह ने इसी आधार पर अपने कारखाने स्थापित किये होंगे और सवाई माधोसिंह प्रथम ने कदाचित् उनका पुनर्गठन किया होगा। कारखानों की स्थापना के पीछे उद्देश्य यही था कि विद्वान, कवि, लेखक, चित्रकार, गायक-वादक और नर्तक, कलाकार और शिल्पीजन को राजकीय संरक्षण दिया जाये तथा उन्हें प्रशिक्षित करके अच्छी से अच्छी कलाकृतियाँ और अन्य आवश्यकता की वस्तुयें तैयार कराई जायें। सब कारखानों के काम को देखने के लिये एक विभाग था कारखाना -जात। इसके अन्तर्गत ये कारखाने

अलग-अलग अथवा कुछ के समूह बन कर जयपुर रियासत के वर्तमान राजस्थान में विलीन होने तक बराबर चल रहे थे। अब तो नगर-प्रासाद में महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय बन गया है और कुछेक 'खाने' जो अब भी अस्तित्व में हैं, इस संग्रहालय के अन्तर्गत ही काम कर रहे हैं।⁸ पोथीखाना इस राजघराने की एक बहुत पुरानी संस्था है जो जयपुर बसने से पहले आमेर में ही कायम हो गई थी और सवाई जयसिंह ने इसे अपने द्वारा स्थापित छत्तीस कारखानों में प्रमुख स्थान दिया था। पोथीखाने से आशय 'पुस्तकालय' का है, लेकिन इसे 'कारखाना' मानना बड़ा महत्व रखता है। पुस्तकालय तो एक बार बनकर सजावट की चीज़ भी बना रह सकता है, लेकिन इसे 'कारखाना' बनाने में प्रयोजन यही था कि वह अनवरत् चलता रहे और आगे बढ़ता रहे। इसीलिये पोथीखाने में तभी से लेखक, कवि और कातिब (सुलेखक) जब तक रियासत रही, बराबर काम करते रहे। महत्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतिलिपियों के साथ-साथ मौलिक ग्रंथों की रचनायें भी यहाँ बराबर होती रहीं। चूँकि 'सूरतखाना' और 'ख्यालखाना' भी पहले पोथीखाने के हिस्से थे, इसलिये पहले में चित्रकार और सूरतगर और दूसरे में मिट्टी, कुट्टी, कागज, कपड़े आदि के तरह-तरह के खिलौने बनाने वाले अपने-अपने हुनर का जौहर दिखाते रहते थे और पोथीखाने में साहित्य, कला और दस्तकारी की त्रिवेणी बहती रहती थी।⁹

जयपुर के राज दरबार को सवाई जयसिंह ने जिस बौद्धिक धरातल पर जमा दिया था उसमें कवियों और लेखकों की लेखनी के साथ चित्रकारों की तूलिका ने भी ऐसा कमाल दिखाया कि आज तक उसके रंग और रेखायें चमक-दमक रही हैं। औरंगजेब की नीति से त्रस्त होकर जब शाही संरक्षण पाने वाले मुसव्विर और सूरतगर दिल्ली और आगरा को छोड़कर अन्यत्र आश्रय खोजने लगे तो यह स्वाभाविक ही था कि जयपुर जैसे दरबार में उन्हें सबसे अधिक संरक्षण मिलता। टूटते-बिखरते मुगल-साम्राज्य का सांस्कृतिक उत्तराधिकार तब की हिन्दु रियासतों और राजपूत रजवाड़ों को ही मिला था और जयपुर का दरबार इनमें सबसे आगे था। यद्यपि जयपुर में विकसित शैली में "स्वतन्त्र कल्पना का अभाव और प्रतिलिपियों का प्रभाव अधिक" रहा, तथापि उत्तर काल के उस सांस्कृतिक पुनर्जागरण में यह कलम उत्तरोत्तर मंजती और प्रांजल होती गई जो अन्ततः मुगल प्रभाव से अपने आपको सर्वथा मुक्त कर एक स्वतंत्र शैली मानी गई - जयपुर शैली जिसने भारतीय चित्रकला की महान् परम्परा को कुछ ऐसे चित्र भेंट किये जो आकृति-चित्रों के भी सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं और समूह चित्रों के भी।

पोथीखाने की तरह जयपुर के सूरतखाने के वैभव को भी संसार के सामने प्रकट हुये अधिक समय नहीं हुआ है। महाराजा मानसिंह द्वितीय की नाबालगी में जयपुर की रीजेंसी कौंसिल ने पहली बार सूरतखाने की छह बड़ी तस्वीरों को फर्स्ट

आल इंडिया आर्ट एक्जीबिशन में प्रदर्शित करने के लिये भेजा था। कला प्रेमियों को यह तो पता था कि राजपूत शैली भी कोई शैली है और बहुत विकसित शैली है, लेकिन जयपुर के इन चित्रों को देखकर तो वे दंग रह गये। इनमें दो आदमकद चित्र थे, सवाई जयसिंह और महाराजा प्रतापसिंह के। जिस तरह इन्हें बनाया गया था उसमें आति चित्रों के परम्परागत नियमों का पालन करते हुये इन दोनों ही राजाओं की हूबहू अनुति थी। यह मेल मुगलों के दरबारी चित्रकारों में कहीं नहीं हो पाता। दोनों ही राजा गले में जो कंठे और मोतियों के हार पहने हुये हैं, वह चित्रकार ने इस प्रकार उभार कर पहनाये हैं और ऐसे मोती-पन्ने, माणक आदि जड़े हैं जैसे वास्तविक हों। रेखायें इतनी सशक्त और संजीव हैं कि जयसिंह और प्रतापसिंह जैसे सामने आ जाते हैं।¹⁰

सुप्रसिद्ध कला मर्मज्ञ नानालाल चमनलाल मेहता, आई.सी.एम. ने लिखा है कि जयपुर की इन शबीहों को अब तक ज्ञात हिन्दु आकृतिचित्रों का सर्वोत्तम नमूना माना जाना चाहिए।¹¹ जयपुर के विख्यात चित्रकार और कलापारखी रामगोपाल विजयवर्गीय के शब्दों में प्रतापसिंह का चित्र अत्यन्त सुन्दर और कला की दृष्टि से अनुपम है। इस राजा ने राधा षणा, रासलीला, नायिका भेद, राग-रागिनियों और नृत्यों के चित्र स्वयं बनावाये और इसकी रचनओं पर चित्रकारों ने स्वतंत्र रूप से भी अनेक चित्र बनाये। “इनके समय में चित्रकारों को इतना प्रोत्साहन मिला कि जयपुर में चित्रों का एक नया युग-निर्माण हुआ। सुवर्ण का ऊँचा उठा हुआ काम, मोतियों की जड़ाई, माणक और पन्नों के छोटे-छोटे नगों की यन्त्र-तन्त्र चित्रों में सजावट इन्हीं के समय में प्रारम्भ होती है। बड़े-बड़े चित्र इनके निर्देश से बनाये गये थे।”¹² विजयवर्गीय के अनुसार जयपुर के चित्रों में मुगल चित्रों का प्रभाव इतना अधिक है जो अन्य राजस्थानी राज्यों में नहीं मिलता। इसका कारण मुगल दरबारों में यहाँ के राजाओं का आवागमन तथा वह सम्बन्ध है जो पूर्व से ही चला आता था। यहां के चित्रकार मुगल चित्रों की प्रतिलिपि करने में इतने सिद्धहस्त हुए कि मूल और प्रतिलिपि में कोई भेद प्रतिलक्षित नहीं होता। ऐसे अनेक चित्र विद्यमान हैं जो मुगल चित्रों की प्रतिलिपि होते हुए भी मूल ही जान पड़ते हैं। इन चित्रों की परिश्रम-साध्य रचना बहुत सुन्दर और नाना अलंकरणों से परिपूर्ण है।

जयपुर के कलाकारों का सबसे बड़ा कमाल जयसिंह और प्रतापसिंह के चित्र नहीं, वे दो समूह चित्र हैं जो प्रतापसिंह के ही समय में बने और जिनमें राधाकृष्ण के महारास और गोवर्धन-धारण की लीलाओं का चित्रण है। एन.सी. मेहता ने इन दोनों को एक ही कलाकार की तियाँ माना है। और उन्हें भारतीय चित्रकला का ‘सर्वश्रेष्ठ उदाहरण’ भी बताया है। इनमें ‘रासमण्डल’ का अकेला चित्र ही यहां की कलम की धाक जमाने के लिये काफी है। चित्र के बीचों-बीच राधाकृष्ण और उनके चारों ओर

तीन वृत्तों में नृत्यांगनाएं और वादिकायें हैं। अनुसार “इस चित्र का सुवर्ण आलेखन, रंगों की समान पुताई, रेखाओं की लावण्ययुक्त गति कला की दृष्टि से चरम सीमा तक पहुँच गई है। ऐसा सुन्दर चित्र अब तक राजस्थान में दूसरा नहीं बन सका और न बनने की आशा की जा सकती है। इस चित्र का भाव पक्ष, रूप माधुरी, लावण्य और स्फूर्ति और गति सौन्दर्य आदर्श कहा जा सकता है। ऐसा भाववाही चित्र बनाना आज के चित्रकारों की सामर्थ्य से बाहर है।” जयपुर की चित्रकला अकेले इस एक चित्र पर अभिमान कर सकती है। यह चित्र कवियों की काव्य-निधि की भाँति अमर कही जा सकती है।¹³ एन. सी. मेहता के अनुसार ‘गोवर्धन-लीला’ का विषय हिन्दू चित्रकारी का एक प्रिय विषय है और जयपुर के सूरतखाने में इसका जो चित्र है वह अतुलनीय और सर्वोत्तम है, जिसे “रासमण्डल” ही पछाड़ सकता है। इसके मध्य में किशोर कृष्ण है, वही छवि जो रासमण्डल में है और जो सिद्ध करती है कि दोनों चित्र एक ही तूलिका का कमाल हैं। रासमण्डल और गोवर्धनधारण उन ऊँचाइयों के प्रतीक हैं जिन पर जयपुर के चित्रकार अठारहवीं सदी के अन्त में पहुँच चुके थे। इन चित्रों के स्तर तक पहुँचने वाला नाचती हुई गोपियों का एक और चित्र सूरतखाने की धरोहर है। इसकी प्रति तियाँ आनन्द कुमारस्वामी के ‘इंडियन ड्राइंग्स’ की शोभा बढ़ा चुकी हैं। चित्र का आकार और रंगों की आब गजब ढाती है। इन्हें जितना देखा जाय और जितना इनके विषय में लिखा जाय, सब कम और नाकाफी है।

जयपुर दरबार के चित्रकारों ने रेखाओं के आलेखन में बड़ी सिद्धि और कुशलता पाई। ‘स्याह कलम’ से बने चित्रों में रंगों की समानता और सुवर्ण के दमकते आलेखन उनकी विशेषता रही। छह फुट लम्बे और तीन फुट चौड़े दो और चित्र जो पहली आल इण्डिया आर्ट एक्जीबिशन में भेजे गये थे, शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु के प्रतीक हैं। विशेषज्ञों ने इन चित्रों की तुलना तिब्बत की ‘बैनर पेंटिंग’ और जापानी ‘काकीमीनों चित्रकला’ की तकनीक से की है। एक में एक तरुणी जिसका लिबास राजपूत और मुगल पोशाकों का मिला-जुला रूप है, एक आम के पेड़ के नीचे खड़ी है और एक मृग छौना अपनी भोली-भाली आँखों से उसके सामने खड़ा, उस मृगनयनी के रूप को निहार रहा है। शीत के चित्र में मृग छोने का स्थान सारस ने लिया है और आम के वृक्ष की जगह फूलों से लदा चम्पक है। यहाँ तरुणी के दायें हाथ में एक मैना भी है।

‘मीनियेचर’ या लघु-चित्र तो सभी जगह बने हैं, लेकिन ऐसे बड़े-बड़े चित्र जयपुर के सूरतखाने की ही शोभा है। जिस प्रकार पोथीखाने को चार भागों में बांटा गया है, उसी प्रकार सूरतखाने के भी तीन विभाग किये जा सकते हैं। पहिले में वह चित्र आते हैं जो बाहर से उपलब्ध हुए और यहां संग्रहीत किए गए। इनमें मुगल शैली

के दिल्ली और आगरा से प्राप्त चित्र तथा बूंदी की विख्यात कलम के चित्रों का संग्रह बड़ा महत्वपूर्ण है। इन चित्रों में बहुत से ऐसे व्यक्तियों को देखा जा सकता है जिनका मुगल दरबार में बड़ा रूतबा था और जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। दूसरे विभाग में ऐसे चित्र हैं जो सवाई जयसिंह और उसके परवर्ती राजाओं ने यहां के सूरतगरों और मुसव्विरो को आज्ञा देकर बनवाये। राम मंडल और गोवर्धन-धारण के महान चित्र इसी श्रेणी में आते हैं, साथ ही राजाओं के आकृति चित्र भी। जयसिंह के बेटे माधोसिंह प्रथम के बहुत चित्र बने, तरह-तरह के 'पोज' में और प्रतापसिंह के भी। तीसरे विभाग में वह चित्र हैं जो समय-समय पर कलाकारों ने अपनी इच्छा से बनाकर राजाओं को भेंट किए। जयपुर के अनेक इतिहास पुरूषों के चित्र जो और कहीं नहीं मिल सकते, सूरतखाने के संग्रह में पाये जाते हैं। प्रतापसिंह (1779-1803) के बाद रामसिंह के समय में चित्रकारों को बहुत संरक्षण और प्रोत्साहन मिला। इस राजा ने कलाकारों को अपने मनोभावों को इच्छानुसार व्यक्त करने दिया और ऐसी कलाकृतियों की भरपूर कीमत भी दी। राजराजेश्वरी के मंदिर में भगवान शिव को जो विशाल चित्र है, वह इसी प्रकार के चित्रों में से है। इसी समय में महाभारत और भगवान की कथाओं पर आधारित चित्र भी बहुत बने और बहुत से तो रामसिंह की मृत्यु हो जाने के कारण अधूरे ही रह गये जो उसी हालत में दीवारों पर टांग दिये गये हैं। यही आधे-अधूरे चित्र जयपुर की चित्रकला के अंतिम प्रतिनिधि हैं और इनसे पिछली सदी में यहां के कलाकारों की तकनीक समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

जिस प्रकार रामसिंह की बनवाई हुई इमारतों में यूरोप का प्रभाव स्पष्ट है, उसी प्रकार इस काल के चित्रों में भी यूरोपीय शैली की छाप होना स्वाभाविक था। मुगल काल का 1857 में पूरी तरह पटाक्षेप हो चुका था और राजाओं के राज-दरबार अंग्रेजों से अपने सम्बन्ध बढ़ाने में लगे हुए थे। इसलिये इस समय अंग्रेज पुरूषों और महिलाओं के चित्र भी यहाँ काफी बने और उनके पालतू कुत्ते बिल्ली भी इन तस्वीरों में दिखाये गये। धार्मिक विषयों के चित्र तो बनते ही रहे, लेकिन उनमें यूरोपीय शैली का प्रभाव आ गया। इस पर भी इस काल के चित्रों में कलाकारों का परिश्रम देखते ही बनता है। बड़े-बड़े चित्रों में "छाया प्रकाश का अनुपात दिखाना, समान रंग लगाना और देखा-सौन्दर्य पर अधिकार रखना कठिन होता है", पर रामसिंह के समय में ऐसी तियां सरलता से बनाई गईं। 1880 में रामसिंह के मरने के बाद यह परम्परागत शैली विलुप्त हो गई। रामसिंह स्वयं इसी सूरतखाने में अपने कैमरे से प्रिंस एलबर्ट द्विबाद में एडवर्ड सप्तमऋ का फोटो उतार चुके थे। इसके बाद तो कैमरा ही हावी हो गया और सूरतखाना पुराने चित्रों का एक सुरक्षित संग्रह बनकर रह गया।¹⁴ अंग्रेजी प्रभाव एवं कलाकारों की इस प्रवृत्ति को देखकर महाराजा ने "महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स" की स्थापना कर यहाँ की चित्रकला को नया मोड़ दिया।¹⁵

सन्दर्भ

1. डॉ. जयसिंह नीरज, रास्थानी चित्रकला, जयपुर, प्रथम संस्करण-1994, पृ. 9
2. नन्द किशोर पारीक, राज-दरबार और रनिवास, 1984, पृ. 17
3. वही - पृ. 18
4. डॉ. जयसिंह नीरज, रास्थानी चित्रकला, जयपुर, प्रथम संस्करण-1994, पृ. 78
5. नन्द किशोर पारीक, राज-दरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका (प्रा.) लि., जयपुर, प्रथम संस्करण-1984, पृ. 45
6. बखतराम साह कृत, बुद्धि विलास, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1964
7. Literary Heritage of the Rulers of Amber and Jaipur, G. N. Bahura (Editor) Maharaja Sawai Man Singh 2nd Museum, City Palace, Jaipur, 1976, Page 13
8. वही-पृ. 416-17
9. नन्द किशोर पारीक, राज-दरबार और रनिवास, राजस्थान पत्रिका (प्रा.) लि., जयपुर, प्रथम संस्करण-1984, पृ. 50
10. वही, पृ. 55
11. Studies In Indian Painting, Nanalal Chamanlal Mehta, D.B.Taraporewala Sons & Co.Bombay, 1926, Page 32
12. रामगोपाल विजयवर्गीय, राजस्थानी चित्रकला, जयपुर, 1953, पृ. 25
13. वही, पृ. 26
14. नन्द किशोर पारीक, राज-दरबार और रनिवास, पृ. 57-60
15. डॉ. जयसिंह नीरज, रास्थानी चित्रकला, पृ. 80

राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज और उसका ऐतिहासिक महत्व (1947 ई. तक)

डॉ. एन.के. चतुर्वेदी एवं डॉ. राकेश कुमार दूबे

हिंदी भाषा और साहित्य के निर्माण, विकास एवं प्रसार में भारतवर्ष के जिन-जिन प्रांतों ने भाग लिया है उनमें राजस्थान का अपना एक विशेष स्थान है। राजस्थानवासियों को इस बात का गर्व है कि उनके कवि-कोविदों ने हिंदी साहित्य के प्रायः सभी अंगों पर अनेक ग्रंथों की रचना कर उनके द्वारा हिंदी के भंडार को भरा है। हिंदी के आदिकाल का इतिहास तो एक तरह से राजस्थान के कवियों ही की कृतियों का इतिहास है। यह समस्त साहित्य बहुत सजीव, बहुत उज्वल एवं बहुत मार्मिक है और साहित्यिक एवं भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। आधुनिक काल में भी राजस्थान के विद्वानों ने हिंदी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और हिंदी की हस्तलिखित ग्रंथों की खोजकर हिंदी भाषा और साहित्य के साथ ही इतिहास के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में यदि हिंदी की हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के इतिहास पर प्रकाश डाला जाय तो पता चलता है कि सर्वप्रथम 1868 ई. में लाहौर निवासी पं. राधाकृष्ण के सुझाव पर भारत सरकार, एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, मद्रास और पंजाब की सरकारों एवं अन्य अनेक संस्थाओं और विद्वानों द्वारा संस्कृत की पुस्तकों की खोज का काम व्यवस्थित रूप से शुरु होता है।¹ सन् 1900 ई. से काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने सर्वप्रथम हिंदी की प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य व्यवस्थित एवं सुनियोजित रूप में आरंभ किया जिसका भारतीय नवजागरण तथा भारतीय इतिहास के उत्थान से घना संबंध था। सभा के सभासदों का यह पूर्ण विश्वास था कि जब तक हिंदी के प्राचीन ग्रंथों की खोज का काम नहीं होगा तब तक भारत, विशेषकर उत्तर भारत की बहुत सी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातें अंधकार में विलीन रहेगी। सभा की स्थापना के पहले ही वर्ष (सन् 1893ई.) में इसके संचालकों का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ था।² सभा ने यह विचार किया कि यदि राजपूताने, बुंदेलखण्ड, संयुक्त प्रदेश तथा अवध और पंजाब में प्राचीन हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संग्रहों के खोजने की चेष्टा की जाय और उनकी सूची बनाई जा सके तो आशा है कि सरकार के संरक्षण, अधिकार तथा देखरेख में इस

खोज की अच्छी सामग्री मिल जाय।³ यह विचार कर 22 मई, 1894 ई० के एक प्रस्तावानुसार कि “हिंदी के बहुत से प्राचीन, सुंदर और उपयोगी ग्रंथ ऐसे हैं जो अब तक प्रकाशित नहीं हुए और न उनका पता सर्वसाधारण को लगता है कि वे उन्हें प्राप्त करें और प्रकाशित करके साहित्य का उपकार करें।” भारत सरकार, एशियाटिक सोसाइटी, पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार और पंजाब सरकार से प्रार्थना की गई कि वह संस्कृत पुस्तकों की खोज के समय संस्कृत-पुस्तकालयों में हिंदी भाषा की पुस्तकों की खोज कराये और उनकी सूची प्रकाशित करने की कृपा करें।⁴

सभा के इस प्रस्ताव के आधार पर एशियाटिक सोसाइटी, भारत सरकार, पंजाब एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकारों से पत्र-व्यवहार किया गया जिसका फल यह हुआ कि एशियाटिक सोसाइटी ने यह कार्य उसी वर्ष प्रारंभ कर दिया और प्रथम वर्ष में ही 600 उत्कृष्ट प्राचीन ग्रंथों का विवरण प्रकाशित किया किन्तु आगे वह यह कार्य न कर सकी तब सभा ने पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार की आर्थिक सहायता पर सन् 1900 ई. से अपने प्रधान स्तंभ बाबू श्यामसुंदरदास के निरीक्षण में खोज विभाग की स्थापना की और यह कार्य प्रारंभ किया। इस कार्य हेतु सभा ने श्यामसुंदरदास, राधाकृष्णदास और कार्तिकप्रसाद की समिति बना दी और पहले ही वर्ष में बनारस, रीवां, जयपुर, नागौद, लखनऊ, कालपी, आगरा और मथुरा में खोज का कार्य किया गया और 257 ग्रंथों के विवरण लिए गये जिनमें 169 ग्रंथों की रिपोर्ट की गई जो कि बारहवीं सदी से लेकर 19वीं सदी तक की थे।⁵

1901 ई. में भी खोज का कार्य श्यामसुन्दर दास के निरीक्षण में ही हुआ। इस वर्ष रीवां, बनारस, जोधपुर, कलकत्ता, अयोध्या, लखनऊ, बांदा और मिर्जापुर में कार्य हुआ जिसमें 250 पुस्तकों का पता चला और जिनमें 129 पुस्तकों के 136 विवरण लिये गये। इन पुस्तकों की खोज का विवरण बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा तैयार किया गया और पुस्तकों पर ऐतिहासिक टिप्पणियां लिखने में बाबू राधाकृष्णदास, कृष्णबलदेव वर्मा, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, भवानीदत्त जोशी और जैनवैद्य से विशेष सहायता प्राप्त हुई। इस रिपोर्ट का क्या ऐतिहासिक महत्व था, इस बात का पता इसी से चलता है कि जब सरकार ने 1900 ई. और 1901 ई. की रिपोर्ट प्रकाशित कर इसकी प्रतियां देश-विदेश के अनेक विद्वानों के पास भेजीं, तो डॉ. हार्नली, डॉ. ग्रियर्सन, श्री ग्रिफिथ, श्री बार्थ, डॉ. पिशेल आदि विद्वानों ने इस रिपोर्ट की भूरि-भूरि प्रशंसा की और श्यामसुन्दरदास जी को व्यक्तिगत रूप से पत्र लिखकर बहुत बधाईयां दी।⁶

यदि राजस्थान में हिंदी ग्रंथों की खोज के इतिहास पर प्रकाश डाला जाय तो ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में यहां पर अधिकांशतः खोज का कार्य व्यक्तिगत रूप में किया गया जिसका प्रयोजन ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना करना था। कर्नल जेम्स टॉड,

कविराजा श्यामलदास, डॉ. एल.पी. टैसीटरी, मुंशी देवीप्रसाद, बाबू रामनारायण दूगड़, हरप्रसाद शास्त्री, ठाकुर भूरसिंह शेखावत, श्री सूर्यकरण पारीक, पं. रामकर्ण आसोपा, पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पुरोहित हरिनारायण, मिश्रबन्धु त्रय, विश्वेश्वर नाथ रेऊ, श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री अगरचंद नाहटा और पं. मोतीलाल मेनारिया के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। कर्नल टॉड ने खोज की सामग्री का उपयोग अपने 'राजस्थान के इतिहास' में और श्यामलदास ने अपने 'वीर विनोद' नामक पुस्तक में, जिसमें उन्होंने उदयपुर का इतिहास खड़ी बोली पद्य में लिखा है, बहुत ही अच्छा किया है। 17 इसके बाद राजस्थान में खोज करने का सराहनीय प्रयास काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का रहा जिसने 1900 ई. और 1901 ई. में जयपुर, नादौद और जोधपुर में खोज का कार्य किया और खोज के लिए एक व्यवस्थित आधार भी रखा परन्तु संयुक्त प्रांत की सरकार के प्रस्ताव के अनुसार कि 'सभा एक ही प्रदेश में खोज का काम पूर्ण करे', सभा को राजस्थान में खोज का कार्य रोक देना पड़ा।⁸

काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के बाद राजस्थान में हिंदी ग्रंथों की खोज में जोधपुर के मुंशी देवीप्रसाद का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसके लिए हिंदी सदा उनका ऋणी रहेगी। मुंशीजी ने राजस्थान और राजस्थान के बाहर के लगभग 800 हिंदी कवियों की एक सूची तैयार की जिनमें 200 के लगभग कवि बिल्कुल नये थे। मुंशीजी ने 'राजरसनामृत', 'महिला मृदुवाणी', 'कविरत्नमाला' और 'राजस्थान में हिंदी पुस्तकों की खोज' शीर्षक खोज से संबंधित पुस्तकें लिखीं। राजरसनामृत में मुंशीजी ने राजपूताने के शासक कवियों का विवेचन किया है। इस पुस्तक को मुंशीजी ने क्यों लिखा इसके औचित्य को बताते हुए उन्होंने लिखा कि 'फारसी इतिहासों और मुसलमान कवियों की लिखी जीवनियों में मुसलमान नरेशों की काव्यकुशलता और विद्यानुराग की बातें पढ़कर सोचा करता कि हमारे हिंदू राजा महाराजा के काव्य और इतिवृत्त भी कहीं मिलते तो एकत्र करके पुस्तकाकार छपवाता। या कोई बना बनाया ग्रंथ ही ऐसा मिल जाता जिससे राजाओं के रसनामृत पान करने का अवसर मिलता तो परितृप्त होता। बहुत खोज की, कविता और इतिहास के ग्रंथ भी बहुत पढ़े पर मनोरथ सिद्ध न हुआ। कहीं किसी नृपति की कविता मिली तो जीवन वृत्तांत न मिला और किसी नरेश के कवि होने की बात का पता लगा तो उसकी कविता न मिली। इससे पुस्तकों का भरोसा छोड़कर चिट्ठी पत्री से काम लिया।⁹ इस पुस्तक में मुंशीजी ने जैसलमेर, उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, कृष्णगढ़ और बूंदी के शासक कवियों का वर्णन किया है और साथ ही उनकी कविताओं का भी प्रमाण दिया है। इसके साथ ही इस पुस्तक में इन राज्यों के शासकों की पूरी वंशावली कालक्रम से दी है जो कि संवत् 800 के बाद से है और यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

'कविरत्नमाला' नामक ग्रंथ में मुंशीजी ने राजस्थानी रियासतों के प्राचीन-नवीन 108 कवियों का जीवन चरित्र और परिचय लिखा है और यह ग्रंथ लिखने का औचित्य इन शब्दों में प्रकाशित किया है कि "अनेक कवि हो गये हैं और अनेक अभी विद्यमान हैं, परन्तु कवियों के जीवन चरित्र लिखने और उनकी कविता प्राप्त करके एक पुस्तक में एकत्र करने की चाल हमारे देश में कम रही है, जिससे बहुत से कवियों की कविता नष्ट हो गयी और बहुत से कवियों के नाम ही पृथ्वीतल से जाते रहें हैं और जो अभी किसी ने एकाध ग्रंथ इस विषय का बनाया भी है तो वह संतोषदायक नहीं है क्योंकि जो उसमें कविता का संग्रह है तो कवियों का वृत्तांत नहीं है। इसके उपरांत यह बड़ा पाप है कि जिस किसी के पास ऐसा कोई ग्रंथ हुआ भी तो वह देता नहीं।"¹⁰

'कविरत्नमाला' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में राजपूताने के 65 कवियों का विवरण दिया है जिनमें अलवर के 13¼ करोली के 5¼ जयपुर के 16¼ बूंदी के 26¼ कोटे के 1¼ झालावाड़ के 1 और जैसलमेर के 3 कवियों के जीवन चरित्र और उनकी कवितायें दी गयी हैं जिनके समय शाहजहाँ के काल से लेकर 20वीं सदी के प्रथम दशक तक है। इन कविताओं से तत्कालीन समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति पर पर काफी प्रकाश पड़ता है।

'महिला मृदुवाणी' नामक पुस्तक में अधिकांशतः राजस्थान के स्त्री कवियों का परिचय लिखा है और पुस्तक की भूमिका में यह दिखलाया है कि स्त्रियाँ भी प्राचीन काल से ही शिक्षित रही हैं और विविध कलाओं में उन्होंने भी पारंगतता प्राप्त कर अपना नाम गौरवान्वित किया है। उन्होंने लिखा है "भारतवर्ष की पुण्य भूमि में अकेले पुरुष ही चौदह विद्या निधान नहीं हुए हैं बरन् स्त्रियाँ भी समय-समय में ऐसी होती रही हैं जो सोने चांदी और रत्न जड़ित आभूषणों के अतिरिक्त विद्या बुद्धि और काव्य कौशल के दिव्य भूषणों से श्री भूषित थीं और अब भी हैं जिन के बखान अनेक पुस्तकों और जनश्रुतियों में विद्यमान हैं। पर हमको यहाँ केवल कवियाकांताओं से प्रयोजन है जिनकी भाषा कविता का अब तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया था और हमने जो भाषा कवियों का इतिहास लिखने के लिए प्राचीन ग्रंथों और कवि वृत्तांतों की खोज की थी तो उस प्रसंग में कुछ कविता ऐसी भी मिली जो काव्यकुशला कमलाओं के मुखार्थियों की निकली हुई थी। हमने उसी को संग्रह करके यह छोटा सा ग्रंथ बनाया है और 'महिला मृदुवाणी' नाम रक्खा है।"¹¹

इस पुस्तक में कुल 35 कवित्रियों के बारे में लिखा गया है जिसमें उनके नाम, पिता का नाम (जो ज्ञात हो सका है), जाति, स्थान और वर्ष (संवत् में) दिया है जो अधिकांशतः उनकी मृत्यु के हैं। इन 35 कवियत्रियों में 2 बूंदी की; 2 मारवाड़ की; 1 सागर की; 2 अवध की; 2 बीकानेर की; 1 कोटा की; 1 पंजाब की; 1 जयपुर की;

3 रूपनगर की; 8 जोधपुर की; 1 चित्तौड़ की; 3 काशी की; 1 सिरोही की; 1 रीवां की; 2 मथुरा की; 1 राजपूताना की और 2 के स्थान का कोई लेखा नहीं दिया है। इन कवित्रियों के जो साल संवत् दिये हैं उससे ज्ञात होता है कि 35 कवित्रियों में सबसे प्राचीन संवत् 1460 के लगभग का है और सबसे अर्वाचीन 20वीं सदी के प्रथम दशक का है।

‘राजस्थान में हिंदी-पुस्तकों की खोज’ नामक ग्रंथ में मुंशी देवीप्रसाद जी ने 338 ग्रंथों और उनके रचयिताओं का नाम दिया है और इसके साथ ही साथ उनके विशय, रचनाकाल और यदि उस पुस्तक के बारे में कुछ खास बात है तो विशेष करके सूचना दिया है जिनमें सबसे प्राचीन ग्रंथ 15वीं सदी का है।¹²

मुंशी देवीप्रसाद जी ने राजस्थान और राजस्थान के बाहर के अनेक हिंदी के लेखकों और कवियों का परिचय हिंदी जगत को दिया। शिवसिंह सेंगर के बाद मुंशी देवीप्रसाद के सिवा और कोई भी व्यक्ति हिंदी में ऐसा नहीं हुआ जिसने अकेले ही अनुसंधान से इतनी बड़ी संख्या में हिंदी के प्राचीन कवियों का परिचय हिंदी संसार को दिया हो। शिवसिंह सेंगर ने लेखन के दौरान अधिकांश जगह जहाँ अनुमान से काम लिया है वहीं, मुंशी देवीप्रसाद जी ने राजरसनामृत, ‘महिला मृदुवाणी’, ‘कविरत्नमाला’ और ‘राजस्थान में हिंदी-पुस्तकों की खोज’ आदि में कवियों के जो जीवन-चरित्र लिखे हैं वे प्रमाण-पुष्ट और तर्कसंगत हैं और इतिहास की कसौटी पर खरे उतरते हैं।¹³

मुंशी देवीप्रसाद के बाद राजस्थान में हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य उदयपुर की हिंदी विद्यापीठ के सहयोग से पं. मोतीलाल मेनारिया और अजरचंद नाहटा द्वारा किया गया। राजस्थान हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में ही पं. मोतीलाल मेनारिया का प्रस्ताव पेश हुआ कि ‘सब से पहले राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य किया जाय और जब यह काम पूरा हो जाय अथवा ठीक तरह से चलने लगे तब इसी तरह के दूसरे ठोस साहित्यिक कार्य को हाथ में लिया जाय।’ के आधार पर उदयपुर की हिंदी विद्यापीठ की कार्य समिति ने इस कार्य के श्रीगणेश का भार पं. मोतीलाल मेनारिया पर ही डाल दिया तब उन्होंने वसंत पंचमी, सं. 1997 के दिन अन्वेषण कार्य उन्होंने आरंभ किया और सर्वप्रथम मेवाड़ के तीन पुस्तकालयों-सरस्वती भंडार, सज्जनवाणी विलास और विक्टोरिया हॉल लाइब्रेरी में खोज का काम किया।¹⁴

खोज के दौरान उन्होंने 1200 ग्रंथों की 1400 के लगभग प्रतियां देखीं और उनकी नोटिसे लिये और 175 ग्रंथों के विवरण दिये। इन 175 ग्रंथों में 26 ग्रंथ ऐसे हैं जिनके रचयिताओं के नाम पहले से ज्ञात थे पर ये ग्रंथ उनके नये मिले, 44 ग्रंथकारों के 50 ग्रंथ ऐसे मिले जिनके नाम मिश्रबंधु विनोद में नहीं हैं और 13 ग्रंथ ऐसे मिले जिनके रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। इस प्रकार 80 के लगभग ग्रंथ इस खोज में नये

मिले।¹⁵ समस्त 175 ग्रंथ विभिन्न विशयों में इस प्रकार हैं-भक्ति-27, रीति और चिंगल-23, सामान्य काव्य-22, कथा-कहानी-12, शृंगार काव्य-5, नाटक-4, संगीत-2, राजनीति-1, शालिहोत्र-1, वृष्टि-विज्ञान-1, गणित-1, स्रोत-1, वैद्यक-1, कोश-1, धनुर्विद्या-1 और संग्रह -10 और विविध विशयों पर कुल 18 ग्रंथ मिले जिनमें सबसे प्राचीन की तिथि सं. 1699 और सबसे अर्वाचीन की 19वीं सदी है।

पं. मोतीलाल मेनारिया के बाद श्री अजरचंद नाहटा द्वारा खोज का कार्य उदयपुर की हिंदी विद्यापीठ के निर्देशन में किया गया और उनकी पुस्तक 1947 ई0 में प्रकाशित हुई। विभिन्न संग्रहालयों और पुस्तकालयों में खोज का कार्य कर कुल 183 हस्तलिखित अज्ञात हिंदी ग्रंथों का पता लगाया जो कि 102 कवियों द्वारा रचित हैं¹⁶ और जो प्रायः 17वीं सदी से लेकर 19वीं सदी तक के हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं-

कोष-10, छंद-7, अलंकार ग्रंथ-31, वैद्यक-21, रत्न-परीक्षा-6, संगीत-11, नाटक-3, काव्य-23, ऐतिहासिक काव्य-9, नगर वर्णन-32, शकुन, सामुद्रिक, ज्योतिष, स्वरोदय, रमल और इंद्रजाल के 29 और टीकाओं के 4 ग्रंथ।

इस प्रकार राजस्थान में जो हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का काम हुआ उसके फलस्वरूप प्रभूत ग्रंथ प्रकाश में आये जिनके विषय रासो, इतिहास और विरुदावलि, साहित्य (योगधारा), साहित्यशास्त्र (रस, अलंकार, काव्य रचना और नीति), पिंगल, नाटक, कांश, परिचय एवं वार्ता, यात्रा, नगर-दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, शालिहोत्र, संगीत, रमल, शकुन विचार, गणित, भूगोल, रत्न परीक्षा और षिकार के साथ ही अन्य अनेक दूसरे विषयों के भी ग्रंथ प्रकाश में आये जिनके फलस्वरूप कितने ही कवियों और लेखकों को लोगों ने जाना और उनके ग्रंथों के आधार पर कितने ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथों की रचनाएं हुई।

सर्वप्रथम नागरीप्रचारिणी सभा और बाद में राजस्थान के विभिन्न लेखकों और संस्थाओं द्वारा जो खोज का काम किया गया उसके फलस्वरूप समस्त सूफी एवं भक्ति साहित्य का उद्धार हो गया। जायसी, मीरा, रहीम, नानक इत्यादि के साथ ही सिद्धों, नाथों, सतनामियों, जैनियों और वाममार्गियों के कवियों और लेखकों का भी पता खोज के फलस्वरूप ही समूचे संसार को मिला और लोग इनसे लाभान्वित हुए।

इस खोज के फलस्वरूप ही भूगोल, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, धनुर्विद्या, सामुद्रिक, रत्न-परीक्षा सदृश ज्ञान-विज्ञान के विविध विशयों पर भी ग्रंथ प्रकाश में आये जो इस बात के द्योतक हैं कि हमारे देश में मध्यकाल और उत्तर मध्य काल में इन बातों का ज्ञान लोगों को था और इससे कितने ही विदेशी और कतिपय भारतीय लेखकों के वक्तव्य कि ‘भारतीय इतिहास, विशेषकर उसका मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल, ज्ञान-विकास की नवीन विधाओं के सृजन में शून्य रहा है’ का भांडाफोड़ होता है।

इस खोज के फलस्वरूप ही इस बात का विस्तृत प्रमाण मिला कि मुस्लिम काल में भी मुसलमानों ने न केवल फारसी वरन् देशभाषा हिंदी को भी विविध विशयों के निरूपण के लिए भी अपनाया था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं सदी में चले हिंदी आंदोलन को इस बात से काफी बल मिला जो यह प्रमाणित करता था कि हिंदी केवल हिंदुओं की भाषा नहीं है वरन् वहीं देशभाषा है और सज्जन मुसलमानों का भी उसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जिस प्रकार किसी जाति या राष्ट्र की उन्नति के लिए उस देश की भाषा और प्राचीन साहित्य आवश्यक है वैसे ही उसका प्राचीन इतिहास राष्ट्र को नूतन शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है और यह इतिहास जातियों के पुराने पोथों में बड़ी हिफाजत से बंद रहा है। पुराने पोथों का क्या महत्व है, इसे रेखांकित करते हुए रमाशंकर मिश्र जी ने लिखा है कि “जब तक जातियों में उनके पूर्व पुरुषों का वसीयत किया हुआ यह अमोघ अस्त्र मौजूद रहता है, वे मरती नहीं, भेड़-बकरियों की भांति पद दलित और पीड़ित नहीं होती।”¹⁵ राजस्थान में विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं ने हिंदी की हस्तलिखित ग्रंथों की खोजकर जहाँ अनेक कवियों और लेखकों का परिचय समूचे संसार को दिया वहीं, हिंदी भाषा और साहित्य का उद्धार किया। खोज के फलस्वरूप ही प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया कि हिंदी ऐक्य की भाषा है, अलगाव की नहीं। हिंदी की हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के द्वारा ही राजस्थान और भारत के इतिहास, विपेशकर मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास, के गौरवमय अतीत का उद्घाटन हुआ जिसके फलस्वरूप राजभाषा आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन में बहुत मदद मिली।

संदर्भ

1. एनुअल रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर हिंदी मैनुस्क्रिप्ट फॉर दी इयर 1900, युनाइटेड प्राविंस, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, 1901, पृ. 1.
2. नागरीप्रचारिणी सभा का प्रथम वार्षिक विवरण 1893-94 ई. पृष्ठ-6.
3. एनुअल रिपोर्ट ऑन दी सर्च फॉर हिंदी मैनुस्क्रिप्ट फॉर दी इयर 1900, पेज 2.
4. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्द्ध-शताब्दी का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2000 वि., पृ. 90.
5. एनुअल रिपोर्ट ऑन दी सर्च फॉर हिंदी मैनुस्क्रिप्ट फॉर दी इयर 1900, पेज 2.
6. इन महाशयों के पत्र श्यामसुंदरदास कृत 'मेरी आत्मकहानी', इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1957 ई., में प्रकाशित है।
7. सम्मेलन पत्रिका, भाग-94, संख्या-4, सं. 2066 वि., हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, पृ. 37.
8. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्द्ध-शताब्दी का इतिहास, पृ. 95.

9. राजरसनामृत, पहला भाग, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, 1906 ई., भूमिका, पृ. 1.
10. कविरत्नमाला, प्रथम भाग, मुंशी देवीप्रसाद, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, सं. 1968 वि., भूमिका, पृ. 1.
11. महिला मृदुवाणी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, 1905 ई., भूमिका, पृ. 1.
12. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए 'राजपूताना में हिंदी-पुस्तकों की खोज' शीर्षक लेख, द्वितीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण, भाग-2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1981 वि., पृ. 6-13.
13. मेनारिया, मोतीलाल राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, हिंदी विद्यापीठ उदयपुर, 1942 ई., भूमिका, पृ. 10.
14. वही, प्राक्कथन, पृ. क.
15. वही, प्राक्कथन, पृ. घ.
16. नाहटा, अगरचंद, राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, 1947 ई., प्राक्कथन, पृ. 2.
17. महान भारत, दुर्गादास प्रेस पुस्तकालय, अमृतसर, सं. 1993 वि., प्रस्तावना, पृ. क.

19वीं एवं 20वीं शताब्दी में राजस्थान में औसर- मौसर (मृत्युभोज) की व्यापकता तथा उसके उन्मूलन हेतु प्रयासों का अध्ययन

सुमेस्ता

प्रस्तुत शोध-पत्र '19वीं एवं 20वीं शताब्दी में राजस्थान में औसर-मौसर (मृत्युभोज) की व्यापकता तथा उसके उन्मूलन हेतु प्रयासों का अध्ययन' का उद्देश्य विवेच्य काल में अन्य सामाजिक कुरीतियों की ही तरह औसर-मौसर जैसी सामाजिक कुरीति के पीछे भी अंधविश्वास व कुछ भ्रामक मिथकों को सामने लाना रहा है, जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने पूर्वजों की मृत्यु के बारहवें पर पकवान नहीं बनवाता तो वह (मृतक व्यक्ति) नरक में जायेगा और उसे तथाकथित मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, इत्यादि। दूसरा, कि आर्थिक बदहाली के चलते यदि कोई व्यक्ति औसर-मौसर करने की स्थिति में नहीं भी होता था तो भी उपरोक्त मिथकों के साथ-साथ उसे अपने सामाजिक बहिष्कार से बचने के लिये कर्ज लेकर भी इस प्रथा को निभाना पड़ता था जिससे उसकी (कर्ज लेने वाले व्यक्ति की) व उसके परिवार की जिन्दगी पर बेहद बुरा असर पड़ता था, यथा वह अपनी तमाम उम्र साहुकार महाजन से लिये कर्ज को चुकाने में लगा देता था, बच्चों को तालीम भी नहीं दिलवा सकता था।

अतः औसर-मौसर व अन्य सामाजिक कुरीतियों, सामाजिक दबाव व आर्थिक बदहाली की स्थिति में उनका जीवन दूभर हो जाता था। तीसरा, इस पत्र में यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि मृत्युभोज हर स्थिति में करने की अनिवार्यता को राज्य की तरफ से कुछ हद तक मान्यता प्राप्त थी। जिससे सम्बन्धित उदाहरण इस अध्ययन में देखने को मिलते हैं। चौथा, इस पत्र के माध्यम से राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर औसर-मौसर जैसी भयंकर कुरीति को समाप्त करने के लिये उठी आवाज व उनके प्रयासों का उचित अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अप्रकाशित प्राथमिक स्रोतों (अभिलेखीय सामग्री) तथा प्रकाशित प्राथमिक स्रोतों (रिपोर्ट्स, समाचार-पत्र) इत्यादि के साथ-साथ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रकाशित उच्च श्रेणी के ग्रन्थों का भी इस्तेमाल किया गया है।

औसर-मौसर (मृत्युभोज) प्रचलन व व्यापकता

मध्यकाल से पहले औसर-मौसर केवल मृतक संस्कार का एक हिस्सा मात्र था। परन्तु मध्यकाल के आते-आते औसर-मौसर करने की अनिवार्यता ने जड़े जमा ली और 19वीं सदी में तो इसमें और अधिक जटिलता आ गई थी। अर्थात् मृत्यु के बाद मृत्युभोज के रूप में बारहवां, तेरहवां, मौसर या क्रियावार, छःमासी, वरसी के रूप में खराब रिवाज प्रचलित हो गए।¹ समाज में अपनी प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए प्रतिष्ठित समझे जाने वाले लोग तो अपनी जमीन जायदाद बेचकर तथा सामान्य जन जो वोहरा महाजन को उस दुःख की घड़ी में भला चाहने वाला (Well Wisher) मानते थे से पैसे उधार लेकर मृत्युभोज का आयोजन करते थे। इस महा-जलसे में सैंकड़ों-हजारों की संख्या में ग्रामीण व निकट सम्बन्धी भोजन के लिए एकत्रित होते थे व महाजलसे के बाद खर्च के बोझ से दबे उस संतप्त परिवार को अलविदा कर जाते थे। इसके बाद वोहरा-महाजन (शोषणकर्ता) अपने रुपयों के बदले कर्ज न लौटा पाने की स्थिति में सारी चल-अचल सम्पत्ति हड़प लेता था। इस प्रकार का एक उदाहरण उदयपुर रिकार्ड्स में 'फूल पंखूड़ी वाली बही' से मिलता है कि 1750 ई. में एक ग्रामीण धनजी की विधवा पत्नी ने अपने पति का मृतक भोज करने के लिये अपनी जमीन जादव जी के पास 70 रुपये में गिरवी रख दी।² इसी प्रकार साल-दर-साल सैंकड़ों-हजारों परिवार मृत्युभोज जैसी कुरीति की वजह से बर्बाद हो जाते थे। जिससे समाज के सभी वर्गों के हजारों बच्चे शिक्षा जैसे अति महत्वपूर्ण कामों से महरूम रह जाते थे।³ मृत्युभोज सामान्यतः सभी जातियों में होता था।

राजपूताना की विभिन्न रियासतों में इसके विभिन्न स्वरूप थे। उदाहरणार्थ जैसलमेर में यह औसर-मौसर के नाम से प्रचलित थी। औसर-मौसर करने वाले परिवार को ही प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था तथा वही परिवार विवाह के या अन्य शुभ अवसरों पर पाँच पकवान बनवा सकता था।⁴ मृत व्यक्ति के बाद उसके परिवार वालों में दो रिवाजों का प्रचलन था (क) भदर⁵ होना (ख) मृतकभोज।⁶ कोटा में तो 19वीं सदी में इस संबंध में राजकीय आदेश भी पारित किये गये थे।⁷ बीकानेर राज्य में भी इसके प्रचलन के साक्ष्य राजस्थान राज्य अभिलेखागार में उपलब्ध 'कागद की बहियों' में मिलते हैं। उदाहरणतः 19वीं सदी के प्रारम्भ में एक गुर्जर जिसका नाम जलाल था वह मर गया और उसके आगे-पीछे कोई भी सगा-सम्बन्धी नहीं था फिर भी श्री दरबार से सहमति प्राप्त कर व प्रियजनों के दबाव में आकर उसके रिश्ते में लगने वाले सगे भतीजे ने मृत्युभोज किया।⁸ जोधपुर की ख्यात के अनुसार मेहता सायबचन्द ने अपने पिता के मृतकभोज पर 52 गाँवों के महाजन आमंत्रित किये थे।⁹ कोटा रिकार्ड्स के अनुसार कोटा के महाराव अजीत सिंह की मृत्यु पर 1839 ई. में मृतकभोज में 62,944 रुपये खर्च किये गये थे। अतः यह कहा जा सकता है कि

औसर-मौसर शासकीय राजपूत समाज के साथ-साथ राजपूत सामंतों में भी अत्यधिक दिखावे व अधिक से अधिक खर्च करने की परम्परा के रूप में था। परन्तु असल में यह आम आदमी की जिंदगी में आर्थिक बदहाली के व मिथकों के रूप में था।¹⁰ बीकानेर की 'कागद बही' के अनुसार गाँव रीवणय के चौधरी सीमें रूपोणी ने अपने पिता के मृत्युभोज के समय एक गाय ब्राह्मण सुखे को दी थी।¹¹ उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि लोग झूठी शान के लिये अधिक से अधिक खर्च ही नहीं करते थे, बल्कि अन्धविश्वासी भी थे साथ ही सम्बन्धियों व रिश्तेदारों का मृत्युभोज में शामिल होना अनिवार्य माना जाता था ऐसा न होने पर उन्हें रुपये देकर मनाया जाता था, यथा : रामचंद नाम का एक ब्राह्मण गाँव जसवंतसर के ब्राह्मण खेमे की पुत्री से विवाहित था और खेमे के खोलायत¹² (दत्तक पुत्र), लखु मोहे खमोणी ने जब खेमे का मृत्युभोज किया तो रामचंद को बुलाया किन्तु रामचंद ने यह बहकर मृत्युभोज में शामिल होने से मना किया और कहा कि उसे विवाह के समय 4 गाय देने को कहा गया था, किन्तु खेमे ने उसे दी नहीं अतः वह उसके मृतकभोज में शामिल होकर भोजन नहीं करेगा। अतः अंत में उसे 40 रुपये देकर जीमाया गया और लखु मोहे ने दरबार से कागद भी करवाया कि रामचंद व उसके बेटे-पोते उससे फिर कभी झगड़ा न करें।¹³ मृत्युभोज में राज्य कर्मचारियों के शामिल होने से सम्बन्धित नियम-कायदे भी समाज व सरकार द्वारा पुर्ननिर्धारित थे। उदाहरणार्थ सिपाही सैयद खान को डीडवाणिया भोजने पर उसे वहाँ होने वाले विवाह, मृत्युभोज आदि में शामिल करने के लिए चौहान द्वारा लिखित कागद दिया गया।¹⁴ सामाजिक रूप से बहिष्कृत किये जाने पर दण्ड दिये जाने का प्रावधान था।¹⁵ अपना मृतकभोज करवाने के लिये स्वयं को कोई औलाद न होने पर भी लोग इस प्रथा को निभाने के लिये बच्चे गोद लेते थे यहाँ तक कि उन्हें रुपयों में गोद लिया जाता था। उदाहरणतः विक्रम संवत् 1894 में बागड़ी गोरधन हरदासोणी ने अपनी मर्जी से ठाकुर को 65 रुपये में खोले¹⁶ लिया ताकि उसकी मृत्यु के बाद वह उसका मृत्युभोज कर सके।¹⁷ चांडक परिवार की राम राधा कसनोणी की बहू ने भी 75 रुपये में गुवालदास के बेटे को गोद लिया व उसे लेण-देण व औसर-काज करने का कार्य सौंपा गया।¹⁸ इस प्रकार स्पष्ट है कि यह कुरीति बहुत लम्बे समय से चली आ रही थी और यह राजस्थान समाज के लगभग सभी वर्गों में बहुत ही व्यापक रूप से प्रचलित थी। प्रौढ़ व वृद्धों की मृत्यु पर मृत्युभोज का आयोजन अति आवश्यक था।¹⁹ यदि कोई व्यक्ति मृत्युभोज नहीं करता था तो लोग उसे ताना देते थे²⁰ व इस प्रकार की कटु बातें कहते थे, जैसे- 'झोली में सिरा²¹ बास' है।

औसर-मौसर उन्मूलन के प्रयास

मृत्युभोज की यह कुप्रथा जिसे राजकीय तौर पर जहाँ मान्यता प्राप्त थी तथा जहाँ व्यवहार में यह प्रथा सभी सामाजिक वर्गों (शासकीय, सामंतीय व सामान्य जन)

में प्रचलित थी उसे समाप्त करना इतना आसान नहीं था। वास्तव में तो यह प्रथा वर्तमान समाज में न केवल राजपूताना बल्कि पूरे भारत में प्रचलन में है। विवेच्य काल में इस कुरीति से समाज को बचाने के लिये राजकीय व अराजकीय स्तर पर कुछ सघर्ष प्रयास हुये जिनका विवरण निम्नानुसार है।

बीकानेर में सरदार सिंह के प्रयास : 1851 में सरदार सिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठे और यह राजाज्ञा प्रसारित करवाई कि मृत्युभोज में सिवाय लापसी²² के और कोई खाना नहीं बनेगा तथा मृत्युभोज में बिरादरी के अलावा यदि कोई और व्यक्ति शामिल होगा तो उस पर राज्य की और से जुर्माना लगाया जायेगा।²³

मारवाड़ के महाराजा का प्रयास- मारवाड़ के महाराजा जसवन्त सिंह द्वितीय (1873-95) ने आर्य समाज से प्रभावित होकर अपने राज्य में शराब पीने व नुक्ता-प्रथा को निषेध घोषित करने के आदेश पारित किये।²⁴ इसके पश्चात् जोधपुर सरकार ने 9 दिसम्बर 1942 को मौसर पर रोक लगा दी और इसका उल्लंघन करने वाले पर एक हजार रुपए जुर्माने का प्रावधान रखा।²⁵ बाद में 20 फरवरी 1946 ई. को इसी आदेश को फिर दोहराया गया।²⁶

आर्य समाज के प्रयास व उदयपुर महाराणा का सहयोग : आर्य समाज का भी इस कुप्रथा के निवारण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं ने राजपूताना की रियासतों के सभी वर्गों को (जनता और कुलीन वर्ग दोनों को) अपने सिद्धान्तों और शिक्षाओं के माध्यम से प्रभावित किया। उदयपुर में रहते हुए स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' का द्वितीय संस्करण तैयार किया और वि.सं. 1939 में उसकी भूमिका लिखी। समाज में विवाह व मृत्युभोज पर खर्च कम करवाने के लिए 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की और उदयपुर महाराणा को इसका सभापति नियुक्त किया। महाराणा ने इस संस्था के कोष में दस हजार का अनुदान दिया।²⁷ सभा ने अपनी भजन मण्डलियों, उपदेशकों के माध्यम से समाज में व्याप्त अन्य कुरीतियों के साथ-साथ मृत्युभोज पर अनावश्यक रूप से होने वाले खर्च को बच्चों को अच्छी तालिम (शिक्षा) देने पर खर्च करने के लिए प्रेरित किया।

वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा (1887-88 ई. में स्थापित) के प्रयास : 1887 ई. में 'एजेन्ट टू द गर्वनर जनरल' सी.के.एम. वाल्टर ने अजमेर में इस सभा की स्थापना की। सभा के पहले अधिवेशन, 1888 ई. में मृत्युभोज से सम्बन्धित खर्च को कम करने के नियम निर्धारित किये गये तथा आवश्यकतानुसार समितियाँ बनायी गयीं।²⁸ कर्नल वाल्टर के इस कार्य का लगभग सभी रियासतों ने स्वागत किया और मृत्युभोज जैसी कुरीति को समाप्त करने के लिये उठाये गये कदमों के लिए औपचारिक पत्र भेजकर उनका शुक्रिया अदा किया।²⁹ सभा के 1889 ई. के

अधिवेशन में मृत्युभोज पर सामान्तों द्वारा किये जाने वाले खर्च को नियन्त्रित³⁰ करने के लिए कुछ नियम निर्धारित किये गये उदाहरणतः-

सालाना आमदनी (रुपये में)	मृत्युभोज खर्च की सीमा
...	112
150	160
200	210
300	310
500	510
900	910
1,200	1,225
2,000	2,050
3,400	3,450
5,050	5,150
7,700	7,750
12,000	12,500
70,000	71,000
88,000	89,000
99,000	1,00,000
	75
	107
	140
	207
	340
	607
	712
	877
	1,157
	1,497
	2,017
	2,779
	10,092
	12,342
	13,717

समय-समय पर सभा ने उक्त नियमों का पुर्ननिर्धारण भी किया यथा-

सम्पत्ति से 1,000 रुपये से कम वार्षिक आमदनी होने पर खर्च आमदनी का 2/3 भाग

" " 1,000-5,000 रुपये तक की " " " " " आदमनी 1/4 भाग

" " 5,000-10,000 रुपये तक की " " " " " आदमनी 1/5 भाग

" " 10,000 रुपये से ऊपर तक की " " " " " आदमनी 1/8 भाग

मृत्युभोज से सम्बन्धित उपरोक्त मापदण्डों से कम खर्च करने का प्रावधान था परन्तु अधिक का नहीं। गैर सम्पत्ति धारकों यानि जिनके पास कोई जायदाद नहीं होती थी उनके लिये मृत्युभोज करते समय केवल 75 रुपये खर्च करने का प्रावधान था।³¹

1894 ई० के अधिवेशन में रिजोल्यूशन पास हुआ कि शोक सभाओं में सरदार और कम्पनी अपने साथ एक निश्चित संख्या से अधिक लोगों को नहीं ले जा सकते थे यथा-एक सरदार जिसकी आमदनी का मूल्य 50,000 रुपये से ऊपर हो वह अपने साथ 20 लोगों को ले जा सकता था।

50,000 से 20,000 रुपये तक की आमदनी वाला अपने साथ 12 लोगों को ले जा सकता था।

20,000 से 10,000 रुपये तक की आमदनी वाला अपने साथ 07 लोगों को ले जा सकता था।

10,000 से 5,000 रुपये तक की आमदनी वाला अपने साथ 04 लोगों को ले जा सकता था।

5,000 रुपये से कम आमदनी वाला अपने साथ 02 लोगों को ले जा सकता था।

वाल्टरकृत राजपूत हितकारिणी सभा ने प्रारम्भ से ही राजपूत समाज में व्याप्त अन्य कुरीतियों के साथ-साथ मृत्युभोज पर अत्यधिक व बेहिसाब होने वाले खर्च से लोगों को बचाने के नियम व कायदे निर्धारित किये तथा आवश्यकता पड़ने पर दण्ड का प्रावधान भी रखा गया था। परन्तु फिर भी सभा की प्रोसिडिंग्स व अन्य दस्तावेजों में दिये गये सरकारी आँकड़ों के अनुसार कुछ मामलों में मृत्युभोज के नियमों का उल्लंघन हुआ। परन्तु सभा के नियमों के अनुसार होने वाले मामले अधिक थे। अतः यह मृत्युभोज जैसी कुरीति को नियन्त्रित करने की दिशा में बहुत अच्छा संकेत था।

1903 ई० एवं 1906 ई० में समस्त राजपूताना (अजमेर-मेरवाड़ा सहित) राजपूतों एवं चारणों में सभा के नियमों के अनुसार व नियम भंग (मृत्युभोज के संबंध में) के मामलों का उल्लेख निम्नानुसार है।

	1903 ई० में नियमानुसार	नियम तोड़े	अधूरे
राजपूतों में	1552	11	22
चारणों में	123	02	12
	1906 ई० में नियमानुसार	नियम तोड़े	अधूरे
राजपूतों में	1347	10	68
चारणों में	98	05	...

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि वाल्टरकृत राजपूत हितकारिणी सभा के प्रयासों के बावजूद मृत्युभोज के लिए निर्धारित नियमों में इनका पालन होने के साथ-साथ नियमों का उल्लंघन भी हो रहा था। 1907-08 ई० से लेकर 1929-30 ई० तक के वार्षिक प्रतिवेदनों से भी यह स्पष्ट होता है कि मृत्युभोज के मामलों के पंजीकरण, नियमों के पालन व उल्लंघन के मामलों की संख्या में उतार-चढ़ाव लगातार जारी रहा।³²

1940 ई. में अखिल भारतीय चारण सभा के अध्यक्ष ने जयपुर के प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर बताया कि न केवल जैसलमेर में बल्कि सभी राजपूताना रियासतों में वाल्टर हितकारिणी सभा के सुधारों का प्रभाव हुआ और अन्य सामाजिक बुराईयों के साथ ही मृत्युभोजों की वार्षिक संख्या में कमी आई है।³³ निःसंदेह वाल्टर सभा के प्रयासों से भी मृत्युभोजों की संख्या को नियन्त्रित करने में सफलता मिली परन्तु दूसरी तरफ सभा की गतिविधियों व आँकड़ेबाजी पर बहुत से इतिहासविदों ने सवाल उठाये हैं। इन सबकी व्याख्या व स्पष्टीकरण इस छोटे से शोध-पत्र में सम्भव नहीं है। परन्तु इसका विस्तृत उल्लेख अन्यत्र करने का प्रयास अवश्य किया जायेगा।

जातिय सुधारक सभाएँ तथा मृत्युभोज को नियन्त्रित करने का प्रयास : लगभग सभी वर्गों व जातियों में जातिय सुधारक सभाएँ व जातिय पंचायतें बनाई गई थी जो उस जाति विशेष के शैक्षणिक, सामाजिक व आर्थिक हितों के लिए कार्य करती थी। इन सुधारक सभाओं ने भी अपनी-अपनी जाति में मृत्युभोज पर होने वाले अनावश्यक खर्च से बर्बाद होने वाले परिवारों को बचाने का प्रयास किया। उदाहरणतः अखिल भारतीय जाट महासभा; स्थानीय जाट सभाएँ; मारवाड़, जाट-कृषक सुधारक सभा; अखिल भारतीय चारण सभा; मीणा-राजपूत महासभा; अग्रवाल हितकारिणी सभा, कायस्थ प्रोविन्सियल कॉन्फरेन्स, राजपूताना, इत्यादि ने विभिन्न जातियों में मृत्युभोज जैसी कुरीति को समाप्त करने के लिये जन-चेतना अभियान चलाकर लोगों को औसर-मौसर पर अत्यधिक अनावश्यक खर्च करने की अपेक्षा अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा देने पर बल देने का आग्रह किया। उपरोक्त सभाओं व पंचायतों ने लोकगीतों, भजनों, उपदेशों के माध्यम से लोगों को जागरूक बनाकर मृत्युभोज को नियन्त्रित करने के प्रयास किये।³⁴

निःसंदेह उपरोक्त सभी प्रकार के सरकारी व गैर सरकारी प्रयासों से मृत्युभोज को सामाजिक दबाव में करने की अनिवार्यता व उससे बर्बाद होने वाले परिवारों को बचाने के भरपूर प्रयास किये गये और कुछ हद तक इस पर नियन्त्रण भी स्थापित किया जा सका। परन्तु, इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं किया जा सका। परिणामस्वरूप वर्तमान में यह कुरीति पूरे राजस्थान में विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलन में है जिसको हमें इतिहास से शिक्षा लेकर पुनः नियन्त्रित करने के प्रयास करने होंगे।

सन्दर्भ

1. वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा, राजपूताना, फॉर द इयर-1888 ई., पृ. 36, फाईल नम्बर 43/80, (में उपलब्ध) राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर। (इसके बाद रा. रा. अ., बीकानेर)
2. प्रकाश व्यास, राजस्थान का सामाजिक इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृ. 103

3. वाल्टरकृत, राजपुत्र हितकारिणी सभा, पूर्व उद्धृत, पृ. 36, रा. रा. अ., बीकानेर
4. महकमा खास, फाईल नम्बर 288, जी/252, 1907 रा. रा. अ., बीकानेर(राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस, प्रोसिडिंग्स, वॉल्यूम XVII, चौपासनी (जोधपुर)-2001, पृ. 130
5. भदर-हिन्दू जाति में बड़े-बूढ़े की मृत्यु पर उसके निकट रिश्तेदारों द्वारा सिर के बाल, दाढ़ी व मूँछ मुंडवाना
6. मृतकभोज- मृतक के 12वें दिन सगे-सम्बन्धियों को भोजन करवाना
7. कोटा रिकार्ड्स, भण्डार नम्बर 22, बस्ता नम्बर 193, वि.सं. 1922 रा. रा. अ., बीकानेर
8. कागद री बही नम्बर 11, वि.स. 1857-1800 ई.पू., पृ. 226 ए, रा. रा. अ., बीकानेर(गुर्जर जलाल गईवाल हुवो सु गुजर इय मायले सु दीपे साहुवोणी श्री दरबार मालम कीवी जलाल रे घर एक रहण रो छे ते ऊपर खेत (रुपये 45) रो बागड़ी रामेसरी नथोणी रो छे अर गाया 5 छै सु घररी श्री मेडही सु ताकीद हुई छै सु मैह सागी भतीजा छ, हुकुम हुवै तो उवरे पुटै चालीसो करी फकीर-फुकरे ने कुही देवा मौलवी न देसी सु श्री दरबार सु फरमाई रईत छै घर थाने दरायों जलाल रे पुटे उवरो कुही सुवारथ हुवै सु करजो जीमण कर दे जो हमें घर गामोरी असमायले सु दीपे सु खेचल न हुसी सावण वद 9)
9. नैणसी मुहणोत, जोधपुर री ख्यात, पृ. 80, रा. रा. अ., बीकानेर
10. प्रकाश व्यास, पूर्व उद्धृत, पृ. 103
11. कागद री बही नम्बर 11, वि.सं. 1857, पृ. 271बी, रा. रा. अ., बीकानेर
12. खोलायत-गोद लिया हुआ
13. कागद री बही नम्बर 11, वि.सं. 1857, पृ. 226बी, रा. रा. अ., बीकानेर
14. कागद री बही नम्बर 12, वि.सं. 1859, पृ. 12बी, रा. रा. अ., बीकानेर
15. कागद री बही नम्बर 12, वि.सं. 1859, पृ. 23, रा. रा. अ., बीकानेर
16. खोले-स्वयं का बच्चा न होने पर अन्य के बच्चे को गोद लेना
17. कागद री बही नम्बर 44, वि.सं. 1894, पृ. 61ए, रा. रा. अ., बीकानेर
18. कागद री बही नम्बर 44, वि.सं. 1894, पृ. 73बी, 192बी, रा. रा. अ., बीकानेर
19. जोधपुर रियासत, बिलाड़ा, फाइल नं. 5 'ब'; जोधपुर री ख्यात (मानसिंह आदि), पृ. 78, 80, 103, रा. रा. अ., बीकानेर
20. जगदीश गहलोत मारवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 230, मानसिंह आदि जोधपुर री ख्यात, पृ. 80
21. सिरा-हलवा
22. लापसी-गेहूँ को उबालकर बनाया गया मीठा भोजन
23. मोहनलाल गुप्ता, बीकानेर का जिलेवार सांस्कृतिक-ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 14
24. हकीकत बही नम्बर 37, पृ. 25, 222, रा. रा. अ., बीकानेर

25. जोधपुर गवर्नमेंट गजट, दिनांक 12 दिसम्बर 1942 ई० पृ. 307, रा. रा. अ.
26. जोधपुर गवर्नमेंट गजट, नोटिफिकेशन नम्बर 8749, दिनांक 26 अप्रैल, 1946 ई०
27. हिसाब दतर पटाका, वि.सं. 1940, रा. रा. अ. (ब्रांच), उदयपुर
28. अजमेर रिकार्ड्स, वाल्टर का पत्र नम्बर 277 सी, दिनांक 23 मार्च 1888, फाईल नम्बर 2/1886 रा. रा. अ., बीकानेर; फॉरेन डिपार्टमेंट प्रोसिडिंग्स, फाईल नम्बर 3/1844, जुलाई 1888 नम्बर 19-24, इण्टरनल ए, फॉरेन डिपार्टमेंट, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली
29. वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा, राजपूताना फॉर द ईयर 1888 ई., फाईल नम्बर 43/80, पृ. 1, रा. रा. अ., बीकानेर
30. वही
31. एन्यूवल जनरल रिपोर्ट फॉर्म द कमेटी ऑफ द, वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा, एन्यूवल जनरल रिपोर्ट फॉर द ईयर 1903; फाईल नम्बर 43/443, पृ. 4, रा. रा. अ., बीकानेर
32. रिपोर्ट ऑन दी एडमिस्ट्रेशन ऑफ बीकानेर फॉर 1907-08, पृ. 37; 1909-10, पृ. 46; 1910-11, पृ. 4; 1911-12, पृ. 11; 1912-13, पृ. 18; 1913-14, पृ. 5; 1926-27; 1927-28; 1928-29; 1929-30, (राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली में उपलब्ध)
33. जयपुर गवर्नमेंट सेक्रेटरी रिकार्ड्स, जी-20, फाईल नम्बर 150, रा. रा. अ.
34. जयपुर रिकार्ड्स, महकमा खास, फाईल नम्बर 33, पार्ट 1, पत्र संख्या छोटे लाल चौधरी (ऑनरेरी सेक्रेटरी अग्रवाल हितकारिणी सभाका का पत्र दिनांक 23 जनवरी, 1926, रा. रा. अ. (ब्रांच), जयपुर

स्वतन्त्रतापूर्व पश्चिमी राजस्थान के उद्योग

श्यामलाल

वर्तमान युग औद्योगिक तकनीकी का युग है इस युग में कोई भी राष्ट्र की महता इस बात को लेकर है कि राष्ट्र का औद्योगिक विकास किस स्तर पर हुआ है। इसी से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनती है तथा विश्व के साथ वैश्वीकरण का हिस्सा बन सकता है। इसी कारण विश्व के देश औद्योगिक विकास में लगे हुए हैं तथा विश्व के विकसित राष्ट्रों ने तो औद्योगिकरण को अपना नारा बना लिया है। इसी औद्योगिकरण नारे को विकासशील तथा पिछड़े राष्ट्रों ने अपना नारा जरूरी समझा क्योंकि कोई भी राष्ट्र जब तक अपना औद्योगिक विकास नहीं कर लेता तब तक अपने नागरिकों को समुचित स्तर का जीवन प्रदान नहीं कर सकता तात्पर्य नागरिकों का सर्वोपेक्षित विकास नहीं कर सकता और उस स्थिति में आ पहुँचता है कि वह पिछड़े राष्ट्रों की श्रेणी में आ जाता है उनको छोटी-छोटी योजनाओं के लिए विकसित देशों के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। आज विश्व में जितने भी विकसित या विकासशील देश हैं उनमें औद्योगिकरण की होड़ लगी है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का सबसे महत्वपूर्ण राज्य राजस्थान आजादी से पूर्व राजपूताना के नाम से जाना जाता था। राजपूताना की भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक विशेषताएँ अन्य राज्यों से भिन्न हैं यहाँ का थार मरूस्थल, बिखरी हुई जनसंख्या यातायात तथा संसार के साधनों का अभाव व ऊर्जा के स्रोतों की कमी ने राजपूताना के लोगों को कर्मठ बना दिया तथा अपनी आजीविका चलाने के लिए सीमित साधनों के साथ तालमेल बैठाकर छोटे उद्योगों का घर बना दिया। औद्योगिक विकास के लिए यातायात एक महत्वपूर्ण पहलू है लेकिन राजपूताना में ऊँटगाड़ी, बैलगाड़ी ही यातायात का प्रमुख साधन था। प्राकृतिक संसाधनों के अभाव के बावजूद हम यह नहीं कह सकते कि पश्चिमी राजस्थान औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़ा था यहाँ के लोगों में कार्य के प्रति लगन कला और शासकों द्वारा संरक्षण देने के कारण राजपूताना का औद्योगिक विकास भी अन्य रियासतों से कम नहीं आंका जा सकता। स्वतन्त्रता पूर्व राजपूताना की औद्योगिक उत्पादों की कला से तो विश्व आश्चर्य में है कि इतनी प्राकृतिक विषमता के बावजूत भी यहाँ के नागरिकों में कला के प्रति इतना लगाव जिसके कारण प्राकृतिक अभाव को भी पछाड़ दिया। इसमें राजपूताना के कारीगरों की क्षमता स्पष्ट दिखाई देती है।

स्वतन्त्रतापूर्व राजपूताना में कृषि व पशुपालन आजीविका का प्रमुख साधन था इसके बावजूद भी उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान था। उच्च कोटि की कला कौशल जिसमें कलात्मक वेषभूषा के अतिरिक्त पच्चीकारी किये हुए बर्तन, चांदी, पीतल के बर्तन, ऊनी गलीचे, हाथी दांत के खिलौने व अन्य सामग्री जिसमें संगमरमर की मूर्तियाँ आभूषण, रंगाई, छपाई की सांडियां, प्रमुख थी। राजपूताना में जाति के आधार पर आर्थिक क्रियाएं की जाती थी तथा अलग-अलग जाति के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी उद्योग विशेष को जारी रखते थे तथा अन्य उद्योग को नहीं अपनाते थे। उद्योगों की दो श्रेणियां थी। ग्रामीण उद्योग व शहरी उद्योग, स्थानीय मांग की पूर्ति के लिए गाँवों में कुटीर उद्योग धन्धे थे¹। प्रत्येक गांव में कुम्हार, मोची, बढ़ई, लुहार जुलाहे होते थे जो स्थानीय जरूरतों की पूर्ति करते थे। उस समय शहरों व गांवों में अनेक उद्योग चलते थे। जैसलमेर में अच्छी किस्म के कम्बल बनाये जाते थे²। वहां के लोगों का भेड़, बकरी, ऊँट, पालना तो प्रमुख कार्य रहा है। मारवाड़ का मूंडवा काष्ठ कार्य का प्रमुख केन्द्र था। पाली कपड़ों की रंगाई-छपाई के लिए प्रसिद्ध था। जवाहरात व्यवसाय के लिए जयपुर प्रसिद्ध था³। जिसकी छवि आज भी विश्व बाजार में अलग पहचान रखती है। नागौर राज्य में भी उद्योग धन्धों के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। इन उद्योग धन्धों में लोहे तथा पीतल के गृहस्थी के कार्य में प्रयोग होने वाले विभिन्न प्रकार के बर्तनों, हाथी दांत के खिलौनों, ऊँट की काठियों एवं ऊनी तथा सूती कपड़ों का उद्योग सर्वप्रमुख था। मुगल काल में तो नागौर में ऊनी कपड़ों का व्यापार अत्यधिक समृद्ध दशा में था क्योंकि नागौर ऊनी कपड़े के उद्योग का प्रमुख नगर था। यहां कम से कम बीस प्रकार के ऊनी कपड़ों का उत्पादन होता था⁴। जिसकी मांग सम्पूर्ण राजपूताने में रहती थी तथा यहां के उद्योगों में लगे लोगों का जीवन स्तर अच्छा था। यहां सूती उद्योग भी प्रायः पूर्व मध्यकाल से ही अपने चरम पर था इनका विकास ग्रामीण क्षेत्रों में फैला हुआ था। वस्त्र उद्योग के अतिरिक्त अन्य उद्योग भी नागौर में अच्छी स्थिति में थे यहां के कारीगरों में विभिन्न प्रकार के लोहे तथा पीतल के काम करने वाले सोने तथा चांदी के आभूषणों का निर्माण करने वाले, हाथी दांत पर सुन्दर एवं कलात्मक कढ़ाई तथा खुदाई करने वाले सुनहरी वार्निश चढाने वाले तथा रेशमी एवं मखमली कपड़ों पर कसीदे और जरदोजी की कढ़ाई का काम करने वाले प्रमुख थे⁵। मारवाड़ औद्योगिक दृष्टि से अन्य रियासतों से आगे प्रतीत होता है यहां बादल बनाने का काम अपने आम में अल पहचान रखता है। जोधपुर में निर्मित होने वाले जस्ते के बादले किसी समय पूरे भारत में प्रसिद्ध थे तथा भारत से बाहर अन्य देशों में भी जाते थे। विशेष रूप से अपनाये जाते थे। जोधपुर में लगभग 64 प्रकार की आकृतियों वाले बादले बनाये जाते थे। इसमें सुराहीदार कैटलीनुमा, मयूरकृति, अण्डाकार तथा नालदार बादले अधिक लोकप्रिय थे। बादलों की कीमत बाजार में चालीस रुपये से लेकर डेढ़ हजार रुपये तक होती

थी⁶। जो वर्तमान के रेफ्रीजरेटर व दोहरी पर्तवाली बोटलों को भी मात देते थे। यह कला का बेजोड़ नमुना अन्य रियासतों में नहीं मिलता था। जोधपुर राज्य के पाली, नागौर, सोजत आदी नगरों में लोहे की वस्तुएं बनाई जाती थी। पाली की लोहे की सन्दूकें, कड़ाईयां व बड़े कड़ाव प्रसिद्ध थे। सोने-चांदी व हीरे जवाहरात बनाने का कार्य भी जोधपुर का प्रसिद्ध था। जोधपुर में पंखे के काम वाले आभूषण बनाये जाते थे। जोधपुर व पाली में हाथी दांत की चुड़िया बनाई जाती थी⁷। राजपूताना में लुहार के काम की ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका थी क्योंकि कृषिगत औजार उनके द्वारा ही बनाए जाते थे। जिनमें लोहे के हल बनाना, गैती फावड़ा, कुल्हाड़ी तगारी, बैलगाड़ियों को लोहे में मढना इसके अतिरिक्त घरेलू सामग्री जैसे तवा, बालटी, चम्मच इत्यादी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। लुहारगिरी का काम खेती का काम खेती व घरेलू सामग्री से भी आगे था।

लुहार युद्ध में काम आने वाले हथियार व शिकार के लिए हथियारों का निर्माण करते थे। तलवार, कटार, खांडा चाकू, दाल, बांछ भाले देशी बंदूकों का निर्माण राजपूताना के विभिन्न प्रान्तों में होता था। सिरोही की तलवारें प्रसिद्ध थी। तलवारों पर सोने चांदी का काम होता था। जोधपुर में चमड़े की संदूकों की मांग रहती थी। जालौर व जैसलमेर में घोड़े की काठियां और मालपुरा में बंदूक की खोलियां अच्छी बनती थी। पाली उतरी भारत का एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था यहां पर देशी विदेशी सामान का आदान-प्रदान व व्यापार होता था। बीकानेर राज्य में राजगढ़ भी मुख्य व्यापारिक मण्डी थी। यहां विभिन्न दिशाओं से आने वाले कारवां ठहरते थे⁸। ऊन की सबसे बड़ी मण्डी जैसलमेर में थी। लाख उद्योग प्राचीन उद्योगों में प्रमुख है प्रायः हिन्दू औरतों में लाख की बनी चुड़ियां पहनती थी जो विवाह के अवसर पर सामान्य वर्ग की औरते पहनती थी। इनको बनाने का काम बनजारे (लखारे) करते थे जो प्रायः गांवों में कस्बों में करते थे इन पर अलग-अलग रंग के कांच के टुकड़ों से डिजायन दी जाती थी। राजपूताने में गांवों रस्सी सूतली बनाने का उद्योग भी विकसित था। रस्सियां प्रायः मूज की बनाई जाती थी। जिनका प्रयोग कुंओं से पानी खिंचने, खाट बनाने चटाई बनाने आदि उपयोग थे। मारवाड़ में लम्प और मूज नामक मजबूत घास से रस्सियां बनाने का काम बंजारा (ग्वारिया) नामक जाति वंशानुगत करती थी। लकड़ी के खिलौने सोजत व नागौर में भी बनाये जाते थे। अत्यधिक कलात्मक खिलौने 100 चक्रिया 25 जोड़ी चटपटा व 60 लुन लुनिया आदि राजवर्गीय उपयोग हेतु सोजत में बनाए जाने का उल्लेख मिलता है⁹। राजपूताना के शासक इन उद्योगों को अपनी रियासत की रिद्धि मानते थे। उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं से राज्य को आमदनी होती थी तथा राज्य की जरूरतें पूरी होती थी। साथ ही अधिक उत्पादन से राज्य अन्य रियासतों से जरूरत की वस्तुओं का आदान प्रदान करके अपनी जरूरत की सामग्री

खरीद लेते थे। प्राचीन काल से ही बन रही कालाकृतियां जिसकी वर्तमान में भी मांग है तथा जो पेशेवर इस कार्य से वर्तमान में भी जुड़े हुए हैं वे लाभ ही नहीं कमा रहे हैं बल्कि इस कला की अमूल्य धरोहर को जीवित रखकर अतीत की याद दिलाते हैं।

इन परम्परागत कलाओं को जीवित रखने एवं अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान के अनुरूप और भावी उज्ज्वल आकांक्षाओं को परिलक्षित करते हुए निश्चल भाव से श्रम की गरिमा को निभाते हुए अग्रसर रहने का श्रेय हमारे कुल कारीगरों को है जिन्होंने अपनी कला को रूचिकर और उपयोगी बनाते हुए जन-जन तक पहुंचाया है¹⁰। वर्तमान में हमारा दायित्व बनता है कि हम इन प्राचीन कलाओं को जीवित रखें तथा उनके विकास के लिए सरकार को भी प्रेरित करते रहना चाहिए ताकि अपने अतीत ने जो अमूल्य धरोहर हमें कला के माध्यम से हस्तान्तरण की है वो एक इतिहास बनकर न रह जाए। वर्तमान में भी आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद भी हम उन उत्पादों को कम नहीं आंक सकते लेकिन वैज्ञानिक युग में तकनीकी प्रयोग के बढ़ते वर्तमान में ये उद्योग अपने अस्तित्व बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अतः हमें अपने गौरवमय इतिहास से मिली विरासत को संजोकर रखना ही हमारा दायित्व बनता है। हम सबको सम्मिलित प्रयास करना चाहिए। ताकि अतीत को हमें सग्रहालयों या चित्रों में न खोजना पड़े और इतिहास लेखन में भी सुविधा मिल सके।

सन्दर्भ

1. बी.एल.गुप्ता - ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन राजस्थान, जयपुर - 1987 पृ.सं. 54
2. प्रशासनिक रिपोर्ट, जैसलमेर राज्य वर्ष 1904-05 रा.रा.अभि. जोधपुर पृ. 10
3. बी.एल.गुप्ता - पूर्वोक्त, पृ.सं. 62
4. मोहम्मद हलीम सिद्दीकी-मध्यकालीन नागौर का इतिहास, पृ. 255-56
5. मोहम्मद हलीम सिद्दीकी-पूर्वोक्त पृ. 258
6. मोहनलाल गुप्ता-जोधपुर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, जोधपुर - 2011 पृ. 107
7. आर.पी.व्यास - आधुनिक राजस्थान का वृहत इतिहास, जयपुर-1998 पृ. 389
8. आर.पी.व्यास - पूर्वोक्त पृ. 391
9. सनद परवाना बही नं. 25 वि.सं. 1838 एफ 257 जोधपुर रियासत-रा.रा.अभि. बीकानेर
10. कुं. महेन्द्रसिंह तंवर-राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराएं जोधपुर-2006, पृ. 130

ढोलन कुंजकली : राजस्थानी (ढोल जाति की) संस्कृति

अर्चना शर्मा

संस्कृति शब्द संस्कार से बना है। हिन्दू समाज में जन्म से ही व्यक्ति को अनेक प्रकार के संस्कारों के द्वारा समाज में विभिन्न कार्य करने योग्य बनाया जाता है। संस्कृति ज्ञान, व्यवहार, विश्वास की उन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान और व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को कहते हैं जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है। संस्कृति में वह सबकुछ शामिल है जो समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाता है, जैसे - ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, कानून, रीति-रिवाज, नैतिक-नियम, तौर-तरीकें, साहित्य, संगीत, भाषा, इत्यादि।¹ बोगार्डस के अनुसार “संस्कृति एक समुह के समृद्ध रीति-रिवाजों, परम्पराओं और चालू व्यवहार प्रतिमानों से बनती है। संस्कृति एक समूह का मूल धन है। वह मूल्यों की एक ऐसी पूर्ववर्ती समष्टि है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पैदा होता है। वह एक माध्यम है, जिसमें व्यक्ति पैदा होते हैं और विकसित होते हैं।”

राजस्थानी संस्कृति भारतीय संस्कृति में एक अहम् भूमिका रखती है। राजस्थानी संस्कृति में अनेक धर्म व जातियां आईं और मिली हैं। राजस्थान के अलग-अलग क्षेत्रों में विभिन्न जातियों की अपनी भाषा, कला, ज्ञान, रीति-रिवाज, त्यौहार, धार्मिक विश्वास है। राजस्थान की ही ढोल जाति जिसके लोकगीत पूरे भारत में प्रसिद्ध हैं -

“उड़ उड़ रे महरां काला रे कागला ।

कब म्हारों पीव जी घर आवेला.....।।”

राजस्थानी संस्कृति के लोकगीत की सुन्दरता को चित्रित करता है। राजस्थान में ही जन्में साहित्यकार यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र ने अपने उपन्यास ‘ढोलन कुंजकली’ में राजस्थानी ढोल जाति का सुन्दर चित्रण किया है। राजस्थानी संस्कृति पर आधारित यादवेन्द्र शर्मा का ढोलन कुंजकली लोक संस्कृति का एक अनुठा उपन्यास है। ढोलन कुंजकली में एक सामान्य जाति की संस्कृति का बखूबी उल्लेख दर्शनीय है। ढोल बाजाकर अपनी जीविका अर्जित करना इस जाति का प्रमुख व्यवसाय होता है। ढोल बजाने वाली जाति में स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने नृत्य व संगीत द्वारा राजाओं, नवाबों व ठाकुरों को बधाई देते हैं। इस जाति में स्त्री-पुरुष आर्थिक रूप से स्वतंत्र रहते

है। 'ढोलन कुंजकली' की महिला रूपाली अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के बारे में कहती है - "मैं किसी के ठस्से नहीं सह सकती।.....दबैल थोड़े ही हूं। अपने बूंकियों की कमाई खाती हूं।"² इस सामान्य जाति के लोगों का ढूपुरुष-स्त्री ऋ पहनावा भी बहुत ही रोचक है। स्त्रियों के पहनावे में कांचली, लहंगा व ओढ़ना मुख्य होता है व पुरुष के पहनावे में धोती व कुर्ता मुख्य होता है। धार्मिक विश्वास के अनुसार इस जाति के लोग रामदेवजी को अपना इष्टदेव मानते हैं। इस जाति के लोगों के घरों पर जो मांडणे बनाये जाते हैं, उसमें रामदेवजी का चित्र प्रमुख होता है। ये रंगोली ग्रामीण चित्रकारी की प्रतीक होती है। मनोरंजन व व्यवसाय के तौर पर ढोल जाति द्वारा अलग-अलग नाटक व गीत प्रस्तुत किये जाते हैं। नाटकों में अमरसिंह राठौड़, सत्य हरिश्चन्द्र, सती-सावित्री अदि पर कलाकारी पेश की जाती है। 'ढोलन कुंजकली' में रावतिया नामक पुरुष 'हिड़ाऊ-मैरी' की रममत पेश करता है। रावतिया 'हिड़ाऊ' बनता है और गोपिया और सटिया उसकी दो 'मैरियां (रानियां)'। दामू बना 'नूरसा', नूरसा उसका ताबेदार था। हिड़ाऊ जी और उसकी रानियों का बिचौलिया।

रावतियां और उसके साथी नाटक को इस तरीके से प्रस्तुत करते हैं कि दर्शकगण उल्लासित हो प्रसन्नता से परिपूर्णता प्राप्त करते हैं। नाटक के प्रदर्शन के समय इनकी वेशभूषा द्वारा हम राजस्थानी राजाओं व नवाबों की वेशभूषा से भी परिचित होते हैं। हिड़ाऊ ने अस्सी कली का केसरिया जामा पहन रखा था। उसके नीचे चूड़ीदार पजामा। कमरपट्टे में नकली सोने की मूठ की तलवार और चांदी की ढाल। पगड़ियों में खड़किया पगड़ी, जड़ाऊ चौबंदी गले में। नाटक के आगे बढ़ने पर दोनो मैरियां हिड़ाऊ को प्यार के लिए आव्हान् करती हैं -

रंग आम्बा, रंग आम्बली, रंग दाड़म, रंग दाख,
रंग दै महाराजा री सेज में,
हे रमसो मांझल रात,
हो रंग मौणों - रंग मौणों !!³

राजस्थानी संस्कृति में पले हुये इस जाति के लोगों में हर अवसर के गीत उपलब्ध रहते हैं। इस जाति के लोग राजाओं व नवाबों को प्रसन्न करने के गीत गाते हैं तो अपने अवसाद व करुणा प्रकट करने के लिये भी गीत होते हैं। अपने मन के दुख, अवसाद को इस जाति के लोग गीतों द्वारा बहा देते हैं।

इस जाति के लोगों की प्रेम विनित गीतों की तो कोई बराबरी नहीं हो सकती। मन के भावों को गीतों की माला के द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाता है। ढोलन कुंजकली नायिका कुंजड़ी प्रेम विनती का गीत गाती है -

"कुरंजा ए म्हारो भंवर मिला दे ए,
तू करंजा म्हारों भायली,

तू म्हारी धरम की बैन.....कुरंजा ए.....,
ऐड़े-छेड़े ओलमा बीच में सात सलाम,
कुरंजा ए कागज ले र चाली ए....." !!⁴

इस गीत में कुरंजा पक्षी को प्रीतम से मिलाने की विनती की जाती है। इस तरह हर अवसर के लिये ढोल जाति के लोग अलग-अलग गीत प्रस्तुत कर अपनी कला-कौशल का परिचय देते हैं। इस सामान्य जाति का खान-पान भी बहुत सीधा-साधा रहता है। राजस्थान का प्रमुख खाद्यान्न बाजरा, इनका प्रमुख भोजन होता है। 'बाजरे का खिचड़ा', चावल-दाल, गुड़ का सीरा इनके मुख्य भोजन के अन्तर्गत आता है।⁵ संस्कृति के तत्व गीतों, नाटकों आदि में पूर्ण होने के बाद भी अशिक्षा के कारण इस जाति की स्त्रियों का जीवन अपूर्ण ही रहता है। इस जाति की महिलाओं को नाचने-गाने के अलावा राजाओं व ठाकुरों से अपनी शरीर का सौदा भी करना पड़ता है। 'ढोलन कुंजकली' में कुंजड़ी का पति हंसकर कहता है - "इसमें बर्दाश्त करने की क्या बात है ? ये तो हमारी जात का धरम है। सब ढोली भी तो अपनी लुगाईयों को भेजते हैं। ढोली ढोलन के लिए यह रास्ता उल्टा नहीं है, एकदम सुलटा है। नाचेगी-गायेगी नहीं तो पेट कैसे भरेगी।"⁶

अशिक्षा के कारण इतने कलाविद् होने के बाद भी ढोल जाति के लोग सामन्तवाद के शिकार होते हैं। आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के बाद भी स्त्री को घर में व राजाओं के महलों में शोषित होना पड़ता है। अपने शोषित जीवन को जीते हुए भी ढोल जाति के लोग अपनी संस्कृति के गुणों को अक्षुण्ण रखे हुए हैं। अपने रहन-सहन, वेशभूषा, गीतों-नाटकों के कारण ये लोग आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। अपनी राजस्थानी भाषा में निपुण गीतों के द्वारा मन के भावों को आंखों से उतार देने में सामर्थ्यवान हैं।

संदर्भ

1. डॉ. अनुराग वाजपेयी, भारतीय समाज एवं संस्कृति, राज पब्लिकेशन हाऊस, जयपुर।
2. यादवेन्द्र शर्मा चन्द, ढोलन कुंजकली, यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' मेमोरियल ट्रस्ट, बीकानेर।
3. यादवेन्द्र शर्मा चन्द, ढोलन कुंजकली, यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' मेमोरियल ट्रस्ट, बीकानेर।
4. यादवेन्द्र शर्मा चन्द, ढोलन कुंजकली, यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' मेमोरियल ट्रस्ट, बीकानेर।
5. डॉ. एल.आर. भल्ला, राजस्थानी समाज, कला एवं संस्कृति, कुलदीप पब्लिकेशनस, अजमेर।
6. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, ढोलन कुंजकली, यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' मेमोरियल ट्रस्ट, बीकानेर

मेवाड़ रियासत में पान संस्कृति

प्रो. मीना गौड़

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में पान का विशेष महत्व रहा है। शादी - विवाह, पूजा पाठ एवं पवित्र अनुष्ठानों का यह एक आवश्यक अंग है। संस्कृत में पान को 'ताम्बुल' कहते हैं, इसी कारण पान का व्यवसाय करने वालों को 'तम्बोली' के नाम से जाना गया।¹ पान औषधीय गुण युक्त है जो पाचन के लिए उपयोगी है। प्रायः भोजन के बाद पान के पत्ते को मोड़कर उसके अंदर चूना, सुपारी, कल्था लगाकर चबाया जाता है।

तम्बोलियों का अपनी जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि पान पहले सातवें पाताल में होता था, किन्तु जब राजा परिश्रित ने पृथ्वी पर यज्ञ किया और इस हेतु पानों की जरूरत हुई तो नारद पाताल जाकर पांच पान लाये। तीन पान तो यज्ञ में खर्च हो गए और शेष दो पान के पत्तों को राजा परिश्रित ने अपने दो पुत्रों को दिया। बड़े पुत्र ने तो अपना पान खा लिया मगर छोटे पुत्र ने उसे जमीन में बो दिया, जिसकी बेल विकसित हो गई और इस प्रकार धरती पर भी पान उत्पादित होने लगा तथा उसे बेचने वाले 'तमोली या तम्बोली' कहलाये। ये अपनी 84 जातियां बताते हैं।² नागौर के 'कबूलावत' स्वयं को असली तम्बोली कहते हैं और अपना वतन अयोध्या में बताते हैं जहां से वे यहां आये।³

भारतीय संस्कृति के अनुरूप मेवाड़ में भी पान का प्राचीन काल से ही काफी महत्व रहा है। यहां भी शादी विवाह, पूजा, अनुष्ठान और पवित्र काम में यह आवश्यक वस्तु के रूप में माना गया है। मेवाड़ में श्री एकलिंग जी एवं श्रीनाथ जी के मंदिरों में भी पान बीड़ों के अर्पण का बहुत महत्व एवं प्रचलन है। मेवाड़ रियासत के महाराणा के दरबार व्यवस्था में भी पान बीड़े का महत्वपूर्ण स्थान था, जिसमें शिष्टाचार, अनुशासन और मैत्री के भाव हमें एक साथ देखने को मिलते हैं। संभवतः यह एक ऐसी प्रतीकात्मक प्रणाली थी जिसमें महाराणा बिना कुछ कहे पान-बीड़े के माध्यम से अपनी भावना व्यक्त करते थे।⁴ यह प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ विषय था, अतः सुचारु प्रबन्ध करने के लिए विश्वस्त अधिकारी रहते थे। बीड़े बनाने का काम तम्बोली करते थे।⁵ ऐसी मान्यता है मेवाड़ के चित्तौड़ जिले का तम्बोलिया गांव दो हजार साल पहले तम्बोलियों द्वारा बसाया गया था। यह जाति पान का परम्परागत व्यवसाय करती

है। कुछ तम्बोली परिवार इस कार्य में बहुत निपुण एवं प्रशिक्षित होते थे। मेवाड़ के सांस्कृतिक जीवन में पान का कितना अधिक महत्व था वह इस बात से स्पष्ट है कि मेवाड़ दरबार में पान की व्यवस्था के लिए 'तंबोलखाना' नामक एक अलग विभाग था, जिसके मुख्य अधिकारी को 'खवास जी', कह कर पुकारा जाता था।⁶ भोजन के बाद महाराणा, कुलीन एवं समृद्ध लोगों द्वारा ताम्बुल या पान सेवन, महाराणा द्वारा करने का उल्लेख प्राप्त होता है।⁷ प्रतिदिन विभिन्न विभागों से पान-बीड़ों की मांग सूचित की जाती थी, इसके अलावा कुछ निश्चित संख्या में बीड़े, कदीम दस्तूर, (पूर्व परम्परा के अनुसार उचित परम्परा बनाए रखना) जनाना एवं मर्दाना महलों में भेजे जाते थे। विशेष उत्सव, त्यौहार एवं दरीखाना, पांत्या (सामूहिक भोजन के लिए पंक्ति में बैठना) होने पर आवश्यकतानुसार बीड़े तैयार किये जाते थे। साधारण पान बीड़ों के अलावा निम्नलिखित बीड़ों का विशेष महत्व था। मेवाड़ की दरबार व्यवस्था में सभी उमरावों को 'दरीखाने'⁸ का बीड़ा व 'सीख के बीड़े'⁹ का 'राह-मरजाद'¹⁰ प्राप्त था। उमरावों के महाराणा के दरबार में आने पर निम्न प्रकार से पान का बीड़ा प्रस्तुत किया जाता था।

1. **दोयम बीड़ा** - कुछ उमरावों को महल में आने पर पहले बड़े दरीखाने में बिठा दिया जाता था। वहां उपस्थित पुरोहित (दरबारी प्रबन्धकर्ता) एक थाल में दो बीड़े लेकर महाराणा के प्रतिनिधि के रूप में उमराव के स्वागतार्थ जाता था। उमराव उन दोनों बीड़ों को अपने स्थान पर बैठे हुए अपने आँखों स्पर्श कर सम्मान प्रकट करता था। एक बीड़ा वह स्वयं अपने पास रखकर दूसरा वापस पुरोहित को दे देता था। इसके बाद वह दरबारी प्रबन्धकर्ता के साथ महाराणा की उपस्थिति वाले दरीखाने में प्रवेश करता था।¹¹ इस प्रकार का बीड़ा महाराणा की ओर से उमराव को दरबार में निमंत्रण के रूप में पहुंचाया जाता था। यह प्रथा केवल उमरावों के लिए ही थी। यह बीड़ा विशेष सम्मान का सूचक था।

2. **दरीखाने का बीड़ा** - 'नजर'¹², 'नछ्रावल'¹³ एवं दरबार की मुख्य कार्यवाही संपूर्ण हो जाने पर दरीखाने का बीड़ा नजर किया जाता था। तांबूलखाने से बीड़ों की टोकरी आ जाती थी जिसे महाराणा अपने हाथ से स्पर्श कर देते थे एवं दरबार प्रबन्धकर्ता क्रमानुसार राजपुरोहित, उमराव, सरदार, निजी सम्बंधी, गोल के सरदार जो बीड़ा प्राप्त करने के अधिकृत थे, उनको बीड़ा नजर करता था। इन बीड़ों पर कुल ग्यारह सीकें लगती थी। जिनमें 6 आगे के भाग में और 5 पृष्ठ भाग में होती थी।¹⁴ कभी कभी महाराणा किसी उमराव-सरदार के प्रति अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने हेतु पान बीड़े में से तीन सीकें निकाल देता था। ऐसा बीड़ा मिलना सरदार व उमराव के लिए चिंता का विषय बन जाता था।¹⁵ इस कारण बीड़ा मिलने पर पहला

काम उसकी सीकें गिनने का होता था। किन्तु पान के बीड़े में सीकें लगाने के बारे में भिन्न भिन्न मत मिलते हैं अतः निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

3. सीख (विदाई) का बीड़ा - दरबार की समाप्ति पर दरीखाने में 'सीख के बीड़े' वितरित किये जाते थे। यह लम्बी आकृति का होता था। इस पर कुल 13 सीकें लगी होती थी, आगे के भाग में 8 और पीछे के भाग में 5 होते थे। यह बीड़ा दरीखाने के विसर्जन का संकेत था। इस बीड़ा को प्राप्त किये बगैर जाना वर्जित था। किन्तु यह सब को नहीं मिलता था। केवल उमरावों एवं महाराणा से विशेष स्वीकृति प्राप्त दरबारियों को ही यह बीड़ा प्राप्त था।¹⁶ यह बीड़ा स्वयं महाराणा प्रदान करते थे। शाहपुरा एवं बनेड़ा को एक साथ दोनों हाथों से यह बीड़ा दिया जाता था, यह उनका विशेषाधिकार था। अपनी चाकरी की अवधि समाप्त करने के बाद जागीर लौटने से पूर्व उमरावों को 'सीख का बीड़ा' महाराणा से लेना अनिवार्य था।¹⁷ इस अवसर पर महाराणा द्वारा नियमानुसार सीख का बीड़ा के साथ साथ उमराव को 'सिरो पाग'¹⁸ दी जाती थी। महाराणा यदि शिकार के समय ओदी (शिकार-गाह) में होते और किसी जागीरदार को अपनी जागीर में लौटना जरूरी होता तो वह महाराणा को अर्ज करवाता इस पर सीख का बीड़ा वल्लम की नोक पर बांधकर भेज दिया जाता था। इसका तात्पर्य यह था कि ठिकानेदार को अपने ठिकाने में जाने के पहले सीख का बीड़ा लेना आवश्यक था।¹⁹

4. दशहरा-दीपावली का त्यौहारी बीड़ा - गणगौर, दशहरा एवं अन्य मुख्य त्योहारों पर भी बीड़े वितरित किये जाते थे। इन मुख्य त्यौहारों पर पान का बीड़ा महाराणा की ओर से ठिकानेदारों की हवेलियों पर भेजा जाता था। इसे ले जाने का कार्य महाराणा के नजदीकी पासवान आदि करते थे। ठिकानेदार के सम्मान के अनुसार ही ले जाने वाला पात्र जरूरी था। इस त्यौहारी बीड़े में 5 लौंग और अन्दर सूखे मेवे मिश्री भरे रहते थे। गणगौर के बीड़े में 14 सीकें लगी होती थीं। ठिकानेदार वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर इसे स्वीकार करता था प्रत्येक ठिकाने का नेग बंधा हुआ था जो बीड़ा लाने वाले को दिया जाता था। 2 रुपये से 50 रुपये तक के नेग प्रदान किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। यह महाराणा के नजदीकी लोगों को त्यौहारी दिलाना था।²⁰ दशहरा पर हाथियों एवं घोड़ों को भी पान का बीड़ा खिलाये जाने का उल्लेख मिलता है।

5. जनानेखाने का बीड़ा - रात्रि को 'जनाना' में, निर्धारित रानी के सानिध्य में महाराणा शयन करने हेतु निर्धारित रानी के पास पान का बीड़ा भिजवाते, यदि रानी उस बीड़े को स्वीकार कर लेती तो इसे रानी की स्वीकृति मान ली जाती। यदि रानी पान के बीड़े को लौटा देती, तो इसे अस्वीकृति मान कर बीड़ा दूसरी रानी के पास भिजवाया जाता।²¹

6. रेशमी बीड़ा - महाराणा किसी विशिष्ट अतिथि का स्वागत करते थे या कोई विशिष्ट व्यक्ति महाराणा की अपनी हवेली में 'पधारवणी' (स्वागत) करता था, उस समय सोने के बर्क से सुशोभित सूखे मेवे से पूर्ण बीड़े नजर किये जाते थे।

7. कपूरी बीड़े - अनेक स्थानों पर कपूरी बीड़े का उल्लेख मिलता है। इसका तात्पर्य कपूर से निर्मित बीड़े से है। 'शोक निवारण'²² में भी पान बीड़ों का महत्व था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि 1828 ई. में महाराणा भीमसिंह की मृत्यु के बाद इसी दिन हुए मातमी दरबार में मेवाड़ के रेजीडेंट कप्तान कॉफ इस दरबार में अन्य सरदारों के साथ सम्मिलित हुए तथा सभी उपस्थित गणमान्य व्यक्तियों को इस अवसर पर 'कपूरी बीड़े' वितरित किये गये।²³ जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह के देवलोक होने की सूचना मिलने पर उदयपुर में गमी का दरबार हुआ। जिसमें पान बीड़े में कितनी खीलें लगती थी इसका जिक्र हुआ है।²⁴ मेवाड़ के किसी भी सरदार की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को महाराणा द्वारा पुनः पैतृक जागीर के पट्टे का नवीनीकरण प्रदान किया जाता था। इसके द्वारा उत्तराधिकारी को मान्यता प्रदान की जाती थी। इस प्रथा को 'तलवार बंदी' के नाम से जाना जाता था। तलवार बंदी के पूर्व महाराणा शोक निवारणार्थ सम्बन्धित सरदार के निवास स्थान पर जा कर तथा उसके उत्तराधिकारी के सिर पर ओढ़ी हुई सफेद चादर हटाकर उसे कपूरी बीड़ा प्रदान करते थे।²⁵ पान शिष्टाचार का भी प्रतीक था। इस तरह का विवरण प्राप्त होता है कि मनोमालिन्य होते हुए भी महाराणा प्रताप ने राजा मानसिंह को 100 सुवासित ताम्बूल भेजे।²⁶

यदा-कदा पान में विष देकर प्रतिस्पर्धी को मारने तथा स्वामिभक्ति की परीक्षा लेने के उदाहरण भी मिलते हैं। महाराणा अरिसिंह ने सलूमबर के रावत जोधसिंह को विषयुक्त पान का बीड़ा नाहर मगरा में दिया था। जोधसिंह ने जानते हुए भी अपनी स्वामीभक्ति का प्रदर्शन करते हुए विषयुक्त पान का बीड़ा खाकर अपने प्राण त्याग दिये।²⁷ अत्यधिक कठिन परिस्थिति उत्पन्न होने पर राजदरबार में उपस्थित जागीरदारों के सामने पान का बीड़ा घुमाया जाता था, जो उस बीड़े को उठा लेता था वह उस दुस्साहस पूर्ण कार्य को पूरा करने का दायित्व लेकर अपने प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता था।²⁸ इस प्रकार मेवाड़ की संस्कृति में पान हर प्रकार से रचा बसा था जो पवित्रता, खुशी, सम्मान, प्रतिष्ठा व शिष्टाचार का प्रतीक तो था ही साथ ही शोक के अवसर पर भी इसका प्रयोग किया जाता था। मेवाड़ के अभिजात्य वर्ग में पान के प्रति बहुत आकर्षण था। संभवतः इसी कारण पान को मेवाड़ के सामाजिक जीवन में इतना गौरवशाली स्थान प्राप्त हो सका।

सन्दर्भ

1. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 ई., जोधपुर, पृ. 497-498
2. उपरोक्त।
3. उपरोक्त।
4. मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा, धर्मपाल शर्मा, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, 1999, पृ. 98
5. राजस्थान पत्रिका, 25 मार्च, 1998
6. खवासजी, नागदा ब्राह्मण परिवार के थे। किंतु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि तंबोलखाने के दरोगे दूसरी जातियों के भी रहे थे।
7. पुरोहित देवनाथ का हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ. 113
8. किसी भी रियासत का दरबार उसकी शान शौकत मान मर्यादा का प्रतीक होता है, जहां शासक एवं दरबारी एक सुनिश्चित व्यवस्था व शिष्टाचार के नियमों से बंधे रहते हैं। मेवाड़ में इसके लिए कार्य विशेष के नाम के साथ 'दरीखाना' शब्द का प्रयोग होता था। जैसे- साधारण दरीखाना, पट्टाभिषेक का दरीखाना, त्योंहारिक दरीखाना, गमी का दरीखाना, तलवार बंदी का दरीखाना, आम दरीखाना आदि।
9. सीख का बीड़ा से तात्पर्य है 15 खिलों वाला पान का बीड़ा जो दरबार विसर्जन के पश्चात् विदाई के अवसर पर उमराओं तथा विशेष सम्मान प्राप्त दरबारियों को महाराणा स्वयं अपने हाथों से प्रदान करते थे।
10. जागीरदारों के मान सम्मान स्वरूप बनाए गए कुरब कायदों को 'राह मरजाद' की संज्ञा दी गई है। मेवाड़ के प्रत्येक ठिकानेदार के 'राह मरजाद' अलग-अलग थे।
11. मेवाड़ नरेश और उनके सामन्तों के विरुद्ध, भाग-11, अंक, 1
12. उपहार
13. नजराने के तत्काल बाद नजराना करने वाला महाराणा पर निर्धारित रकम न्यौछावर करता था। इस रस्म के तहत महाराणा पर वार कर नीचे चरणों में रख दिया जाता था, या दरीखाने का अधिकारी 'दरोगा' इसे झेलकर अपने पास एकत्र कर लेता था।
14. ख्यात मूहंता नैणसी, जोधपुर, पृ. 100 (इसमें वर्णन आता है) उदैपुर सोले उमरावानु सात सीक रो बीड़ा दिरी जै। देश निकालो डै निणनु तीन सीक रों बीड़ो दै।
15. मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा, धर्मपाल शर्मा, प्रताप शोध प्रतिष्ठान उदयपुर, 1999, पृ. 99.
16. प्रथम श्रेणी के ताजीमी ठिकानों की सूची जिन्हें 'दरीखानों' में सीख के बीड़ा का 'राह मरजाद' प्राप्त था। 1. सादड़ी बड़ी 2. बेदला 3. कोठारिया 4. सलूमबर 5. बिजोलिया 6. देवगढ़ 7. बेंगू 8. देलवाड़ा 9. भेजा 10. आमेत 11. गोगुन्दा 12. कानोड़ 13. भीण्डर 14. बदनोर 15. भैंसरोडगढ़ 16. बांसी 17. कुराबड़ 18. पारसोली 19. सरदारगढ़ 20. बनेड़ा 21. शाहपुरा 22. करजाली 23. शिवरती 24. मऊवाड़ा (सिन्धी मुसलमान, 17वां उमराव), मेवाड़ अंडर भोपाल सिंह जी 1935

17. महाराणा भीम सिंह जागीरदारों की साख बही 1880 सवंत्, राजस्थान अभिलेखागार, उदयपुर, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1993, चुंडावत वंशप्रकाश, संपादक, हुकम सिंह भाटी
18. सिर से पाव तक पहनने के वस्त्र आदि।
19. मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा, धर्मपाल शर्मा, प्रताप शोध प्रतिष्ठान उदयपुर, 1999, पृ. 99.
20. उपरोक्त, पृ. 100.
21. आर.एस.ए.बी. बही संख्या 51 (शा.दा.सं.) वि.स. 1927, 28, 31
22. आर.एस.ए.बी. संख्या 190 (शा.दा.सं.) वि.स. 1885, पृ. 3
23. महाराणा फतहसिंह हकीकत बही, संपादक डॉ. गोपीनाथ शर्मा भाग-1, पृ. 30
24. गोगुन्दा की ख्यात, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, पृ. 196
25. उपरोक्त
26. अमरकाव्यम, रणछेड़ भट्ट प्रणीत, सर्ग 16 श्लोक, 43-48, 245
27. उदयपुर राज्य का इतिहास, गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा, भाग-2, पृ. 649
28. मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा, धर्मपाल शर्मा, पृ. 101

विजयदान देथा के कथा साहित्य में राजस्थानी संस्कृति ममता मलिक

‘संस्कृति’ शब्द ‘सम’ उपसर्ग-पूर्वक ‘कृ’ धातु से निष्पन्न होता है जो मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने में पूर्ण विकसित रूप है। यह मानव के संस्कारों का वह सकल रूप है जिससे उसके सामाजिक आचार-विचार, पर्व, त्यौहार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, नीति आदि की प्रतीति होती है। संस्कृति एक तरफ तो मानव की विधायिका है और दूसरी तरफ परिचायिका भी। समुन्नत और सौन्दर्यमयी संस्कृति स्वस्थ एवं सुन्दर समाज की सर्जना करती है।

संस्कृति का मनुष्य जीवन से अटूट संबंध के विषय में रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है-“संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में व्याप्त है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन।”

‘लोक’ और ‘संस्कृति’ हमारे जीवन से विविध रूपों से जुड़े हुए हैं। हमारे जीवन का ही दूसरा नाम लोक संस्कृति है और यह लोक यदि राजस्थान का हो तो इसकी समृद्ध संस्कृति की परम्परा को स्वतः ही समझा जा सकता है। विजयदान देथा भी इस पावन भूमि के ही पुत्र हैं जिन्होंने राजस्थानी संस्कृति की खुशबू को अपने कथा साहित्य में प्रसारित किया। जीवन मूल्यों के साथ राजस्थानी संस्कृति के विविध पक्षों को समसामयिक स्थितियों से जोड़ते हुए, साहित्य का प्रणयन करते श्री विजयदान देथा का साहित्य भारतीय लोक संस्कृति को समृद्ध करने की एक सशक्त कड़ी है।

विजयदान देथा के रचना संसार में राजस्थान का लोक जीवन और लोक रस रचा-बसा हुआ है। उनका साहित्य राजस्थान के पारम्परिक समाज का समग्र व प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत करता है। देथा ने राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन का विश्लेषण विविध रूपों में किया है जो कि ग्रामीण समाज अर्थात् लोक जीवन का वास्तविक स्पंदन है। लोक जीवन की गहराइयों में उतरे बिना देथा के साहित्य में वर्णित संस्कृति के बहुआयामी स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। पर्व-त्यौहार, मेले, लोकगीत, लोक कथाएँ संस्कार, रीति-रिवाज, वेशभूषा आदि संस्कृति के नियामक तत्व हैं।

लोक जीवन में विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का देथा के कथा साहित्य में वर्णन इस प्रकार है-

1. संस्कार : मनुष्य जीवन को सँवारकर उसे आदर्श रूप प्रदान करने में संस्कारों का विशेष महत्व है। विजयदान देथा ने मानव जीवन के जन्म से मृत्यु तक के विभिन्न संस्कारों की अभिव्यक्ति कथा के पात्रों के माध्यम से अपने कथा साहित्य में की है।

जन्म संस्कार देथा की कहानियों में सूक्ष्म रूप में वर्णित है जिसमें लोक जीवन के विशेष उल्लास की झलक देखने को मिलती है। ‘दुविधा’ कहानी में जन्म संस्कार का वर्णन करते हुए देथा कहते हैं कि सेठ के पुत्र के घर लौटने पर चारों तरफ उल्लास का माहौल है। जच्चा ने पीली चुंदरी ओढ़कर तालाब पर जल देवता की पूजा की। देथा ने जन्म संस्कार के उत्सवों द्वारा युगीन समाज की झाँकी अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत की है।

विद्यारम्भ संस्कार का वर्णन देथा ने अप्रत्यक्ष रूप से कथा साहित्य में किया है। इस संस्कार में बालक गुरु के पास रहकर निष्ठा, धैर्य, साहस से गुरु की सेवा सुश्रुषा करते हुए अपनी विद्या आरंभ करता है और अध्ययन समाप्त होने पर गुरु दक्षिणा देकर घर लौटता है। ‘अनोखी परीक्षा’ में गुरु और शिष्य के ऐसे ही संस्कार का वर्णन है।

विवाह संस्कार भारतीय समाज का अति महत्वपूर्ण संस्कार है। विजयदान देथा के कथा साहित्य में विवाह संस्कार विस्तृत रूप में वर्णित है। यह संस्कार देथा को सर्वाधिक प्रिय है। विवाह के समय होने वाले विभिन्न क्रियाकलापों को हम इन पंक्तियों में स्पष्ट देख सकते हैं- “वे वंदोला, वै गीत, वा चंवरी, वौ धूजतै हाथां हथलेवौ, वा अणचीती हाकाहाक, वे मां री झापलियां, वै बरसाती में बंध्या पड़या भाई।” देथा ने विवाह से संबंधित विभिन्न रूढ़ियों, परम्पराओं का विस्तृत और सजीव वर्णन किया है। उन्होंने विवाह से पूर्व और पश्चात की अनेक लोक रीतियों का वर्णन कर अपने कथा साहित्य को सजीव कर दिया है।

2. रीति-रिवाज : एक स्वस्थ समाज को संयमित और परम्परा पालक बनाने में रीति-रिवाजों का विशिष्ट योगदान होता है। जीवन चक्र के क्रिया-कलापों से उपजी इन प्रथाओं और परम्पराओं में जीवन की विविध भावनाएँ मुखरित होती हैं। विजयदान देथा ने अपने कथा साहित्य में उन्मुक्त भाव से इन रीति-रिवाजों को अभिव्यक्ति दी है। जीवन से जुड़े विविध संस्कार, प्रथा, व्रत-उपवास, शिष्टाचार, अतिथि सत्कार आदि अनेक रीति-रिवाजों को देथा ने अपने साहित्य में व्यक्त किया है।

‘सपनप्रिया’ में ऐसे ही रीति-रिवाज का वर्णन है जिसमें वृद्ध जन की मृत्यु पर सभी को भोज पर बुलाया जाता है। “पुरखों की पुण्याई अभी शेष थी। उसी का पुनीत सुयोग घटित हुआ तो गाँव के चौधरी ने दादा के मृत्यु भोज में ठाकुर के सभी अमलों को न्यौता दिया। ठाकुर ने पुख्ता वादा किया तभी गाँव के चौधरी ने उसके पाँव छोड़े। उसी सिलसिले में गढ़ का कनवारिया ढोली को न्यौता देने आया।”³

देथा ने समाज में प्रचलित लोक विश्वासों के अंतर्गत शकुन-अपशकुन आदि का भी वर्णन अपने साहित्य में किया है। देथा ने समाज में व्याप्त अनेक अंधविश्वास, धार्मिक, सामाजिक रीतियों और परम्पराओं को अपनी कहानियों में जीवन्त रूप प्रदान किया है जो उनके स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

3. पर्व और त्यौहार : प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्त करने के लिए पर्व, त्यौहार, यात्रा एवं मेले आदि उत्सवों का आयोजन करता रहा है। लोक जीवन में पर्व एवं त्यौहारों का विशेष स्थान है। विभिन्न अवसरों पर मनाए जाने वाले पर्व-त्यौहार लोक व्यक्तित्व को सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ते हैं। देथा के कथा साहित्य में समाज के धनी-निर्धन, उच्च-निम्न सभी वर्गों के लोग अपनी आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर छोटे-बड़े विभिन्न पर्व-त्यौहारों का आयोजन करते हैं।

देथा ने ‘दुमकता भाई’ और ‘आसमान जोगी’ में सावन की तीज और रक्षा-बंधन का सजीव वर्णन किया है। दीपावली, होली, गणगौर, आखा तीज और गोगे आदि का सजीव चित्रण उनके कथा साहित्य में मिलता है। इनके अतिरिक्त राजा-सामंत विजयोत्सव, युवराज अभिषेक उत्सव, पुत्र-पुत्री के उत्पन्न होने पर हर्ष एवं प्रसन्नता के साथ उत्सव मनाए जाने का उल्लेख देथा ने अपनी कहानियों में किया है। इन उत्सवों में राजा, ठाकुर धन वर्षा करके, दान-देकर प्रजा में यश का पात्र बन जाता है जो परम्परागत प्राचीन राजस्थानी संस्कृति को दर्शाता है।

4. वेशभूषा : वेशभूषा, संस्कृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। किसी भी व्यक्ति के पहनावे द्वारा हम उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अनुमान लगा सकते हैं। राजस्थानी संस्कृति में वेशभूषा का अत्यधिक महत्व है। विभिन्न रंगों से सराबोर राजस्थान की वेशभूषा सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। देथा ने अपने कथा साहित्य में स्त्रियों और पुरुषों के पहनावे को उनके उच्च, निम्न व मध्य वर्ग के अनुसार बहुत ही रमणीय चित्रित किया है। पुरुषों के मुख्य वस्त्राभूषणों में पाग, दुर्गा, पगरी, धोती, कड़े, मुरकी (कुण्डल) आदि होते हैं।

स्त्रियों की कमजोरी आभूषण माने जाते हैं। देथा युगीन समाज में सामान्यतः स्त्रियों के लिए लहंगा, ओढ़नी, कंचुकी, साड़ी आदि वस्त्रों का प्रचलन था। देथा ने

युगीन समाज में प्रचलित स्त्री और पुरुष दोनों की वेशभूषा को अपने कथा साहित्य में वर्णित किया है जो उनकी परिवेश के प्रति जागरूकता को प्रकट करता है।

5. खान-पान : खान-पान अथवा भोजन प्रत्येक प्राणी की अनिवार्य आवश्यकता है। देथा के कथा साहित्य में शुद्ध सात्विक भोजन अर्थात् शाकाहारी भोजन का वर्णन अधिक मिलता है। समाज के वर्ग भेद का प्रभाव खान-पान पर भी पड़ता है। उच्च वर्ग के राजा, जर्मीदार, सामंत के पास खान-पान की पर्याप्त सुविधाएँ होती हैं और उनका जीवन विलासितापूर्ण होता है। इसके विपरीत सामान्य जन का खान-पान अकृत्रिम एवं सरल है। साधन व सुविधा के अभाव में किसी प्रकार केवल भूख शांत करना ही इनका उद्देश्य होता है। ‘मरीचिका’, ‘सपनप्रिया’, ‘कान्ह-गुवाल’ आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

देथा ने ग्रामीण जीवन के खान-पान का विशेष तौर पर वर्णन किया है। जब किसी अतिथि का आगमन होता है तो विशिष्ट आहार बनाए जाते हैं। देथा के कथा साहित्य द्वारा स्पष्ट होता है कि मदिरा पीने की प्रथा सम्पूर्ण समाज में प्रचलित थी। यह विशिष्ट अवसरों एवं भोजन का आवश्यक अंग बनी हुई थी। तत्कालीन उच्च वर्ग, राजा, सामंत, जर्मीदार, ऐश्वर्य सम्पन्न वैश्य एवं प्रतिष्ठित लोग दिन-रात मदिरापान में डूबे रहते थे।

समाज में वर्ग के अनुसार ही भोजन परोसने के बर्तन भी होते हैं। देथा ने समाज में प्रचलित विविध व्यंजनों का वर्णन किया है जिन्हें परोसने के लिए राजा या उच्च वर्ग में सोने-चाँदी के बर्तनों का उपयोग किया जाता है। निम्न वर्ग दाल-रोटी में ही खुश रहता है जो उनके खून-पसीने की कमाई है।

6. ललित कला : कला की दृष्टि से राजस्थान अत्यन्त समृद्ध है। लोक संगीत, लोक वाद्य, लोक नाट्य, लोक कला, लोक साहित्य, लोक गीत, लोक कथा आदि का वर्णन देथा ने अपने कथा साहित्य में किया है। ‘लोक’ से संबंधित होने के कारण इन कलाओं में जन की भावाभिव्यक्ति सूक्ष्म रूप में होती है। देथा ने इन कलाओं का चित्रण विभिन्न प्रसंगों में अपने कथा साहित्य में किया है।

लोक संगीत जीवन के प्रत्येक क्षण को अपनी सहज प्रकृति एवं प्रवृत्ति में व्यंजित करता है। देथा के कथा साहित्य में कहीं चरवाहों द्वारा, कहीं पनिहारिन द्वारा, कहीं मांगलिक अवसर पर गाए गए लोक संगीत के स्वर सुनाई पड़ते हैं। “काँगरी की झंकार के साथ ही ‘ढोला-मरवण’ के प्रेमाख्यान की पहली पंक्ति का शुभारंभ ही उसने ऐसे मीठे स्वर में किया कि सुनने वालों के कलेजे कण्ठों में समा गए। कुछ ही देर पश्चात सबकी आँखों से अनहद आनन्द के आँसू बहने लगे सो थमे ही नहीं। वियोग की रागिनी छिड़ते ही चाँदनी का अंतस् भी भर आया।”⁵

लोक वाद्य को देथा के साहित्य में समुचित स्थान मिला है। जहाँ भी पर्वों, उत्सवों या किसी शुभ अवसर का वर्णन किया है, वहाँ लोक वाद्य के मधुर स्वर सुनाई देते प्रतीत होते हैं। देथा ने ढोल, ढोलक, घुंघरू, घंटियाँ, मंजीर, शहनाई, अलगोजा, बीन आदि लोक वाद्यों का उल्लेख किया है।

लोक नाट्य की दृष्टि से राजस्थान में ख्यात, रम्मतेँ, माच, तुरा-कलंगी, रासधारी, रासलीला, भवाई आदि प्रमुख हैं। देथा ने अपने कथा साहित्य में राजस्थान प्रांत के विविध लोक नाट्यों का निरूपण किया है विशेष रूप से रम्मत लोक नाट्य का इन्हें पढ़ने पर ऐसा महसूस होता है मानो सारा कार्य व्यापार आँखों के सामने जीवंत हो उठा हो।

लोक कलाओं का वर्णन भी देथा ने अपने साहित्य में किया है। “कालीन, शाल और कम्बलों में बेल-बूँटे, झाड़-झंखाड़ व फूल पत्ते ऐसे बुनता था गोया सचमुच के हों। उसके हाथों बुने कालीन के फूलों पर भंवरे भ्रम से मंडराते थे और कभी पके फलों के भुलावे में तोते चोंचे मारते थे।”⁶ देथा की लोक कला में विद्यमान उसके सहज स्वरूप के कारण वह जनभिरूचि का कारण बनी रहती है।

लोक साहित्य में व्यावहारिक जगत् की समस्त मान्यताएँ शब्दों में ढलकर अपना रूप धारण करती है। देथा के साहित्य को लोक साहित्य ही कहा जा सकता है क्योंकि लोकमानस की चित्तवृत्तियों, मूल्यों, विचारों, विश्वासों, भावनाओं, संवेदनाओं का इतिवृत्त लिखने का कार्य देथा के साहित्य में हुआ।

लोक गीत, लोक कण्ठ से निःसृत सहज काव्य है। राजस्थानी संस्कृति लोकगीतों से विभूषित रही है। यहाँ इतने प्रकार के गीत होने के कारण इस भूमि को ‘गीत रत्नाकर’ तक कहा गया है। देथा ने अपने गीतों में राजस्थानी संस्कृति को पूर्ण वैभव के साथ प्रतिबिम्बित किया है। उन्होंने संस्कार, ऋतु, व्रत, श्रम आदि विभिन्न प्रकार के गीतों का वर्णन किया है। चिरमी की फसल बोते समय लोगों द्वारा चिरमी का श्रम गीत गाने का उदाहरण द्रष्टव्य है-

“अबै म्हारी चिरमी नै वावण लागी

वाई वाई वेलू रैता में चिरमी तोड़ करू तरकारी

अबै म्हारी चिरमी सींचण लागी।”⁷

लोक कथा के माध्यम से विजयदान देथा ने राजस्थानी लोक जीवन एवं लोक संस्कृति को अपने साहित्य में जीवंत कर दिया है। ‘बातां री फुलवाड़ी’ के तेरह भागों में लोक कथाओं को ही प्रस्तुत किया है। देथा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से लोक कथा की आत्मा को जीवित रखा।

अंततः कह सकते हैं कि विजयदान देथा ने अपने कथा साहित्य की पृष्ठभूमि में राजस्थानी संस्कृति को ही उद्घाटित किया है। यहाँ के संस्कार, रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार, वेशभूषा, खान-पान विभिन्न ललित कलाओं आदि को अपनी कथा, पात्रों, प्रसंगों के माध्यम से व्यंजित कर उन्होंने राजस्थानी संस्कृति को पाठक के सामने सजीव कर दिया है। समाज और संस्कृति का अद्भुत सामंजस्य और कथा में उसकी उत्कृष्ट तथा भव्य अभिव्यक्ति उनके साहित्य को जीवंतता प्रदान करती है।

संदर्भ

1. संस्कृति के चार अध्याय-डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, पृ.-5
2. बातां री फुलवाड़ी, भाग-6-विजयदान देथा, पृ.-194
3. सपनप्रिया-विजयदान देथा, पृ.-192
4. तीडा राव-विजयदान देथा, पृ.-17
5. उजाले के मुसाहिब-विजयदान देथा, पृ.-177
6. लजवंती-विजयदान देथा, पृ.-24
7. मीठै वीरा रौ बोलणो-विजयदान देथा, पृ.-36

महारानी किशोरी : राजनीतिक कौशल एवं उपलब्धियाँ

डॉ. राकेश कुमार शर्मा

भरतपुर के जाट राज्य का गौरव अक्षुण्ण बनाये रखने में यशस्वी महाराजा सूरजमल की महिमामयी अर्धांगिणी किशोरी रानी का ठोस योगदान है। संकटपूर्ण परिस्थितियों में राजनीतिक कौशल का परिचय देकर अनेकों बार महारानी किशोरी रानी ने भरतपुर राज्य का संरक्षण किया और उसके अस्तित्व पर आँच न आने दी। जाटों के समान ही मुगलों और मराठों में उसका सम्मान था। मुगल सेनापति नजफ ख़ाँ और मराठों के मूर्धन्य सेनापति महादजी सिन्धिया महारानी किशोरी को मातृतुल्य समझते थे।

धर्मप्राण महारानी किशोरी ने राजनीति के क्षेत्र में ही अपनी कुशाग्रता और बुद्धिमता का परिचय नहीं दिया साहित्य और कला के क्षेत्र में भी अग्रणी थी। उन्होंने साहित्यिक प्रतिभाओं को समय-समय पर प्रोत्साहन दिया। कविवर जय सिंह, रामानन्द, सुधाकर, शिवराम आदि ने इनके आश्रय में रहकर साहित्य-सृजन का कार्य किया। इसी काल में रामानंद कवि ने लीला रतन चूड़ामणी नामक ग्रन्थ की रचना की।¹ दूरदर्शिता, आतिथ्य, संवाद निपुणता, आत्म सम्मान एवं धर्मपरायणता की प्रतिमूर्ति महारानी किशोरी का चरित्र निश्चय ही जीवन को गरिमापूर्ण बनाने के लिए प्रेरणा स्रोत है। किशोरी की शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है परन्तु लोककथाओं में सूरजमल से उसके विवाह के प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि वह अत्यन्त सुस्कारित आत्म सम्मान से भरपूर तथा लकीर की फकीर नहीं थी। हाथी पर विराजमान राजकुमार सूरजमल के लिए होड़ल के बाजार रास्ता खाली कराने के लिए सैनिकों के प्रयास को बालिका किशोरी ने मार्ग में खडे होकर चुनौती देते हुए कहा कि रास्ता तो काफी खाली पड़ा है और अगर आदमियों से इतनी नफरत है तो राजकुमार अपनी सवारी बाजार के बजाए जंगल से निकाल लेते। एक ग्रामबाला के इस प्रकार के साहस ने राजकुमार सूरजमल का हृदय जीत लिया। काशीराम की सामान्य स्थिति को दृष्टिगत रख सूरजमल ने विवाह हेतु फेंटा और कटारी भिजवा दिया परन्तु किशोरी ने इसे अपना अपमान समझा। उसके पिता ने बेटी के मन की बात को रखा तथा कहला दिया कि राजकुमार स्वयं पधारे तथा ब्याह कर ले जाएं। राजकुमार सूरजमल ने किशोरी का मान रखा तथा स्वयं होड़ल पधारकर उन्होंने किशोरी से विवाह किया।²

आत्मसम्मान की रक्षा के लिए बचपन से ही किशोरी को प्रचलित परम्पराओं तथा कन्याओं की अन्यान्य वर्जनाओं को तोड़ने की पहल करने में कोई हिचक न थी।

नेत्ररोग की भयंकरता से पीडित बदन सिंह के राजकार्यों से निवृत्त होने के कारण नवम्बर 1745 ई० में युवराज सूरजमल शासन संचालन के पूरे अधिकारों के साथ जाट राज्य का वास्तविक शासन बन गया था। किशोरी केवल अपने अप्रतिम लावण्य के कारण ही सूरजमल के हृदय की अधिष्ठात्री न बनी थी, अपितु अपने साहस एवं नीति नैपुण्य से भी उसने अपने पति के राज्य के परिवर्धन परिरक्षण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।³

परन्तु उस काल के निरन्तर बदलते शक्ति-सन्तुलनों और राजनीतिक उथल पुथल से भरतपुर एक बहुत ही नाजुक केन्द्र बन गया था। मुगलों, मराठों, राजपूतों और रूहेला अफगानों को भरतपुर का उत्थान फूटी आँखों न सुहाता था। इन शक्तियों के मध्य सूरजमल ने अपनी स्थिति को काफी दृढ़ कर लिया था।

मुगल सम्राट के विरुद्ध हुए गृहयुद्ध सूरजमल ने सफदरजंग का साथ दिया था। यद्यपि सम्राट ने उसको विधिपूर्वक क्षमा कर दिया था परन्तु वह दिल्ली दरबार तथा गाजीउद्दीन द्वितीय की घृणा का पात्र था। गाजीउद्दीन ने इस समय सूरजमल को दण्ड देने का निश्चय कर लिया। मराठों को हाल ही में आगरा तथा अजमेर के सूबे प्राप्त हुए थे, तथा उनका विचार वहाँ पर अपना वास्तविक नियंत्रण स्थापित करने का था। आगरा का सूबा सूरजमल के लिए विशेष लाभ का कारण था क्योंकि वह उसके भरतपुर तथा मथुरा के अपेक्षाकृत प्रदेशों के निकट था। अजमेर का सूबा मारवाड के राजा को समान रूप से प्रिय था तथा उसने जयप्पा सिन्धिया के लोभ को भी जागृत कर दिया था। मल्हार राव होल्कर ने अपने पुत्र खाण्डेराव को अपने विश्वस्त गंगाधर तात्या के साथ दिल्ली भेजा ताकि वह गाजीउद्दीन से मिलकर अभियान की योजना की रचना करें।

सूरजमल अपनी चतुर पत्नी रानी किशोरी उर्फ हंसिया से प्रत्येक संकट के अवसर पर सदैव परामर्श करता था।⁴ रानी की राजकाज में रुचि थी और वह अपने आँख-कान खोलकर रखती थी और संकट के समय सुविचारित परामर्श देकर कोई न कोई मार्ग निकाल लेती थी। कुम्हेर के घेरे के अवसर पर सन् 1754 में ऐसी ही विकट स्थिति उत्पन्न हो गई। यह ही वह स्थान था जहाँ सूरजमल ने 80,000 सैनिकों की सम्मिलित मुगल-मराठा सेना का 20 जनवरी 1754 से 18 मई 1754 तक डटकर सामना किया।⁵ भीषण संघर्ष में एक गोली से 17 मार्च को मल्हार राव होल्कर के प्रिय एवं इकलौते पुत्र खाण्डेराव होल्कर का देहांत हो गया जिसके कारण उसके पिता को वृद्धावस्था में भारी दुःख हुआ।⁶ इस घोर वेदना में मल्हार राव होल्कर ने जाटों के

विरुद्ध भीषण प्रतिशोध की प्रतिज्ञा की और किसी समझौते को स्वीकार न किया और आक्रमणों का दबाव इतना बढ़ा दिया कि सूरजमल हतप्रभ हो गया। उसकी सहायता को कोई नहीं आया। यहाँ तक कि सफदरजंग भी नहीं जिसके लिए उसने मदद में कोई कसर न छोड़ी थी। जीवन में पहली और अन्तिम बार सूरजमल को निराशा और उदासी ने आ घेरा। पराजय और विनाश को अब देर तक टाला नहीं जा सकता था। जब ऐसा लगने लगा कि सब कुछ नष्ट होकर ही रहेगा तब रानी किशोरी उर्फ हंसिया ने अपने पति के भग्न होते उत्साह को फिर जगाया और कहा कि मुझ पर भरोसा रखो। अपने मन से निराशा को बिल्कुल निकाल दो।⁷ रानी किशोरी को मराठा शिविर की फूट और गुटबन्दियों का पूरा पता था। मल्हार राव होल्कर और जियाजी राव सिन्धिया एक दूसरे से जलते थे। रानी को इस विषय में पूरी जानकारी थी और वह यह भी जानती थी कि सिन्धिया उदारचित और निष्कपट स्वभाव का व्यक्ति है। एक रात रानी किशोरी उर्फ हंसिया ने रूपराम के पुत्र तेजराम कटारिया को सूरजमल का एक पत्र लेकर उसके पास भेजा। उसने सहायता मांगने और मित्रता स्थापित करने के लिए सूरजमल की पगड़ी भी जियाजी राव सिन्धिया के पास भेजी। उन दिनों इसके लिए पगड़ियों के विनिमय की प्रथा प्रचलित थी। ग्वालियर के सरदार ने तुरंत उत्साह एवं उदारता के साथ उत्तर दिया। उसने बदले में एक पगड़ी, उनके साथ एक बिल्व पत्र भी भेजा जो उसी सत्यनिष्ठा का सबसे पक्का प्रमाण था। उसे उपहारों तथा मैत्रीपूर्ण प्रार्थनाओं द्वारा अपने पक्ष में कर लिया।⁸ सिन्धिया और सिनसिनवार के मध्य हुए इस सम्पर्क का समाचार शीघ्र ही प्रकट हो गया और इसका यह अभीष्ट परिणाम हुआ कि मल्हार राव होल्कर के हौसले टूट गये।⁹

जियाजीराव अपने प्रभाव का उपयोग करके रघुनाथ राव द्वारा घेरा उठा देने के लिए सहमत हो गया। जियाजीराव (जयप्पा) ने आग्रह किया कि जाटों से समझौता कर लेना ठीक है और इस निरर्थक युद्ध को समाप्त कर देना ही उत्तम होगा। उधर जाट राजा 30 लाख रूपये वार्षिक भागों में देने को सहमत हो गया। शान्ति स्थापित हो गई। सरदेसाई लिखते हैं कि यह रघुनाथराव की असफलता थी। युद्ध से पूर्व राजा सूरजमल शान्ति के मूल्स के रूप में 40 लाख रूपये देने को तत्पर था और रघुनाथराव एक करोड़ की मांग कर रहा था। कुम्हेर के इस प्रकरण की समीक्षा करते हुए फादर वैदेल कहते हैं “सूरज मल की धाक इस घेरे के दिनों में और भी बढ़ गयी थी और सारे हिन्दुस्तान पर छा गयी थी। अब उसे यह यश और प्राप्त हो गया कि उन दो सरदारों से जो अपनी अपनी सेनाओं में उसके समकक्ष थे, सौदेबाजी करने में और उनसे अपनी मनचाही शर्तें मनवाने में सफल हुआ।¹⁰ कुम्हेर के घेरे में मराठों और मुगलों से सकुशल और अक्षत बच जाने में रानी किशोरी उर्फ हंसिया के साहस एवं बुद्धिचातुर्य की जितनी सराहना की जाये, कम है।

14 जून 1761 में मराठों और अहमदशाह अब्दाली का पानीपत में भयानक युद्ध हुआ जिसमें मराठे पराजित हो गये। इस युद्ध में बचे हुए लगभग एक लाख मराठे बिना शस्त्र, वस्त्र और भूखे कोई चारा न पाकर महाराजा सूरजमल के राज्य क्षेत्र की ओर जान बचाकर दौड़े। यद्यपि युद्ध से पूर्व महाराज सूरजमल ने मराठा सेनापति सदाशिवराव भाऊ का उसकी हठधर्मिता के कारण उसका साथ छोड़ दिया था परन्तु इस अवसर पर उसने तथा उसकी महारानी किशोरी ने प्रेम और उत्साह से उन्हें सांत्वना दी, उनका सत्कार और आतिथ्य किया। हारे मराठे सैनिक अनुचरों को मुफ्त खाना-पीना दिया तथा घायलों की सेवा सुश्रुषा की गई। ग्रांट डफ ने मराठे शरणार्थियों के साथ किये गये व्यवहार के विषय में लिखा है “जो भी भगोड़े उसके राज्य में आये, उनके साथ सूरजमल ने अत्यन्त दयालुता का बरताव किया और मराठे उस अवसर पर किये गये जाटों के व्यवहार को आज भी कृतज्ञता तथा आदर के साथ याद करते हैं।¹¹ नाना फडनवीस ने एक पत्र में लिखा था- सूरजमल के व्यवहार से पेशवा के चित्त को बड़ी सांत्वना मिली।¹² यह सब महारानी किशोरी का प्रभाव था कि उसने इस संकट के समय अनुकरणीय मानवीय दृष्टिकोण का परिचय दिया। भाऊ की पत्नी पार्वती बाई डींग पहुँचकर कई दिन तक रोती बिलखती रही। महारानी किशोरी ने धैर्य बंधाया, सांत्वना दी और दक्षिण तक अपने सैनिकों को सुरक्षा में भेजा। अन्य शरणार्थियों को भी सुरक्षित ग्वालियर तक पहुँचाया। यह सहायता ऐसे समय की जा रही थी कि जब मराठों को सहायता का अर्थ था अब्दाली को रूष्ठ कराना था।¹³ इस संकट के समय किसी राजपूत शासक ने मराठा शरणार्थियों की मौखिक सहानुभूति तक के लिए दृष्टिपात नहीं किया।

महारानी किशोरी ने महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को पांच-पांच रूपया तथा वस्त्रादि भेंट देकर पुण्य अर्जित किया। मराठों की आवभगत में दस लाख रूपया व्यय हुआ।¹⁴ सर जान मार्शल माल्कोल्म जाटो द्वारा दी गई इस सहृदयता के लिए जिसकी प्रेरणा स्रोत महारानी किशोरी थी लिखते हैं “मराठों का जाटो के प्रति आज भी अत्यधिक सम्मान है जिन्होंने पानीपत की भयानक पराजय के उपरान्त उसके पूर्वजों को शरण, सहायता और सुरक्षा दी। उसने वस्त्र और भोजन ही नहीं दक्षिण में अपने घरों के पहुँचने तक सुविधा एवं सुरक्षा प्रदान की। इसी के परिणामस्वरूप मराठा जाति में कोई ही बिरला होगा जो जाटो के प्रति कृतज्ञता अनुभव न करता हो।¹⁵ इतिहास में ऐसी उदाहरण प्रायः नगण्य ही हैं जहाँ मन मुटाव के उपरान्त भी किसी महारानी ने इतनी सदाशयता, उदारता और विशाल हृदयता का परिचय दिया हो।

25 दिसम्बर 1763 को नजीब रूहले से युद्ध में रहस्यमय परिस्थितियों में सूरजमल के देहावसान पर के.आर. कानूनगो लिखते हैं कि जाट जाति की आँख और

ज्योति गत पन्द्रह वर्षों से हिन्दुस्तान का सबसे दुर्धर्ष राजा अपने काम को अधूरा छोड़कर जीवन के रंगमंच से लुप्त हो गया।¹⁶ अपराजित, नेता विहीन भग्न हृदय जाट सेवा रणभूमि से लौट आई। राजकुमार तथा विधवा महारानियां शोक विह्वल हो गईं और मार्ग पूरा तरह अंधकारमय हो गया। महारानी किशोरी के भाई बलराम ने तुरन्त महाराजा के ज्येष्ठ पुत्र जवाहर सिंह के बजाय कनिष्ठ पुत्र नाहर सिंह को जिसे महाराजा सूरजमल भी चाहते थे राजा घोषित करके डींग में गद्दी पर बैठा दिया। यह अत्यन्त संकट की घड़ी थी क्योंकि इस समय के किसी भी गलत निर्णय के दूरगामी परिणाम होते। उत्तराधिकार के इस निर्णय के समर्थन में खापे के वृद्ध नेताओं की एक परिषद ने भी नाहर सिंह को ही उत्तराधिकारी मान लिया। परन्तु महारानी किशोरी ने सारी परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए बड़े मार्मिक ढंग से अपील की कि उसकी एकमात्र इच्छा यह है कि महाराज की हत्या का बदला लेने के समर्थ उत्तराधिकारियों को ही राजा बनाया जाये। यद्यपि महारानी किशोरी निःसन्तान थी परन्तु सामरिक कुशलता और साहस को देखते हुए उसने अपने दत्तक पुत्र जवाहर सिंह के पक्ष में अपना समर्थन दिया। स्वयं जवाहर सिंह ने इस संकट की घड़ी में अपने भीष्म संकल्प को दोहराया। सदस्य स्वयं समझते थे कि इस कार्य को जवाहर सिंह के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं कर सकता। फलतः सभी ने जवाहर सिंह को अपना राजा स्वीकार कर लिया और बलराम का षडयंत्र विफल हो गया। सिंहासनासीन होते समय जो पगडी बांधी जाती है उस समय भी महारानी किशोरी ने जो नीतिपूर्ण वचन कहे उन्हें आज तक भी लोक गीतों में गाया जाता है। लोक गायकों के शब्दों में महारानी किशोरी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा था -

बांधियों तो बांधिये प्रताप की पगडी

दिल्ली में धक्के खाती फिरै तेरे बाप की पगडी।

अपने पिता की हत्या के प्रतिशोध के लिए तुरन्त ही जवाहर सिंह ने आक्रमण का निश्चय किया। परन्तु नजीबुद्दौला से युद्ध करने के लिए धन और सैनिक शक्ति दोनों की आवश्यकता थी। अतः उसने अपनी माता महारानी किशोरी से आर्थिक सहायता के लिए निवेदन किया, तब उसे राजमाता किशोरी से पर्याप्त धन प्राप्त हो गया।¹⁷ इस स्थिति में अनिच्छुक होते हुए जाट सामन्तों को जवाहर सिंह का साथ देने के लिए सहमत होना पड़ा।¹⁸ राजमाता किशोरी से पर्याप्त धन-सम्पत्ति प्राप्त करके जवाहर सिंह ने मल्हाराव होल्कर से सम्पर्क किया और 22 लाख रूपये से 20,000 मराठा अश्व सेना का सहयोग प्राप्त कर लिया एवं 15,000 सिक्खों की सेना भी आमंत्रित की। मध्य दोआब की चौकियों पर कब्जा कर नवम्बर 1764 में नजीबुद्दौला पर आक्रमण कर दिया। यह दिल्ली अभियान नवम्बर 1764 से फरवरी 1765 तक

चला।¹⁹ इस युद्ध से वांछित परिणाम तो नहीं निकल सके परन्तु तत्कालीन राजनीतिक शक्तियों की सेनाओं के गौरवपूर्ण सेनापतित्व को करते हुए जवाहर सिंह ने इस दिल्ली अभियान को राष्ट्रीय महत्ता प्रदान कर दी और दिल्ली आक्रमण लूट की आधी सामग्री भरतपुर में आई इस क्षेत्र में 'दिल्ली वारे की लूट' नामक कहावत आज भी सुनी जाती है। जवाहर सिंह के इस अभियान की प्रेरणास्त्रोत महारानी किशोरी थी। लोक गीतों में आज भी ये पंक्तियां सुनने को मिलती हैं।

कियो सिंहगढ फहत सिवा ने सुनते ही मात के बैन

मेरे सिवा करे सर दिल्ली तब आवेगो मो को चैन

महारानी किशोरी धर्मपरायण महिला थी। धार्मिक स्नान की महिमा के अन्तर्गत पुष्कर मेले का वर्णन, पुराणों में भी मिलता है। ऐसी मान्यता है कि जब तक पुष्कर के कुण्ड में स्नान न कर लिया जाये चारा धर्मों की यात्रा सम्पूर्ण नहीं मानी जाती। पुष्कर में ब्रह्मा की बड़ी प्राचीन मूर्ति है। इस स्थान पर यात्री स्नान कर अपने को पुण्य लाभ के भागी समझते हैं। इधर राजपूत जाटों को हीन भावना से देखते थे तथा उन्हें पुष्कर स्नान के पात्र ही नहीं मानते थे। जवाहर सिंह राजपूतों को हेय दृष्टि से देखता था और विशेषतया जयपुर के राजपूतों को जिन्होंने मुगलों को अपनी बेटियां दी थी। जवाहर सिंह गाजे-बाजे के साथ पुष्कर पहुंचा, महारानी किशोरी ने स्नान-ध्यान किया तथा अतुल राशि दान पुण्य में ब्राह्मणों तथा अन्य सुपात्रों को वितरित की। परन्तु वापिस लौटती समय 14 दिसम्बर 1767 के राजपूतों ने जवाहर सिंह पर धावा बोल दिया। परन्तु जवाहर सिंह अपने कौशल तथा अपने सेना सहायक समरू और रैन मादे की वीरता से सुरक्षित बच निकला।²⁰ सन् 1768 ई में अगस्त मास में महाराज जवाहर सिंह की हत्या कर दी गई।²¹

महाराजा जवाहर सिंह की हत्या से भरतपुर राज्य पर संकट के बादल छा गये। जवाहर सिंह को उत्तराधिकारी रतन सिंह पूर्णतया अयोग्य था और केवल नौ मास ही शासन कर पाया। उसका पुत्र केशरी सिंह अल्प व्यस्क था और शासन की बागडोर नवल सिंह को दी गई परन्तु उसका भाई रणजीत सिंह उसके विरुद्ध था। इस पारिवारिक कलह से लाभ उठाकर नजफखां ने नवल सिंह को बरसाना के युद्ध में परास्त कर सन् 1774 में डींग भी जाटों से छीन लिया।²² जाटों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। भरतपुर परगने के अतिरिक्त जाटों के सारे क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया। धौलपुर क्षेत्र पर भी उसी का अधिकार हो गया।²³ इन विषम और भयानक परिस्थितियों में महारानी किशोरी ने चरम आत्मविश्वास, उत्कट दूरदर्शिता और अपूर्व साहस का परिचय दिया। वह स्वयं नजफ खां के खेमे में गईं और अपनी कुशलता, वाक्पटुता और धैर्य से नजफ खां को प्रभावित करने में सफल हो गईं।

नजफ खां ने महारानी किशोरी से मातृतुल्य व्यवहार किया और उसकी अपील पर भरतपुर राज्य के दस परगने वापिस लौटा दिये।²⁴ नजफखां के उत्तराधिकारी मिर्जा शफी खां ने इन पर अपना अधिकार जताया। महारानी किशोरी ने तुरंत चौथ वसूली की प्रथा चालू की तथा राजकोष में धन संग्रह किया। इस प्रकार चरमराई अर्थव्यवस्था को महारानी ने दुरुस्त कर सेना का खर्चा निकाला और मिर्जा शफी खां की योजनाओं को निष्फल कर दिया। उधर मिर्जा शफी की डीग में हत्या हो गई और रणजीत सिंह ने परगनों पर पूर्ण नियंत्रण कर लिया।²⁵

अभी रणजीत सिंह अपनी स्थिति पूरी तरह दृढ़ भी नहीं कर पाये थे कि ईस्वी सन् 1784 में मराठा सरदार महादजी सिन्धिया ने भरतपुर और धौलपुर क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। जाटों की स्थिति पुनः संकटग्रस्त हो गई। इस विषम स्थिति में भी भरतपुर राज्य की संरक्षिका के रूप में महारानी किशोरी ने अटूट धैर्य और अपूर्व कुशलता का परिचय दिया। महारानी किशोरी ने तुरंत महाराज सिन्धिया से भेंट करने का प्रस्ताव रखा। पानीपत के तृतीय युद्ध के उपरान्त महारानी किशोरी ने परास्त मराठों की आवभगत में कोई कसर न छोड़ी थी। महाद जी सिन्धिया ने महारानी किशोरी के प्रस्ताव का मान रखा और उनसे मिले। महारानी किशोरी से महादजी सिन्धिया अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने भरतपुर नरेश रणजीत सिंह को 11 परगने वापिस लौटा दिये। महारानी किशोरी के निर्देशानुसार रणजीत सिंह ने भी महादजी के प्रति अत्यन्त अच्छा व्यवहार रखा और सदैव समर्थन में रहे। इससे प्रभावित होकर महादजी सिन्धिया ने डीग क्षेत्र भी रणजीत सिंह को वापिस लौटा दिया।²⁶ आगे चलकर रणजीत सिंह के सक्रिय और विश्वसनीय सहयोग के कारण 1795 में तीन परगने और प्राप्त हो गये²⁷ इस प्रकार महारानी किशोरी ने अपनी सूझबूझ से भरतपुर राज्य की रक्षा की। यदि रानी नहीं होती तो सिन्धिया के हाथो रणजीत सिंह के हटते ही भरतपुर का अस्तित्व हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जाता।²⁸

महारानी किशोरी के व्यक्तित्व और उसकी उपलब्धियों का आंकलन यदि प्रसिद्ध विद्वान को कोजुबसका द्वारा उल्लिखित करिश्माई नेतृत्व के सात तत्वों के आधार पर किया जाये तो उसकी गणना विश्व की शिरोमणि महिलाओं में की जा सकती है। चरम आत्म विश्वास, गरिमामय लक्ष्य से युक्त विचक्षणता, सम्प्रेषण क्षमता, आग्रहपूर्ण दृढता एवं धुन, विशिष्ट शैली, दूरदर्शिता तथा चुम्बकीय रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व के मानकों पर महारानी किशोरी खरी उतरती है। उनका व्यक्तित्व चुम्बकीय था। कुम्हेर पर मराठा अभियान के समय जब महाराज सूरजमल और उनका विश्वसनीय परामर्शदाता रूपराम कटारिया हतप्रभ थे तो महारानी किशोरी ने चरम आत्म विश्वास प्रदर्शित करते हुए समस्या का समाधान कर डाला। उनकी सम्प्रेषण क्षमता अदभुत

थी। नजफ खां और महादजी सिन्धिया जैसे महान सेना नायकों से वार्तालाप करने में उन्हें थोड़ी भी हिचक नहीं हुई और अपनी विशिष्ट शैली तथा गरिमामय लक्ष्य से युक्त विचक्षणता के आधार पर आग्रहपूर्ण दृढता का परिचय दिया तथा खोये हुए राज्य को प्राप्त करने में आश्चर्यजनक राजनीतिक कौशल का परिचय दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि सुप्रसिद्ध महिलाओं से उनकी तुलना की जाय तो भी महारानी किशोरी का व्यक्तित्व सर्वोपरि उभर कर आता है। रजिया सुल्तान अत्यन्त योग्य होते हुए भी अमीर उमरावो के कोपभाजन का शिकार बन गई। नूरजहां की चमक जहांगीर के मरने के बाद तिरोहित हो गई, बेगम समरू ने यद्यपि अपनी जागीर पर 58 वर्ष तक अपने कौशल से आधिपत्य बनाये रखा परन्तु वह अपने दत्तक पुत्र को उत्तराधिकार दिलाने में असफल रही। राजनीतिक कौशल एवं उपलब्धियों को दृष्टिगत रखते हुए, महारानी किशोरी का स्थान भारतीय इतिहास में सर्वोपरि कहना तर्कसंगत होगा।

सन्दर्भ

1. डॉ. उषा भार्गव, राजस्थान के नारी रत्न, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1992, पृ. 16
2. उपर्युक्त, पृ. 13
3. जाट वीरांगनाएँ सम्पादित सुखबीर सिंह दलाल, प्रथम संस्करण 1995, पृ. 70
4. जी.एस. सरदेसाई, मराठों का नवीन इतिहास, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1961 पृ. 486
5. उपर्युक्त, पृ. 486
6. फाल्के सीरीज, ग्वालियर बी, 204
7. के.आर. कानूनगा, हिस्ट्री ऑफ द जाट्स (संपादित डॉ. वीर सिंह) ओरिनल्स, दिल्ली पब्लिकेशनस 2003, पृ. 54
8. उपर्युक्त, पृ. 54
9. कृ. नटवर सिंह, महाराजा सूरजमल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम हिन्दी संस्करण 1985 पृ. 76
10. उपर्युक्त, पृ. 77-78
11. ग्रांट डफ, ए हिस्ट्री ऑफ द मराठाज, पृ. 30
12. कृ. नटवर सिंह, महाराजा सूरजमल, पृ. 118
13. के.आर. कानूनगो, हिस्ट्री ऑफ द जाट्स, पृ. 82
14. उपर्युक्त, पृ. 118
15. मैमायर्स ऑफ सैन्ट्रल इण्डिया A, 129, 1880 का पुर्नमुद्रण
16. के.आर. कानूनगो, हिस्ट्री ऑफ द जाट्स, पृ. 90

17. मनोहर सिंह, भरतपुर महाराज जवाहर सिंह जाट, हिन्दी साहित्य मन्दिर, राणावत, जोधपुर प्रथम संस्करण पृ0 40
18. उपर्युक्त पृ. 40, यदुनाथ सरकार - फॉल आफ द मुगल एम्पायर 2, द्वितीय संस्करण पृ. 335
19. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, भरतपुर पृ. 67
20. मनोहर सिंह राणावत, भरतपुर महाराज जवाहर सिंह जाट पृ. 83
21. उपर्युक्त, पृ. 90
22. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर - भरतपुर सम्पादक के. के. सहगल, 1971, पृ. 69
23. उपर्युक्त
24. उपर्युक्त
25. उपर्युक्त
26. उपर्युक्त
27. उपर्युक्त
28. डॉ. उषा भार्गव, राजस्थान के नारी रत्न, पृ. 15

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'गुलाबड़ी' उपन्यास में लोक संस्कृति एवं नारी चेतना

नीतू सिंह चौहान

मानव जाति के विकास में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। संस्कृति किसी राष्ट्र की चेतना होती है। साहित्य और कला में समाज की संस्कृति लक्षित होती है। संस्कृति के अंतर्गत हम किसी भी क्षेत्र की कला, साहित्य, धर्म, दर्शन तथा लौकिक जीवन के आदर्शों आदि को उद्घाटित कर सकते हैं। संस्कृति शब्द को अंग्रेजी में 'कल्चर' कहते हैं। जिसमें मनुष्य ने ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक मान, कानून वेष और इसी प्रकार की अन्य योग्यताओं और आदतों को समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त किया है। टी.एस. इलियट ने "सामान्य जीवन प्रक्रिया को ही संस्कृति माना है।"¹

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोक नगर में परिष्कृत, रूचि, सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उन्हें उत्पन्न करते हैं।"² जो लोग सभ्य व आधुनिक समाज के परिष्कृत लोगों के प्रभाव से मुक्त होते हुए भी अपनी प्राचीन परिस्थिति को वर्तमान में भी कायम रखते हैं उन्हें ही लोक कहा जाता है। 'संस्कृति' और 'लोक' से मिलकर ही 'लोक संस्कृति' का निर्माण हुआ है। लोक संस्कृति का अभिप्राय जन साधारण की उस संस्कृति से है जो लोक से प्राप्त होती है अर्थात् सामान्य वर्ग के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाजों आदि को सम्मिलित किया जाता है। समाज का एक वर्ग किस प्रकार अपने रीति-रिवाजों, लोक प्रथाओं, लोक विश्वास आदि को समाज में स्थापित करता है, यह सब लोक संस्कृति के अंतर्गत आता है "लोक संस्कृति को अंग्रेजी में 'फोरलोक' कहा जाता है तथा सन् 1846 ई. में विलियम टॉम्स ने इस शब्द का प्रयोग कर 'लोक संस्कृति' को अपनाया।"³ "लोक संस्कृति का विषय क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। किसी भी अंचल में रहने वाले जन-समुदाय का प्रकृति से संबंध व मानव-मानव से संबंध सब कुछ लोक संस्कृति के

अंतर्गत आता है। 'सोफिया बर्न' ने लोक संस्कृति को तीन भागों में विभाजित किया गया है। (1) लोक विश्वास, (2) रीति-रिवाज, (3) लोक साहित्य।¹⁴

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' एक सफल उपन्यासकार हैं। 'चन्द्र' जी ने 'गुलाबड़ी' उपन्यास के माध्यम से राजस्थान की लोक संस्कृति का चित्रण किया है, साथ ही समाज में नारी की स्थिति को प्रस्तुत किया है। निम्न वर्ग की नारी किस प्रकार सामंती वर्ग के समाज में रहकर अपना जीवन-यापन करती है। 'गुलाबड़ी' यहाँ सत्य व संघर्ष का प्रतीक है। नारी लोक संस्कृति की संवाहिका होती है। "नारी मानव और परिवार के अस्तित्व की पहली निशानी है। करुणा और प्रेम उसके प्रमुख अलंकरण हैं जिनके आधार पर ललना, रमणी, कामिनी, बहिन माँ, अबला आदि नामों से पहचानी जाती है।"

'गुलाबड़ी' उपन्यास के अंतर्गत यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने बीकानेर जिले के भौगोलिक व ग्रामीण संस्कृति का वर्णन है 'गुलाबड़ी' उपन्यास की प्रमुख नायिका है। एक निम्न वर्ग की महिला के जीवन को इस उपन्यास की रचना का आधार बनाया है। इसमें ग्रामीण परिवेश में रहने वाले निम्न वर्ग के जन-जीवन, वहाँ की लोक संस्कृति को उजागर किया है। उपन्यास की कथा 'गुलाबड़ी' के संघर्ष की गाथा है। यह नारी अस्मिता सत्य व संघर्ष का प्रतीक है, साथ में लोक संस्कृति को अवलोकित किया है।

"उपन्यास में बताया है कि उच्च वर्ग के लोगों का खान-पान अलग होता है और निम्न लोगों का अलग होता है। जब सामंत वर्ग के द्वारा कभी-कभी निम्न वर्ग के लोगों को खाने पर बुलाया जाता है। तो ये सामंत लोग खाने में भी भेद करते हैं। कुछ लोगों को तो माँस-मदिरा तथा बाजरे का खिचड़ा बनाया था कुछ लोग घी के साथ खाते हैं तो कुछ दूध के साथ।"¹⁵ जहाँ जैसी भौगोलिक परिस्थितियाँ होंगी, मनुष्य वैसी ही वेशभूषा धारण करेगा वेशभूषा पर आर्थिक परिस्थितियाँ भी सीधा प्रभाव डालती हैं। वेशभूषा की दृष्टि से राजस्थान अपनी अलग पहचान रखता है "यहाँ लोगों में साफा (पगड़ी) का विशेष रिवाज है, व्यक्ति की शान समझी जाती है। यहाँ के पुरूष धोती, अंगरखी, कमीज, पगड़ी आदि तथा पावों में जूतियाँ (मोचड़ी) पहनते हैं। महिलाएँ लहंगा, कांचली, कुर्ती पहनती हैं तथा ओढ़नी ओढ़ती हैं। गहनों में सुहाग चिन्ह, सिर का बोरिया, नाक का कांटा आदि पहनती हैं। इस प्रकार उपन्यास के माध्यम से राजस्थान की वेशभूषा व आभूषणों का वर्णन किया गया है। सामान्त लोग अच्छे कपड़े व सोने के आभूषण पहनते हैं। निम्न वर्ग के लोग सामान्य वस्त्र, चाँदी या ताँबे के आभूषण पहनते हैं।"¹⁶

राजस्थान के घर स्थापत्य कला के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की हवेलियाँ अपनी बेजोड़ स्थापत्य कला व नक्काशी के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ के राजप्रसादों, दुर्गों

हवेलियों व साधारण जन के घरों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। "उपन्यास में नायिका 'गुलाबड़ी' के रहन-सहन को बताया है वह एक 'सालकी' (घर) में रहती है। सारा घर कच्चा है तथा कच्ची ईंटों से बना है। उस पर गेरू रंग की मिट्टी का पलस्तर है सालकी में दो आले थे।"¹⁷ दूसरी तरफ सेठ रामरतन की हवेली पीले रंग की तीन मंजिला थी छोटी-छोटी अनगिनत हवेलियाँ कलात्मक पत्थर से सृजित तौरण द्वार के किवाड़ भी बढ़इयों की कारीगरी के नमूने थे इससे राजस्थान की कला प्रदर्शित होती है।

हमारे भारतीय समाज में किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के बाद पितरों के रूप में उसकी पूजा होती है एवं मृत्यु के बारह मासों बाद श्राद्ध पक्ष में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। श्राद्ध से पितरों को भोजन मिलता है। 'गुलाबड़ी' के पति 'गोपाले' की मृत्यु हो जाने पर 12 महीने के बाद गुलाबड़ी उसका श्राद्ध करवाती है। "राजस्थान में लोग लोकदेवी-देवताओं पर भी गहरी आस्था रखते हैं। देवता रूप में उनकी पूजा होती है। इनमें प्रमुख : रामदेव जी, भैरू जी, पाबु जी, हरभू जी, तेजाजी, पीपा, करणी माता, शीतला माता, जीर्णमाता, कैला देवी आदि। इन सभी लोक देवताओं ने जन-जन के भौतिक कष्टों तथा पापों का निवारण कर समाज में धर्म भावना को बढ़ावा दिया तथा समाज-सुधार कर लोगों में सामाजिक चेतना जाग्रत की। 'चन्द्र' ने इन्हीं लोक देवी-देवताओं के प्रति आस्था को अपने उपन्यास 'गुलाबड़ी' के माध्यम से वर्णित किया है।"¹⁸ पगडंडी पर चलती हुई 'गुलाबड़ी' के रास्ते में दोनों ओर रेत ही रेत है। कहीं-कहीं खेजड़े के पेड़ बीच में "भैरू जी" का मंदिर है। वह वहाँ एक पल रूक कर पगरखी खोलती है। हाथ जोड़कर भैरू जी को धोक देती है, प्रार्थना करती है। हे भैरू बाबा मुझे अन्न-धन सुख संतोष देना।

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन होती है। भाषा के द्वारा मनुष्य समाज को जानता है। 'चन्द्र' ने उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया है। राजस्थानी भाषा का प्रयोग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा स्थानीय भाषा के प्रयोग द्वारा राजस्थान की लोक संस्कृति का चित्रण किया है। नारी प्रकृति का सुन्दरतम उपहार है; सृष्टि का आधार है। नारी समाज संस्कृति और साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। आदिकाल से मानव सभ्यता व संस्कृति के लिए नारी का महत्वपूर्ण योगदान है। नारी का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है मानव जाति की सभ्यता संस्कृति का मूल आधार नारी है और वह साहित्य व समाज का प्रेरक तत्व भी रही है। वैदिक काल में नारी को देवी का रूप माना जाता रहा है, धर्म सभ्यता, संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मनुस्मृति में लिखा है-"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।।" अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। सर्वप्रथम नारी को समाज में सम्मानजनक स्थिति प्राप्त थी। मध्यकाल में आकर यह प्रतिष्ठा कम हो गई। बाल विवाह, सतीप्रथा,

पर्दाप्रथा, कई कुरीतियों से नारी की स्वतंत्रता का ह्रास हो गया। 19वीं सदी तक आते-आते स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया सामज में व्याप्त कुरीतियों को अनेक समाज सुधारकों ने रोका जिनमें राजाराम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानन्द, महात्मा गाँधी आदि थे इन्होंने बाल विवाह को रोककर विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। आजादी के बाद लगातार भारतीय महिलाओं की जीवन शैली में परिवर्तन हुआ।

आज की नारी न देवी है ना दानवी वह दया ममता तथा विश्वास से भरी मनवी है। जो मानव धर्म का निर्वाह करना जानती है। अब वह नैतिकता से बाहर आ चुकी है वह आज समाज की स्वतंत्र ईकाई के रूप में है आधुनिक युग में नारी चेतना का संचार हुआ है। नारी मुक्ति की भावना विकसित हुई शिक्षा और आर्थिक स्वावलम्बन के स्वअस्तित्व के प्रति सचेत होने लगी नारी जीवन में आए हुए इस परिवर्तन का परिणाम साहित्य, संस्कृति और सामाजिक जीवन पर भी पड़ा इसके परिणामस्वरूप नारी में नयी चेतना का विकास हुआ। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने अपने उपन्यास 'गुलाबड़ी' के माध्यम से नारी चेतना को मुखरित किया है तथा एक निम्न वर्ग की स्त्री को अपनी कथा का मुख्य आधार बनाते हुए समाज की विसंगतियों का वर्णन किया है। यह नारी जीवन को चित्रित करने वाला मर्मस्पर्शी उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका 'गुलाबड़ी' परिस्थितियों को झेलती हुई अपनी अस्मिता को बरकरार रखती है। उपन्यास का केन्द्र बिन्दु गुलाबड़ी है तथा 'चन्द्र' जी ने 'गुलाबड़ी' पात्र के माध्यम से समाज की चिंतन प्रधान महिलाओं की सोच को अभिव्यक्त किया है। यह महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है क्योंकि यह महिला स्कूली-विश्वविद्यालयों की शिक्षा से अनभिज्ञ होते हुए अपने नैतिक चिंतन से युक्त श्रमजीवी है। गुलाबड़ी यहाँ नारी चेतना, नारी जागरण सत्य व संघर्ष का प्रतीक है। उसमें अपने कर्म के प्रति दृढ़ आस्था है तथा वह श्रम करते हुए अपना जीवन यापन करना चाहती है।

गंगा मासी के यह बताने पर की उसके नानी सास की तबीयत सही नहीं है। इसलिए वह जाकर उनसे मिल आए तब गुलाबड़ी कहती है कि "सुन मांसी मरने के लिए गाड़ियाँ नहीं जुतती। मौत जिस पल आनी है, वह आएगी ही लेकिन पेट की लाय भी तो बुझानी पड़ती है। सेठ गौड़हरि ने यहाँ से दो कोस पर एक प्याऊ खोली है। उसके लिए हमें बीस मटकियाँ दो माटे देने हैं। यह काम होते ही मैं नानी सासरे चली जाऊँगी। इस प्रकार गुलाबड़ी कर्म को प्रधानता देते हुए सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह करती है।"

सेठ गौड़हरि के कहने पर कि 'गुलाबड़ी' यह जीवन जंगल है। एक हिंसक जंगल में कितने जानवर हैं। कभी भी तुझ पर आक्रमण कर सकते हैं। कभी भी तुझे

विवशताओं में फंसाकर तेरा अनुचित लाभ उठा सकते हैं। जीवन एक न दिखने वाली मृत्यु है। उसके कुछ क्षण प्रेम के होते हैं और वह स्त्री अपने मन के सबसे आनन्ददायक क्षणों को जी सकती है। गुलाबड़ी जबाव देती है, सेठ जी। स्त्री पहले खाली स्त्री होती है, फिर वह किसी की पत्नी बन जाती है। उसे वह अपने सारे धर्म, यहाँ तक देह का अधिकार भी सौंप देती है और वह उसकी दासी बन जाती है। आप ठीक कहते हैं कि कभी-कभी हर पत्नी को केवल लुगाई बन जाना चाहिए, पर वह कैसे बन सकती है इतने संस्कार आड़े आ जाते हैं कि वह डर जाती है। कम से कम मैं लुगाई नहीं बन सकती। मुझे ऐसा करना पाप लगता है....सेठ जी यह तो आत्मछल है पाप है। इसमें एक स्त्री द्वारा अपने स्त्रीत्व की रक्षा की जाती है तथा अपने दृढ़ विश्वासों के द्वारा अपने अस्तित्व को बनाये रखती है। गुलाबड़ी एक निम्न वर्ग होते हुए भी अपनी विचारधारा से पुरुष वर्ग की सोच को बदलने की क्षमता रखती है।

उपन्यास में 'गुलाबड़ी' के चरित्र की जो विशेषता उभर कर सामने आती है, वह है स्वयं के बल पर अपने सम्पूर्ण परिवार का जीवन निर्वाह करना गुलाबड़ी अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए किसी भी प्रकार के कार्य करने को तत्पर हो जाती है। जब एक तरफ उसके पति गोपाले की तबीयत खराब हो जाती है तथा दूसरी तरफ उसके धड़े बनाने का काम भी चौपट हो जाता है। तब वह अपने पति से कहती है कि 'मेरे प्रसव और तेरी बीमारी के कारण सारा धंधा चौपट हो गया है। लग रहा है कि चंद ही दिनों में अन्न-दाँतों का बैर हो जाएगा। यदि तू कहे तो मैं सेठ रामरतन के यहाँ धाय माँ का काम कर लूँ। इस तरह उनके लाड़ले की जान बचा दूंगी और वे तेरी।'⁹ इस तरह उसके मन में अपने परिवार व अपने पुरुषों की सम्पत्ति को बचाने की ललक है। उनके प्रति सम्मान की भावना है। 'गुलाबड़ी' उपन्यास में गुलाबड़ी एक ऐसा नारी चरित्र है जो निम्न वर्ग का होते हुए भी सारे जाति, धर्म आदि पर मानवता के रूप में विजय पा लेता है। एक निम्न वर्ग की स्त्री द्वारा सामंत वर्ग के बच्चे की भूख को शांत किया जाता है, तब गुलाबड़ी एक मानवता का परिचय देती है निम्न जाति की होने पर भी उच्च वर्ग द्वारा उसका सम्मान किया जाता है।¹⁰ 'गुलाबड़ी' में मातृत्व का भाव अत्यंत है, ममतापन है और वह एक कर्तव्यपरायणता नारी है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' उपन्यास में माध्यम से नारी का पुरुष प्रधान समाज के प्रति संघर्ष का वर्णन करते हैं तथा नारी में जागृति लाते हैं इस उपन्यास की नायिका स्त्री होते हुए भी समाज से अपने मूल्यों के लिए, अस्तित्व व पहचान के लिए संघर्ष करती है। वह एक और नारी संघर्ष का परिचय देती है, वहीं दूसरी ओर अपने अस्तित्व व अस्मिता को बरकरार रखती है। प्राचीन काल से ही नारी पुरुष के अधीन रही है व अत्याचार सहती आ रही है पर वर्तमान युग में नारी में भी प्रतिशोध की भावना उजागर हुई तथा इन्होंने पुरुष वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करना शुरू कर दिया। 'गुलाबड़ी' में एक

ओर नारी पात्र गंगा मौसी अपने पति के अत्याचारों से पीड़ित होकर उसके विरुद्ध संघर्ष करती है तथा कहती है कि मैं उसकी पिटाई नहीं कर सकती, पर मैं उसकी जूती नहीं बन सकती। अब मैं नहीं सहन नहीं कर सकती। दृढ़निश्चयी गंगा अपने पति को छोड़कर हमेशा के लिए दाई का काम करने लग जाती है।¹¹

इस प्रकार यादवेन्द्र जी ने अपने उपन्यास के द्वारा नारी वर्ग में संघर्ष की भावना को उजागर किया है। 'गुलाबड़ी' के माध्यम से नारी को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है तथा नारी संघर्ष, नारी त्याग, समर्पण की भावना, नारी उत्पीड़न व नारी की मानसिक स्थिति का वर्णन करके नारी को विकास के पथ की ओर अग्रसर किया है। 'चन्द्र' ने निम्न वर्ग की महिला के जीवन का वर्णन, जो कि एक श्रमजीवी वर्ग की है। उनके माध्यम से वर्तमान युग की स्त्रियों के जीवन को विकसित करने का प्रयास किया है।

संदर्भ

1. डॉ. राजेश सिंह, साहित्य और संस्कृति, पृ.सं.-1
2. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ.सं.-10
3. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ.सं.-7
4. डॉ. विद्या चौहान, लोक साहित्य, पृ.सं.-15
5. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-35
6. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-86
7. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-11
8. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-13
9. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-26
10. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-58
11. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', गुलाबड़ी, पृ.सं.-17

राजस्थान की फड़ चित्रकला एवं रामेश्वर सिंह

प्रो. पुष्पा दुल्लर एवं कु. कावेरी देशवाल

राजस्थान, वीरता तथा शौर्य की भूमि ही नहीं अपितु कला एवं संस्कृति का संरक्षण स्थल भी रहा है।¹ राजस्थान एक विशाल मरुस्थली है, जिसमें सोलहवीं शताब्दी तक अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो चुके थे। इस प्रदेश के शासक राजपूत कहलाते थे। इसलिए पहले-पहल इस प्रान्त का नाम राजपूताना ही पड़ा। जगदीश सिंह गहलोट के अनुसार यह नामकरण अंग्रेजों के समय में ही हुआ था। ई. सन 1800 में मिस्टर जॉर्ज टॉमस ने ही इस प्रान्त के लिए इस नाम का प्रयोग किया था। इसके बाद कर्नल टॉड ने ई. सन 1829 में इस प्रान्त के लिए इतिहास में 'राजस्थान' शब्द का प्रयोग किया। नवम्बर 1956 ई0 में भारत सरकार ने राजस्थान संघ एकीकरण के प्रयासों के फलस्वरूप राजस्थान नाम को स्वीकार कर लिया। 'राजस्थानी चित्रकला' के नामकरण के सम्बन्ध में समय-समय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। सर्वप्रथम स्वर्गीय आनन्द कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेंटिंग' में इसे 'राजपूत चित्रकला' कहा है। इसी बात का सतर्क ओ.सी. गांगोली, हैवल व बासिल ग्रे आदि ने भी किया है। प्राचीन काल से ही यहाँ विभिन्न कलाएँ पल्लवित होती रही हैं।²

राजस्थान में लोक कला की अनेकानेक लावण्यमयी झाकियाँ भी दिखाई देती हैं। मरुभूमि की शुष्कता को यहाँ के उत्सव पिपासु मन ने मानो अपने रंग में भिगोकर सराबोर ही कर दिया है। यों तो समस्त भारत ही उत्सवों की रंग-भूमि रहा है लेकिन यह प्रतीत होता है कि सारे तीज-त्योहार राजस्थान में कुछ अधिक ही गरिमामय और उल्लासपूर्ण तरीके से मनाये जाते हैं। इन सभी त्योहारों और उत्सवों के साथ लोक संस्कार, लोक विश्वास, लोक व्यवहार और लोक प्रथाओं से युक्त लोक कलाएँ गुथी हुई हैं।³ राजस्थान की एक परम्परागत लोक चित्रकला 'फड़' ने सदियों से लोकमानस को चित्रकला की रसात्मक अनुभूति से आनन्दित किया है। राजस्थान के लोक देवता देवनारायण, तेजाजी, पाबूजी और रामदेवजी की लोक गाथाओं को फड़ पर चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रयोगात्मक तौर पर भारत के इतिहास एवं पुराणों की दन्तकथाएँ भी चित्रित हुई हैं। राजस्थान में अधिकतम देवनारायण एवं पाबूजी की जीवन गाथाओं पर आधारित फड़ चित्र ही लोक प्रिय रहे हैं। देवनारायण की फड़ तेरह हाथ से लेकर पच्चीस हाथ तक की लम्बाई लिए होती है। सबसे अधिक

चित्रांकन एवं सबसे लम्बी गाथा भी इसी फड़ में मिलती है। पाबूजी की फड़ बारह हाथ से लेकर बीस हाथ तक लम्बी हो जाती है। राजस्थान में फड़ बांचने की भी विशेष परम्परा रही है। इसमें दो बाँसों के सहारे फड़ चित्रों को फँलाकर उन्हें प्रदर्शित करते हुए सम्बन्धित लोक देवता की जीवन गाथा को श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।⁴ विगत दो दशक से राजस्थान के कला क्षितिज पर ऐसे विलक्षण प्रतिभाशाली, प्रयोगधर्मी व सृजनशील कलाकारों की पीढ़ी उभर कर आ रही है, जो अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति व खोजपूर्ण प्रवृत्ति के कारण प्रदेश की समकालीन कला को नित नये आयाम प्रदान करके समृद्धिशाली बनाने में संलग्न है। राजस्थान के विभिन्न कलाकार केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं वरन् अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक मंच पर भी ख्याति अर्जित करने में सफल हुए हैं। इस संदर्भ में गुलाबी नगर जयपुर में कार्यशील कलाकार रामेश्वर सिंह का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

रामेश्वर सिंह एक ऐसे अनूठे चित्ते हैं जिनके चित्राकृतियों में ठोस और भावनात्मक तत्त्वों के प्रयोग के साथ गोदना (टेटू) का प्रयोग इनकी कला की उत्कृष्टता को दर्शाता है। बारीकी के साथ की गई 'मिनीएचर पेंटिंग' और 'टेटू' को बड़े ही नजाकत के साथ कैनवास पर बनाए गए चित्रों के साथ सम्मिलित करने और रंगों द्वारा उन्हें 'सजीव' बनाने का हुनर ऐसे कलाकार में ही पाया जा सकता है। जिसकी दृष्टि सूक्ष्म से लेकर विशालकाय तत्त्वों में भी कला को तराशती है। कैनवास पर रेखाएं खींचकर उनमें रंग भरना तो हर कलाकार का सामर्थ्य होता ही है। परन्तु विशिष्टता तब होती है, जब भरे गए रंगों में रेखाएं खींचनी हो। रामेश्वर सिंह ने कहीं चित्रों पर गोदने (टेटू) के तौर पर देवनागरी लिपि से पंक्तियाँ लिखी है तो कहीं 'मिनीएचर' (लघुचित्र) को रेखांकित किया है। इनके समन्वय से चित्राकृति त्रिआयामी प्रतीत होती है। परम्परा का पुनः आविष्कार और पुनः सर्जन आधुनिक दृष्टि के आधार पर ही सम्भव है फिर आदिवासियों के जन-जीवन की यदि बात हो तो लोकशैली के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के अनुष्ठान में अहर्निश लगे हुए हैं, श्री रामेश्वर सिंह।⁵

रामेश्वरसिंह के चित्र एक-दो परम्पराओं के मिलन के संधिकाल की अनुभूति प्रदान करते हैं। परम्परागत ग्रामीण संस्कारों को प्रतीकों का सहारा लेते हुए, आधुनिक शैली में प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता इनमें देखी जा सकती है। उनकी कला में बारीकियाँ दिखलाई पड़ने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि वे पूर्णकालिक रूप से कला की सेवा में जुड़े रहने वाले कलाकार हैं इसलिए अपने संस्कारों को काफी गम्भीरता से अपनी कृतियों में उतारते हैं और उन्हें एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं। खासकर टूटते ध्वस्त होते सामन्तवादी प्रतीक, ग्रामीण उत्सवों, जीवन और लौकिक

व्यवहारों को इनके रंगों और चित्रों में संकेत के रूप में देखा जा सकता है। इन प्रतीकों को बिन्दु के रूप में लिया जा सकता है।

रामेश्वर सिंह के चित्र अपने आप में एक उत्कृष्ट रचनात्मकता लिये हैं पर रामेश्वर के काम में विशेष नयापन खासतौर से विषयवस्तु और चिन्ताओं/सरोकारों को लेकर हैं, ऐसा उनके कथन से लगता है। उनका विश्वास है कि हमारे समाज में अतीत और परम्पराओं ने ही इतनी सामग्री व विषय छोड़ दिये हैं कि उनके बाहर देखने की न तो फुर्सत है न ही जरूरत महसूस होती है। रामेश्वर मानते हैं कि परम्परा और अतीत ने उन्हें रीति-रिवाज, देवी-देवता, पुराण, पोथियों, कथाएँ, राजा-रजवाड़े, गुफाएं, महल, वृक्ष, पशु-पक्षी, किंवदंतियाँ, मिथक रहस्य, सापं आधिभौतिक प्रतीक, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, पुराने खेल-खिलौने, व्यवहार, पराक्रम और शौर्य, आध्यात्मिकता व पुरातन सौन्दर्य, लोक-कथाएँ, लोकगीत, टूटे भवन तथा गिरती पहाड़ियों के साथ-साथ राजस्थान का अपना जीवन व अतीत मोह द्युनॉस्टैलजियात्रु दिया है। ये चीजें आज भी समाज में इतनी महत्वपूर्ण हैं।

रामेश्वर सिंह की कृतियों में जीवन, समाज और एक कलाकार के सामाजिक दायित्वों की अपनी चिन्तन-प्रक्रिया मौजूद है। राजस्थान के तमाम परम्परागत प्रतीत-पशु-पक्षी, गुफाएं, कन्दराएं किसी पुरुष की छवि गणेश के रूप में देवी-देवता के सहज प्रतीक और इतिहास के विभिन्न आयाम पोथियों जैसी लिखावट आदि इनकी सभी कृतियों में मौजूद है। परम्परा और अतीत के बोझ से ही नहीं रंगों के बोझ से भी भारी-भरकम हैं रामेश्वर का यह सर्जन काम। साथ ही उनकी जटिल रचना-प्रक्रिया या उनका बिल्कुल निजी मुहावरा यहां दिखायी देता है। चित्रकार के मन में एक आलोडन' चल रहा हो - अतीत और परम्पराएं अपने विविध रूपों में उस पर टिक नहीं पाती। कई-कई प्रतीक और अतीत की स्मृतियों को अपने काम में समेटता जाता है। कई बार उन कृतियों में अतीत के ढहते हुए रूपों के रूप में उसका मोह दिखायी देता है। चीजें (ओब्जेक्ट्स) विश्रृंखलित रूप में आ रही हैं और वह उन्हें कैनवास पर उतारता जाता है पर इसके माध्यम से वह कहना क्या चाहता है, समाज को देना क्या चाहता है। यह शायद उसे भी बहुत ठीक से स्पष्ट नहीं है। वह बस चीजों को रखता जाता है दर्शक उसे अपने ढंग से देखें और समझे चाहे इतिहास के एक छटपटाते हुए टुकड़े के रूप में स्वीकार करें या अतीत की स्मृतियों के एक रेले के रूप में स्वीकार करें।

परम्परा की लपेट-दर-लपेट के लिए वह अपने जिस कौशल का इस्तेमाल करते हैं उसका अपना अनुभव हो सकता है, उन्हें देखने का भी एक अनुभव हो सकता है। उनके काम में एक साथ कई शैलियों पर राजस्थानी लोक व सामंती जीवन पर ही

उकेरी गयी शैलियों के दर्शन होते हैं। लघु चित्रण-शैली का भी उन्होंने खूब इस्तेमाल किया और कैलिग्राफी जैसी तकनीक के जितने भी रूप उन्होंने गढ़े हैं वे काफी पुष्ट हैं और लोकचित्रों की छवि लिये हुए। संभवतः यही कारण हैं इतिहास के धरोहर के रूप में उन्हें सराहा भी जाता रहा है। रामेश्वर सिंह चीजों को बचाकर रखने में विश्वास करते हैं। जो उदाहरण लुप्त होते जा रहे हैं, उन्हें सहेजने की कोशिश वे चित्रों के माध्यम से कर रहे हैं। पशु-पक्षियों को बचाने का प्रयास उनके नवीनतम चित्रों में है। वे अपने चित्रों में भारतीयता को मुख्यधारा के रूप में जोड़ते हैं, जिसमें राजस्थानी परम्परागत लोक कला प्रमुख है। लाल, पीले और नीले परम्परागत रंगों के साथ रामेश्वर सिंह ने आदिवासी लोक कला को अपना विषय बनाया। आदिवासी इलाकों में जैसा उन्होंने देखा उसे आधुनिक शकल देकर उसे 21वीं सदी जैसा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सजे हुए ऊंट, हाथी और चौपड़ खेलती रानियाँ, गोदना किए आदिवासी महिलाएं यही हमारी लोक कला है जिसको रामेश्वर सिंह ने नए रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। पुराने वाद्य यंत्रों जैसे भोपू को उन्होंने सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है। पुरानी घड़ियाँ, कलमदान, लैम्पपोस्ट प्रतीक हैं पुरानी सभ्यता के जो आज धरोहर के रूप में हैं। पुरानी चीजें जो आज अमूमन, दिखाई नहीं देती रामेश्वर सिंह के चित्रों में आसानी से पकड़ी जा सकती है। उन्होंने बड़ी चतुराई से चौपड़ और शतरंज को पुराने व नये पात्रों के बीच समायोजित किया है। कुछ तस्वीरों में उन्होंने विशिष्ट प्रभाव लाने के लिए जला हुआ कपड़ा लगाया है तो मिनिऐचर के जरिए पृष्ठ भूमि को मजबूत किया है।⁶

भारतीय संस्कृति के ग्रामीण परिवेश में 'गोदना' गुदवाना भारतीय ग्रामीण नारी की शरीर-सज्जा का सम्पूर्ण एवं सजीव अंग है। आजकल के हलचल भरे वैज्ञानिक युग में भी 'गोदना' गुदवाना ग्रामीण नारी का प्रिया अलंकरण है। अपनी देह पर अपने आराध्य देव, प्रेमी, पति, पशु-पक्षी आदि का मात्र महिलाएँ ही गोदना से प्रभावित है। पुरुष भी अपने शरीर पर विभिन्न देवताओं, प्रेमिका, पत्नी या वांछित भावांकन को गुदवाकर संतोष पाते हैं। जो लोक संस्कृति का परिचायक है।⁷

'गोदना' राजस्थान की एक बहुप्रचलित कला है। राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ कहीं मेले आदि का आयोजन होता है वहाँ अपने शरीर पर अंकन अर्थात् 'गोदना' के लिए लोगों का उत्साह देखते ही बनता है। मुख को सुन्दर बनाने के लिए स्त्रियाँ भवें, ठोड़ी, गाल, गर्दन, आँख, के पास बिन्दुओं से अलंकरण गुदवाती हैं। त्रिभुजाकार में तीन मन ज्वार बताते हैं। आँखों के पास रेखाएं गोदने से कामुक सौन्दर्य में वृद्धि होती है। इसी प्रकार मोर-मोरनी, चिड़ियाँ, तोता, गमला, फूल, कृष्ण जी, घड़ी, हारा को हाथ-पैर पर गुदवाया जाता है। मान्यता है कि मृत्यु के समय ये ही सब साथ जायेंगे और कुछ नहीं जयेगा। इसी आस्था के कारण तकलीफ पाकर भी गोदने गुदवाये जाते

हैं। मूलतः गुजरात की यह परम्परा राजस्थान में डामोर, गरासिया, और रेवाड़ी लोगों में प्रचलित है रामेश्वर सिंह ने अपने चित्रों में इसका भी प्रयोग किया है।

समूचे राजस्थान में लोक-अंकन का बड़ा महत्व है। आदिवासी जीवन-चरित्र रामेश्वर सिंह के कैनवास पर पूरी गंभीरता के साथ चित्रित होता है। आदिवासी देवरे, कथाएँ, लोक गीत और लोक कथाएँ उनकी चित्रकला का मुख्य आधार बनकर उभर रही हैं। यही कारण है कि आदिवासी कला और संस्कृति से दूर होने का साहस रामेश्वर सिंह नहीं जुटा पाते हैं परन्तु यही कथ्य रामेश्वर सिंह के चित्रों की मुख्य विशेषता बन गई है। उनका प्रत्येक चित्र बोलने का प्रयास कर रहा हो या एक कथा कहता हुआ प्रतीत होता है। रामेश्वर सिंह चित्र बनाते समय अपने आपको उसी माहौल में ले जाते हैं जो वे दिखाने का प्रयास करते हैं। कुछ भी हो उनकी तकनीक और प्रस्तुतीकरण अभिनव हैं। विचारों में गहराई है दर्शक को प्राचीन काल की दहलीज तक ले जाकर विचारों की भूलभूलझ्या में छोड़ देते हैं। चित्रकला के क्षेत्र में अपनी इस चित्र शैली के लिए वह सुविख्यात हैं।

अग्रिदग्धता सुनहरी कालिमा में लिपटी इस लोक-कथा के लिए शायद बहुत सटीक प्रतीक है। अतीत की समस्त समृद्ध परम्पराएँ आज निष्क्रमण के जिस ऐतिहासिक दौर से गुजर रही है, उसमें मूल्यों, मान्यताओं और विश्वासों का बदलना नितान्त स्वाभाविक है। रामेश्वर सिंह की कला में जो फड़ चित्रण किया गया है वह "साध्य" नहीं, अपितु एक "साधन" है, संक्रमण के इस निर्णायक काल-चक्र की पृष्ठभूमि, जो हमें निरन्तर अपने संदर्भ-परिवर्तन के सच से साक्षात्कार करवाती जान पड़ती है। लोक-परम्परा के अनुरूप वह फलक पर क्रमवार अंकित भी नहीं है। आयोजन के अनुरूप कुछ कथा-खंड अपने लिए रामेश्वर सिंह चुन लेते हैं जिन्हें वह चित्रफलक पर अलग-अलग हिस्सों में अंकित करते हैं। परम्परागत कैलिग्राफी या चित्रलिपि भी इस सबके साथ जुड़ी रहती है।⁸

रामेश्वर सिंह के कार्य के बारे में संभवतः यह कहना ज्यादा उचित होगा कि उनकी विषयवस्तु से ज्यादा, उनके सामाजिक सरोकारों तथा किसी कलाकार के सामाजिक दायित्वों से ज्यादा उनके कार्य की तकनीक, रंगों का प्रयोग और स्मृतियों के आधार पर ही ज्यादा बात की जाती है क्योंकि रामेश्वर सिंह की कृति में उनके रंगों के भाव, तकनीक, उपयोग व टेक्चर आदि का प्रयोग समन्वित है व आकर्षण से युक्त है। अतः एकेलिक रंगों का प्रयोग किया है। इन रंगों का बहुतायत भी उनके काम की विशेषता को प्रदर्शित करता है व तकनीकी उपयोग में उनकी कल्पना काफी दूर तक और उलझाव भरी खाइयों व ऊँचाइयों तक जाती है। परम्परा का इस्तेमाल करते हैं उसका अपना एक अनुभव हो सकता है, उन्हें देखने का भी एक अनुभव है और उनकी गहराईयों में खो जाने का भी अपना एक अनुभव प्रदर्शित होता है। यह उनके 'बिआंड

एज I, II (Beyond age I, II) कृति में परिलक्षित होता है। जिसके माध्यम से वास्तव में अतीत की पर्तों में जाया जा सकता है। ज्यामितिक व आलेखन जैसे फार्म का भी प्रयोग किया गया है।

रामेश्वर सिंह ने अपनी कृतियों में गुजरे हुए अतीत को इकट्ठा करते हुए सबके सामने प्रस्तुत किया है। इनकी अन्तः विचारधारा बहुत विस्तृत है और अपनी शैली और विधि की शुद्धता बनाए हुए। इन्होंने रामायण और भीलवाड़ा के फड़ चित्रों के विषयों पर चित्रण किया। रामेश्वर सिंह ने अपनी कृतियों को लोक कला व लोक तत्वों की गहराई से उकेरा है। भारतीय परम्परा में गोदना प्राचीन काल से लोगों में प्रचलित है इन्होंने अपने कैनवास पर भी उसी प्राचीन परम्परा को अपनी कलाकृतियों से उतारने का प्रयास किया है।

रामेश्वर सिंह की कला में जयपुर, उदयपुर देवगढ़ की संस्कृति झलकती है देवगढ़ इनकी जन्मस्थली है। कृतियों में राजस्थान की संस्कृति कैनवास पर आयी है। इन कृतियों में पशु-पक्षियों का प्यार भी है। तोता, उड़नपरी, घोड़ा, बाइस्कोप का जमावड़ा रामेश्वर सिंह की जादुई कृतियों का पिटारा है जो समय के चक्र में पीछे छूटे समय को याद दिलाता है। कलाकार ने कलात्मक लय को बनाए रखा है। कैनवास पर चटख रंगों का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रामेश्वर सिंह ने अपने रंगों के पिटारे में प्राचीन संस्कृति परोसी है जो राजस्थान की परम्परागत लोक कला में यहाँ कि संस्कृति को दर्शाती है।

सन्दर्भ

1. डॉ. पेमराम, राजस्थान में धर्म, सम्प्रदाय व आस्थाएँ, प्रकाशक इतिहास विभाग वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान, प्रथम संस्करण-2004, पृ. सं.-46
2. डॉ. प्रेमशंकर द्विवेदी, राजस्थानी चित्रकला, कला प्रकाशक साकेत कालोनी, बी. एच. यू. वाराणसी, प्रथम संस्करण-2002, पृ. सं.-19,21
3. आशुतोष गुप्ता, राजस्थान सुजस संचय, डोमीनियल लॉ डिपो, जयपुर, संस्करण-1998, पृ. सं.-830
4. वही, पृ. सं.- 895, 896
5. आधुनिक दृष्टि, कला-किरण, फरवरी-अप्रैल-98, पृ. सं.-20
6. राजस्थान पत्रिका- जयपुर, 30 जुलाई 2000
7. आशुतोष गुप्ता, राजस्थान सुजस संचय, डोमीनियल लॉ डिपो, जयपुर, संस्करण-1998, पृ. सं.-976
8. विजय शंकर श्रीवास्तव मोहनलाल गुप्ता, रूपाङ्कन - पृ. सं.-212

जैसलमेर की ऐतिहासिक हवेलियों के भित्तिचित्र (पटुवा हवेली के संदर्भ में)

घनश्याम गोस्वामी

जैसलमेर राजस्थान की प्राचीनतम रियासतों में से एक है। राजस्थान की अन्य प्रसिद्ध रियासतों जिनमें जोधपुर (1459 ई.), बीकानेर (1488 ई.), उदयपुर (1559 ई.) और जयपुर (1727 ई.) की स्थापना हुई, किन्तु जैसलमेर रियासत की स्थापना 1156 ई. में राव जैसल द्वारा की गई।¹ इस परिप्रेक्ष्य में जैसलमेर की कला और स्थापत्य भी सर्वाधिक प्राचीन रहे हैं।

जैसलमेर रियासत की स्थापना दुर्ग की स्थापना से ही मानी जाती है। प्रारंभिक सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षा और आबादी कम होने के कारण दुर्ग में ही भवन-निर्माण हुए और समस्त प्रजा इसी दुर्ग में निवास करती थी। कालांतर में आबादी के घनत्व विस्तार के कारण जैसलमेर दुर्ग के बाहर जातीय बाहुल्य के आधार पर विभिन्न जातियों के मोहल्ले बने। इन्हीं मोहल्लों और भवनों के मध्य जैसलमेर की प्रमुख तीनों प्रसिद्ध हवेलियां जिनमें पटुवा हवेली (1800-1860 ई. के मध्य निर्मित), सालिमसिंह की हवेली (1815 ई. के लगभग निर्मित), और नथमल की हवेली (1885 ई. में निर्मित हुई) भी स्थित है। सालिमसिंह और नथमल जैसलमेर राज्य के दीवान थे। पटुवा हवेली के निर्माता बाफना व्यापारी थे।

जैसलमेर हवेली भित्तिचित्रों की तकनीक, माध्यम एवं विषयवस्तु

जैसलमेर की हवेलियों के भित्तिचित्रों को चूने के घुटाई युक्त चिकने प्लस्टर पर सूखी पद्धति से चित्रित किया गया है। इस चूने के प्लस्टर सूखने के पश्चात् इन चित्रों की आकृतियों एवं अलंकरणों का बारीक रेखांकन कर लिया जाता था। यह रेखांकन प्रायः काली रेखाओं से किया गया है। रेखांकन के पश्चात् इन आकृतियों में स्थानीय खनिज रंगों को भरकर आवश्यकतानुसार स्वर्ण-रंग से भी पूरित किया जाता था। सूखी पद्धति से चित्रांकन होने के कारण अधिकांश चित्रों के रंग उड़ गये हैं। जिनका मात्र आभास ही होता है। साथ ही रेखांकन की काली रेखाएं दृष्टिगोचर होती हैं। इन हवेलियों में आल्हाद्, शृंगार, सामरिक अभियान, आमोद-प्रमोद, आखेट, अलंकरण, पशु-पक्षी और व्यक्तिचित्र भी बनाये गये हैं।

पटुवा हवेली के भित्तिचित्रों का कलात्मक विवेचन

पटुवा हवेली की उत्तरी पंक्ति की पांचवी हवेली को प्रतापसिंह बाफना ने बनवायी। इस हवेली के एक कक्ष में भित्तिचित्र विद्यमान हैं जिनका विवरण निम्नांकित है-

कृष्ण और गोपियाँ- इस चित्र को गेरुएं लाल रंग की पृष्ठभूमि पर चित्रित किया गया है। इसे चार भागों में विभक्त किया गया है। चित्र की बायीं ओर भवन, पहाड़ और पेड़ों का झुरमुट, मध्य में सपाट मैदान और पृष्ठ भाग में दो उत्तुंग पहाड़ियों के पार पुनः मैदानी भाग, अग्रभूमि में नदी का प्रवाह जिसमें कमल पुष्प खिले हैं। चित्र के मध्य लाल गेरुएं मैदान में गोपियाँ सिर पर मटकियां रखे आ-जा रही हैं। इनमें कृष्ण ने एक गोपी का मटका गिरा दिया है तथा दूसरी का मटका गिराने की मुद्रा में हैं। शेष गोपियां इशारे से अपने भावों को व्यक्त कर रही हैं। दायीं ओर एक गोपी नदी में नहाकर बाहर खड़ी है जो कि अपनी वेणी को संवारते हुए चित्रित की गई है। पृष्ठ भाग की एक पहाड़ी पर कृष्ण बैठे हैं, उनके सामने दो गोपियां और दो गायें आकर्षित होकर आ रही हैं। इसी पहाड़ी के पार्श्व में एक अन्य गोपी गायों को ले जाते हुए चित्रित की गयी है। चित्र का संयोजन अत्यंत आकर्षक है, रंग कॉन्ट्रास्टयुक्त हैं। सभी गोपियों की पोशाकें राजस्थानी हैं। जिनमें पीला, लाल, हल्का जामुनी, हरा और केसरिया रंग भरे गये हैं। इन गोपियों को लम्बी-लम्बी श्वेत मालाएं पहने, स्वर्णाभूषण पहने चित्रित किया गया है। इनकी मुखाकृति में गोल ढलुंवा ललाट, तीखा किन्तु अग्रभाग से किंचित् गोलाई लिये नाक, पतले होठ, तीखे नयन, लहराती लट में अंकित किया गया है।

हाथियों का वन विचरण - इस भित्तिचित्र की लाल पृष्ठभूमि पर गोल घेरे में पहाड़ियाँ, नदी का प्रवाह और पेड़ों के मध्य चौबीस हाथियों को स्वच्छंद विचरण करते हुए तथा पेड़ों को गिराते हुए चित्रित किया गया है। दूर क्षैतिज पहाड़ी के मध्य दो शेरों को विचरण करते हुए एवं पृष्ठभूमि के अग्रभाग में एक पहाड़ी की ओट में दो शेरों द्वारा एक हाथी का शिकार करते हुए चित्रित किया गया है। इस चित्र में एक शेर ने हाथी के सिर व कानों को पकड़ रखा है और दूसरा शेर हाथी की पीठ पर चढ़कर आक्रमण कर रहा है। इसी चित्र में नदी के बहाव के दूसरी तरफ दो पहाड़ियों की ओट में पांच श्वेत गायों का विभिन्न मुद्राओं में चित्रण किया गया है। इस प्रकार इस चित्र के एरियल पर्सपेक्टिव को चित्रकार ने सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। चित्र की पहाड़ियों में भी विभिन्न रंगतों का प्रयोग करके वनस्पति को चित्रित किया गया है। पेड़ों में भरे गये हरे रंग की भी अनेक रंगतों का प्रयोग किया गया है।

शिकार दृश्य - लाल गेरुएं रंग की पृष्ठ भूमि के मध्य एक हाथी को सवार सहित तीव्र गति से भागते हुए चित्रित किया गया है। इसके आगे एक घुड़सवार अत्यंत

झुकी हुई मुद्रा में मानों किसी छोटे जीव का नजदीक से शिकार कर रहा हो। हाथी के पीछे दो घुड़सवार हाथों में भाले लिए हुए और एक कुत्ता भी तेज गति से भागते हुए चित्रित किये गये हैं। चित्र के समस्त पुरुषों को उन्नत ललाट, तीखी नाक, गलमुच्छों में, पगड़ी, लम्बा जामा पहने व कमर में पटका बाँधे चित्रित किया गया है। इस चित्र की अग्रभूमि में स्लेटी रंग के ऊबड़-खाबड़ तल का चित्रण कर उस पर हल्के लाल रंग की आभा दिखलाई गयी है। चित्र अत्यंत गतिमय है।

पहलवानों का अखाड़ा - इस चित्र में छः हृष्ट-पुष्ट पहलवानों को विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया गया है। जिसमें मध्य की पुरुष जोड़ी को कुशती करते हुए, दोनों किनारे वाले पहलवान मुगदल घुमाते हुए तथा शेष दोनों पुरुष एक हाथ जंघा पर और दूसरा हाथ सीने पर रखे चित्रित किये गये हैं। सभी को बड़े-बड़े कच्छों (अधोवस्त्र) पर लंगोट बाँधे हुए चित्रित किया है। इस चित्र की सपाट पृष्ठभूमि कालिमा युक्त गहरे हरे रंग की है।

युद्ध अभियान - इस चित्र की पृष्ठभूमि को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक भाग के स्लेटी रंग की पृष्ठभूमि पर श्वेत रंग के महल को अंकित कर उसकी सुरक्षा में सैनिक तैनात किये गये हैं। दूसरे भाग में प्राकृतिक वातावरण, पहाड़ों के मध्य लाल भूमि पर पैदल सैनिक आधुनिक वेशभूषा ढूपेंट-कोटारू में और उनके पीछे हाथी व अश्व सेना चित्रित की गई है। तोपों को गोले छोड़ते हुए चित्रित किया गया है। इसी दृश्य की इस पहाड़ियों के मध्य से जंगली सूअर भी भागते हुए चित्रित किये गये हैं। जिनमें से एक पर शेर झपट रहा है।

हाथियों की लड़ाई - इस चित्र में मध्य में दो हाथी आमने-सामने लड़ने में रत हैं। जिन पर चढ़े हुए महावत और पीछे से कुछ सैनिक भालों से हाथियों को उकसा रहे हैं। इन हाथियों के मध्य पावों के नीचे तिकोन लम्बा अवरोध रखा हुआ है, जिसपर दोनों हाथियों के अग्रपांव रखे हुए हैं। इस चित्र में सभी पुरुष घुटनों तक जामा पहने, कमर में पटका बाँधे और सिर पर गोल पगड़ी पहने चित्रित हैं।

हाथियों की लड़ाई देखते राजा - इस भित्तिचित्र के मध्य दो काले विशालकाय हाथियों को लड़ते हुए चित्रित किया गया है। इनके ऊपर भी महावत बैठे हुए हैं तथा पीछे घुड़सवार चित्रित किये गये हैं। दूर एक महल के झरोखे से राजा को बैठे हुए और उनके सामने व पीछे एक-एक अनुचर को खड़ी मुद्रा में चित्रित किया गया है। सम्मुख खड़े अनुचर के गोल लाल पगड़ी ढमारवाड़ी व्यवसायी जैसीरू पहने हुए हैं। राजा के सिर के पृष्ठ भाग में रेखाओं से प्रकाशपुंज बनाया गया है। इस चित्र के आकाश में घुमड़ते कुण्डलीय बादलों को चित्रित किया गया है जो कि जोधपुर चित्रशैली के परिचायक हैं। इन बादलों के चित्रण से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस चित्र में जोधपुर के चित्रकारों का भी सहयोग लिया गया होगा। चित्र के रंग उतर

चुके हैं। राजा और अनुचर वाले महल के नीचे किसी ने सफेदी पोत दी है जिससे समग्र चित्र दिखलाई नहीं पड़ता।

शिकार दृश्य और फौजी लवाजमा - यह एक भयानक शिकार दृश्य है। जिसमें आमने-सामने घुड़सवारों एवं पैदल सैनिकों ने हरिणों, शेरों और जंगली सूअरों को घेर लिया है जो कि भालों और बरछों से प्रहार कर रहे हैं। हरिणों की भयातुर भागने व मुड़कर देखने की मुद्राएं, शेरों का झपटना और सूअरों का ऊछल कर दौड़ना आदि अत्यंत स्वाभाविक मुद्रा में हैं। इन सभी आकृतियों के मध्य बहुत कम अन्तराल होने के कारण पूरे दृश्य में अफरा-तफरी मची हुई है। चित्र की रेखाएं प्रबल और प्रवाही हैं। आकृतियां भी पूर्ण अनुपातिक हैं। यद्यपि इस चित्र के रंग उतर चुके हैं फिर भी कहीं-कहीं रंगों का आभास मिलता है। इस चित्र के रेखांकन में प्रयुक्त काली रेखाएं दिखलाई पड़ती हैं। चित्र का संयोजन अत्यंत कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित किया गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैसलमेर की पटुवा हवेली के भित्ति चित्र 19वीं सदी में चित्रित किये गये। इन चित्रों को सूखी पद्धति से चिकने चूने के प्लस्टर पर काली रेखाओं के रेखाचित्रों से बनाकर उनमें रंगों का प्रयोग किया गया है। इन चित्रों में विविध विषय-वस्तु से सम्बन्धित धार्मिक चित्र, शिकार दृश्य, युद्ध, हाथियों का वन-विचरण, पहलवानों के अखाड़े, हाथियों की लड़ाई एवं फूल-पत्तियों के अलंकरण आदि संयोजित किये गये हैं। पटुवा हवेली के इन चित्रों में जैसलमेर की मौलिक चित्रशैली की झलक भी मिलती है। इन चित्रों में स्थानीय वस्त्राभूषण, नाक-नक्शा आदि का जैसलमेर शैली में चित्रण हुआ है। जिसमें 'कृष्ण और गोपियों' वाला चित्र उल्लेखनीय है। 19वीं सदी तक आते-आते जैसलमेर रियासत के जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर रियासतों से भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। फलस्वरूप जैसलमेर चित्रशैली के बने इन चित्रों में निजस्व के साथ-साथ जोधपुर और बीकानेर चित्रशैली का भी कुछ चित्रों में प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।³ 'हाथियों की लड़ाई को देखते राजा' वाले भित्तिचित्र में कुण्डलीनुमा बादल जोधपुर चित्रशैली की विशिष्ट पहचान रहे हैं। इन रियासतों में चित्रकारों का आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसी प्रकार अनेक भाटी चित्रकार जोधपुर रियासत में भी चित्रकारी करते थे।⁴

संदर्भ

- 1 सुरेश्वरानन्द-आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ जैसलमेर, रिसर्च पब्लिसर्स, जोधपुर, 1990, पृष्ठ-iii
- 2 पूर्वोक्त, पृष्ठ 77
- 3 पूर्वोक्त, पृष्ठ 77
- 4 मुंशी देवीप्रसाद- मारवाड़ मरदुमशुमारी रिपोर्ट, 1891, पृष्ठ 509

सरिस्का क्षेत्र के प्रमुख तीर्थस्थल (विशेषकर नीलकंठ मंदिर)

डॉ. अंशुल शर्मा

ऐतिहासिक दृष्टि से महाराजा जयसिंह ने यहाँ सरिस्का में राज प्रासाद का निर्माण करवाया था जिसमें प्रायः महाराज के आखेट शिविर लगाये गये। इसमें मूलतः देशी-विदेशी राजकीय मेहमानों को आखेट कराये जाते थे। क्वीन विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक ऑफ कलाट के सम्मान में उन्हें 19वीं सदी के अंत में सरिस्का के महल में ठहराया गया था।

भारत के कई प्रधानमंत्री अपनी यात्रा में यहाँ ठहर चुके हैं। आजकल सरिस्का का यह भव्य महल होटल के रूप में परिवर्तित हो चुका है, और कई देशों के विदेशी व देशी पर्यटक इस अभयारण्य को देखने आते हैं परन्तु सरिस्का क्षेत्र विशेष में स्थित प्रमुख तीर्थस्थलों से अनभिज्ञ हैं, अतः हमारा उद्देश्य इन तीर्थस्थलों में विशेषकर नीलकंठ मंदिर की विशेषताओं को उजागर करता है।

पाण्डुपोल

यह सरिस्का का प्रमुख तीर्थस्थलों में से एक है। यहाँ हनुमान जी की एक लेटी हुई भव्य मूर्ति है जो कि सम्पूर्ण भारत में एक मात्र है। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा बाबा निर्भयदास ने की थी, यही निर्भयदास बाबा की समाधि है। यह तीर्थस्थल सरिस्का गेट से 20 किलोमीटर अन्दर घने जंगलों में हैं, मंदिर से लगभग डेढ़ कि.मी. की दूरी पर पाण्डुपोल है। यह धरातल से पैंतीस फुट की ऊँचाई पर एक प्राकृतिक पहाड़ काट कर बनाया गया है, कहा जाता है कि अज्ञातवास के समय पाण्डवों ने यहाँ निवास किया था। एक बार कौरवों ने उन्हें घेर लिया, अतः भीम ने पहाड़ में गदा मार कर मार्ग बनाया। यहाँ भादवा शुक्ल चतुर्थी व पंचमी को हनुमान जी का लक्खी मेला लगता है। इस प्रतिमा के प्रसंग को महाभारत काल से जोड़ा जाता है जिसमें रास्ते में लेटे हुए वृद्ध बन्दर को भीम रास्ते से हटाने के लिए कहता है, तब बूढ़े बन्दर ने भीम से अपनी पूँछ एक और हटाने के लिए कहा, भीम ने पूरी ताकत से पूँछ को हटाना चाहा लेकिन वह पूँछ को तनिक भी नहीं हिला सका, तब हनुमानजी ने अपने असली रूप में भीम को दर्शन दिये।

भर्तृहरि

सरिस्का के आंचल में अलवर से 34 किलोमीटर दूर स्थित यह तपस्या स्थली भर्तृहरि के नाम से विख्यात है। प्रा तिक स्थल होने के साथ-साथ यह धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उज्जैन के योगीराज भर्तृहरि ने अपने अंतिम दिनों में अलवर को ही अपना तपस्या स्थल बनाया। ये उज्जैन के शासक विक्रमादित्य परमार के बड़े भाई थे। गुरू गोरखनाथ से प्रभावित होकर वे नाथ बन गए इनके चमत्कारों की कई गाथाएँ हैं। इस समाधि स्थल पर लगातार ज्योति जलती है और समाधि के पास से ही एक धारा निरंतर प्रवाहित होती रहती है। यहाँ हर वर्ष भाद्र पद और बैसाख माह में भर्तृहरि का मेला लगता है।

नारायणी माता का मन्दिर

यह भी सरिस्का के अंचल में राजगढ़ के बलदेवगढ़ कस्बे से 2-3 मील की दूरी पर बरखा डूंगरी की तलहटी में अत्यन्त रमणीय, प्राकृतिक तीर्थ स्थान है। जहाँ नारायणी माता विराजमान है। इस मन्दिर के ठीक सामने संगमरमर का एक कुण्ड है जो कि प्रा तिक था जिसे संगमरमर में बना दिया गया। यहाँ गरम जल की धारा बहती है, कहते हैं कि इसमें नहाने से कोढ़ ठीक हो जाता है, इस तीर्थ पर नाई समाज की बड़ी आस्था है, यहाँ केला, केवलड़ा और कचनार इत्यादि के सघन वन हैं। यहाँ प्रतिवर्ष बैसाख शुक्ल एकादशी को मेला लगता है।

ताल वृक्ष

सरिस्का के समीप अलवर से लगभग 40 किलोमीटर दूर नारायणपुर मार्ग पर ताल वृक्ष नामक स्थल है। इस स्थल में दो पास-पास कुंड हैं “जिसमें एक शीतल तथा दूसरे में गर्म जल भरा हुआ है। पौराणिक काल में यहाँ मण्डण्य षि का आश्रम था। यहाँ गंगा, सूर्य व हनुमान के मंदिर हैं। यह स्थल अपनी छतरियों के लिये भी प्रसिद्ध है, यहाँ हमें सात छतरियाँ मिली हैं जो भण्डारवा के ठाकुरों की हैं इसमें एक विशाल छतरी है जो 10 फुट ऊँचे चबूतरे पर बनी हुई है। इनका समय 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है। इसके समीप एक प्राचीन देवालय है। दसवीं शताब्दी का काले पाषाण में निर्मित यह मंदिर अब मात्र गर्भगृह के रूप में ही स्थित है। आमेर के शासक रामसिंह ने 18वीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ दो कुंड बनवाए जिसमें से एक में गर्भ व दूसरे में ठंडी धारा प्रभावित है जो कि पर्यटन की दृष्टि से अनभिज्ञ है।

सीलीसेढ़

अलवर से 16 किलोमीटर दूर तीन ओर से अरावली पर्वत शृंखलाओं से घिरा यह रमणीय स्थल पर्यटकों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है। इस स्थल का सौन्दर्य घने

जंगलों और पहाड़ी से घिरी नीली झील में सिमटा दिखाई देता है। झील के किनारे राजस्थान पर्यटन विकास निगम के लेक पैलेस होटल में ठहरने की उचित व्यवस्था है। इस पैलेस का निर्माण महाराजा विनय सिंह ने 1844 में अपनी रानी शीला के लिये करवाया जो कि अब आर.टी.डी.सी. के होटल में तब्दील हो गया।

नालदेश्वर

यह अलवर और थानागाजी के मध्य पहाड़ियों में स्थित है। नालदेश्वर में महादेव जी का मंदिर है जो नैसर्गिक पहाड़ी चट्टानों से बना हुआ है। यहाँ मंदिरनुमा चट्टान से निरन्तर पानी गिरता रहता है। बीहड़, जंगल, पहाड़ी, नाला और एक नैसर्गिक कुंड यहाँ की शोभा बढ़ाते हैं।

कांकवाड़ी किला

ऐतिहासिक दृष्टि से सरिस्का से 22 कि.मी. दूर स्थित कांकवाड़ी किला एक दर्शनीय स्थान है। औरंगजेब ने अपने बड़े भाई दारा को इसी किले में बंदी बना रखा था। यह जगह भी पर्यटन की दृष्टि से अनभिज्ञ है।

नीलकण्ठ

सरिस्का की प्र ति की गोद में स्थित नीलकण्ठ का स्थान विराटनगर से 30 किलोमीटर दूर स्थित है जो चारों तरफ ऊँची-ऊँची अरावली पर्वत शृंखलाओं से परिवेष्टित है। यहाँ सरिस्का का सघन जंगल क्षेत्र है, जिस सड़क मार्ग से इस स्थल में प्रवेश किया जाता है, वह इतना टेढ़ा-मेढ़ा एवं खतरनाक है, जिसे कालीघाटी के नाम से जाना जाता है। काली घाटी से जब इस रास्ते पर मुड़ते हैं तो पेड़ों के झुरमुट में छिपा एक दरवाज़ा आता है, इस दरवाजे को पार करते ही सरिस्का का सघन जंगल फिर शुरू हो जाता है। यह क्षेत्र ‘टाइगर बेल्ट’ के रूप में जाना जाता है। छोटे-छोटे पहाड़, नदी, नालों को पार कर पन्द्रह किलोमीटर चलने के बाद अचानक एक किले के दर्शन होते हैं, चारों तरफ परकोटे की तरह क्षितिज से छूती पहाड़ी दीवार और उसके बीच पेड़ों से आच्छादित एक पहाड़ी पर बने कांकवाड़ी किले की तलहटी से एक रास्ता नीलकण्ठ को चला जाता है। पारातनगर, राजौरगढ़ आदि नामों से विख्यात यह ऐतिहासिक स्थल 9वीं शताब्दी से लेकर आज तक हुई अनेक उथल-पुथल की सांस् तिक विरासत को अपने आंचल में सजोए हुए है। खुजराहों की शैली में खुजराहो से पूर्व बने मंदिर स्थापत्य एवं तक्षण कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

पुरातत्व विभाग ने नीलकण्ठ में अनेक स्थानों की खुदाई कर अतीत के गर्भ से छिपे रहस्यों को उजागर करने का प्रयास किया, किन्तु अभी भी यह स्थान एक अबूझ पहेली बना हुआ है। यहाँ केवल हिन्दू देवी-देवताओं की ही नहीं अपितु जैन तीर्थंकर

और न जाने कितने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। वस्तुतः यहाँ की उत्कर्ष मूर्तियाँ उस समय की विलक्षण कला का परिचय देता है। उन्हें देखकर सहज ही यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि किसी समय यह स्थल कला और संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा होगा। नीलकंठ में कितने ही मंदिर काल की गर्त में समा गये और कितने ही माटी की पर्त में अभी भी दबे पड़े हैं। लेकिन नीलकण्ठ महादेव का मंदिर अब भी अन्य मंदिरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है।

नीलकंठ मन्दिर

नीलकंठ मंदिर का निर्माण 10वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ होगा। “गणेश प्रतिमा” की चरण चौकी से प्राप्त विक्रम संवत् 1010 (953 ई.) के लघु अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त मूर्ति की स्थापना के समय नीलकंठ मंदिर में नित्य पूजा अर्चना आदि होती थी। इसी क्रम में हमें उल्लेख मिलता है कि विक्रम संवत् 1016 (956 ई.) का राज्यपुर के बड़गुजर राजा मथनदेव का दान अभिलेख यह स्पष्ट करता है कि इस तिथि से बहुत पहले मंदिर अस्तित्व में आ चुका था। मूर्तिकला एवं स्थापत्य की शैली की विशेषताओं के आधार पर भी सभामंडप के स्तम्भों तथा प्रतिभाओं का अंकन यह स्पष्ट करता है कि यह नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित हुआ होगा। मंदिर का गर्भगृह, मंडप तथा प्रवेश द्वार अभी भी पूर्ववत् हैं जबकि विक्रम संवत् 1016 के अभिलेख में उल्लेखित गौण आयतन पूर्णतः ध्वस्त हो चुके हैं। मुख्य नीलकंठ मंदिर पश्चिमाभिमुखी है। इसके गर्भगृह में क्वार्ट्ज काले पत्थर का शिवलिंग प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर देवता एवं आयतन का नामकरण भी नीलकंठ पड़ा। सभामंडप के स्तम्भ गोलाकार हैं एवं प्रत्येक स्तम्भ पर नृत्य दृश्यों के अर्द्धचित्र अंकित हैं। स्तम्भों के चारों ओर विभिन्न मुद्राओं में अपसराओं का चित्रण उन्हें गतिमयता प्रदान करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपसरायें स्तम्भ की परिक्रमा कर रही हैं।

“गर्भगृह के तीनों प्रमुख ताखों में क्रमशः नरसिंह, सूर्य, विष्णु-ब्रह्मा-शिव का संयुक्त विग्रह तथा त्रिपुरान्तर शिव की मूर्तियाँ अधिष्ठित हैं।” नरसिंह अवतार का चित्रण पौराणिक कथाओं के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण समीपवर्ती मंदिर के अवशेषों में भी प्राप्त होता है। “नीलकंठ मंदिर के गर्भगृह की पृष्ठ भाग की भित्ति के प्रमुख ताख में सूर्य-विष्णु-ब्रह्मा-शिव का संयुक्त रूप अंकित किया गया है।” यहाँ प्रमुख शरीर सूर्य देव का है। जिसमें परम ब्रह्म के तीनों स्वरूप, विष्णु एवं शिव का समन्वय हो रहा है। वस्तुतः स्थापत्य की यह सभी प्रमुख विशेषताएँ गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषता को भी बतलाती हैं।

“नीलकंठ मंदिर के अद्भुत स्थापत्य के साथ इस स्थल से हमें जैन तीर्थकर की एक विशाल प्रतिमा सदियों बाद भी काल को अंगूठा दिखाती हुई दिखाई देती हैं

जो कि सोलह फुट ऊँची और छह फुट चौड़ी है, इसको चारों तरफ मंदिर के कलात्मक अवशेषों का अम्बार लगा हुआ है।” इसके अतिरिक्त लगभग 18 मंदिरों के अवशेष 5 किलोमीटर क्षेत्र में फैले हुये हैं। परन्तु देखभाल के अभाव में यह धीरे-धीरे गर्त में मिलते जा रहे हैं। यद्यपि पुरातात्विक विभाग द्वारा कुछ प्रयास किये जा रहे हैं परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं है, जिससे प्राचीन भारतीय क्षेत्रीय संस्कृति धुलमिल हो रही है। यद्यपि सरकार द्वारा सरिस्का अंचल के विभिन्न तीर्थस्थलों पर वार्षिक मेलों पर सुचारू व्यवस्था की जाती है परन्तु स्थल जंगल के कारण साधनों का सुचारू रूप से प्रयोग नहीं हो पाता है। सरिस्का का यह अंचल केवल सड़क मार्ग के द्वारा जुड़ा है परन्तु सड़क टूटी हुई और ऊबड़ खाबड़ है। वर्तमान में जयपुर अलवर मार्ग भी थानागाजी से लेकर मालाखेड़ा मार्ग तक खराब है, सरकार के द्वारा कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा जिसमें तीर्थ यात्रियों व यहाँ आये सैलानियों को काफी दिक्कत का सामना करना पड़ता है। इस क्षेत्र में सरकारी बसों की भी सुचारू सुविधा नहीं है। केवल मेले के समय से ही प्रशासन के द्वारा अतिरिक्त बसों की व्यवस्था की जाती है। जबकि सरिस्का के आस-पास कई पर्यटक स्थल हैं। विशेष रूप से सीलीसेढ़, भर्तृहरि, तालवृक्ष आदि जो कि पर्यटन की दृष्टि से अनभिज्ञ हैं। यदि प्रशासन के द्वारा इस क्षेत्र विशेष पर ध्यान दिया जाये तो ना केवल तीर्थ यात्रियों के लिये सुविधा हो जाये, अपितु सैलानियों की संख्या बढ़ सकती है और लोगों को रोजगार भी प्राप्त हो सकता है।

राजस्थानी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता ढोला मारू रा दूहा

सुनीता वर्मा

संस्कृति के दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं-भौतिक पक्ष और अभ्यान्तर पक्ष। भौतिक पक्ष का संबंध हमारे खान-पान, वेशभूषा, आभूषण आदि से है जबकि आभ्यान्तर पक्ष कला, साहित्य, धर्म से संबंधित है।¹ “संस्कृति के दो पक्ष होते हैं-भौतिक पक्ष तथा आभ्यान्तर पक्ष। संस्कृति की स्थूल भौतिकता जीवन के आधुनिक स्रोतों तक केन्द्रित रहती है जिसमें हमारा खान-पान, वेशभूषा, खेती-बाड़ी उद्योग-धंधे, व्यवसाय तथा वस्त्र-आभूषण का परिचय रहता है। संस्कृति के आभ्यान्तर पक्ष में साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन के विविध साधनों की परिगणना की जाती है। संस्कृति का भौतिक धरातल हमारी दैहिक क्षुधा को परितृप्त करता है तो उसकी अंतरंगता हमारी आत्मा को परितोष प्रदान करती है।”² भारतवर्ष का हृदयस्थल राजस्थान विशाल प्रदेश है। यहाँ लोक साहित्य की समृद्ध परम्परा रही है, जिसका अध्ययन यहाँ की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज, कला एवं साहित्य, सामाजिक जागरण एवं आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन करने में सहायक होता है। राजस्थान की सांस्कृतिक विशिष्टताओं की झलक यहाँ के लोक साहित्य में भली-भाँति देखी जा सकती है। लोकागाथा लोक साहित्य का एक रूप है।

‘ढोला मारू रा दूहा’ प्रसिद्ध लोक गाथा है। इसमें पूगल के राज पिंगल की पुत्री मारवणी तथा नरवरगढ़ के राजा नल के पुत्र साल्ह कुँवर (ढोला) की प्रेमकथा कहीं गई है। इसमें सम्पूर्ण लोक समाज, रीति-रिवाज संबंध संस्कार, त्यौहार परम्पराओं का चित्रण है। यह लोक गाथाओं लोक संस्कृति की पोषित करती है। इस लोक गाथा में राजस्थान की संस्कृति साकार हो गई है। ढोला मारू रा दूहा राजस्थान की जातीय विशेषताओं का अद्वितीय काव्य है। राजस्थानी संस्कृति का इतना सरस, व्यापक और स्वाभाविक चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। तत्कालीन रहन-सहन, रीति-व्यवहार, मानव मूल्य आदि सभी दृष्टियों से संबंधित जीवन की कोई न कोई झलक इस काव्य में विद्यमान है। वस्तुतः किसी भी लोकगाथा का अध्ययन इसी दृष्टि से होना भी चाहिए। ‘ढोला मारू का दूहा’ में चित्रित संस्कृति को राजस्थान के खान-पान, वेश-भूषा, आभूषण, पर्व एवं त्यौहार, लोक व्यवहार आदि में देखा जा सकता है।

ढोला-मारू रा दूहा का समाज राजस्थानी समाज है। अतः विशेष अवसरों पर बनाए जाने वाले लापसी मिष्ठान का उल्लेख इसके रूपक द्वारा हुआ है-दिन में ज्यौनार हुई जिसमें मन चावल, तन लापसी एवं नेत्र घी की धारा है। उदाहरण द्रष्टव्य है-छट्टे प्रहरें दिवस कै हुए ज जीमणहार मन चावल, तन लापसी, नैणा ज घी की धारा।³ लापसी हलुए की तरह होती है। विशेषतः उत्सवों पर लापसी बड़े चाव से खाई और खिलाई जाती है। एक अन्य स्थल पर गरम भात का उल्लेख भी मिलता प्रीतम तोरइ कारणइ, ताता भात न खाहि।⁴ इस प्रकार खान-पान का वर्णन इस लोकगाथा में मिलता है। वेश-भूषा संबंधी उल्लेख भी इसमें मिलता है। राजस्थान में विवाह के अवसर पर वर लाल रंग के वस्त्र धारण करता है। प्रस्तुत काव्य में भी इस प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है। मारवाणी ढोला को सम्बोधित करके कहती है-

ढोला, ढीली हर मुझ, दोठउ धरौ जरोह
चोल बरन्ने कप्पड़े, सावर घन जरेणह।⁵

राजस्थान में सिर पर पगड़ी का भी प्रचलन है। इसका उल्लेख भी काव्य में हुआ है। यथा-

सकती बांधे वीटुली ढीली मेल्हे लज्ज।⁶

राजस्थान में स्त्रियाँ घाघरा व काँचली धारण करती है। घाघरे संबंधी वर्णन देखिए।

घम्म घम्मंतइ घाघरे, उलझयौ जाण गयंद।⁷

राजस्थान के स्त्री पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते हैं। मारवाणी के कानों में शोभित कुडल व गले में शोभित टंकावल हार का वर्णन द्रष्टव्य है।

काने कुण्डल भलहलई कंठ टंकावल हार⁸

राजस्थान अपने रंग-बिरंगे वस्त्रों व आभूषणों के कारण अपनी अलग पहचान रखता है। यहाँ प्रत्येक त्यौहार, संस्कारों पर नर-नारी रंग बिरंगे परिधानों में नजर आते हैं।

राजस्थान के लोक जीवन में त्यौहारों का भी बहुत महत्त्व है। सावनी तीज, काजली तीज, गणगौण होली, दशहरा आदि त्यौहारों का उल्लेख ढोला-मारू रा दूहा में मिलता है। सावनी तीज श्रावल शुक्ला तृतीया को मनायी जाती है। मारवणी कहती है-ढोला! यदि तुम श्रावणी तृतीया को भी नहीं आये तो मैं प्राण दे दूँगी।

जउ तूं साहिब नावियउ सावणा पहली तीज।

बीजल तराइ, झबूकड़इ मूँघ मरेसी खीज।⁹

तथा कजली तीज भाद्र कृष्ण तृतीया को होती है। सुहागिनों के लिए इसका भी महत्त्व है। मारवणी कहती है-

जइ तू ढोला नावियउ काजलियारी तीज।
चमक मरेसी मारवी, देख खिवतां बीज।।¹⁰

इसके अतिरिक्त होली का त्यौहार भी राजस्थान का लोकप्रिय त्यौहार है। इसका उल्लेख भी इस लोक गाथा में मिलता है। रंग और उल्लास के इस उत्सव में स्त्रियाँ 'चाचर' खेलती हैं, गीत गाती हैं और अत्यन्त उत्साहपूर्वक होली मनाती हैं। माखणी कहती है कि ढोला यदि तुम फागुन महीने में न आये तो मैं चाचर खेलने के बहाने होली की आग में कूद पड़ूँगी।

फागुणा मासि बसंत रूत आयउर्जइ न सुणेसि।
चाचरिकइ मिस खेलती, हेली झंपावेसि।।¹¹

वस्तुतः होली के बासंती त्यौहार में लोक-मानस खुलकर रंगरेलियाँ मनाता है। इस त्यौहार से लोक जीवन का गहरा तादाम्य है। ढोला मारू का दूहा में विभिन्न संस्कारों के समय के रीति-रिवाजों को भी प्रस्तुत किया गया है। यथा विवाह के समय माता-पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वेच्छा से उपहार देते हैं। पिंगल भी माखणी को खूब धन देते हैं।

सोवैन-जड़ित सिंधार बह, मारूवणी मुकलाइ।
गय, हेंवर बहुत, दीन्ही पिंगल राइ।।¹²

इसके अतिरिक्त राजस्थानी समाज में विवाह के पश्चात् गौने की प्रथा है जिसके बाद वधू ससुराल आने जाने लग जाती है। इसका उल्लेख 'ढोला मारू रा दूहा' में मिलता है। साल्ह कुँवर अपार हर्ष के साथ पन्द्रह दिनों तक ससुराल रहता है।

पनरह दिन लुग सासरइ रहियउ साल्हकुमार।
पूगल भगतौं नव नवी कीधी हरख अपार।।¹³

विवाहोपरांत वधू, ससुराल जाती है, किन्तु गौने की प्रथा के बाद ही वह ससुराल अधिक दिन ठहर सकती है। यह प्रथा राजस्थान में वर्तमान में भी प्रचलित है। राजस्थान में घूँघट की प्रथा के प्रचलन के संकेत भी 'ढोला मारू रा दूहा' में दिखाई देते हैं। इस प्रकार विभिन्न संस्कारों व प्रथाओं को इस लोकगाथा में वर्जित किया गया है। यह राजस्थान की संस्कृति से हमें अवगत कराता है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ने जहाँ एक ओर सद्व्यवहार एवं सहानुभूति की भावना को जन्म दिया वहाँ दूसरी ओर सामाजिक शिष्टाचारों के प्रति भी लोक को सचेतन किया है। समाज में इस बात को विशेष महत्व प्रदान किया गया है कि विभिन्न लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। 'ढोला मारू' में यद्यपि लोक व्यवहार का वर्णन बहुत कम हुआ है तथापि यत्र-तत्र इसकी झलक मिल जाती है। तद्युगीन समाज में हमें आचार-विचार और शिष्टाचार देखने को मिलता है। भारतीय संस्कृति की अप्रतिम विशिष्टता

एवं धर्माचरण का अभिन्न अंग राजस्थान में किया जाने वाला अतिथि सत्कार है। राजस्थान की 'घर आया बैरी पाहुणा' जैसी कहावतें इसकी साक्षी हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' में अतिथि सत्कार की परम्परा का पालन हुआ है। जब अकाल-ग्रस्त होकर पिंगल नल के घर जाते हैं तो-

नल राजा आदर पियउ, जउ राजवियाँ जोगा।।¹⁴

वस्तुतः 'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थान की लोक संस्कृति का आईना है। इस संस्कृति में किसी भी प्रकार के बैमनस्य, द्वेष, पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रहपूर्ण भेदभाव न होकर, सर्वधर्म समभाव, 'सर्वजनहिताय' तथा 'सर्वजन सुखाय' की भावना विद्यमान रहती है। यह लोकगाथा राजस्थानी लोक संस्कृति की इन्द्रधनुषी छटा प्रस्तुत करती है। इसमें प्रस्तुत संस्कृति 'अतिथि देवो भव' की उपासक है तथा शरणागत धर्म को सम्मान देती है। 'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थानी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली एक सशक्त रचना है। इसमें राजस्थानी संस्कृति के प्रत्येक पहले को अभिव्यक्ति मिली है। राजस्थान के खान-पान, वेशभूषा, आभूषण, संस्कारों, रीति-रिवाजों लोक विश्वासों का वर्णन इस लोकगाथा में मिलता है। इसमें राजस्थान के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता है।

संदर्भ

1. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, दिनकर का काव्य, पृ.-17
2. डॉ. नन्दलाल कल्ला, राजस्थानी लोक साहित्य एवं संस्कृति, पृ.-128
3. रामसिंह और नरोत्तम स्वामी, ढोला मारू रा दूहा, दोहा-587, पृ.-142
4. वही, दोहा-160, पृ.-36
5. रामसिंह और नरोत्तम स्वामी, ढोला मारू रा दूहा, दोहा-139, पृ.-31
6. वही, दोहा-500, पृ.-119
7. डॉ. कृष्ण कुमार शर्मा (संपा.), ढोला मारू रा दूहा, पृ.-70
8. वही
9. रामसिंह और नरोत्तम स्वामी, ढोला मारू रा दूहा, दोहा-149, पृ.-33
10. वही, दोहा-150, पृ.-33
11. वही, दोहा-145, पृ.-32
12. वही, दोहा-594, पृ.-143
13. वही, दोहा-594, पृ.-143
14. रामसिंह और नरोत्तम स्वामी, ढोला मारू रा दूहा, दोहा-3, पृ.-1

फतेहपुर दुर्ग व लक्ष्मणगढ़ दुर्ग : एक तुलनात्मक अध्ययन

पूनम लूनीवाल

भारतीय कला एवं स्थापत्य में दुर्ग संरचना एक महत्वपूर्ण विधा है। सुरक्षा से सम्बद्ध होने के कारण दुर्गों का नागरिक सभ्यता के इतिहास में प्रारंभ से ही विशिष्ट योगदान रहा है। अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से दुर्गों के अस्तित्व का प्रमाण प्राचीनकाल से ही मिलने लगता है।¹ भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में दुर्ग के लिए अधिकांशतः 'पुर' शब्द का प्रयोग हुआ है।² एक ओर जहाँ प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में इनका उल्लेख हुआ है, वहीं भारत की सबसे प्राचीन संस्कृति के केन्द्र हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से भी इनके अवशेष प्रकाश में आए हैं। रामायण के तृतीय सर्ग में दुर्ग का उल्लेख मिलता है।³ इस प्रकार भारत में दुर्गों के अस्तित्व के प्रमाण अति प्राचीनकाल से ही मिलने लगते हैं। दुर्ग, किला, गढ़, कोट अथवा फोर्ट मूलतः राज्य शक्ति और सामरिक स्थापत्य के ही प्रतीक है।⁴ दुर्ग कहीं के भी हो वे मूलतः राजसत्ता के ही केन्द्र होते हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जब लोगों में संगठन एवं दूसरों से पृथकता की भावना आई उसी से दुर्ग निर्माण को बढ़ावा मिला।

दुर्ग निर्माण की कहानी मानव सभ्यता के क्रमिक विकास से जुड़ी हुई है। आदि मानव सभ्यता के सोपानों को चढ़ता गुफा से बाहर निकलकर मैदानों में और घर नगर बसने के साथ जब राज्य शक्ति का उदय हुआ तो अस्तित्व का संकट और भी गहरा हो गया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ सुरक्षा की इस भावना ने गाँवों और नगरों के चारों ओर बनने वाली प्राचीर को जन्म दिया। प्राचीन नगरों के उत्खनन में इस प्रकार की प्राचीरों के अवशेष मिलते हैं। प्राचीन युद्ध परम्परा तथा यहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण राजस्थान में दुर्गों का महत्व रहा है।⁵ राजस्थान में प्राचीर के सबसे प्राचीन अवशेष कालीबंगा से प्राप्त हुए हैं।⁶ नगरों के अतिरिक्त प्राचीन काल में राज्यों में शक्ति का केन्द्र राजा होता था, जो राजधानी में निवास करता था। उसकी सुरक्षा के लिए पहाड़ियों पर या मैदानों में ऐसे दुर्ग बनाये जाते थे जो सुदृढ़ प्राचीर बुर्ज तथा खाइयों से घिरे होते थे। इनके अंदर राजा प्रासाद तथा अन्य राजकीय भवनों के अतिरिक्त देवालय और साधारण जनता के लिए भी आवास बनाए जाते थे। जैसे-जैसे दुर्गों का महत्व बढ़ता गया उनके निर्माण में युद्ध विद्या और सैनिक संगठन का भी ध्यान

रखा जाने लगा। उनके प्रवेश के लिए अनेक ऐसे द्वार बनाए गए कि शत्रु सीधे आक्रमण न कर पाए। स्वयं की सुरक्षा के लिए तथा लम्बे समय के घेरे के दिनों के लिए दुर्ग में सुरक्षित जल व्यवस्था और खाद्य सामग्री का संचय आवश्यक होता था। जल के स्थायी स्रोत में वर्षा का जल कुण्डों और टांकों में एकत्र किया जाता था। संकट के समय दुर्ग से निकलने के लिए गुप्त द्वार की भी व्यवस्था आवश्यक मानी गई।

राजस्थान के शेखावाटी प्रदेश में भी स्थापत्य कला का क्रमिक विकास हुआ है। राजस्थान का शेखावाटी क्षेत्र अपनी रंग-बिरंगी विशेषताओं के कारण भारत भर में प्रसिद्ध है। यहाँ के किले अपने सांस्कृतिक वैभव के साथ-साथ ऐतिहासिक वैशिष्ट्य भी लिए हुए हैं। गढ़ों के निर्माण के पीछे जहाँ सुरक्षा व व्यापारिक भावना थी वहीं सांस्कृतिक गौरव के रूप में इनकी पहचान थी। शेखावाटी में मुख्य रूप से फतेहपुर, लक्ष्मणगढ़, सीकर, दाँतारामगढ़, अमरसर, नवलगढ़, खण्डेला, झुन्झुनू, सूरजगढ़, मलसीसर, नेछवा, बिसाऊ, लोसल, सिंगरावट, रघुनाथगढ़ इत्यादि किले बने हुए हैं, इनमें से बहुत किले भग्नावस्था में हैं। विशाल द्वार, अभेद्य प्राचीर, सुदृढ़ बुर्ज एवं बाहर की ओर खाई इन दुर्गों की विशिष्ट पहचान रही। किलों में मकानों के अलावा मंदिर, सुरंगे, तालाब, बाग-बगीचे, कुएँ आदि भी बनाए गए। अनेक किले भित्तिचित्रों से भी सुसज्जित हैं। शेखावाटी के किले अनेक महत्वपूर्ण युद्धों के साक्षी भी रहे।

लक्ष्मणगढ़ व फतेहपुर दुर्ग का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से देखा जा सकता है-

इतिहास :

फतेहपुर का दुर्ग शेखावाटी का सबसे महत्वपूर्ण दुर्ग है। यह दुर्ग कायमखनियों द्वारा निर्मित किया गया था कायमखानी पहले चौहान राजपूत थे और शेखावाटी के निवासी थे। मुहणोत नैणसी ने लिखा है-हिसार का फौजदार सैयद नासिर उन पर चढ़ गया और ददेरा को लूटा। वहाँ की प्रजा भाग गई और दो बालक पकड़े गए और उनका पालन-पोषण सैयद नासिर ने किया, सैयद नासिर की मृत्यु हो जाने के पर वे बहलोल लोदी के पास गए तो उनका उसने कायमखाँ नाम रखा। इन्होंने फतेहपुर तथा उसके आस-पास के प्रदेशों पर अपना स्वतंत्र शासन स्थापित किया और नवाब की पदवी धारण की। इस वंश में फतेहखाँ नामी शासक था इसी ने फतेहपुर नगर और दुर्ग की नींव सन् 1453 में डाली।⁷ फतेहखाँ ने किले का अन्तः भाग और प्राचीर ही बनवाई। मुख्य द्वार आगे चलकर जलालखान ने बनवाया। लक्ष्मणगढ़ दुर्ग भी एक महत्वपूर्ण प)ति से निर्मित होने के कारण राजस्थान में महत्वपूर्ण दुर्गों की श्रेणी में आता है। लक्ष्मणगढ़ दुर्ग और नगर का निर्माण सीकर के रावराजा लक्ष्मणसिंह ने 1805-1807 ई. में करवाया था।⁸ बेड़ नामक एक पहाड़ी की चोटी पर नगर के पश्चिम की ओर

लक्ष्मणगढ़ का ऊँचा किला स्थित है। यह दुर्ग न तो अतीव प्राचीन है न इस पर भयानक आक्रमण हुए हैं।

स्थापत्य संरचना :

मध्ययुग के रेगिस्तानी किलों में फतेहपुर दुर्ग की गणना की जाती है।⁹ किले के अंदर एक विशाल क्षेत्र प्राचीरों से घिरा हुआ है। सुदृढ़ मोटी प्राचीर अपने शीर्ष भाग पर विभिन्न मोर्चाबंदी और विशाल बुर्जों को लिए फैली हुई है बुर्ज कोनों पर तथा एक विस्तृत खाई प्राचीर के चारों ओर बनी हुई है। जो किले की रक्षा करती है। इस प्राचीर की मोटाई 20 से 25 फिट है तथा अधिकतम ऊँचाई 50 फिट के आस-पास है। किले का प्रथम द्वार दक्षिणमुखी है तथा मध्य आकार का है। यहाँ से एक दीवार प्राचीरों की पंक्ति से जा मिलती है। दूसरा दरवाजा कुछ अधिक विशाल और सुदृढ़ है किले का आकार चतुर्भुज की तरह है जिसके चारों कोनों पर विशाल बुर्ज सीधी खड़ी की गई है। यद्यपि लक्ष्मणगढ़ दुर्ग पहाड़ी पर बना हुआ है। अरावली की पहाड़ी श्रृंखला मुख्य श्रेणी से अलग होकर कुछ स्थानों में फैली हुई है। चारों ओर फैले बालू के टीलों से अपने पार्श्वों को ढकती हुई ये पहाड़ी श्रेणियाँ बड़ी मनोहर मालूम होती हैं। लक्ष्मणगढ़ के दुर्ग वाली पहाड़ी बिल्कुल अलग रेगिस्तान में अचानक उठी हुई सी प्रतीत होती है, इसके शिखर भाग पर दुर्ग का निर्माण किया गया है। इस किले की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसकी प्राचीर दूसरे किलों की तरह नहीं बनी हुई है। सारी दीवार बुर्जों की ही बनी है। प्रचलित पद्धति के अनुसार प्राचीरें दुर्ग को घेरती हुई बनाई जाती थी पर यहाँ सारी दीवार ही एकमात्र विशाल गोलाकार उन्नत बुर्जों की बनाई गई हैं। एक बुर्ज दूसरे से मिलकर एक श्रृंखला की कड़ियों की तरह गोलाकार घूमकर दुर्ग को घेर लेती हैं। एक ही बुर्ज आधार से खड़ी होकर शीर्ष भाग तक जाने के कारण इनकी ऊँचाई बहुत हो गई है। आधार पर इनका घेरा प्रायः 40 फिट तथा मोटाई प्रायः 20 फिट है।¹⁰ बुर्ज इस प्रकार बनायी गई है कि पहाड़ी के निम्न भागों पर दुहरी दीवार बन गई है कई बुर्जों को जोड़ने वाली बाहरी बुर्ज भी खड़ी की गई है। मुख्य द्वार ऊँचा, विशाल और सुदृढ़ बनाया गया है जो किले का मुख्य द्वार है। द्वार की लघुता ही इसकी दृढ़ता की सूचक है। इस द्वार के दोनों ओर विशाल बुर्ज खड़ी की गई है।

सुरक्षात्मक संरचना :

किसी भी दुर्ग का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उसकी सुरक्षात्मक संरचना है प्रायः लक्ष्मणगढ़ व फतेहपुर दोनों ही दुर्गों में यह व्यवस्था देखी जा सकती है। फतेहपुर दुर्ग का निर्माण जिस स्थान पर किया गया उस समय वह स्थान घने वृक्षों से घिरा हुआ था। आस-पास चारों ओर ऊँचे-ऊँचे बालुकामय टीलों के कारण प्रकृति ने भी इस सुरक्षा

व्यवस्था को मजबूत करने में हाथ बंटायी। इस दुर्ग की प्राचीर व बुर्ज सुदृढ़ बनायी गई। इस किले के आस-पास 12 कोस में बीहड़ छोड़ा जिसमें कोई वृक्ष नहीं काट सकता था। इससे किले की सुरक्षा में वृद्धि हुई। प्राचीर भाग और इस खाई के बीच प्रायः 20 फीट का फासला रखा गया। इस मध्यवर्ती भूमि पर किले की रक्षक सेना खड़ी होकर खाई को पार करने की चेष्टा में विफल करती थी। इसी तरह लक्ष्मणगढ़ दुर्ग भी सुरक्षा व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। इस किले की सम्पूर्ण दीवार बुर्जों की बनी हुई है। इन बुर्जों की प्राचीर की मोटाई अधिक होने से तोपों के गोलों की मार से किला सुरक्षित रहता था। इस पर समय-समय पर कई छुट-पुट हमले भी हुए, जिनमें खेतड़ी व मण्डावा वालों द्वारा किए गए हमले उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ही दुर्गों में गुप्त मार्ग व सुरंग भी बनायी गई जिससे सुरक्षा और अधिक मजबूत हुई।

प्रशासनिक व नागरिक आवास :

इन दोनों दुर्गों में प्रशासनिक व नागरिक आवास भी देखने को मिलते हैं। फतेहपुर दुर्ग में प्रविष्ट होने पर अन्तः भाग आता है। इसके बांयी ओर राजमहलों की स्थिति है। प्राचीर भाग के पास ऊपर उठा हुआ मुख्य महलों की पंक्ति से अलग तेलिन का प्रसिद्ध महल है। हिन्दू-मुस्लिम निर्माण पद्धति से बना हुआ यह सरल और अलंकृत महल किले का मुख्य आकर्षण है।¹¹ पश्चिम की ओर तेलिन के महल से कुछ हटकर रनिवास तथा शाही महल बना हुआ है यही पास में सैनिकों के आवास हस्तशाला व अश्वशाला बनी हुई है। महलों के सुन्दर झरोखे जिन पर फूल, पत्ते, बेल, बूटे बने हुए हैं। महलों के अन्तः भाग से एक बड़ा झरोखा पीछे के मैदान की ओर खुलता है इस आंगन में एक नया महल खड़ा है जिसे शेखावतों ने फतेहपुर पर अपना अधिकार करने के बाद बनवाया था। लक्ष्मणगढ़ दुर्ग में भी महल व अन्य आवास देखने को मिलते हैं। किले में प्रविष्ट होने के पश्चात् यहाँ छोटी-छोटी सीढ़ियों से किले का उपरी भाग आता है। इस अंतः भाग के पार्श्वों की संकीर्णता देखने लायक है। यहाँ कुछ आवास भवन है आगे एक छोटे द्वार से प्रविष्ट होने पर किले का उपरी विस्तृत भाग आ जाता है। इस सुदीर्घ प्रांगण में एक ओर सुन्दर महलों का निर्माण किया गया है। यही पास में फतेहपुर दुर्ग की तरह सैनिकों के आवास, हस्तशाला व अश्वशाला बनी हुई है।

धार्मिक आवास :

अधिकांश दुर्गों में कई धार्मिक आवास जैसे-मंदिर, मस्जिद व अन्य देवालय देखने को मिलते हैं। उसी तरह फतेहपुर दुर्ग में कई मीनारें व मस्जिद बनी हुई है। यही पर नवाब दौलत खाँ का मकबरा बना हुआ है।¹² यद्यपि लक्ष्मणगढ़ दुर्ग में मंदिर का निर्माण किया गया है। राव राजा लक्ष्मणसिंह ने यहाँ लक्ष्मण पूरे शिखर शिवालय,

रघुनाथ जी का बड़ा मंदिर व राव राजा लक्ष्मणसिंह की रानी विद्यावती ने श्री विजय रघुनाथ जी विद्यापत मंदिर बनवाया। लक्ष्मणगढ़ दुर्ग से एक गुफा भैरव मंदिर तक जाती है।

जलीय प्रबंध :

दुर्गों में जलीय आपूर्ति को पूरा करने के लिए बावड़ी, टांके, कुण्ड, कुएँ व नहरों का निर्माण किया जाता था। फतेहपुर दुर्ग में एक बावड़ी का उल्लेख मिलता है। जबकि लक्ष्मणगढ़ दुर्ग में नीचे प्रायः 25 फीट गहराई में जल भण्डार बनाए गए हैं जो एक दूसरे से मिले हुए हैं। वर्षा का जल चारों ओर से आकर इन भूमिगत भण्डारों में एकत्रित हो जाता है। इसके कारण एक बड़ी सेना के लिए भी पूरे साल भर इस दुर्ग में जल की कोई कमी नहीं होती जल संग्रह व्यवस्था इस किले की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता रही।

वर्तमान स्थिति :

वर्तमान समय में फतेहपुर दुर्ग अत्यन्त ही दयनीय स्थिति में है। इसका अधिकांश भाग क्षतिग्रस्त हो चुका है इसके एक भाग को नष्ट करके सेठ रामकिशन धानुका कन्या विद्यालय बनाया गया है तथा एक तरफ मंदिर का निर्माण करवाया गया है।¹³ जिससे इस दुर्ग को क्षति पहुँची है इसका मूल रूप धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है जबकि लक्ष्मण दुर्ग वर्तमान में अच्छी स्थिति में है यह पर्यटन का प्रमुख केन्द्र है हाल ही एक धनीमानी सेठ ने इस दुर्ग को खरीद लिया तथा उसी ने इसका पुनर्निर्माण करवाया है। ऊपर एक छोटा बाग लगाकर तथा बुर्जों के मध्य बने हुए झरोखों को रंग करके सुन्दर बनाया गया है।

फतेहपुर दुर्ग व लक्ष्मणगढ़ दुर्ग सीकर जिले के महत्वपूर्ण दुर्ग रहे। इतिहास, स्थापत्य संरचना, प्रशासनिक व नागरिक आवास, सुरक्षात्मक संरचना, जलीय प्रबंध, धार्मिक आवास इत्यादि प्रमुख रहे। इन विशेषताओं के आधार पर कुछ समानताएँ व असमानताएँ भी रही। आज इन विभिन्न सांस्कृतिक सम्प्रदायों का हास होना अत्यधिक चिंता का विषय बना हुआ है। यदि समय रहते इनके संरक्षण के प्रति सचेत नहीं हुए तो एक दिन इस अनमोल सांस्कृतिक सम्पदा से हाथ धो बैठेंगे। अतः इनका पुनरुद्धार प्रांत की गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अपरिहार्य है।

संदर्भ

1. सिंह, अमर, प्राचीन भारतीय दुर्ग स्थापत्य, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ. 1
2. विश्वबन्धु (टीका), ऋग्वेद (प्रथम मण्डल), विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध, संस्थानम्, होशियारपुरम्, 1964, पृ. 415

3. महर्षि वाल्मीकि प्रणीत, श्री महाल्मीकीय रामायण (द्वितीय भाग), गीता प्रेस, गोरखपुर, 2004, पृ.सं. 206
4. दुबे, दीनानाथ, भारत के दुर्ग, नई दिल्ली, 1999, पृ. 1
5. मनोहर, राघवेन्द्र सिंह, राजस्थान के दुर्ग, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. 7
6. कुमारगुप्त, राजस्थान के दुर्ग, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1986, पृ. 5
7. मिश्र, रतनलाल, राजस्थान के दुर्ग, साहित्यगार, जयपुर, 2000, पृ. 137
8. शर्मा, झाबरमल, सीकर का इतिहास, राजस्थान एजेन्सी, कलकत्ता, पृ. 110
9. गुप्ता, मोहनलाल, जयपुर, जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 267
10. मिश्र, रतन लाल, वही, पृ. 143
11. वही, पृ. 139
12. जिला गजेटियर, सीकर, 1968, राजस्थान सरकार, पृ. 419
13. शोध यात्रा दृष्टव्य, 26/11/2011

राजस्थान की लोक कला का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कु. सुरभि गोयल

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से राजस्थान भारत के उन विरल प्रदेशों में से है, जिनका नाम अपनी गौरवमयी परम्पराओं के लिए बहु-विश्रुत रहा है। पुरातत्व शास्त्रियों के मतानुसार इस प्रदेश के जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर के रेतीले भागों में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के समान ही प्रागैतिहासिक बस्तियों का निवास था। इसी क्षेत्र में कभी प्रातः स्मरणीय सरस्वती नदी भी बहती थी। जिसके तट पर बैठकर वैदिक ऋषियों ने ऋग्वेद की (ऋचाओं) का सृजन किया।..... जो भी इतना सुनिश्चित है कि इस प्रदेश की पुरातन पृष्ठभूमि बड़ी समृद्ध रही है।¹ और इसी पृष्ठभूमि को और समृद्ध बनाने में योगदान रहा है यहाँ की लोक कलाओं का। राजस्थान की लोक कला एवं संस्ति इतनी व्यापक, विशाल एवं विराट है कि जिसे ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित विराट पुरुष एवं गीता में वर्णित षण के विराट रूप के समकक्ष रखा जा सकता है।²

राजस्थान के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार की लोक कलाएं प्रचलित हैं कहीं गोदना कहीं माण्डना तो कहीं फड़। गोकुल चन्द गोयल लिखते हैं कि स्थान-स्थान व प्रदेश के अणु-अणु में बिखरी हुई ग्रामीण शिल्प वास्तुकला चित्रकारी, वाद्य यंत्र कला, गोबर से लिपी पुती दीवारों तथा फर्शों पर सजी हुई अंगुलियों से मांडे गए सुंदर संजीव मांडणे जो गणित, ज्योमिति, प्र ति चित्रण, इतिहास पुरातत्व, पर्यावरण, शिक्षा, साक्षरता, परिश्रम कल्याण आदि को समाहित किए हुए हैं, हाथ व पैरों में सुहाग व सौन्दर्य की विविध रूप कलात्मक मेंहदी-मांडना स्त्री-पुरुषों के शरीर पर लालाए से लेकर बैठ गुदे मनोरम गोदने, किले, महलों, मन्दिरों, हवेलियों, छतरियों, कुएं बावडियों आदि पर अंकित भित्ति चित्र राजस्थानी लोक कला के बेजोड़ नमूने हैं।³

प्रो. भवानीशंकर शर्मा राजस्थानी माण्डणों के सन्दर्भ में लिखते हैं कि- “दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं में अलंकरण का विशेष स्थान है। पर माण्डणों की परम्परा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति से नहीं जुड़ी। यह परम्परा लोक-जीवन की सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक प्लेजर) से जुड़ी है। मानव जब उल्लास, उमंग व हर्ष से उद्वेलित हो उठता है तो वह सृजन करता है। उसमें अभिरुचि व प्रकृति के लिए रूपाकारों का प्रतीकात्मक व अलंकरणात्मक रूपान्तरण होता है।”⁴

राजस्थान की लोक कलाओं का चाक्षुष रूप से तो अध्ययन एवं विवेचन अनेक विद्वानों के द्वारा समय-समय पर किया गया है जिनमें महेन्द्र सिंह भानावत, गुलाब कोठारी, एवं रामगोपाल विजयवर्गीय आदि विद्वानों ने अपने लेखों एवं पुस्तकों द्वारा इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक जानकारी भी प्रस्तुत की है जिससे हम इनकी विषयवस्तु एवं कलात्मक सौन्दर्य आदि के विषय में जान सकते हैं किन्तु मैंने अपने शोध पत्र में लोक कला को एक नये परिप्रेक्ष्य जैसे आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर समझने का प्रयास किया है। जिसमें अनेक संदर्भ ग्रंथों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है- Visual Thinking, the psychology of art appreciation इत्यादि।

मनोविज्ञान व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन का विज्ञान है।⁵ प्राणी कैसे प्रत्यक्ष करता है। सीखता है, सोचता है, याद करता है, समझता है तथा साथ-ही-साथ अपने पर्यावरण (environment) के वस्तुओं एवं घटनाओं के साथ किस तरह से अन्तः क्रियाएँ (interactions) करता है आदि का अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है।⁶ सामान्य अर्थों में मनोविज्ञान मन का विज्ञान है जिसके अन्तर्गत मानव मस्तिष्क की जटिलताओं का अध्ययन किया जाता है। और इसी मानव मस्तिष्क की एक जटिल अभिव्यक्ति है- कला। कला के स्वरूप को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विधाओं से समझने की चेष्टा की है। कला समालोचना या उसके क्षेत्र में अनेक घटक या पहलू कला-समीक्षा को प्रभावित करते हैं। कला का मूल्यांकन करने के लिए कुछ विद्वानों जैसे ठमसलदमए थमबीदमत आदि ने भौतिक पक्ष को महत्व दिया जिसे भौतिक सौन्दर्य से जोड़ा गया। इसमें कला के मूल तत्वों के सम्यक् प्रयोग को कला समीक्षा का आधार बनाया। इस पक्ष को मनोविज्ञान ने मानसिक शारीरिक विचारधारा (Psycho-Physical Approach) के अन्तर्गत लिया जाता है। इसी प्रकार एक अन्य विद्वान पॉल सी. विट्ज ने एक विचारधारा का प्रतिपादन किया। इसी विचारधारा को आधार बनाकर मैंने लोक कला को समझने का प्रयास किया है।

प्रकृति के लिए रूपाकारों का प्रतीकात्मक एवं अलंकरणात्मक रूपान्तरण होना मानव मस्तिष्क की एक अभिव्यक्ति है। और यह अभिव्यक्ति लोककलाकार लोककला के रूप में करते हैं। लोक कला यूं तो हम सभी को बहुत प्रभावित करती है पर यह हमें इतनी पसन्द क्यों आती है। इसका क्या कारण है यह जानने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रयोग किये हैं। बजार्न सॉड फंच ने अपनी पुस्तक “The Psychology of Art appreciation में लिखा है “The work of paul C. Vitz (1979; 1984; 1988) is an additional alternative to the psycho physical traditions. His psycho-biological theory is still in progress, but as neurological studies of the human mind gain ground, Vitz's theory may become significant for psychological aesthetics.”⁷

अपने आरम्भिक प्रयासों से विट्ज ने अलग-अलग जटिलताओं के मानसिक-शारीरिक स्वरूप का स्पष्ट चंजजमतदे के द्वारा अध्ययन किया और बाद में कला और विज्ञान के बीच समानान्तरता का अध्ययन करते हुए चित्र के समग्र स्वरूप को अपने अध्ययन का आधार बनाया और 1979 से 1984 के बीच इस प्रकार के अनेकों प्रयोग किये। इसके बाद Computer theory और Brain hemisphere (मस्तिष्क के दो गोलार्ध का सिद्धान्त) प्रभावित होकर चिह्नों को व प्रतीकों को ही कला का आधार माना। विट्ज ने अपने प्रयोगों के आधार पर सदृश्य रूपाकारों और अमूर्त रूपाकारों की बात की है तथा ये भी बताया है कि किसी भी कलाकृति को पसंद या ना पसंद करने में मस्तिष्क के दोनों गोलार्ध का योगदान होता है। विट्ज की विचारधारा को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह समझना आवश्यक है कि सदृश्य रूपाकार क्या हैं व अमूर्त रूपाकार क्या हैं -

सदृश्य रूपाकार वे रूपाकार माने जाते हैं, जो चाक्षुष रूप में बनाई गई वस्तु से समानता रखते हैं, अर्थात् सदृश्य आकार। वस्तु के समान दिखाई देने वाला आकार। उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति मानव की दृश्य विशेषताओं से युक्त हो तो वह सदृश्य प्रतीक का उदाहरण है एवं इसके विपरीत एक अमूर्त रूपाकार जिस आकार के लिये बनाया गया है, उससे उसका दृश्यीय सम्बन्ध होना जरूरी नहीं है। विट्ज ने दो प्रकार के रूपाकारों की व्याख्या करते हुए यह माना है कि दोनों प्रकार के सदृश्य और अमूर्त के बीच का अन्तर वर्गीकृत न होकर उनके अंश पर आधारित होता है, उसने माना कोई भी रूपाकार एक समय पर 'अमूर्त' व 'सदृश्य' हो सकता है। अमूर्त व सदृश्य में सदृश्यीकरण हो जाता है, दोनों ही दिखते हैं। विट्ज ने कुछ उदाहरण देकर अपने विचारों को समझाया कि किसी भी चित्र में अमूर्त पक्ष को बढ़ाने से 'सदृश्य' खत्म हो जाता है। जैसे कि किसी भी व्यक्ति को सामने देखने में सबसे अधिक सदृश्यता होती है। उसका रंगीन फोटो उससे कम, श्वेत-श्याम उससे कम व धुंधला उससे कम सदृश्य होगा। इसी प्रकार राजस्थानी लोककलाओं जैसे माण्डणा व गोदना अमूर्त प्रस्तुतीकरण के नजदीक माने जा सकते हैं। इसके पश्चात् विट्ज की विचारधारा मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के क्रियाकलापों से प्रभावित होती है। विट्ज अनुसार- मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों का कला में महत्वपूर्ण योगदान है। मानव मस्तिष्क के बायाँ व दायँ दो भाग होते हैं जो शारीरिक संरचना में बराबर होते हैं।

विट्ज का मानना रहा है कि - "बायाँ गोलार्ध अमूर्त रूपाकारों से अधिक प्रभावित होता है। दायँ गोलार्ध सदृश्य रूपाकारों के उपयुक्त दृश्य प्रभाव को समझता है। हमारे दैनिक जीवन में दायँ-बायाँ दोनों मस्तिष्क गोलार्ध काम करते हैं। विट्ज का मानना है कि - Any great work of art should be challenge for both parts of

the brain.⁸ जिन चित्रों में सदृश्यता अधिक होती है वे मस्तिष्क के दायँ भाग के लिए अधिक आनन्ददायी होते हैं। इनका मानना है कि कोई भी विशिष्ट चित्र मस्तिष्क के दोनों भागों के लिए चुनौतीपूर्ण होना ही चाहिए अर्थात् वह चित्र अथवा रूपाकार अधिक महत्वपूर्ण होगा जो मस्तिष्क के दोनों हिस्सों को सक्रिय कर आनन्द प्रदान कर सके। राजस्थानी लोक कलाओं का एक वृहद संसार है जिसमें राजस्थानी माण्डणों गोदना, फड़ इत्यादि की प्रमुखता है। इन सभी लोक कलाओं में बने रूपाकार कुछ सदृश्यता की ओर व कुछ अमूर्तता की ओर अधिक हैं। जैसे फड़ लोकचित्रकला के रूपाकारों में अमूर्तता के साथ-साथ सदृश्यता का थोड़ा अधिक प्रभाव है। इसी प्रकार माण्डणों में बने रूपाकार जैसे मोर, मनुष्य (चित्र फलक सं. 1, 2) इत्यादि में हमे दोनों ही पक्ष अमूर्तता व सदृश्यता देखने को मिलती है जिससे ये हमारे मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों को प्रभावित करते हैं और रूचिकर लगते हैं।



चित्र फलक सं. 1



चित्र फलक

चित्र फलक सं. 2

चित्रफलक सं. 1 में एक मोर का माण्डणा चित्रित है यह माण्डणा हमारे मस्तिष्क के दोनों भागों को समान प्रभावित करता है क्योंकि इस चित्र में कुछ सदृश्यता व कुछ अमूर्तता के पक्ष विद्यमान हैं। इसी प्रकार चित्रफलक सं. 2 में एक नाहर चित्रित है जो एक शेर का प्रतिरूप है इस नाहर में सदृश्यता थोड़ी कम व अमूर्तता का पक्ष थोड़ा अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थान की लोक कलाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तानरित होती रही हैं कुछ सामाजिक कारणों से व कुछ धार्मिक कारणों से

किन्तु इन लोक कलाओं के लोकप्रिय होने में इसके आकारों में अमूर्त व सदृश्य दोनों ही पक्षों का महत्वपूर्ण योगदान है और इसी प्रकार ये कलाएँ हमेशा ही जनप्रिय रही हैं और रहेंगी।

सन्दर्भ

1. डॉ. राधारानी शर्मा, हाडौती की लोक कला में माण्डने, 2007, पृ. 2
2. गोकुल चन्द गोयल, राजस्थान की लोक कला और संस्कृति, राजस्थान बोर्ड शिक्षण पत्रिका, खण्ड 37 अंक 2, 3 अप्रैल-सितम्बर, 1999, पृ. 116
3. वही, पृ. 116
4. प्रो. भवानी शंकर शर्मा, लोक कला में माण्डणे, 2001, पृ. 6
5. डॉ. अरूण कुमार सिंह, मनोविज्ञान कक्षा गप, 2008, पृ. 8
6. वही, पृ. 2
7. Bjarne sode Funch, The Psychology of art appreciation Museum Tusculanum Press University of Copenhagen] 1997, P. 59
8. वही, पृ. 64

श्रीगंगानगर में पर्यटन की दशा एवं संभावनाएं

डॉ. तौफिक हुसैन

श्री गंगानगर राजस्थान के सुदूर उत्तर में स्थित एक सीमवर्ती जिला है। इसकी कायापलट का श्रेय महाराजा गंगासिंह को है, जिनके प्रयास से 26 अक्टूबर 1927 को शिवपुर हैड द्वारा सतलुज का पानी श्रीगंगानगर आया। इसलिए उन्ही के नाम पर इसका नाम श्रीगंगानगर रखा गया। वर्तमान में यह राजस्थान का एक समृद्धशाली जिला है तथा धान का कटोरा के नाम से प्रसिद्ध है। यह भारत के सुनियोजित शहरों में से एक है इसका नक्शा पेरिस शहर से प्रभावित है यह दो हिस्सो में विभाजित है एक वाणिज्यिक दूसरा रिहायसी क्षेत्र। यहाँ की भाषा बागड़ी एवं पंजाबी है यहाँ मुख्य रूप से पंजाबी एव मारवाड़ी पहनावा प्रचलित है यहाँ का खानपान पूर्णरूप से पंजाबी होने के कारण इसे राजस्थान की पंजाबी नगरी भी कहा जाता है यहाँ के किन्नू पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है यह राजस्थान के कॉटन बैल्ट के रूप में भी जाना जाता है राजस्थान की सर्वाधिक सिक्ख जनसंख्या होने का गौरव भी इसे प्राप्त है

प्रमुख पर्यटक स्थल:-

गुरुद्वारा बुढा जोहड़ साहब:-सिक्खों का परम धार्मिक स्थल बुढा जोहड़ साहब का ऐतिहासिक गुरुद्वारा श्रीगंगानगर से 85 किलोमीटर, दूर दक्षिण पश्चिम में स्थित है, यह भव्य गुरुद्वारा 80 गुणा 90 फीट में बना हुआ है जिसमें 140 स्तम्भ है यहाँ एक छोटा से पुस्ताकलय भी है जिसमें सिक्ख शहीदों के चित्र लगे हुए हैं। इस गुरुद्वारा के निर्माण स्व. संत फतेहसिंह जी ने 1954-59 में अपनी देख रेख में करवाया गुरुद्वारे के साथ 125 एकड़ कृषि भूमि है वहाँ हर समय यात्रियों के लिए गुरु का लंगर अटूट चलता रहता है।

गुरुद्वारा साहब के अन्दर निर्मल जल का एक सुन्दर सरोवर है। यहाँ धर्म के प्रचार प्रसार को केन्द्र है गुरुवाणी का किर्तन सिखाया जाता है और ग्रन्थी तैयार किये जाते हैं। यहाँ संत फतेह सिंह संत चरण सिंह, सिक्ख मिशनरी कॉलेज स्थापित है यहाँ पक्के सिक्ख मिसनरी विद्या प्राप्त करते हैं। कहा जाता है कि 11 अगस्त 1740 को जत्थेदार बुढासिंह की प्रेरणा से भाई सुक्खा सिंह एवं मेहताब सिंह द्वारा मस्सा रंगड़ नामक अधर्मी का सिर काटकर लाया गया और उसे एक पेड़ पर लटका दिया गया उन्ही के नाम पर बुढा जोहड़ प्रचलन में आया।

हिन्दूमलकोट बार्डर:-यह भारत पाकिस्तान सीमा पर स्थित श्रीगंगानगर तहसील की उप तहसील है श्रीगंगानगर से हिन्दूमलकोट की दूरी 26 कि.मी. है यहाँ से पाकिस्तान की ओब्जरवेशन पोईन्ट व सीमा पर लगी तारबंदी स्पष्ट नजर आती है 1947 से पूर्व यहाँ से पाकिस्तान के भावल पुर तक रेल जाती थी जिसके चिन्ह आज भी देखे जा सकते हैं कहा जाता है कि इस स्थल का नामांकरण बीकानेर राज्य के दिवान हिन्दूमल बैद्व के नाम पर किया गया है क्योंकि इन्ही के प्रयास से इसे बीकानेर राज्य में सम्मिलित किया जा सकता है वरना इससे पूर्व यह भावलपुर रिआसत का भाग था। हाल ही में इस स्थल को पर्यटन स्थल के रूप में विकसित करने के लिए प्रशासन और सीमा सुरक्षा बल ने एक योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत सीमा क्षेत्र विकास कार्यक्रम एवं महानरेगा के सम्मिलित प्रयासों से यहां 14.50 लाख रुपये की लागत से निर्माण कार्य करवाया जाना प्रस्तावित है।

डाडा पम्पाराम की समाधि:-यह पावन स्थल श्रीगंगानगर से 110 कि.मी. दूर विजयनगर में स्थित है जहाँ प्रतिवर्ष फाल्गुन माह में एक सात दिवसीय भव्य मेला लगता है इस मेले का समापन फाल्गुन माह के संक्रान्ति के दिन होता है। मेले में राजस्थान प्रदेश के अतिरिक्त पंजाब, हरियाण, दिल्ली मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश व बिहार के विभिन्न धर्मों के लोग बड़ी श्रद्धा के साथ आते हैं। डाडा पम्पाराम जी का जन्म आज से लगभग 400 वर्ष पूर्व गुरु नानक देव के काल में बीकानेर जिले के कुम्भाना गाँव में एक अरोड़ा परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि पहले बाबा के अधिकांश भक्तजन वर्तमान पकिस्तान से आते थे जिन्हे कुम्भाना पहुँचने तक लम्बी यात्रा करनी पड़ती थी। बाबा के आदेश से यात्रियों की कठिनाईयों को देखते हुए उनकी समाधि फोर्टाबाद (पाकिस्तान) में स्थापित की गई देश के विभाजन के पश्चात डाडा की समाधि श्री विजयनगर में स्थापित की गई तब से आज तक हजारों की संख्या में श्रद्धालू प्रति वर्ष विजयनगर आते हैं।

श्री जगदम्बा अंधविद्यालय:-श्री गंगानगर के लिए एक तीर्थ का से महत्व रखने वाला श्रीजगदम्बा अंध एवं मूकबधिर विद्यालय, विकलांग शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वरोजगार तथा पुनर्वास के क्षेत्र में सेवा श्रम तथा जन सहयोगा का प्रतीक बना हुआ है। 13 दिसम्बर 1980 में परमहंस स्वामी ब्रह्मदेव जी की प्रेरणा, लगन, तथा स्थानीय और जिले के भामाशाहों की सक्रिय सहयोग से श्री जगदम्बा मूक बधिर विद्यालय की स्थापना हुई। इसका 23 अक्टूबर 1983 को उदघाटन हुआ। आज यह देश के उच्च संस्थान के रूप में स्थापित है जहा 500 से अधिक गूंगे, बहरे, अंधे छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यहां एक उच्च कोटि का आर्खों का हस्पताल है, जहाँ समय समय पर मुफ्त इलाज किया जाता है। यह संस्थान 16 किले जमीन में स्थापित है जिस पर 10

करोड़ से अधिक लागत का निर्माण कार्य हो चुका है। इस संस्थान को देश की पहली कम्प्यूटरीकृत ब्रेल प्रेस यूनिट स्थापित होने को गौरव प्राप्त है। आज यह अंध विद्यालय श्रीगंगानगर ही नहीं अपितु देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए एक तीर्थ स्थल सा बना हुआ है। श्रीगंगानगर आने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस स्थान पर आकर अपनेआप को भाग्यशाली अनुभव करता है इन सब के पिछे स्वामी ब्रह्मदेव जी की निष्ठा, कर्म एवं लगन है। जिनके इशारे पर इस क्षेत्र के लोग हजारों लाखों रूपया दान करते चले जा रहे हैं

लैला मजनू की मजार-यह अनूपगढ से 11 कि.मी. दूर बिंजौर गाँव में स्थित है यद्यपि इस बात के कोई पुख्ता सबूत नहीं है कि अमर प्रेम की मिशाल लैला मजनू का इस क्षेत्र से कोई वास्ता था या नहीं लेकिन लोगों की आस्था इतनी है कि वे इसे वास्तविक लैला मजनू की मजार मानकर ही यहा की देखभाल करते हैं और प्रतिवर्ष 15 जून को यहां विशाल मैला भरता है, जिसमें देश भर के हजारों लोग मन्नते मांगने आते हैं। यहाँ मेला आजादी से पहले से लगाया जा रहा है। इस मजार के प्रति लोगों की आस्था किंवदंतियों पर टिकी हुई है एक किंवदंति के अनुसार अखंड भारत के समय किसी जागीरदार की पुत्री का एक गरीब युवक से प्रेम हुआ और वे दोनों भागते हुए यहाँ आ गये और कुएं में कूदकर आत्महत्या कर ली। उनकी मजार यहाँ बनाई गई वह कुआँ गाँव मे आज भी है। दूसरी किंवदंति यह है कि एक पीर अपने शिष्य के साथ यहां रहते थे उनमें इतना प्रेम था की लोग लैला मजनू की मिशाल दिया करते थे पीर की मृत्यु के बाद शिष्य की भी मौत हो गई और दोनों की मजार अगल बगल में बना दी गई

इस मजार का चमत्कार लोग बताते हैं कि घग्घर की बाढ से सारा गाँव डूब जाता है लेकिन पानी मजार का छू नहीं पाता

बरोर:-यह अनूपगढ रामसिंह पुर मार्ग पर स्थित महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल है इस स्थल से सिंधु सभ्यता के महत्वपूर्ण अवशेष मिले हैं वर्तमान में यहाँ उत्खनन कार्य प्रगति पर है।

तरखान वाला डेरा:-यह अनूपगढ में स्थित एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल है इस स्थल का उत्खनन 2003-2004 में पी.के. त्रिवेदी और जे.के. पटनायक द्वारा किया गया। यहाँ परिपक्व हड़प्प सभ्यता से सम्बंधित सांस्कृतिक निक्षेप मिले हैं।

शिवपुरी का गढ:-यह विजयनगर कस्बे के नजदीक 28 बी.बी. गाँव में स्थित के हवाई जहाज पंखनुमा दो मंजिली एक गढी बनी हुई है, जो भारतीय स्थापत्य कला का एक बेजोड़ नमूना है। इसे बीकानेर रियासत के दिवान मानवाती सिंह ने बनावाया था।

शिवपुर हैड:-यह श्रीगंगानगर से 14 की.मी. दूर स्थान है जहाँ से 26 अक्टूबर 1927 को बीकानेर तत्कालीन महाराजा गंगासिंह जी का इस क्षेत्र को चमन बनाने का सपना, भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन ने इस जिले की प्राणदायनी गंगनहर का पानी प्रभावित कर साकार किया। इसी हैड द्वारा बीकानेर हैड का पानी गंगनहर में पहुँचा है। यह स्थल पर्यटक स्थल के रूप में स्थापित हो चुका है।

अनूपगढ का किला:-यह जर्जर अवस्था में अनूपगढ शहर में स्थित है इसका निर्माण अनूपसिंह राठौड़ ने करवाया।

चानणाधाम:-जहाँ हनुमान जी का विशाल मंदिर है जिसका निर्माण 1971 में किया गया यह गंगानगर पदमपूर मार्ग पर 17 बी.बी से 14 कि.मी. दूर स्थित है।

सूरतगढ जैतसर के यंत्रिकृत कृषि फॉर्म:-सूरतगढ में 1956 में रूस की सहायता से एशिया का सबसे बड़ा यंत्रिकृत कृषि फार्म बनाया गया है तथा 1964-65 में भारत सरकार की सहायता से जैतसर का यंत्रिकृत कृषि फॉर्म बनाया गया।

श्रीगंगानगर के पर्यटन के दृष्टिकोण से उपेक्षित रहने के कारण

श्री गंगानगर के प्रति पर्यटकों की आमतौर पर यह शिकायत रहती है की श्रीगंगानगर में देखने लायक कुछ भी नहीं है। पर्यटकों की इस धारणा के निम्नलिखित कारण दृष्टिगत होते हैं:-

पर्यटक स्थलों के प्रचार प्रसार का अभाव:-विश्व और भारत के पर्यटन मानचित्र पर राजस्थान अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। राज्य सरकार ने पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए पर्यटन निति घोषित की है लेकिन पर्यटकों के टूर प्रोग्राम में श्रीगंगानगर का कार्यक्रम नहीं रखा जाता पर्यटक केवल गंगानगर को धान का कटोरे के रूप में ही जानते हैं। राज्य सरकार और प्रशासन की उदासीनता राजनैताओं की अरुचि तथा समाचार पत्रों का अपेक्षित योगदान न होने के कारण यहाँ देशी विदेशी पर्यटक नहीं आते हैं

आवासीय, खान पान और यातायात की सुविधा का अभाव:-पर्यटक स्थलों के निकट होटल खान-पान की सुविधाओं का अभाव और पर्यटक स्थलों का अच्छे सड़क मार्ग से न जुड़े होने के कारण पर्यटक इन स्थलों पर जाने के लिए कतराते हैं।

सरकार की उपेक्षा एवं उदासिनता:-श्रीगंगानगर का पर्यटन के दृष्टिकोण से उपेक्षित रहने के लिए सरकार का उपेक्षतापूर्ण रवैया है। सरकार समय समय पर इन स्थलों को विकसित करने की घोषणा तो करती है लेकिन दृढ़ इच्छा शक्ति के अभाव में उसका क्रियान्वन नहीं हो पाता।

पर्यटन विभाग की लापरवाही:-पर्यटन विभाग ने कभी भी उत्साहपूर्ण तरीके से श्रीगंगानगर के पर्यटक स्थलों को विकसित करने का दायित्व ग्रहण नहीं किया।

जन संचार माध्यमों के अपेक्षित सहयोग का अभाव:-यद्यपि दैनिक समाचार पत्रों (दैनिक भास्कर, राजस्थान पत्रिका) में इन पर्यटक स्थलों के विकास करने के समाचार समय समय पर प्रकाशित कर जनता और सरकार का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया जाता है लेकिन दैनिक समाचार पत्रों से एक मिशन के रूप में इसका बीड़ा नहीं उठाया जिससे सरकार पर दबाव बनाया जा सके।

जनसामान्य का अरुचिकर व्यवहार:-श्रीगंगानगर की जनता ने कभी भी पर्यटक स्थलों को विकसित करने का दायित्व ग्रहण नहीं किया।

श्रीगंगानगर को पर्यटन की दृष्टिकोण से विकसित करने के सुझाव (पर्यटन की संभावनाएं)

सरकार के प्रयास:-सरकार को श्रीगंगानगर के पर्यटन स्थलों के विकास के लिए आर्थिक संसाधन प्रदान करने होंगे विभिन्न पर्यटक स्थलों तक पहुँचने के लिए अच्छे सड़क मार्गों का निर्माण करना होगा। उत्खनन स्थलों की सुरक्षा के लिए उनकी तारबंदी करनी होगी।

यद्यपि प्रसाशन ने इस दिशा में योजना बना रहा है। यहां के प्रमुख पर्यटक स्थल हिन्दूमलकोट, अन्तराष्ट्रीय बार्डर को पर्यटक स्थल के रूप में विकसित करने के लिए स्थानीय प्रशासन एवं सीमा सुरक्षा बल ने एक योजना तैयार की है इस योजना के अन्तर्गत यहां गेस्ट हाउस वाटर टैंक, फव्वारों का निर्माण स्थानीय शैली में झोपड़े का निर्माण उंट और घूड़सवारी की व्यवस्था तथा शाम के समय राष्ट्र ध्वज को उतारते समय जवानों की परेड को आयोजन, खाने पीने की समुचित व्यवस्था, उधानीकी, ग्रीनहाउस, बूंद बूंद फुव्वारा पद्धति आदि की व्यवस्था का सफल क्रियान्वन प्रस्तावित है यदि इसका क्रियान्वन होता है तो पर्यटन विकास की दिशा में एक अत्यन्त सराहनीय कदम होगा। शिवपुर हैड पर वाटर पार्क निर्माण कर दिया जाये तथा खाने पीने और होटल की समुचित व्यवस्था कर दिया जाये तो यह भी पर्यटक स्थल के रूप में विकसित हो सकता है। श्रीगंगानगर में शिल्पी कारीगर आदि प्रयाप्त संख्या में रहते हैं। यदि इनकी कलाओं का हार्ट बाजार के माध्यम से प्रदर्शित किया जाये तो ने केवल उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा अपितु राज्य की आय में भी वृद्धि होगी। श्रीगंगानगर का कालिया गांव जूतियों के लिए प्रसिद्ध है। यदि उनको आर्थिक सहयोग दिया जाये और उनकी जूतियों की देश विदेश में प्रदर्शनी के द्वारा प्रचार प्रसार किया जाये और जूतियों की देश विदेश में निर्यात की व्यवस्था की जाये तो यह भी पर्यटक

स्थल के रूप में विकसित हो सकता है। एक सग्रहालय की स्थापना की जाये जिससे गंगानगर के सांस्कृतिक पुरातात्विक ऐतिहासिक, धार्मिक स्थलों की जानकारी प्रदान की जा सकें।

स्थानीय लोगो एवं जनप्रतिनिधियों के प्रयास—स्थानीय लोगों जनप्रतिनिधियों को रूचिपूर्ण तरीके से गंगानगर के पर्यटक स्थलों को विकसित करने के लिए सघर्ष करना चाहिए तथा सरकार तक अपनी आवाज को पहुंचाना चाहिए। स्थानीय लोगों का श्रीगंगानगर के पर्यटक स्थलों के प्रति उपेक्षतापूर्ण रवैयो के त्यागना होगा यदि वे इसमें सफल होते हैं ने केवल यहां के युवाओं को रोजगार मिलेगा अपितु यह जिले की आर्थिक समृद्धि में सहायक होगा।

पर्यटन विभाग के प्रयास:—राजस्थान के पर्यटन विभाग को श्रीगंगानगर को पर्यटन स्थलीय के रूप में विकसित करने के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी यहाँ पर्यटन विभाग का कार्यलय स्थापित करना होगा ब्रोसर पम्पलैट, आदि के माध्यम से यहाँ के पर्यटक स्थलों का प्रचार प्रसार करना होगा आकर्षक विज्ञापन प्रकाशित करने होंगे। पर्यटक पैकेज यात्राओं में श्रीगंगानगर का नाम रखना होगा पर्यटक गाईडो की नियुक्ति करनी होगी राजस्थान के पर्यटन मानचित्र में श्रीगंगानगर के पर्यटक स्थलों को प्रभावपूर्ण तरीके से प्रदर्शित करना होगा तभी पर्यटक श्रीगंगानगर की और आकर्षित होंगे

शोधार्थियों के प्रयास:—पर्यटन पर शोध करने वाले विद्यार्थियों, पुरातत्वशास्त्रियों तथा ऐतिहासिक स्थलों पर शोध करने वाले शोधार्थियों का अपने शोध की जानकारी समय समय पर पर्यटन विभाग को देनी होगी जिससे श्रीगंगानगर के सांस्कृतिक ऐतिहासिक पुरातात्विक स्थलों की महत्ता से पर्यटकों को अवगत करावया जा सकें। इस प्रकार यदि सरकार पर्यटन विभाग जनप्रतिनिधि जन सामान्य यहाँ के पर्यटक स्थलों को विकसित करने में रूचि लें तों कृषि क्षेत्र में अब्बल श्रीगंगानगर को पर्यटन क्षेत्र में भी विकसित किया जा सकता है।

अलवर राज्य और प्रमुख मेले

अशोक कुमार बैरवा

अलवर राज्य जो कि राजस्थान प्रान्त के उत्तर पूर्वी भाग में 27.5' से 28.15' उत्तरी अक्षांश और 76.10 से 77.15' पश्चिमी देशान्तर के मध्य स्थित है राजस्थान की राजधानी जयपुर¹ भारत की राजधानी देहली के मध्य राष्ट्रीय राजमार्ग नम्बर 08 पर अरावली पर्वतमाला की गोद में बसा हुआ है।¹ जो कि अलवर राजस्थान के क्षेत्रफल का 2.45 प्रतिशत है। किसी भी स्थान की लोक संस्कृति की समृद्धता को वहां के मेलों में देखा जा सकता है ये मेले ही होते हैं जो जीवन में विभिन्न रंग लाते हैं, जीवन में उत्सव मनाने के अवसर होते हैं ये मेले। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय में भी मेलों का महत्व बना हुआ है क्योंकि ये हमारे सामाजिक जीवन का हिस्सा बने हुए हैं हमारी संस्कृति के रक्षक हैं ये मेले। आइये अब हम अलवर के कुछ महत्वपूर्ण मेलों पर चर्चा करते हैं।

चूडसिद्ध का मेला

अलवर राज के पश्चिम में स्थित पहाड़ियों और राज्य के हृदय में चूडसिद्ध स्थित है।² और मेवात क्षेत्र के प्रमुख मेलों में भी यह अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'चूडसिद्ध का मेला शिवरात्री को फागुन बदी को भरता है।³ तथा जिसमें काफी संख्या में भीड़ एकत्रित होती है।⁴ 'मेले के स्थान से कुछ दूरी पर गाँव वाले अपने कैम्प लगाते हैं। यह रमणीय स्थान पहाड़ों में स्थित है।⁵ चूडसिद्ध का जन्म धनेटा गाँव में हुआ था।⁶ 'यह एक नाई महिला तथा मेव पुरुष की पैदाईश माना जाता है। घर त्यागने के बाद इसकी मुलाकात सन्त शाहमदान से हो गयी⁷ और यह चमत्कारी कार्य करने लग गया। चूडसिद्ध का जल धन धान्य की वृद्धि वाला कहलाता है तथा अन्धे तथा रोगी व्यक्ति के लिए विशेष रूप से लाभदायक है।⁸

लालदास जी का मेला

लालदास जी का मेला धौलीदूब अलवर में आश्विन को लगता है⁹ तथा शेरपुर तहसील रामगढ, में भी आषाढ व माघ के माह में लालदास जी का मेला भरता है।¹⁰ संत लालदास जी का जन्म मेवात के धौलीदूब (अलवर) नामक ये एक गरीब मेव परिवार में हुआ था वे हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता के मसीहा थे। इनके मेले में काफी संख्या में भीड़ एकत्रित होती है।¹¹

चरणदास जी का मेला

अलवर राज्य के उत्तर पश्चिम में आठ मील दूर डहरा परगने में चरणदास जी का मेला लगता है¹² यह मेला भाद्रपद शुक्ल 3 को लगता है यहा पर चरणदास जी की छतरी बनी हुई है।

जगन्नाथजी का मेला

महाप्रभु जगन्नाथ जी का मेला आषाढ सुदी को मनाया जाता है, यह मेला अलवर राज्य के निवासियों का सात दिन तक मनोरंजन कर, भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा को नव कलेवर प्रदान करता रहता है।¹³ जगन्नाथ महाप्रभु के मेले के लिए महन्त केशवदास ने योजना बनाई थी,¹⁴ उसने इस संदर्भ में अलवर महाराजा शिवदान सिंह से मिले तथा योजना का विवरण दिया जिसे शिवदान सिंह जी ने स्वीकार कर लिया तथा मेले का खर्च उठाने के लिए तैयार हो गये।¹⁵ 'इस प्रकार आषाढ सुदी 2 संवत् 1916 वि.सं. (सन् 1859) के दिन प्रथम बार इस मेले का शुभारंभ हुआ।¹⁶

भर्तृहरि का मेला

अलवर राजा के मेलो में भर्तृहरि का मेला अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है जो भर्तृहरि की तपोभूमि भी है।¹⁷ जहां पर प्रति वर्ष दो बार वैशाख और भादों यहाँ में मेला लगता है, जन-जन की निष्ठा और आस्था का यह मेला जिसमें अलवर के ही नहीं यू.पी., एम.पी., पंजाब, हरियाणा, दिल्ली तथा निकटवर्ती राज्यों से बड़ी संख्या में श्रद्धालु यहाँ पहुँचते हैं। महाराजा भर्तृहरि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के भाई थे, जो ईसा से 50 वर्ष पूर्ण रहे,¹⁸ जिसके शासन के नाम पर हिन्दू संवत् आज भी प्रचलित है, ने अपने अन्तिम समय चरण में यहा तपस्या की तथा समाधि ली उनकी। इस समाधि पर अखण्ड ज्योति प्रज्वलित रहती है।¹⁹

पाण्डुपोल का मेला

प्राकृतिक सौन्दर्य में पाण्डुपोल अपना विशेष महत्व रखता है²⁰ सरिस्का अभ्यारण के दक्षिण पूर्व की ओर पाण्डुपोल स्थल है, जहां पर हनुमान जी का विशाल श्वेत मन्दिर स्थित है,²¹ यहां पर प्रति वर्ष भादों व वैशाख में अमावस्या के बाद द्वितीय अथवा किसी भी तिथि को पड़ने वाले पहले मंगलवार को मेला लगता है, इस मेले में लोग दूर-दूर से आते हैं। वर्षा के मौसम में यहाँ पर्यटकों की भीड़ रहती है।²² इसके सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि बाबा निर्भयदास को स्वप्न में हनुमान जी ने दर्शन दिये और बोले की मुझे जमीन से बाहर निकालो, निर्भयदास ने जमीन से एक मूर्ति निकाली तथा उसकी उसी स्थान पर स्थापना कर दी। पाण्डुपोल की एक ऐतिहासिकता

और बताई जाती है कि पाण्डवो ने अपने अज्ञातवास का समय यही व्यतीत किया। एक दिन²³ जब कौरवो की सेना द्वारा उनका यहां रहने का आभास हो गया तो भीम ने अपनी गदा से पहाड में मार कर मार्ग बनाया।

देहरा का जैन मेला

अलवर राज्य में तिजारा के जैन मन्दिर का अपना विशेषः महत्व है जो श्वेत पाषाण की मूर्ति के लिए प्रसिद्ध है जिसे देखने के लिए ना केवल जैन अनुयायी बल्कि अन्य धर्मावलम्बी भी यहाँ आते हैं²⁴ पांच वर्ष में होने वाले पंच कल्याणक में लाखों की तादाद में विभिन्न स्थानों से विभिन्न धर्मों के अनुयायी यहाँ आते हैं और दर्शन तथा मेले में आनन्द उठाते हैं।

कुछ अन्य मेले इस प्रकार हैं -

अलवर शहर से 8 मील दूर शाहपुरा स्थान पर आसोज सुदी 22 को सैय्यद का मेला भरता है जिसमें लगभग 500 के लगभग जनता आती है। लालपुर अलवर में पोष सुदी पूर्णिमा को पंचपीर का मेला भरता है जिसमें 500 संख्या में लोग एकत्रित होते हैं। बहाडा अलवर में सालार का मेला ज्येष्ठ सूदी को बड़ी श्रद्धा के साथ लगता है जिसमें लगभग 8000 लोग आते हैं तथा 50 के लगभग दुकाने लगती हैं। बालेटा अलवर में चैत्रसुदी अष्टमी को मनसादेवी का मेला लगता है जिसमें लगभग 400 लोग एकत्रित होते हैं। हल्दीना अलवर में महात्मा रामदेवजी का मेला लगता है यह मेला माघ सुदी 1 को भरता है 300 के लगभग जनता यहाँ पर आते हैं। बालेटा अलवर में पाण्डुपोल के हनुमान महाराज का मेला लगता है यह मेला वैशाख सुदी में अष्टमी मंगलवार को और भाद्रपद सुदी में प्रथम मंगलवार को लगता है इसमें लगभग 5000 जनता आती है। 'बानसूर में हर साल बिलाली माता का मेला (मार्च / अप्रैल) चैत्र वैशाख को लगता है। इस मेले में हजार यात्री आते हैं। थानागाजी में वैशाख में नारायणी माता का मेला लगता है।

श्री जगन्नाथ जी का मेला आषाढ शुक्ल 2 से 8 तक भरता है जिसमें 10,000 लोग एकत्रित होते हैं। राजगढ में दूसरा मेला रामबाग की छतरीयो पर चैत्र कृष्णा 5 को मेला लगता है दुर्ग से श्री चतुर्भुज महाराज जी पधारते हैं इस मेले में 1000 लोग एकत्रित होते हैं। दूदपुरी/धाधपुरी - राजगढ - जल जुलनी एकादशी को पाच सात गाँवों के ठाकूरजी तिलहद स्थान पर एकत्रित होते हैं तथा 300 लोग भी इस स्थान पर एकत्रित होते हैं। नीमला राजगढ में शिवरात्री के दिन प्रति वर्ष पहाडी पर भूतेन्द्रजी का मेला भरता है 200 के लगभग लोग एकत्रित होते हैं। राजोर राजगढ में चूहरसिद्ध का चौतरा बना हुआ है जहाँ पर वैशाख शुक्ल और दूसरा भादो खुदी का मेला लगता है। राजपुर राजगढ में सोमेश्वर महादेव का मेला चैत्रसुदी 5 को भरता है इस मेले में आस पास के 300 लोग आते हैं।

अलवर राज्य में ये मेले साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रतीक हैं इन मेलों में सभी सम्प्रदाय के लोग भाग लेते एवं मंदिरों पर माथा टेकते एवं मनोकामनाएं मांगने के साथ-साथ स्थानीय घरेलू सामान खरीदते हैं। लालदास, चूहडसिद्ध के मेले सद्भावना के प्रतीक हैं ये सन्त हिन्दू-मुस्लिम भाई चारा बढ़ाने के साथ साथ सद्भावना के प्रतीक हैं। लेकिन समय की व्यवस्था और आधुनिकता के दौर में ये अपनी पहचान खोते जा रहे हैं।

सन्दर्भ

- 1- वीर विनोद, श्यामलदास भाग 2 जिल्द 2, पृ. 1355
- 2- अलवर का पाउलेट गजट 1878 - पृ. 68
- 3- क्रमांक 343 बन्धाक 51 ग्रन्थांक 01 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर।
- 4- अलवर राज्य का पाउलेट गजट 1878 - पृ. 68
- 5- वीर विनोद, श्यामलदास भाग पृ. 1372
- 6- वीर विनोद, श्यामलदास पृ. 1372
- 7- अलवर राज्य का पाउलेट गजट 1878, पृ. - 69
- 8- अलवर का पाउलेट गजट - 1878, पृ. 70
- 9- क्रमांक 343 बन्धाक 51 ग्रन्थांक 01 राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
- 10- अलवर का पाउलेट गजट 1878 पृ. 70
- 11- सृजन अलवर अंक 2005-06
- 12- क्रमांक 343 बन्धाक 51 ग्रन्थांक 01 रा. रा. अभि. बीकानेर
- 13- ऋतुराज, राजगढ विशेषांक 1977-78 पृ. 59
- 14- ऋतुराज, राजगढ विशेषांक 1977-78 पृ. 59
- 15- ऋतुराज, राजगढ विशेषांक 1977-78 पृ. 59
- 16- ऋतुराज, राजगढ विशेषांक 1977-78 पृ. 60
- 17- क्रमांक 1183, बंधांक, 163, गंथांक 04
- 18- अलवर दर्शन - अनिल जोशी
- 19- अलवर दर्शन - अनिल जोशी
- 20- अलवर दर्शन - अनिल जोशी
- 21- सृजन अलवर अंक 2005-06
- 22- अलवर दर्शन - अनिल जोशी
- 23- अलवर दर्शन - अनिल जोशी
- 24- क्रमांक 318, बंधांक, 43, गंथांक 04, क्र.सं. 04 रा.रा.अभि. बीकानेर

पश्चिमी राजस्थान के लोक संगीतकार-लंगा

डॉ. शिखा

लोक संगीत भारत की आत्मा है। यदि भारतीय लोक जीवन से लोक गीतों को निकाल दिया जाय तो जीवन शून्य हो जायेगा। लोक गीत हमारे देश की संस्कृति के रक्षक हैं। त्योहारों-उत्सवों के साथ इनका अविच्छन्न और अटूट सम्बन्ध है। लोक नृत्यों तथा लोक नाट्यों को भी ये ही प्राण देते हैं। राजस्थान का लोक संगीत मूलतः प्राचीन भारतीय साहित्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है और अपने में अनेक प्रकार की विविधतायें संजोये हुये हैं। राजस्थान के लोक संगीत की धारा सदियों से कई प्रकार के रूपों में प्रवाहमान रही है। जैसे जन साधारण द्वारा विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीत, दूसरे जो सामन्तशाही के प्रभाव के कारण विकसित हुये और उन्हें कई जातियों ने व्यावसायिक रूप में अपनाया, तीसरी कोटि के गीत वे हैं जिनमें क्षेत्रीय प्रवाह लक्षित होता है। व्यावसायिक जातियों में ढोली, मिरासी, लंगा, ढाढ़ी, मांगणियार, कलावन्त, भाट, राव, जोशी, कामड़, वैरागी, गन्धर्व, भोपे, भवाई, राणा, कालबेलिया, कथिक आदि परिगणित हैं।¹ लोक संगीत का यह रूप सबसे महत्वपूर्ण है जो पेशेवर गायकों या विशिष्ट जातियों की ही मुख्य सम्पत्ति है, गायन एवं वादन दोनों की दृष्टि से यह सम्पन्न संगीत है। जो संगीत शास्त्रीयता के काफी निकट है। यह जातियाँ साधारण गीतों को भी मोड़-तोड़ कर खटकों के साथ, शास्त्रीय गीतों की तरह आलाप, तानों के साथ गाते हैं। शास्त्रीय संगीत की तरह इनमें भी स्थायी एवं अन्तरे का स्वरूप दिखाई पड़ता है तथा ख्याल और ठूमरी की तरह इन्हें छोटी-छोटी तानों, मुक्कियों व विशेष झटकों से सजाया जाता है। इन गीतों में माँड, देस, सोरठ, मारू, परज, कालिंगड़ा, जोगिया, आसावरी, बिलावल, पीलू, खमाज आदि कई रागों की छाया स्पष्ट दिखाई देती है।²

राजस्थान के बाड़मेर, जैसलमेर एवं जोधपुर क्षेत्र में मुख्य रूप से रहने वाले लंगा कलाकार, चौहान राजपूतों के वाचक रहे हैं³ तथा इन्होंने अपनी गायकी की छाप न केवल अपने देश में बल्कि विदेशों में भी छोड़ी है। पीढ़ी दर पीढ़ी इनका कार्य गाने बजाने का ही चला आ रहा है।⁴ लंगा 'गाना देने वाले' होते हैं। जाति से ये मुसलमान होने के बावजूद हिन्दुओं के त्योहारों दीपावली, होली जैसे त्योहारों पर भी गाते हैं। लंगा गायकों के गाने को दो भागों में बाँट सकते हैं पहला निश्चित समारोहों में एवं दूसरा अपने स्वामी के मनोरंजन के लिए गाते हैं।

लंगा मुख्यतः अपने आश्रयदाता परिवारों के लिए गीत गाते हैं जो परिवार लंगा गायकों को आश्रय प्रदान करता है उन्हें सिन्धी सिपाही कहा जाता है।⁵ सिन्धी सिपाही का निवास स्थान ढाणी या छोटे गाँव होते हैं जहाँ छः से 10 छप्पड़ के घर बने होते हैं। सिन्धी सिपाही मुख्यतः पशुधन या चरवाहे होते हैं। इनके पास काफी मात्रा में गाय छकड़े, भेड़-बकरियाँ होती हैं। यद्यपि ये अच्छी खासी भूमि के स्वामी होते हैं और मानसून अच्छी होने पर खेती भी करते हैं। सिन्धी सिपाही कष्ट में रहते हैं और समाज के निम्न वर्ग से संबंधित हैं। लंगा अपने आश्रयदाता परिवारों के लिए गीत गाते हैं जिसके बदले में नकद राशि एवं अन्य वस्तुओं के रूप में पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं। पारितोषिक वस्तुओं के रूप में पशु एवं ऊँट उन्हें दिये जाते हैं।⁶ अपने आश्रयदाताओं द्वारा इनका अतिथि सत्कार एवं सम्मान किया जाता है। इनके रहने की समस्त सुविधाओं के साथ-साथ इन्हें अच्छा खाना एवं सोने के लिए कमरों की उचित व्यवस्था की जाती है। लंगा उत्सवों में देर रात्रि तक गीत गाते हैं। यह उन गीतों को गाते हैं एवं लोक कहानियाँ सुनाते हैं जो पारम्परिक आल्हों से अनुवादित होती हैं। विवाहोत्सव के समय लंगा संगीतकार बारात के जुलूस को वधू के घर तक गाते बजाते हुए ले जाते हैं। कुछ आश्रय दाताओं के लिए वे कभी-कभी उनकी यात्रा के दौरान ऊँट की पीठ पर बैठे-बैठे गाते हैं। कभी-कभी तो वर-वधू पक्ष के संगीतकारों के मध्य प्रतिस्पर्धा तक हो जाती है और विजेता वही पक्ष होता है जो विभिन्न भाँति के गीतों को पारम्परिक तरीकों से गाता है। कई बार अपने आश्रयदाताओं की माँग पर नये गीत एवं संगीत की तत्काल रचना भी करते हैं। कहते हैं 'बलोचन' नामक गीत इसी प्रकार एक तत्काल रचित गीत है जिसे गाया जाता है।⁷ आश्रयदाता पारम्परिक गीतों की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते हैं। उन्हें धुन, गीत के बोल, गाने की कला का काफी ज्ञान होता है। यदि गीत पारम्परिक तरीके से नहीं गाये जाते तो ये काफी अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं। इससे गीत पारम्परिक तौर पर संरक्षित रहते हैं जिससे नये सीखने वाले भी गीतों को उन्हीं पारम्परिक तरीकों से सीखते हैं।⁸

परम्परा से सूफी धर्म से प्रभावित ये लोग शिशु जन्म, विवाह आदि उत्सव पर अपने आश्रयदाता, उनके परिवार एवं रिश्तेदारों के लिए गाते हैं। लंगा गायक गायन के अतिरिक्त सारंगी, सुरणई, खरताल, अलगोजा, सुरन्दा, ढोलक, शहनाई, मोरचंग, नड़, पूंगी आदि वाद्य यंत्र बजाने में दक्ष होते हैं। वाद्ययंत्र के आधार पर ही लंगा दो समुदाय में बंटे हुये हैं- सारंगिया लंगा और सुरणाइया लंगा। सारंगिया लंगा गाते और बजाते हैं जबकि सुरणाइया लंगा सिर्फ बजाते हैं गाते नहीं। धर्म परिवर्तन के संबंध में एक लंगा के अनुसार सूफी धर्म का प्रभाव रहा और इस वजह से इन्होंने आठ सौ वर्ष पहले इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।⁹ जबकि दूसरे के अनुसार¹⁰ मुगल शासक औरंगजेब के समय इन्होंने अपना धर्म बदल लिया था। चूँकि इनके आश्रयदाता सिन्धी सिपाही

इस्लाम धर्म को मानने वाले होते हैं। सम्भवतः दोनों ही जातियों ने औरंगजेब के समय धर्म परिवर्तन कर लिया होगा। ऐसा भी कहा जाता है कि लंगा गायकों के धर्म परिवर्तन का मुख्य कारण इनके आश्रयदाताओं द्वारा अपना धर्म परिवर्तन किया जाना था।¹¹ लेकिन सुरणाइया लंगाओं का यह मानना है कि ये लोग मूल रूप से ही मुसलमान थे।¹²

सारंगिया और सुरणाइया लंगा के बीच सामाजिक व्यवहार होता है लेकिन इनके मध्य वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होते हैं। सुरणाइया लंगा राजपूतों के समान माने जाते हैं। लंगा गायकों की उपजातियाँ राजपूतों की तौर-तरीकों का पालन करती हैं। राजपूतों की उपजातियाँ तँवर, भाटी, सोलंकी, राठौड़ इत्यादि नामों से जानी जाती हैं। लंगा जातियाँ भी इसी प्रकार से विभाजित की गई हैं। उदाहरण के तौर पर लंगा भाटी, तँवर भाटी इत्यादि।

लंगा गायकों के हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने से एक नई मिली-जुली संस्कृति का उदय हुआ। ये चचेरे भाई-बहनों के मध्य विवाह तो करते हैं किन्तु विवाह की रस्म हिन्दू रीति-रिवाज से ही सम्पन्न करते हैं। पुरुष गीतकार हिन्दुओं की तरह धोती पहनते हैं और महिलायें चूड़ा पहनती हैं और हिन्दू स्त्रियों की तरह अपने पति की मृत्यु के बाद ही इसे पहनना बंद करती हैं। मुसलमानों द्वारा इन रीति-रिवाजों का विरोध किये जाने के बावजूद लंगा गीतकारों द्वारा इनको मानने के साथ ही इन रीति-रिवाजों का सख्ती से पालन भी किया जाता है। अन्य कई हिन्दुओं के उत्सवों एवं त्योहारों का लंगा गायको द्वारा पवित्रता के साथ पालन किया जाता है।

लंगा दो प्रकार की सारंगी बजाते हैं- प्रथम गुजरातण सारंगी¹³ द्वितीय सिंधी सारंगी¹⁴ कहलाती है। सिंधी सारंगी वर्तमान में सिन्ध में उपलब्ध है एवं बजायी भी जाती है किन्तु गुजरातण सारंगी के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है। एक समय में दोनों ही सारंगी गुजरात में बनती थी। सारंगी को लंगा जो कि एक पट्टी के सहारे कंधे से लपेटी गई होती है अपनी गोद में लेकर गीत गाते-गाते बजाते हैं।

एक लंगा¹⁵ के अनुसार देवी दास प्रथम प्रतिभावन व्यक्ति थे जिन्होंने गीत संगीत को अपनाया था तथा वे सारंगी एवं सुरनई बजाते थे। देवीदास एक महान योद्धा थे जो अपने स्वामी के साथ बहादुरी के साथ लड़े। बिना सिर युद्ध भूमि में शत्रुओं का नाश किया। बाद में अपने शरीर को पृथ्वी पर छोड़ दिया था तभी से लंगा गायक भूरे रंग को अशुभ मानकर उसका निषेध करते हैं और इस रंग को लेकर इनके बीच आज भी यह अंधविश्वास विद्यमान है कि इस रंग को धारण करने से उनके जीवन में अनेक कठिनाईयाँ एवं मुसीबतें आती हैं।

लंगा गायकों में गाने की अपनी एक अलग कला होती है। लंगा अपने परिवार के मौखिक परम्परा के मुखिया होते हैं। लंगा गायकों में नियमित रूप से नई पीढ़ी को

गायन सिखाने की परम्परा है। यही परम्परा प्राचीन शास्त्रीय संगीत की गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में देखी जा सकती है। गुरु द्वारा अपने शिष्य को संगीत के सभी पाठ मौखिक ही सिखाये जाते हैं। किसी लंगा बालक का पिता एक निपुण गायक है तो स्वतः ही अपने पुत्र का गुरु बन जाता है। यदि उसे अपने से योग्य गुरु की तलाश अपने पुत्र के लिए होती है तो वह उसके पास गायन एवं वाद्ययंत्रों का ज्ञान लेने के लिए उसे भेज देता है। इसके लिए एक नियमित रस्म में जाति के सभी सदस्यों को आमंत्रित करते हैं और उन्हें शरबत या मीठा पानी पिलाते हैं। शिक्षक शेष बचा पानी शिष्य को पीने के लिए देता है जबकि बालक अपने गुरु को शॉल उपहार स्वरूप देता है और अपने गुरु से सारंगी एवं गायन सीखना प्रारम्भ कर देता है। सीखने के प्रक्रिया के दौरान शिष्य अपने गुरु के साथ गायन में भाग लेता है जिससे वह उस कला का अनुसरण कर याद कर सके। लंगा शिक्षक अपने शिष्य को कुछ गीतों का प्रशिक्षण देता है तथा उससे यह आशा करता है कि वह अन्य गीतों एवं धुनों को निपुणता से गायेगा एवं बजायेगा। गीतों की धुनें दो या तीन से ज्यादा नहीं होती है। अधिकांश लंगा गायक अशिक्षित होते हैं। जो इनकी दूसरी प्रकृति है। भारतीय संगीत के सरगम या सोल्फा की भाँति संगीत में सुरों का कोई नाम नहीं होता है। यद्यपि सुरों को पहचानने की इनकी एक अलग कला होती है। जो सा एवं प पर आधारित होती है। ये लोग 'सा' को दादर एवं 'प' को अगोरा के नाम से जानते हैं। इस प्रकार वे सभी आठों स्वरों को जानते हैं। स्वर या सुरों की आवश्यकता को ये तभी समझते हैं जब अपनी सारंगी के सुर मिलाते हैं लेकिन गीत गाते समय उनके सामने यह समस्या नहीं आती।

वर्तमान समय में इस जाति के कई कलाकार हैं जिन्होंने अपनी कला से देश-विदेश में प्रसिद्धि पाई है। ये कलाकार हैं- करीम खाँ लंगा, जैसलमेर के बंधावा गाँव के सुरणाइया लंगा समुदाय से संबंधित मुरली एवं सतारा बजाने में सिद्धहस्त हैं और रूस, फ्रांस, जापान, अमेरिका में अपने कार्यक्रम से प्रसिद्ध हुए। 1992-93 में राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा सम्मानित हुये।¹⁶ शूमार खाँ लंगा सारंगी वादक, 1978-79 में राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा सम्मानित हुए।¹⁷ इस्माइल खाँ लंगा बाड़मेर के बदनावा गाँव के राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। सद्दीक खाँ लंगा, ढोलक, सारंगी, तन्दूरा, कमायचा और खरताल बजाने में माहिर इन्हें खरताल में विशेष लोकप्रियता हासिल है। 1989-1990 में मध्यप्रदेश प्रशासन द्वारा इन्हें 'तुलसी सम्मान' से सम्मानित किया गया।¹⁸ सद्दीक खाँ के बाद खरताल के श्रेष्ठ कलाकार कोहिनूर खाँ या बूडू खाँ हैं।¹⁹ 1982 के 'भारत उत्सव' में इनके प्रदर्शन से ब्रिटेन की महारानी काफी प्रभावित हुईं और इन्हें भारत का दूसरा कोहिनूर कहा। विश्व में लोक संगीत को हीरे की तरह चमकाने के कारण कोहिनूर नाम पड़ा और वर्तमान में इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

लंगा गायकों के गायक समूह में इनके परिवार के सदस्यों जिनमें चाचा, भतीजा, भाई, चचेरे भाई सभी होते हैं। परम्परा से महिलायें इसमें भाग नहीं लेती हैं। पेशेवर महिलाओं को इसमें शामिल किया जाता है। इनके समूह में कम उम्र के कलाकार हैं- आसकीन खाँ, मेहबूब खाँ, अब्दुल रशीद आदि। रूपायन संस्थान, जोधपुर एवं जवाहर कला केन्द्र जयपुर द्वारा इनके कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। इस प्रकार लंगा कलाकारों को राजस्थान में संगीत कला को जन-जीवन में जीवन्त बनाये रखने का श्रेय है।

सदर्भ

1. जयसिंह नीरज एवं बी.एल. शर्मा-राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ.122
2. जयसिंह नीरज एवं बी.एल. शर्मा-राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ.122
3. प्रताप सिंह चौधरी-राजस्थान-संगीत एवं संगीतकार, जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, एम.आई. रोड, जयपुर, 1995, पृ.142
4. मोहन लाल गुप्ता - राजस्थान ज्ञान कोष, पृ. 366
5. (Ed.) Chandramani Singh & Performing Arts of Rajasthan Lok Rang, Jawahar Kala Kendra in Association with Publication Scheme, Jaipur, 2000, page 59
6. वही
7. वही
8. वही
9. लाखा खाँ लंगा से हुई वार्ता के आधार पर
10. कमर खाँ लंगा से साक्षात्कार पर आधारित
11. Chandramani Singh & Performing Arts of Rajasthan Lok Rang,, page 60
12. बच्चू खाँ लंगा से साक्षात्कार पर आधारित
13. लालमणि मिश्र-भारतीय संगीत वाद्य-पृ. 181,
14. रमेश बोराणा, राजस्थान के लोक वाद्य, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थगार जोधपुर, 2004, पृ.175
15. उस्ताद मुराद खाँ के साथ हुई वार्ता पर आधारित
16. रमेश बोराणा-राजस्थान के कला गौरव, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थगार जोधपुर, 2003, पृ.108.
17. वही, पृ. 108
18. राजस्थान सुजस संचय, पृ. 898
19. Tripti Pandey & Where silence sings, sounds and Rhythms of Rajasthan, Harper Collins, Publishers India, N. Delhi-1999, page 91

चांग (ब्यावर) गाँव की ऐतिहासिकता

डॉ. एम. एल. शर्मा

प्रसिद्ध इतिहासकार हस्लक ने उचित ही लिखा है कि स्थानीय एवं प्रान्तीय इतिहास, राष्ट्रीय इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।¹ प्रत्येक गाँव, नगर, कस्बे, जिले, प्रांत, राष्ट्र, जाति, वंश का अपना एक इतिहास होता है, जो इसके मूल स्वरूप, उद्भव व विकास की व्याख्या करता है।

ब्यावर के पश्चिम में लगभग 12 कि.मी. की दूरी पर स्थित 'चांग' गाँव बड़े ऐतिहासिक महत्व का रहा है। चांग पर प्रारम्भ में गुर्जरो का शासन था। पूर्व मध्यकालीन व गुर्जर जाति के पंजाब व राजपूताना (राजस्थान) में होने के पुरातात्विक व साहित्यिक दोनों प्रमाण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी में भारत आए चीनी यात्री हेन्सांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि गुर्जर देश (गुजरात) की राजधानी भीनमाल है, जो राजस्थान का आधुनिक भीनमाल है का प्राचीन नाम श्रीमल्ल या श्रीमाल था। हेन्सांग ने भीनमाल के लिए पोलोमोलो शब्द का प्रयोग किया है। हेन्सांग ने गुर्जर देश की परिधि 833 मील बताई है। इससे स्पष्ट होता है कि यह गुर्जर राज्य एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था। जिसमें तत्कालीन राजपूताना का काफी क्षेत्र भी सम्मिलित था। हेन्सांग ने गुर्जर राज्य की लम्बाई 300 मील तक बताई है।² यदि भीनमाल से 300 मील तक की लम्बाई मापी जाए तो ब्यावर के पास स्थित यह ऐतिहासिक चांग गाँव इस परिधि में निश्चित रूप से आ जाता है। हेन्सांग के इस वर्णन से चांग गाँव पर गुर्जरो का अधिकार प्रामाणिक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य पुरातात्विक साक्ष्य भी इसकी पुष्टि करता है। प्रतिहार शासक भोजदेव प्रथम के वि.स. 900 के दानपत्र में उल्लेख मिलता है कि उसमें गुर्जरात्रा (गुजरात) भूमि (देश) के डेडवानक विषय (जिला) का सिवा गाँव एक मन्दिर की सेवापूजा के लिए दान दिये जाने का उल्लेख किया गया है। यह दानपत्र डीडवाना जिले में स्थित सिवा नामक गाँव के एक टूटे हुए प्राचीन मन्दिर से मिलता है। रइतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने उक्त ताम्रदानपत्र में उल्लेखित डेडवानक को आधुनिक डीडवाना तथा सिवा गाँव को डीडवाना जिले में स्थित डीडवाना से 7 मील दूर स्थित 'सेवा गाँव' माना है।³ इससे यह स्पष्ट होता है कि भीनमाल से लेकर डीडवाना तक का तत्कालीन जोधपुर राज्य के उत्तर से दक्षिण तक का सम्पूर्ण क्षेत्र गुर्जर देश (गुर्जरात्रा-गुजरात) के अन्तर्गत आता था। इस परिधि में ब्यावर के पास स्थित चांग गाँव निश्चित रूप से आता था। उपरोक्त

ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि चांग गाँव पर 8वीं- 9वीं शताब्दी ई. में गुर्जरो की किसी एक शाखा का शासन अवश्य रहा होगा। यह भी संभव है कि इस क्षेत्र में विस्तृत गुर्जर राज्य के शासन का संचालन चांग से होता हो क्योंकि भीनमाल से काफी दूर स्थित होने के कारण इस क्षेत्र को सुरक्षित रखने के लिए इस गाँव का उपयोग एक प्रशासनिक इकाई के रूप में किया जाता रहा होगा। बाद में इस क्षेत्र में मेहरातों, काठारों ने अधिकार जमा लिया व गुर्जर यहाँ से अन्यत्र चले गए। उल्लेखनीय है कि नाडोल राज्य के संस्थापक लाखनसी (लखनसी) की मीणी रानी सहदे अपने अव्यस्क दो पुत्रों यथा अणहल व अनूप को लेकर चांग आई थी जिसे यहाँ के चन्देल गुर्जर शासक ने न केवल शरण दी थी अपितु गुजर बसर के लिए 'हलपड़ा' नामक स्थान पर एक बड़ा भू-भाग भी दिया था। कविराज श्यामदास ने वीर विनोद में उल्लेख किया है कि - अणहल ने बाद में समय पाकर चांग से गुर्जरो को भगा दिया था व इस क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया था। यहाँ अणहल व अनूप की पाँच पीढ़ियों के रहने की भी जानकारी मिलती है।⁴ बाद में अणहल के दो पुत्रों कान्हा व काला जिनसे चीता बरड़ शाखा निकली मानी जाती है पर बाह्य आक्रमण हुआ। उन्हें चांग गाँव छोड़ना पड़ा व यहाँ से टॉटगढ़ की तरफ चले गए व चेटण (चेता) गाँव में जाकर बस गए थे।

पूर्व मध्यकाल व मध्यकाल में चांग के ठाकुरों व जोधपुर शासकों के मध्य अनेक युद्धों के वृत्तांत मिलते हैं क्योंकि चांग की सीमा मारवाड़ रियासत से लगती थी। आज भी चांग में एक सैनिक चौकी के अवशेष जो मारवाड़ की ओर से होने वाले सैनिक गतिविधियों पर नजर रखती थी। सन् 1285 से 1290 ई. मध्य रणथम्भौर के शासक हम्मीद द्वारा चांग पर वर्द्धनपुरा (बदनौर) पर आक्रमण किए जाने का उल्लेख मिलता है।⁵ बाद में मेवाड़ के महाराणा लाखा ने (1382-1397 ई.) वर्द्धनपुरा के स्थान पर बदनौर कस्बा बसाया था। यह भी उल्लेख मिलता है कि सन् 1705 ई. में अथूण के खान हाजीखाँ ने जब हुरड़ा पर आक्रमण करके यहाँ से एक हाकिम को बंदी बनाकर ले आया था तो बदनौर के ठाकुर जसवन्तसिंह ने चांग पर आक्रमण करके उस हाकिम को छुड़वाया था। इस युद्ध में हाजीखाँ मारा गया था।⁶

इसके साथ यह भी उल्लेख मिलता है कि सन् 1778 ई. में जोधपुर नरेक बिजयसिंह ने मंत्री भण्डारी के नेतृत्व में चांग पर आक्रमण करने एक सैनिक टुकड़ी भेजी थी। लेकिन जोधपुर नरेश इस अभियान में सफल नहीं हो सके थे।⁷

चांग गाँव में विद्यमान खण्डहर इसकी प्राचीनता व ऐतिहासिकता को बयां करते हैं। गाँव की बसावट पूर्णतया सुरक्षात्मक थी। वर्तमान गाँव के तीनों ओर पहाड़ियाँ हैं एवं वह घोड़े की नाल की आकृति से बसाया गया था। गाँव के पूर्वी व

पक्कमि छोर तथा दक्षिणी व उऱरी छोर पर चौकियाँ बनी हुई थी। ये सुरक्षा चौकियाँ पहाड़ियों पर बनी हुई थी। जहाँ से आक्रमणकर्ता को आसानी से देखा जा सकता था। आक्रमण की स्थिति में गाँव के निवासियों को सतर्क करने के लिए संकेत घण्टे बांधे जाते थे। जिन्हें बजाकर संकट की सूचना दी जाती थी। ऐसा ही संकेत घण्टा यंत्र के पूर्वी छोर की पहाड़ी पर अवस्थित मोर आकृति की चट्टान पर बांधा जाता था। स्थानीय लोग भी इसकी पुष्टि करते हैं। इस मोर आकृति वाली चट्टान का उपयोग 'संकट संकेत' घण्टा लटकाने में किया जाता था। इस घण्टा ध्वनि सुनने के बाद बच्चों, स्त्रियों व मवेशियों को इस घण्टा ध्वनि को पहाड़ों की ओर भेज दिया जाता था व पुरुष पहाड़ियों पर चढ़कर मोर्चा ले लेते थे।

गाँव में प्रवेश करने पर बाईं ओर पुरातन महल के खण्डहर नजर आते हैं, जिसे आज भी स्थानीय लोग 'दरबार' के नाम से पुकारते हैं। इन खण्डहरों को देखने से लगता है कि ये महल अपने मूल रूप में दो या तीन मंजिल के रहे थे। इन खण्डहरों में मंजिलों के अवशेष स्पष्ट दिखाई देते हैं। महलों में स्थानीय पत्थर व पट्टियों का प्रयोग किया गया है। जिसके भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। महल में छोटे-छोटे कक्षों के खण्डहर आज भी देखे जा सकते हैं। यहाँ खाद्य सामग्री के भण्डारण की व्यवस्था के साथ-साथ अस्त्र शस्त्रों के रख-रखाव की भी समुचित व्यवस्था थी। महल में झरोखे भी बने हुए हैं।

महल तक पहुँचने के लिए दो चट्टानों के बीच एक तंग रास्ता बना हुआ था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस तंग रास्ते का उपयोग दुश्मन को महल तक पहुँचने से रोकने के लिए किया जाता था। ऐसी स्थिति में स्थानीय लोग छापामार पद्धति से इन पर एक साथ छपा बोलकर आक्रमण कर सकते थे। इसके अतिरिक्त गुप्त स्थान पर छिपकर तलवार से एक-एक वार करके दुश्मन को मौत के घाट उतार सकते थे। साथ ही आगे पीछे से दुश्मन को घेरकर एक साथ धावा बोलकर भी मार सकते थे या उन्हें एक-एक को बन्दूक का निशाना भी बनाया जा सकता था।

गाँव की घोड़े की नाल आकृति की बसावट, महल तक पहुँचने का तंग रास्ता तथा सुरक्षा चौकियों पर संकट घण्टों का प्रयोग व आक्रमण या संकट के समय पहाड़ियों पर चढ़कर मोर्चा लेना ये सभी प्रमाण इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ के लोग आक्रमण के समय छापामार युद्ध प्रणाली का प्रयोग करते थे। इसी सैन्य प्रणाली का बाद में शिवाजी व मराठों ने भी मुगलों के विरुद्ध प्रयोग किया था। उनके भी कस्बे व सैन्य ठिकाने तथा दुर्ग पहाड़ियों पर होते थे, जहाँ तक पहुँचने के लिए तंग रास्ता होता था। यही कारण था कि दक्षिण के पूरे सूबे कभी भी एक साथ मुगलों के अधीन सुरक्षित नहीं रह सके थे। ध्वस्त महल के सामने पानी की बावड़ी बनी हुई थी।

जिसका यहाँ के निवासियों के लिए पेयजल के रूप में उपयोग किया जाता था। यह बावड़ी आज भी विद्यमान है। इस बावड़ी का तीन बार जीर्णोद्धार किये जाने के स्पष्ट पुरातात्विक अवशेष मिलते हैं। इस बावड़ी का प्रथम जीर्णोद्धार इसके निर्माण के कुछ वर्षों के बाद किया गया था। द्वितीय जीर्णोद्धार के समय इसमें एक तरफ से नीचे उतरने के लिए बनी सीढ़ियों के ऊपरी छोर पर एक दरवाजा भी बनाया गया था। इसकी सूचना यहाँ पर लगे किलालेख से होती है। बावड़ी के नीचे उत्तर की ओर 'बगीचा' बनाया गया था जो कस्बे को सुरम्य बनाता था। इसके आगे खेती के लिए खेत बनाये गए थे। सिंचाई के लिए कुएं भी निर्मित किए गए थे।

संदर्भ

1. द्रष्टव्य, हस्लक : दा टीचिंग ऑव हिस्ट्री
2. डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राजपूताने का प्राचीन इतिहास, 2009, पृ. 129
3. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 5, पृ. 211
4. द्रष्टव्य य कविराज ज्ञयामलदास, वीर विनोद, पृ. 198
5. द्रष्टव्य, हरबिलास शारदा, अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डेस्क्रीप्टिव, बुक्स ट्रेजर, जोधपुर, 2007, पृ. सं. 400
6. हरबिलास शारदा, वही, पृ. सं. 401-402
7. वही, पृ. सं. 403

अजमेर जिले का एक ग्राम - जूनियाँ

डॉ. किरन सरना एवं कु. रेणु शर्मा

भारतीय परिदृश्य में राजस्थान का इतिहास अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। त्यागमयी ललनाओं, साहसी वीरों और गरिमामयी संसृति का यह प्रदेश अनेक ऐतिहासिक मोड़ों से गुजरने के उपरान्त भी अपनी समन्वयात्मक जीवन पद्धति के लिए समृद्ध रहा है। प्राचीन समय से ही यह क्षेत्र देश की समृद्ध इकाइयों का अंग था, जिसमें अन्तर्वेद, सौवीर, मरुकान्तार, लाए, गुर्जर आदि भूभागों की सीमाएँ सम्मिलित थी अंग्रेजों ने अन्य देशी रियासतों को मान्यता देकर इसका नाम राजपुताना रख दिया और स्वतंत्रता के बाद विलय प्रक्रियाओं के अन्तर्गत इसका नामकरण हर्षकालीन व्यवस्था के आधार पर राजस्थान कर दिया। राजस्थान के प्रत्येक क्षेत्र का इतिहास विशिष्ट है और कलाएँ भी। भौगोलिक इतिहास की दृष्टि से राजस्थान को चार भागों में विभाजित किया जाता था।

1. मारवाड़ (जोधपुर, बीकानेर, नागौर, किशनगढ़, अजमेर)
2. मेवाड़ (उदयपुर, नाथद्वारा)
3. दूढ़ांड (जयपुर, अलवर, उणियारा)
4. हाड़ौती (कोटा, बूंदी)

यह सभी क्षेत्र एक दूसरे से जुड़े हुए हैं परन्तु फिर अपना एक स्वच्छन्द अस्तित्व रखते हैं। इन्हीं में से एक प्राचीन शहर है अजमेर वास्तव में भौगोलिक, ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से अजमेर की राजस्थान में महत्वपूर्ण स्थिति रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ की कला और संस्कृति का समन्वयात्मक स्वरूप उभर कर आया। साथ ही आप-पास का क्षेत्र भी यहाँ से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। कर्नल टॉड ने इसे राजस्थान की कुंजी कहा है।

मुगलों ने राजस्थान की राजनीतिक स्थिति को काबू में रखने के लिए अजमेर को अपना केन्द्र बनाया। मुगलों के पतन के पश्चात् अजमेर मारवाड़ के अधीन रहा। लगभग अर्द्धशती तक मराठाओं ने और 129 वर्ष तक अंग्रेजों ने राजस्थान के हृदय अजमेर को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया।

जिस प्रकार राजस्थान के इतिहास में अजमेर का स्थान महत्वपूर्ण है। अजमेर जिले के लिए उसके अन्तर्गत आने वाले एक ठिकाने जूनियाँ ग्राम का इतिहास भी

महत्वपूर्ण है, परन्तु राजस्थान इतिहास में इसके उदाहरण हमें आंशिक रूप से ही प्राप्त होते हैं इसके इतिहास के बारे में जो भी जानकारी प्राप्त हुई वो यहाँ के ठिकाने प्रमुख के द्वारा एवं यहाँ रह रहे लोगों के साक्षात्कार के आधार पर हुई। जो भी इन्होंने बताया कि अजमेर का यह छोटा सा ठिकाना भी अपने अन्दर एक बड़ा इतिहास छिपाये हुए है, एवं जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई उससे जूनियाँगढ़ के उदाहरण मुगल काल से प्राप्त होते हैं।

मुगलों के पतन के पश्चात् 1709 के बाद जब अजमेर मारवाड़ के अधीन था अजमेर में मराठाओं की गतिविधियों हुआ करती थी उस समय जूनियाँ गढ़ में गौड़ों का राज था। मराठाओं के आक्रमण के कारण राजस्थान के अन्य जगह के गौड़ उत्तरप्रदेश की ओर भाग रहे थे। जूनियाँ गढ़ में जो गौड़ राज कर रहे थे उनसे उनकी प्रजा नाखुश थी क्योंकि वे अपनी प्रजा पर अत्याचार करते थे, जूनियाँ गढ़ की प्रजा ने केकड़ी में राज कर रहे राजा मालदेव से प्रार्थना की कि वे जूनियाँ गढ़ पर आक्रमण करें एवं हम सब आपका सहयोग करेंगे। वर्तमान में जूनियाँ गढ़ के प्रमुख राव आनन्दसिंह जी के अनुसार मालदेव ने जूनियाँ गढ़ पर आक्रमण किया एवं यहाँ कि प्रजा के सहयोग से मालदेव की विजय हुई।

वर्तमान में जो राज परिवार यहाँ निवास कर रहा है वे राजा मालदेव के ही वंशज हैं। इनके उपरान्त पुत्र उदयसिंह जी गद्दी पर बैठे। इनके दो पुत्र हुए सूरजमल केसर सिंह जी जो कि मेरु में जा बसे और मोटाराजा जी जूनियाँ गढ़ के राजा बने। इनके पुत्र सुजान सिंह जी के तीन पुत्र हुए एक पुत्र मेरु में रहने लगे, एक केकड़ी के राजा बने और किशन सिंह जी जूनियाँ में ही रहे। किशन सिंह जी के जो घटना घटी वो जूनियाँ गढ़ के इतिहास में अविस्मरणीय रही है।

1767 में जूनियाँ गढ़ के नजदीक कुछ किलोमीटर दूरी पर स्थित एक ग्राम देवगाँव जहाँ एक नाबालिक बच्चे पर मराठाओं ने आक्रमण कर दिया। मराठाओं ने देवगाँव की प्रजा पर अत्याचार किया। अतः देवगाँव की प्रजा ने जूनियाँ के महाराज किशन सिंह जी से मदद माँगी, तथा भादवा शती दशम् को सूचना हुई कि देवगाँव में मराठाओं का आक्रमण हो रहा है। किशनसिंह जी तुरन्त अपनी सेना लेकर देवगाँव की ओर अपनी सेना लेकर चल दिए। मराठाओं पर विजय पाने के पश्चात् जब किशन सिंह जी अपनी सेना के साथ जूनियाँ के लिए रवाना हुए तो संध्या होने लगी, एवं किशन सिंह जी देवगाँव के गढ़ की ओर रात्री विश्राम के लिए जाने लगे, परन्तु देवगाँव के निवासियों ने सोचा कि मराठाओं पर विजय के पश्चात् ये हमें भी नहीं छोड़ेंगे। यह सोच कर देवगाँव के प्रजा ने गढ़ के दरवाजे बंद कर दिये एवं किशन सिंह जी को वापस जूनियाँ कि और लौटना पड़ा।

अंधेरा होने लगा था बारिश भी शुरू हो गयी उनके साथ कुल सैनिक थे देवगाँव से 2 किलोमीटर दूर चिकनी मिट्टी में बारिश के कारण घोड़े तेज नहीं चल सकें। अंधेरे में ही दुश्मन फौज का एक सैनिक कैर की झाड़ी के पीछे छिप गया था और उसने किशन सिंह जी पर तलवार से वार कर दिया उनका सिर उसी समय कट कर गिर गया। जबकि उनका धड़ घोड़े पर ही रह गया। घोड़ा वफादार होने के कारण उनके धड़ को जूनियाँ ने आया। किसी महिला ने यह दृश्य देखा और चिल्लाई कि बिना सिर का आदमी तलवार लिए घोड़े पर सवार हैं। उनका नीचे गिर गया और घोड़े ने उसी समय प्राण त्याग दिए।

इस खबर को सुनने के बाद उनकी रानी सती होने को तैयार हो गयी जो मेवाड़ राज्य की एक राजकुमारी थी। और उनकी छोटी रानी ने भी अपने प्राण त्याग दिए। आज भी यहाँ किशनसिंह के नाम का बगीचा है। और यहाँ जितनी भी रानीयाँ सती हुयी उनकी छतरीया भी मौजूद है। इन दोनों रानीयों ने सती होने से पहले चेतावनी दी कि इनके वंशज कभी भी देवगाँव की तरफ नहीं जायेंगे। इनके उपरान्त कुँवर राजसिंह गद्दी पर बैठे। इनके समय से कला को प्रोत्साहन दिया जाने लगा था इनके उपरान्त भगतसिंह, उदयसिंह जी, शिव सिंह जी माधोसिंह जी जगमालसिंह जी, उम्मेदसिंह जी, रणजीत सिंह और कल्याण सिंह जी गद्दी पर बैठे थे। कल्याण सिंह के समय में मेयो कॉलेज की स्थापना की गई जिसमें केवल राजा-महाराजा के बच्चे शिक्षा ग्रहण करते थे। 1880 में जूनियाँ के दरबार के कुँवर कल्याण सिंह ने मेयो कॉलेज में सर्वप्रथम प्रवेश लिया। उनके पश्चात् सभी कुँवर ने मेयो कॉलेज में शिक्षा ग्रहण कि उनके बाद केशरसिंह जी, सज्जन सिंह, अमर सिंह और आनन्द सिंह 1959 जो जूनियाँ के वर्तमान राजा हैं, जो कि वर्तमान में जयपुर नेशनल यूनिवर्सिटी ढ़्जयपुरऋ में प्रो. पद पर कार्यरत है।

हाड़ौती, नाथद्वारा एवं जौधपुर शैली का भी असर यहाँ की स्थापत्य कला में दिखाई गयी है। केलियाफोर्निया के एक चर्च के पादरी अजमेर जिले के मुख्य ठिकानों के इतिहास को लेकर एक पुस्तक लिख रहे हैं। जिसमें जूनियाँ के बारे में भी जानकारी दी गयी है।

जूनियाँ के चाँद द्वारा अंकित पाबूजी का चित्र सन् 1698 में निर्मित व्यक्ति चित्र अजमेर शैली का उत्तम उदाहरण माना जाता है। एवं जूनियाँ, भिनाय, सावर, मसूदा जैसे ठिकानों ने अजमेर शैली के विकास और संवर्धन में विशेष योग दिया। जूनियाँ ग्राम के इतिहास के साथ ही यहाँ पर अजमेर जिले में प्रसिद्ध दरी निर्माण कार्य ग्रामीणों के द्वारा किया जाता है। यथा पुरानी साड़ी की दरी, सूत की दरी, गलीचा इत्यादि। सूत की दरी बनाने की कला के बारे में जानने हेतु कुछ हस्तकलाकारों के

परिवारों से मिलने का मौका मिला। उनमें से ही एक है अब्दुल मतीन का परिवार है जो कि चार पीढ़ियों से दरिया बूनने का कार्य कर रहे हैं। इनके पड़दाता हाजी रसूल जी के द्वारा प्रारम्भ किया गया यह कार्य आज भी इनके वंशज सफलता पूर्व यह कार्य कर रहे हैं। पूरे अजमेर जिले में नहीं वरन् पूरे राजस्थान में ये दरिया जूनियाँ ग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। दरी बनाने के लिए सूत के धागे को काम में लिया जाता है। एक स्टिक पर इस धागे को लपेटा जाता है जो कि शटल में फिट हो सकें। जो कि बाने का काम करती है। दरी बनाने के लिए पोलिस्टर का ताना बनाया जाता है। जो कि भीलवाड़ा से मंगवाया जाता है। एवं मशीन के जरीफे के ताना तैयार किया जाता है। उसके बाद हैण्डलूम के नीम पर वापस एक बाद लपेटा जाता है। लपेटने के बाद उस ताने की सराई की जाती है।

सराई करने बाद शटल मशीन में चलाया जाता है। जैसे-जैसे मशीन चलती है दरी की बुनायी होती रहती है। एक हाथ से शटल चलाया जाता है। दुसरे हाथ से झूले को हिलाया जाता है। सीट को दांय-बांय दोनों और घुमाया जाता है इस तरह से धीरे-धीरे तैयार होती जाती है। जिस मशीन से दरी तैयार की जाती है उसको हैण्डलूम मशीन के नाम से जाना जाता है।

राजस्थानी इतिहास और संस्कृति के उत्थान में डॉ. नारायण सिंह जी भाटी का योगदान

तरूणा दाधीच

“अरावली की पर्वतीय उपत्यकाओं से घिरा, शोणित की धार से सींचा गया, सरस्वती की आँखों का अनुराग, जीवट, शौर्य और सौन्दर्य की त्रिवेणी। बलखाती नदियाँ कल-कल, छल-छल करते हुए नाले, कला कल्पना और सत्य का साकार रूप यह राजस्थान हैं। गौरव की गाँठ बाँधकर चलता है, इसकी हर धड़कन जवान है। कहीं आँसुओं से झोली भर लीजिए और कहीं रक्तरंजित गाथाओं से तन-मन रंग लीजिए कलम और तलवार का धनी। इसका इतिहास स्याही से नहीं, रक्त से लिखा गया है।”¹

मदनमोहन मालवीय ने ठीक ही कहा है कि-“राजस्थानी का साहित्य वीर साहित्य है। संसार के साहित्यों में उसका निराला स्थान है।” लेकिन इतिहास साक्षी है “कि राजस्थान के राजमहलों में यहाँ वैभव और विलासिता के मोहक गीत गाये गये हैं, यहाँ परतन्त्रता व दासता पनपी है, जहाँ वहा मानवता चन्द चोँदी के टुकड़ों की भिखारिन सी देखी गई है, वही महाराणा प्रताप ने भारतीय स्वतन्त्रता का स्वप्न देख था। और दिल्ली की बादशाहत को दांतों चने चबवा दिये थे स्वतंत्र रहने का व्रत जिसने स्वप्न में लिया, संघर्षों बाधाओं को हँसते हँसते आलिंगन किया और जो अन्तिम श्वास तक स्तन्त्र रह सका, वही महाराणा प्रताप युग- युगान्तर तक मानवता के लिए प्रेरणा का स्रोत है।² परिस्थितियाँ प्रायः बदलती रहती हैं और उसका प्रभाव भी पड़ता है। यह वही राजस्थान है जहाँ मुगलों ने आक्रमण किया था और भारत को पदाक्रान्त किया था। इसके बाद अंग्रेजों का शासन प्रारम्भ हुआ।

भारतीय ‘शस्य शयामला’ भूमि की प्रकृति प्रत्येक को प्रिय रही है, और प्रभावित करती रही है। इस वसुधरा को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों के पहले और भी अनेक विदेशियों ने कई बार आक्रमण किये और इस देश को लूटा और इस पर राज्य भी किया। राजस्थानी जन मानस को सदैव बर्बर हमलों व अत्याचारों का सामना भी करना पड़ा। हमले और हमले! एक हमले के घाव भी नहीं भरे कि दूसरा हुआ घाव पर घाव होते रहें और विदेशी राज्य करते रहे। सिकन्दर का हमला हुआ और उसके बाद तो भारत के उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त से यवनों के निरन्तर हमले होते रहे। हूणों का,

अरबों का तो फिर मध्य एशिया के शकों का हमला हुआ, महमूद गजनवी और गौरी तेमूर और चंगेज खॉं के उत्पात भी क्या कम विनाशक थे।

इस प्रकार के हमले, चढाई लूट-खसोट, शासन विजय एवं उत्पात के बीच भी इस देश की जिन्दगी अपने तरीके से चलती रही, देश की ऊपरी सतह पर परिवर्तन होते रहे। लेकिन यूरोप के आक्रमण ने तो हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण व्यवस्था को ही जड़ से हिला दिया है। अंग्रेजों के पहले के जितने शासक हुए वे धीरे-धीरे इसी संस्कृति में ढल गये लेकिन अंग्रेज वे पहले विजेता है, हिन्दुस्तान के साथ कभी भी अपनत्व महसूस नहीं किया और न यहाँ की संस्कृति को ही अपनाया। आश्चर्य तो यह है कि हमने उनकी सभ्यता और संस्कृति को पूर्ण रूप से अपनाया है। राजस्थान निवासियों पर दुहरा शोषण हो रहा था, एक और तो देशी राजाओं को और राजाओं पर विदेशी शासकों का राजस्थान के निवासी दुहरी तरह से पीसे जा रहे थे। ऐसे समय अंग्रेज शासकों ने राजस्थान के राजाओं के साथ संधि प्रस्ताव किये तथा राजस्थानी राजाओं की विवश होकर ऐसा करना पड़ा और धीरे-धीरे राजस्थान के राजा अंग्रेज शासकों की कठपुतली बनने लगे।

स्वाधीनता प्रेमी राजस्थानी व्यक्ति ब्रिटिश शासन का निरन्तर विरोध करते रहे। अंग्रेजों ने राजाओं की सहायता से इन विरोधों को तत्परतापूर्वक दबाये रखा। राजस्थान जनता और कवियों की अंग्रेज विरोधी भावनाएँ और क्रियाएँ निरन्तर व्यक्त होती रही।³ सन् 1857 के भारतीय स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान राजा निष्क्रिय बने रहे, किन्तु राजस्थान के अनेक जागीदार और जनप्रतिनिधि इस अवसर पर प्रबल संघर्ष के लिए प्रस्तुत हुए।

ब्रिटिश शासन काल में यूरोपीय महायुद्धों में राजस्थानी सैनिकों ने संसार के अन्य सैनिकों के सामने लड़ते हुए एक अपूर्व वीरता प्रकट की। इन विश्वयुद्धों के परिणाम स्वरूप जन समाज की विचाराधारा भी परिवर्तित होने लगी। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन और स्वाधीनता संघर्ष के फल स्वरूप देश की स्वाधीनता और राजस्थान के एकीकरण में राजस्थान की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पूर्णरूपेण परिवर्तित हो गयी ये तो था राजस्थान के इतिहास का संक्षिप्त परिचय राजस्थान में चिरन्तन काल में साहित्य की धारा अप्रतिहत वेग से प्रवाहित हो रही है। रत्न प्रसविणी धरा में जगमगाते अनेक अमूल्य रत्न प्रकट किये हैं जिन्होंने अपने आलोक से जीवन और जगत के कई क्षेत्रों का प्रकाशमान किया हैं। जिन्होंने राजस्थान की गौरवमयी संस्कृति व इतिहास का परिचय जनसाधारण को करवाने हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की। माँ सरस्वती के भण्डार को प्रकाशमान करने वालों में एक ऐसे अनमोल रत्न स्वरूप है-डॉ. नारायण सिंह भाटी। एक महान कवि, सुधी कविवर डॉ. नारायण सिंह भाटी का बहुमुखी व्यक्तित्व और कृतित्व सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य के लिये गौरवपूर्ण

उपलब्धि हैं। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस राजस्थानी भाषा और उनके विविध रूपात्मक साहित्य को समर्पित कर दिया है। राजस्थानी काव्य में स्वच्छन्दतावादी चेतना और छाया वादी संस्कार को अपनाने वाले कवि डॉ. नारायण सिंह भाटी का जन्म प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर जोधपुर से बीस मील की दूरी पर गांव मालूंगा में डा. कानसिंह जी के यहाँ हुआ। इनकी माता का नाम श्रीमती चन्द्रकंवर जोधी जी थी।

डॉ. भाटी के पिता श्री कानसिंह जी जोधपुर स्टेट रेल्वे में सीनियर स्टेशन मास्टर थे अतः श्री भाटी को अपने बचपन में मारवाड और सिन्धु प्रांत के कई इलाकों में पढ़ने का मौका मिला। पांचवी कक्षा तक पढ़ने के पश्चात् उन्होंने राजपूत हाईस्कूल चौपासनी में प्रवेश लिया। पाठ्य सहगामी इतरेतर अनेक प्रतियोगिताओं में श्रेष्ठ प्रदर्शन किया। अपनी पढाई चालू रखने हेतु इन्होंने जोधपुर के जसवंत कॉलेज में प्रवेश लिया सन् 1954 में एम.ए., और सन् 1955 में एल.एल. बी. पास की। उन्होंने अपने अध्यायन काल में ही अनेक साहित्यकारों के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया और साहित्य सृजन की ओर मुड़े। डॉ. कन्हैयालाल सहल के निर्देशन में 'डिङ्गल गीत साहित्य' पर शोध ग्रंथ लिखा। इनका विवाह गोपडी ठिकाने के मोती सिंह जी की कन्या गुलाब कंवर के साथ सम्पन्न हुआ। इन्हें दो पुत्र व तीन पुत्री रत्न की प्राप्ति हुई।

डॉ. भाटी प्रत्येक आदमी के प्रति मानवीय दृष्टि रखते थे इनमें सांप्रदायिक सौहार्द और भाईचारे की भावना कूट-कूट कर भरी थी डॉ. भाटी को डिङ्गल के साथ राजस्थानी, हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाओं का भी ज्ञान था। डॉ. भाटी को इतिहास का गहरा ज्ञान था। इसी कारण इन्होंने 'मारवाड का परगना की विगत', 'महाराजा मानसिंह की ख्यात', 'महाराज तख्तसिंह जी की ख्यात' इत्यादि का संपदान किया। इन्होंने अपने समय में राजस्थानी शोध संस्थान और महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश के तत्वाधान में इतिहास के कई विषयों पर राष्ट्रीय स्तर की गोष्ठियाँ करवाईं। इन्होंने राजस्थानी शोध संस्थान के तत्वाधान में 'डिङ्गल कोष' का संपदान किया। खिलाड़ी के रूप में डॉ. भाटी ने अपना उत्कृष्ट प्रदर्शन किया।

राजस्थानी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अनेक संस्थानों की स्थापना में इनका प्रमुख योगदान रहा। राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी की स्थापना कर जयनारायण विश्वविद्यालय से मान्यता दिलवाने में इनका प्रमुख योगदान रहा। जहाँ देश-विदेश के अनेक शोधकर्ताओं ने अनुसंधान किया, शोध कार्य को सूक्ष्म और प्रामाणिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय इन्हीं को जाता है। संस्थान की शोध पत्रिका, 'परम्परा' में प्रामाणिक और शोधपरक सामग्री का प्रकाशन होता है।

डॉ. भाटी का अनेक अकादमियों से जुड़ाव रहा यथा — भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद नई दिल्ली आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि से जुड़ाव रहा। आप

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर की शासी परिषद और राजस्थान सरकार के भाषा विभाग के सलाहकार समिति के सदस्य मनोनित हुए थे। डॉ. भाटी की काव्य कृतियों को अनेक संस्थाओं द्वारा पुस्कृत किया गया। हिन्दी, राजस्थानी और इतिहास विभाग से इनका जुड़ाव रहा। इन्होंने महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश के पुर्नगठन में अपनी महत्ती भूमिका अदा की। उनके तीन ऐतिहासिक ग्रन्थ, 'मारवाड रा परगना की विगत' (तीन भाग), 'महाराज मानसिंह की ख्यात' और 'महाराजा तख्तसिंह की ख्यात' की संपदान राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित हुए। इन्होंने राजस्थान भाषा को मान्यता प्रदान करवाने हेतु भी संघर्ष किया था।

भाटी की काव्य कृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:-

1. **सांझ**- 'सांझ' में राजस्थान ग्राम्य जीवन का चित्रण हुआ है। संध्या के समय गांव के मंदिर में आरती, शंख, नंगाड़ा, ध्वनि सुनायी पडती है, झोपड़ियों से धुआं निकलता हुआ, गायों के गले में बंधी घंटियों की ध्वनि, युवतियों द्वारा दिया-बत्ती करना इत्यादि गांव के सरल जीवन की चित्र सांझ में दिखायी देता है।

2. **मेघदूत**- संस्कृत साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति "मेघदूत" का राजस्थानी अनुवाद डॉ. भाटी की रचना है। भक्ति, नीति, नखशिख वर्णन वियोग की अवस्था अनेक वर्णन एक साथ इस कृति में मिलता है।

3. **दुर्गादास**-वीर दुर्गादास ने बादशाह औरंगजेब से 30 वर्षों तक लंबी लडाई लडी उसके उस उदात्त चरित्र का अमिट प्रभाव भाटी पर पडा और उन्होने मारवाड के साधारण क्षत्रिय की देशभक्ति और मानव भावना को काव्य के माध्यम से उजागर किया हैं इसका मूल ध्येय यही है कि वीर दुर्गादास से मरूधरा की प्रजा को युगो-युगो तक प्रेरणा मिलती रहे। यहीं नहीं जब कभी भारत में मानवता की रक्षा के लिए संगठन बनेगा तब मरूधरा के इस वीर का नाम सबसे प्रथम लिया जाएगा।

4. **जीवन-धन**- भाटी का यह काव्य संग्रह राजस्थान के सांस्कृतिक धरात को सांस्कृति जीवन को कुशलता से उकेरा है। इन कविताओं में उन्होने भारतीय मूल्यों का सूक्ष्म चित्रण किया है। डॉ. भाटी की इस कृति के सम्बन्ध में डॉ. आईदान सिंह चारण कहते हैं किइस परिवेश में जीवन धन की कविताओं में राजस्थान संस्कृति का वर्णन है राजस्थान के रंगीले जीवन के रूप 'सावन', 'सावनी तीज' 'घूमर' आदि का कविताओं में वर्णन है।

5. **ओळू**- डा. भाटी ने इस रचना में आधुनिक युग में नवविवाहिता नारी की मन स्थिति को इस ढंग में व्यक्त किया है कि इसका हर दोहा एक नयी पुरानी याद उभार देता है। सामाजिक परिवेश के साथ-साथ विरही हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का यथार्थ चित्रण डॉ. भाटी ने इस कृति में किया है।

6. **परमवीर**- मरूभूमि में जन्मे और भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत कवि भाटी ने इस रचना में वीर रस, देश प्रेम आदि का वर्णन किया है। “परमवीर” राजस्थान के मेजर शैतानसिंह द्वारा चीनी आक्रमणकारियों से जूझ कर देश की स्वतंत्रता की रक्षा हेतु बलिदान होने के संबंध में लिखी वीर इस पूर्ण कृति है।

7. **कळप**- आधुनिक जीवन की दमघोटती स्वार्थ परकता और सामाजिक विषमता पर व्यंग्य करने हेतु काव्याभिव्यक्ति प्रदान कर इसकी रचना की।

8. **मीरां**- मीरां के इतिहास से जुड़ी मोटी ऐतिहासिक घटनाओं और प्रसंगों के साथ उनके भीतरी संघर्ष की अर्न्तयात्रा का वर्णन इस कृति में किया। इसी के साथ इन्होंने राजस्थान के सामंती समाज की खासियत और कमियों को उजागर किया है।

9. **बरसां रा डीगोडा डूंगर लांधिया**- डॉ. भाटी ने इस कृति में मनुष्य जीवन के अनेक पहलुओं और आयामों का विवेचन किया। इस रचना में नैसर्गिक चित्रण और श्रृंगार का भव्य समन्वय है। इस काव्य में कवि ने अपने प्रिय के प्रति अपरिमित प्रेम को प्रकृति के विभिन्न उपादानों से जोड़ नयी कल्पना के रूप में रूपायित किया है। साथ ही महानगरीय जीवन की घुटन और यात्रिक सभ्यता की अंतहीन व्यस्तता से मुक्त प्राप्त करने हेतु मनुष्य जितना बेताब है उसे डॉ. भाटी ने व्यक्त किया है।

10. **मिनख ने समझावणो दोरौ है**- आज के परिवेश में मनुष्य को जितना पतन हुआ है और इंसानितय ने जाने कहा खो गयी है इन सभी पर अपने शब्दों के वाणों से व्यंग्य करती हुई उनकी ये कविता है।

11. **पतियारो**- सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में नैतिक मूल्यों के पतन ने शिखर को छू लिया है उन्ही को डॉ. भाटी ने अपने हृदय के संवदेनशील भावों को आसुरी वृत्ति वालों के प्रति आक्रोश और वेदना इस काव्य में प्रकट की है। कवि ने इस कृति में भारतीय संस्कृति, भारतीय जीवन दर्शन को भी वर्णित किया है।

12. **सूखी धर री इमरत बेल**- डॉ. भाटी जैसलमेर की स्थापत्य कला निरत, वाद्य और वहां के लोक जीवन की समस्त गतिविधियों से बहुत प्रभावित थे और इसी संस्कृति से अभिभूत हो उन्होंने वहाँ की संस्कृति को अपने काव्य में उजागर किया है।

उपसंहार-आधुनिक राजस्थानी साहित्यकारों में डॉ. नारायण भाटी का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने राजस्थानी भाषा, साहित्य संस्कृति और इतिहास के उत्थान में जितन योगदान किया वह सरहाने योग्य है।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ. भाटी ने राजस्थानी भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिये चौपासनी शिक्षा राजस्थानी शब्द कोस में महकमा

की स्थापना में आपका योगदान रहा। डॉ. भाटी के नेतृत्व में राजस्थानी शोध का प्रमुख केन्द्र बन गया। लुप्त प्रायः राजस्थानी पाण्डुलिपियों का संग्रह उन्होंने करवाया। ‘परम्परा’ शोध पत्रिका इस संस्थान का प्रमुख प्रकाशन है।

वर्तमान में राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति और इतिहास जिनको देश-व्यापी सम्मान मिला है उनमें डा. भाटी का असाधारण योगदान है जो हमेशा याद रहेगा।

संदर्भ

1. राजस्थान स्वतंत्रता के पहले व बाद, डॉ. अरूणा शर्मा, पृष्ठ-1
2. राजस्थान एक सर्वेक्षण-स. फूलन्द पाण्डेय, पृष्ठ-3
3. गोरा हट जा अंक- सम्पादकीय
4. राजस्थान के कहानीकार- डॉ. मोतीलाल मेनारिया, संचालक राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर संस्करण 1961 केशव आर्ट प्रिन्टर्स, अजमेर
5. राजस्थानी कविता एक विश्लेषण, डॉ. श्याम शर्मा, संस्करण 1985
6. राजस्थानी रा साहित्य-रत्न-डॉ. नारायणसिंह भाटी, डॉ. सद्दीक मोहम्मद संस्करण-2003, महाराणा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, शोध केन्द्र जोधपुर

वर्तमान राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में महिला कलाकार

डॉ. किरन सरना एवं कृ. दीप्ति जैन

राजस्थान की धरती जहाँ वीर प्रसविनी रही है वहाँ इसका कलात्मक वैभव भी अद्वितीय रहा है। कला के क्षेत्र में राजस्थान के लघुचित्र (मिनिएचर-पेन्टिंग) विश्वकला की अनमोल धरोहर हैं। अपनी पुस्तक 'भारतीय चित्रकला' के अन्तर्गत प्रसिद्ध कला समालोचक वाचस्पति गैरोला ने लिखा है- 'भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजस्थान के कलाकारों की देन अनुपम तथा अद्वितीय है। मोहक वातावरण और प्राकृतिक रूप निर्माण के कारण एवं काव्य के उद्भव के लिए राजस्थान की धरती स्वाभाविक रूप से उपयुक्त रही है।'¹ राजस्थान पारम्परिक लघुचित्र शैलियों का प्रमुख केन्द्र रहा, एवं अपनी विविध शैलियों-उपशैलियों एवं उसमें प्रयुक्त कलात्मक गुणों से विश्व कला में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।² पन्द्रहवीं शती के लगभग राजस्थान लघुचित्र शैली की प्रथम उत्थान माना जाता है।³ 15वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य विभिन्न राजाओं महाराजाओं के संरक्षण में विभिन्न रियासतों में पारम्परिक कला का विकास हुआ। इसमें पुरुष कलाकारों की प्रधानता रही एवं⁴ भवनीदास, सूरधज दरगाहमल, निहालचन्द्र,⁵ अमरचन्द्र, मेघराज,⁶ निसारदीन, साहबदीन, मनोहर,⁷ अलीरजा, महमूद, ईसा उमरानी,⁸ हीरालाल, विटुल, तुलसीराम,⁹ लालचिंतार, साहिवराम, रूक्मदीन, चोखा, रामजी लाल आदि सैकड़ों कलाकारों ने राजस्थान की लघु चित्रण परम्परा को भारतीय कला इतिहास में चिर-स्थायित्व प्रदान किया¹⁰। यहाँ के चित्रकारों में न केवल पुरुष चित्रकार रहे अपितु महिलायें भी राजस्थान की इस अमूल्य धरोहर के निर्माण में भागीदार रही परन्तु सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण वे अपनी कला पर अपनी पहचान उतनी स्पष्टता से प्रदर्शित नहीं कर सकी जितनी की पुरुष चित्रकार।¹¹ महिला कलाकारों में कमला एवं इलायची का नाम उल्लेखनीय है¹²।

अंग्रेजों के आगमन के बाद राजस्थान के कलाकारों एवं कला जगत यूरोपियन कला परम्पराओं से प्रभावित हुए,¹³ 1851 में विलियम कारपेण्टर तथा 1855 में एफ. सी. लेविस ने राजस्थान को प्रभावित किया¹⁴ एवं यहाँ भी यथार्थवादी व्यक्ति चित्र एवं प्रकृतिचित्र आदि बनने लगे। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन ने भारत की कला को भी बहुत प्रभावित किया, व बंगाल शैली के माध्यम से पुनः भारतीय कला आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा की गई। व देश की स्वतंत्रता के साथ ही साथ में भी अभिव्यक्ति

की स्वतंत्रता का सूत्रपान हुआ, जिसका प्रभाव राजस्थान के कला जगत पर कुछ धीरे धीरे, लगभग साठ के दशक में दिखाई देने लगा। चाक्षुष कला के क्षेत्र में की गई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने और उन्हें एक सूत्र में बांधने तथा देशीय सांस्कृतिक ऐक्य को संगठित करने के उद्देश्य से सन् 1957 में राजस्थान ललित कला अकादमी की स्थापना की गई, जिसके विविध कार्यक्रमों ने राज्य के कलाकारों को संरक्षण व प्रोत्साहन दिया एवं कलाकारों ने राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्धियां अर्जित की। साठ के दशक तक भी पुरुष कलाकारों का वर्चस्व बना रहा किन्तु सत्तर के दशक में धीरे-धीरे महिला कलाकारों के नाम भी सामने आने लगे। जिसमें अधिकांशतः शिक्षा क्षेत्र से जुड़ी थी।¹⁵ राजस्थान में कलाशिक्षा के क्षेत्र में महाराजा सवाई रामसिंह ने 'हुनरी मदरसा' स्थापित किया जो कालान्तर में 'महाराजा स्कूल आफ आर्ट्स' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।¹⁶ धीरे-धीरे विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में कला शिक्षा प्रारम्भ हुई व दयानन्द कॉलेज अजमेर, वनस्थली विद्यापीठ व जयपुर व उदयपुर, बूंदी, कोटा, नाथद्वारा व अन्य स्थानों पर कला शिक्षा आरम्भ हुई, एवं इन स्थानों से अनेक महिला कलाकार कला जगत के पटल पर सामने आई।¹⁷

राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में समसामयिक कलाकारों पर लेखन की परम्परा भी लगभग 70 के दशक में ही आरम्भ हुई। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण जयपुर अढ़ाई शती समारोह के अवसर पर 1978 में राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'जयपुर कला और कलाकार' है जिसमें लेखक ने जयपुर की स्थापना से लेकर 1978 तक के लगभग सभी कलाकारों का अध्ययन तथा वर्गीकरण प्रस्तुत किया। समसामयिक कलाकारों की गणना करते हुए 273 कलाकारों की संख्या में केवल 28 महिला थी एवं इनमें उन कलाकारों को शामिल किया गया था जिनके चित्र इस समय तक अकादमी की प्रदर्शनी में प्रदर्शित हो चुके थे। उसके बाद आकृति (राजस्थान ललित कला अकादमी प्रकाशन) 1982, 87 आदि के अंकों में राजस्थान के समसामयिक कला जगत के कलाकारों की चर्चाएं प्रस्तुत हुई जिनमें कतिपय महिला कलाकारों का भी उल्लेख हुआ।

राजस्थान की वरिष्ठ महिला कलाकारों में श्रीमती ऊषारानी हूजा, श्रीमति चन्द्रावती शर्मा, सुश्री वीरबाला भावसार, श्रीमती विमला मिश्रा, श्रीमती सावित्री शर्मा, कृष्णा शाह, प्रभाशाह, विमल कौर, श्रीमती रेखा भटनागर, श्रीमती रीता प्रताप, श्रीमती सूरजीत कौर चोयल, सुश्री किरण मुर्दिया आदि के नाम उल्लेख रहे। 1923 से 1951 के बीच जन्मी इन महिला कलाकारों ने अपनी विशिष्ट शैलीगत उपलब्धियों के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। जैसे 1923 में जन्मी श्रीमती ऊषारानी हूजा ने शिल्प को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया आपकी शिल्पकृतियां जयपुर, कोटा, दिल्ली

वाशिंगटन, स्वीडन फिजी आदि स्थानों पर स्थापित है एवं आपने 1990 की फैलोशिप, राजस्थान श्री अवार्ड (1982) मेवाड़ फाउन्डेशन सज्जन सिंह अवार्ड (1985) आदि प्राप्त किये¹⁸।

श्रीमति चन्द्रावती शर्मा का जन्म 1936 में तथा राजस्थान विश्वविद्यालय से चित्रकला में प्रथम श्रेणी से एम. ए.। राजस्थान कला मन्दिर में रामगोपाल विजयवर्गीय के शिष्यत्व में भी अध्ययन किया। राजस्थान ललित कला अकादमी सहित कई समूह प्रदर्शिनियों में चित्र प्रदर्शित किये है 1978 में शिक्षक दिवस के अवसर पर पुरस्कृत। अढ़ाई शती समारोह में कला संयोजिका मनोनीत, 1977 में ढूंढार शैली के चित्रों की प्रदर्शनी की भी संयोजिका रही। सिरेमिक्स पर अलंकरण का विशेष अनुभव।¹⁹ डॉ. वीरबाला भावसार ने राजस्थान के कोमल बालुका कणों के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा अनेकाने आकर्षक कृतियां प्रस्तुत की, सहज सरल आकारों के मौलिक प्रयोगों में डॉ. भावसार कुशल रहीं²⁰। गुजरात, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश राज्य की विभिन्न कला प्रदर्शिनियों में आपके चित्र प्रदर्शित हो चुके हैं। गांधी दर्शन प्रदर्शनी, खादी इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद, फाइन आर्ट कालेज अहमदाबाद सहित कई निजि संग्रहों में इनकी रचनाएं संग्रहीत है। चित्रण के साथ स्टेज डिजाइन एवं भूमि रचना भी करती है।²¹ उदयपुर की सुरजीत अपने विशिष्ट व्यक्तिचित्रों के लिए जानी गई। स्थानीय उदयपुर के परिवेश एवं रंगों को आधार बनाकर इन्होंने अपनी चित्र श्रृंखलाएं तैयार कीं²²। श्रीमती सावित्री शर्मा ने 1944 में आई. जी. डी. एवं राजस्थान कला संस्थान जयपुर से 1953 में डिप्लोमा पास किया 1953 में ही विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की। जयपुर में आयोजित विभिन्न गुप प्रदर्शिनियों में भाग लिया²³। डॉ. रेखा भटनागर के चित्रों में समानान्तर रेखाओं के माध्यम से रंगों के सुगम प्रयोगों को अपनी विशिष्ट भाव अभिव्यक्तियों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की²⁴। विमल कौर ने राजस्थान ललित कला अकादमी से ग्राफिक के लिये 1966 में पुरस्कार प्राप्त किया। बाटिक एवं ब्लूपाटरी में विशेष अनुभव।²⁵ प्रभाशाह जो गूंगी बहरी कलाकार रहीं उनकी सारी सृजन क्षमता कैनवास पर उतरती रही रंगों में एक अजीब उदासी भी छाई रहीं। किरण मुर्डिया आरम्भ में चटक रंगों से सीधी रेखाओं कोणों आयतो का संयोजन करती थी धीरे धीरे प्रकृति के चित्रण की ओर उन्मुख हुई जिसमें स्थानीय उदयपुर की गरिमा छाई रही²⁶।

अकादमी की प्रदर्शिनियों में प्रदर्शित डॉ. रीता प्रताप की रचनाएं महिला कलाकार प्रदर्शनी, कलावृत्त प्रदर्शनी आदि में भी प्रदर्शित हो चुकी हैं। वनस्थली 1972, आइफैक्स दिल्ली 1973 एवं अकादमी कला दीर्घा में एकल प्रदर्शिनियां आयोजित कीं²⁷। डॉ. रीता प्रताप का आरम्भिक रूझान शिव परिवार में रहा एवं आपने शिव परिवार की अनेक चित्र श्रृंखलाएं प्रस्तुत की कुछ गहरे रंगों में समावेष्टित

इनकी आकृतियां बरबस ही दर्शकों को आकर्षित करती रहीं²⁸। श्रीमति रेखा भटनागर का जन्म 1946 में तथा उदयपुर विश्वविद्यालय से चित्रकला में एम.ए.। वनस्थली फ्रेस्को केम्प में अध्ययन 1968। ललित कला अकादमी में कई बार प्रदर्शित एवं इनकी रचना को 1968 में अकादमी से पुरस्कार प्राप्त हुआ है²⁹।

राजस्थान की महिला कलाकारों का द्वितीय समूह प्रायः उपरोक्त वरिष्ठ कलाकारों का शिष्य वर्ग ही रहा। जिनकी प्रथम सूची हमें पूर्व में उल्लिखित पुस्तक जयपुर कला और कलाकार में वर्णित नये उभरते प्रयोगशील कलाकारों की सूची में प्राप्त होती है। 'आकृति' तथा अन्य पत्र पत्रिकाओं में भी इन कलाकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन कलाकारों में सुरभि मैनी (बिरमीवाल), डॉ. अर्चना कुलश्रेष्ठ, मीना बया, मीनाक्षी भारती, संगीता जुनेजा, रेखा पंचोली, मीनू श्रीवास्तव, दीपिका हाजरा, पुष्पा दुल्लर, किरन सरना, इला यादव, इन्दू सिंह, ममता रोकणा आदि वर्तमान में सक्रिय रूप से कलाकार्यों में संलग्न हैं इनमें सभी ने समूह प्रदर्शिनियों, एकल प्रदर्शिनियों व कला मेलों आदि में अपनी कृतियों को प्रदर्शित किया है।³⁰

सुरभि मैनी का जन्म 1955 में एवं राजस्थान विश्वविद्यालय से एम. ए. चित्रकला में स्वर्णपदक प्राप्त किया। राजस्थान विश्वविद्यालय के कलाकार, अरुणोदय एवं प्रोग्रोसिव आर्टिस्ट ग्रुप जयपुर की प्रदर्शिनियों में भाग लेने के साथ-साथ, आइफैक्स, दिल्ली द्वारा आयोजित कलामेला में भी रचना प्रदर्शित³¹। डॉ. अर्चना कुलश्रेष्ठ चितेरी नामक कलासंस्था की संस्थापक सदस्य रही एवं उन्होंने संस्था द्वारा आयोजित विभिन्न गति विधियों को संचालन करते हुए कोटा, जयपुर, अहमदाबाद, बीकानेर, दिल्ली, आदि स्थानों पर कलाकृतियों को प्रदर्शित किया³²। 1985 में सुखाड़िया विश्वविद्यालय से चित्रकला में एम. ए. करने वाली मीना बया ने अनेक पुरस्कार प्राप्त किये जिनमें राजस्थान ललितकला अकादमी क्रियेटर अम्बाला, तूलिका कलाकार (परिषद) से प्राप्त पुरस्कार प्रमुख रहे। राजस्थान की महिला कलाकारों में मीनाक्षी भारती, मीनू श्रीवास्तव व रेखा पंचोली ने भी अपनी पहचान बनाई है मीनाक्षी भारती का नाम भी जयपुर कलाकार पुस्तक में दर्ज है इन्होंने जयपुर, दिल्ली, बम्बई, नैरोबी, चण्डीगढ़ आदि स्थानों में एकल चित्र प्रदर्शिनियों की हैं विभिन्न राष्ट्रीय व राज्य स्तरीय कला प्रदर्शिनियों में भी भागीदारी दर्ज करते हुए अकादमी की कार्य शालाओं में भी भाग लिया है। एकरंगे स्याही के चित्रण में विशिष्ट मीनू श्रीवास्तव की कृतियां राजस्थान ललित कला अकादमी, ट्रेड फेयर ऑफ आथोरिटी दिल्ली हुडको आदि में संग्रहीत हैं एवं अनेक एकल व समूह प्रदर्शिनियां कर चुकी हैं।

उदयपुर की रेखा पंचोली श्री अपने विशिष्ट मानवाकृतिचित्रों के लिए पहचानी जाती हैं मेवाड़ी गठन में बनी इनके चित्रों की आकृतियों के लिए विशिष्ट होती हैं।

1947 में अजमेर में जन्मी दीपिका हाजरा ने 1971, 1973 व 1980 में राज्य पुरस्कार प्राप्त किये एवं आईफैक्स, जहांगीर आर्ट गैलरी मुम्बई, बोम्बे आर्ट सोसायटी आदि की विभिन्न प्रदर्शनियों में भागीदारी भी की। जुनेजा आर्ट गैलरी की निदेशक संगीता जुनेजा आत्मदीक्षित चित्रकार रही अनेक राज्यस्तरीय एवं राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में संगीता ने भाग लिया। वनस्थली महिला विश्वविद्यालय में कार्यरत डॉ. पुष्पा दुल्लर की रूचि स्वभाविक रूप के मानवाकृति चित्रण में रही समय-समय पर अपनी संवेदनाओं को उन्होंने अपनी विशिष्ट चित्र श्रृंखलाओं में प्रस्तुत किया है। जैसे कि लातुर में आए भूकम्प की त्रासदी को उन्होंने गहरे नीले व पीले रंगों में बनी चित्र श्रृंखला में दुःखी पीड़ित मानवकृतियों में प्रस्तुत किया है। गांधी जी का विशाल चित्र भी उनकी अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि है जो आकार में विश्व का सबसे बड़ा गांधी जी का चित्र है एवं उसमें अन्यतम कोमनता के साथ उन्होंने गांधी जी के चरित्र को प्रस्तुत किया है। डॉ. किरन सरना भी वनस्थली में ही कार्यरत एक अन्य महिला कलाकार हैं लोक कलाओं में रूझान रखने वाली इस कलाकार ने अपनी कला यात्रा के आरम्भ में कलर रिलीफ में काम करके राजस्थान के उभरते नये प्रयोग वादी कलाकारों के बीच जयपुर कला और कलाकार पुस्तक में अपनी उपस्थिति दर्ज की बाद में डीचिरिकों के समान स्थापत्य के आकारों में कुछ प्रयोग किये एवं वर्तमान में अपने विशिष्ट पक्षी आकारों के साथ जीवन यात्रा श्रृंखला पर निरन्तर 5 वर्ष के काम कर रही हैं जिनमें अत्यन्त सरल आकारों की सहज प्रस्तुतियां हुई हैं। ममता रोकणा भी अपनी विशिष्ट राजस्थानी लोक परम्परा के गुणों से ओतप्रोत कृतियों के लिए जानी जाती है, अत्यन्त विनम्र मृदुभाषी ममता रिलीफ में महिलाओं के भाव बनाने में भी दक्ष हैं उनकी कृतियों में अलंकरण का समावेश सहज ही राजस्थानी आभूषणों वस्त्रों की परम्पराओं को प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक महिला कलाकार भी आज राजस्थान में कार्य कर रही हैं।

कलाकारों की कृतियां अपने समय का दस्तावेज होता है इस दृष्टि से भी राजस्थान की इन महिला कलाकारों के चित्रों में विगत अर्द्ध शताब्दी का जनमानस, उसके सुख दुःख, उसकी कुंठाएं, कला जगत में पनपता अन्तर्राष्ट्रीयवाद, आदान प्रदान, आधुनिकता का आगमन आदि सब कुछ दिखाई देता है साथी ही इनके चित्रों में नारी मन की कोमल छाप भी अंकित होती है।

सन्दर्भ

1. प्रेमचन्द्र गोस्वामी, भारतीय कला के विविध स्वरूप, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण-1997, पृ. सं.-20
2. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में महिला कलाकार,

- सम्पादिका डॉ. ममता सिंह, 'सृजन' प्रथम अंक-2010, पृ. सं.-99
3. प्रेमचन्द्र गोस्वामी, भारतीय कला के विविध स्वरूप, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण-1997, पृ. सं.-14
 4. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पृ. सं.-99
 5. डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल, कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, संस्करण-2002, पृ. सं.-156
 6. अविनाश बहादुर वर्मा, भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, द्वितीय संस्करण-1973, पृ. सं.-184
 7. डॉ. रीता प्रताप, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दीग्रन्थ अकादमी, जयपुर, छठा संस्करण-2009, पृ. सं.-182
 8. डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल, कला और कलम, पूर्वोक्त, पृ. सं.-163
 9. डॉ. रीता प्रताप, पूर्वोक्त, पृ. सं.-191
 10. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-99
 11. डॉ. अर्चना जोशी, विश्व इतिहास में महिला चित्रकार, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृ. सं.-98
 12. डॉ. रीता प्रताप, पूर्वोक्त, पृ. सं.-191
 13. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-99
 14. डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. सं.-25
 15. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-99-100
 16. डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल, आधुनिक भारतीय चित्रकला, संजय पब्लिकेशन्स, आगरा, तृतीय संस्करण- 2002, पृ. सं.-25
 17. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-100
 18. वही, पृ. सं.-100-101
 19. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अर्द्धशताब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-42
 20. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
 21. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अर्द्धशताब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-52
 22. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
 23. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अर्द्धशताब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-40
 24. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101

25. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अढ़ाईशती समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-40
26. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
27. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अढ़ाईशती समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-68
28. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
29. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अढ़ाईशती समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-56
30. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
31. जयपुर कला और कलाकार, प्रकाशक- सचिव, राजस्थान ललित कला अकादमी, रवीन्द्र मंच, जयपुर अढ़ाईशती समारोह के अवसर पर प्रकाशित, 1978 पृ. सं.-81
32. डॉ. अल्पना भट्ट एवं श्वेता शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ. सं.-101
33. वही, पृ. सं.-101-104

मारवाड़ में कर व्यवस्था : प्रशुल्क, नमक, आबकारी के विशेष संदर्भ में (सन् 1885 से 1900 तक)

डिम्पल प्रजापत

1818 की सहायक संधियों से ब्रिटिश सरकार का राजपूताना में हस्तक्षेप हुआ, जो राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्रों में प्रमुख रूप से था। इनका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के लिए आर्थिक लाभ कमाना था तथा इसकी पूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न राज्यों से 1825-30 तक अफीम संधियां तथा 1870 से 1877 तक नमक संधियां की। मारवाड़ की कर व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों पर भी इनका प्रभाव पड़ा व विभिन्न विभागों के प्रमुख अधिकारी, ब्रिटिश अधिकारियों व पॉलिटिकल एजेंट के अधीन होने लगे। प्रस्तुत शोध पत्र का विषय प्रशुल्क आबकारी व नमक विभाग में होने वाले विभिन्न परिवर्तन उनकी प्रवृत्ति तथा लाभ-हानि पर आधारित हैं। पत्र का अध्ययन काल सन् 1885 से सन् 1900 तक है। 1885 से 1900 तक तीनों विभागों में होने वाले प्रमुख परिवर्तन -

1. अधिकारी - 1885 में कस्टम विभाग का प्रमुख अधिकारी साहिब बहादुर था। 1886 से 1895 तक सिंघी सूरजमल था जो कि ब्रिटिश अधिकारी व महाराजा जालिम सिंह के अधीन था। 1895 से सिंघी सूरजमल के बेटे सुमेरमल ने पद भार संभाला। आगे किसी परिवर्तन का उल्लेख नहीं मिलता। नमक विभाग में 1885-86 तथा 1887-88 में क्रमशः मुहता वरमल तथा मुहता बख्तावरमल प्रमुख अधिकारी थे। 1890 से पंचोली मुकुन्द दास प्रमुख अधिकारी, जो राय बहादुर मेहता विजय सिंह व पंडित शिव नारायण के अधीन था। लेकिन 1893 इनका नियंत्रण समाप्त करके उसे महकमा खास के सीधे नियंत्रण में कर दिया गया। आबकारी विभाग में 1890 से आर.बी. मेहता विजय सिंह तथा पंडित शिव नारायण, पंडित दीनानाथ प्रमुख अधिकारी थे। आगे किसी परिवर्तन का उल्लेख नहीं मिलता।

तीनों विभागों की नीतियों में होने वाले उतार-चढ़ाव व उनकी प्रवृत्तियाँ -

1. कस्टम विभाग/सायर विभाग - 1882 से पहले राजस्व वसूली का कार्य ठेके पर दिया जाता था लेकिन उससे बहुत अव्यवस्था होती थी, अतः 1882 में मिस्टर हॉवसन के सुझावों पर अमल करते हुए सुधारों की विस्तृत श्रृंखला जारी की

गई तथा अधिकांश पागमन शुल्क समाप्त कर दिए गए यह सुधार 1891 तक लागू रहे। 1891-92 में कुछ नए सुधार लागू किए गए। जिसमें अफीम, गुड़, मुश्ती शक्कर, जरी, हाथी दाँत, लाख, पश्मीना, पालकी, गांजा, चरस पर एक्सपोर्ट ड्यूटी घटाई गयी। ऊनी कपड़े, देशी कॉटन, तिल, ऊन, सरसों, राई, सोडा, चावल पर इम्पोर्ट ड्यूटी घटाई गयी। सभी प्रकार के सूती कपड़ों तथा सोने की लेस पर एक निश्चित ड्यूटी लगाई गई। पुराने लोहे पर भी ड्यूटी लगाई गई।

डीडवाना परगने में नया गाँव बसाया गया जसवंत गढ़, जहाँ लोगों को बसाने व व्यापारियों को प्रोत्साहन देने के लिए दरबार ने कई करों में कमी की। 1893-94 में एक प्रमुख परिवर्तन किया गया - अब तक कस्टम ड्यूटी बिजेशाही मुद्रा में वसूली जाती थी, जिसका संबंध ब्रिटिश सिक्कों से था, इनके कारण मूल्य में लगातार उतार-चढ़ाव होते थे तथा व्यापारी तथा राजस्व अधिकारियों को बट्टा/छूट देते समय, कर वसूलते समय असुविधा होती थी। अतः 1893 में छूट व बट्टा देना समाप्त कर दिया गया।

1894-95 में एक अन्य परिवर्तन किया गया - अब तक रेल यातायात द्वारा किए जाने वाले अयात-निर्यात पर चुंगी/कर रेलवे विभाग द्वारा वसूला जाता था, इससे विभिन्न विभागीय परेशानियों को देखते हुए यह कार्य कस्टम डिपार्टमेंट के अधीन कर दिया गया। 1896-97 में सीमावर्ती क्षेत्रों में चुंगी व पारगमन शुल्क में होने वाली अनियमितताओं की रोकथाम के लिए दो गिरदावर नियुक्त किए गए जो यहाँ का दौरा करते थे। पाली व सोजत के लिए दो ट्रेवलिंग थानेदार नियुक्त किए गए। यह ध्यान देने योग्य है कि नये कर लगाते वक्त या घटाते समय सरकार, जनता की सुविधाओं प्राकृतिक आपदाओं देशी उद्योगों को बढ़ावा देने तथा वस्तुओं की माँग व पूर्ति का ध्यान रखती थी। सरकारी अधिकारी समय-समय पर दौरा करके विभिन्न समस्याओं का समाधान करते थे। आय बढ़ने का प्रमुख कारण तीज-त्यौहार व शादियाँ भी थे।

2. नमक विभाग - मारवाड़ के नमक उत्पादन के प्रमुख स्थान थे - साँभर, नावां, पचपदरा, डीडवाना तथा फलौदी। 1870-77 में होने वाली संधियों द्वारा दरबार ने नमक बनाने, बेचने व उस पर कर लगाने का पट्टा ब्रिटिश सरकार को दे दिया था। ब्रिटिश सरकार दरबार को एक निश्चित मात्रा में कर मुक्त नमक निजी उपभोग के लिए देती थी। दरबार ब्रिटिश सरकार का एजेंट मात्र बन गया था, वास्तव में नमक की कीमत व उस पर लगने वाला कर ब्रिटिश सरकार अपने हितों के अनुसार तय करती थी। 1885 में ही खारी विभाग को नमक विभाग के अधीन कर दिया गया। 1886 में विभिन्न स्थानीय व्यापारियों व बंजारो द्वारा नमक के अवैध क्रय-विक्रय को रोकने के लिए कुछ सख्त कदम उठाए गए जैसे - व्यापारियों को सीमित स्टॉक ही दिया जाता था तथा हाकिम व थानेदार भी नियुक्त किए गए जो व्यापारियों व नमक

उत्पादन केन्द्रों पर निगरानी का कार्य करते थे। 1890-91 में एक परिवर्तन किया गया, अब तक 'साहूकारी रूक्का' या हुण्डी पर भी व्यापारियों को नमक जारी किया जाता था, लेकिन इसे समाप्त करके नगद भुगतान का नियम बनाया गया। 1892-93 में फलौदी किन्हीं कारणों से नमक उत्पादन बंद हो गया। तथा नमक संधि की धारा पअ के अनुसार उस क्षेत्र के खार वालों को ब्रिटिश सरकार की ओर से उनके पिछले पाँच सालों की आय की आधी राशि मुआवजे के रूप में दी गई। 1894-95 में इस विभाग के प्रमुख अधिकारी को महकमा खास के सीधे नियंत्रण में कर दिया गया। 1886 के बाद नमक की कीमत व उस पर कर लगभग स्थिर ही रहा तथा 1891-1893-1895 में विभिन्न ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा नमक उत्पादन केन्द्रों का दौरा किया गया। नमक विभाग में ठेके की व लाइसेन्स जारी करने की फीस बढ़ाई जाती थी जो आय में वृद्धि का प्रमुख कारण था साथ ही जुमाने भी आय में वृद्धि करते थे। नमक उत्पादन को प्रभावित करने वाला प्रमुख कारण बरसात था।

3. आबकारी विभाग - आबकारी से अर्थ उन वस्तुओं से है जिनका उत्पादन व क्रय-विक्रय सरकारी नियंत्रण में होता है तथा सरकार अपनी शर्तों पर इन वस्तुओं के उत्पादन व क्रय-विक्रय के ठेके तथा लाइसेन्स जारी करती थी। शराब, स्पिरिट, अफीम, भांग, गांजा, चरस इसके अन्तर्गत आते हैं।

1885 से पहले मारवाड़ में शराब उत्पादन का कार्य कलाल व स्थानीय व्यापारी अपने स्तर पर करते आ रहे थे, उन पर किसी प्रकार का नियंत्रण व कर नहीं लगाया जाता था इसी कारण ये लोग मनमानी कीमत पर शराब बेचते थे तथा आस-पास के क्षेत्रों जैसे अजमेर आदि में शराब की अवैध तस्करी भी करने लगे। इनकी बनाई शराब का स्तर भी घटिया होता था। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए 1885 में पहली बार दरबार/सरकार की ओर से सुधारों की पहल की गई तथा कर्नल पॉलेट के सुझावों पर अमल किया गया -

1. शराब पर कर लगाया गया। 2. शहर कोतवाल का शराब के क्रय-विक्रय पर निगरानी का अधिकार निश्चित किया गया। 3. शराब बनाने का ठेका दिया जाने लगा तथा इसके लिए लाईसेन्स जारी किए जाते थे। 4. बगैर लाईसेन्स की शराब का आयात-निर्यात निषिद्ध कर दिया गया। 5. अवैध शराब उत्पादन व तस्करी की सूचना देने वाले को इनाम दिया जाने लगा।

मारवाड़ में शराब का उत्पादन सदर डिस्टलरी में किया जाता था। शराब की कीमतें सरकार तय करती थी। सरकार समय-समय पर उत्पादन पर भी नियंत्रण करती थी, जिससे की उपभोग में कमी आए। एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि दरबार द्वारा ताजिमी सरदारों तथा जागीरदारों को एक शराब उत्पादन केन्द्र रखने की

छूट थी जो उनके निजी उपयोग के लिए था। साथ ही उनके गाँव से शराब पर जो कर वसूला जाता था सरकार उसका आधा हिस्सा उन्हें रखने की छूट देती थी। यही सुधार 1912-13 तक चलते रहें तथा 1912-13 में कुछ अन्य परिवर्तन किए गए। 1890-91 में स्थानीय लोगों के विरोध के कारण अजमेर से लगती 5 मील की सीमा से शराब की दुकानें हटाई गई। 1894-95 से पहले शराब पर लगने वाला कर तथा शराब से होने वाली आय हवाला व जागीर गाँवों से अलग-अलग वसूली जाती थी। तथा लेखा-जोखा भी अलग ही रखा जाता था, इससे होने वाली असुविधा से बचने के लिए इस वर्ष इन्हें एक साथ ही आबकारी विभाग के अधीन कर दिया गया। अगले पाँच वर्षों में सरकार ने शराब के उपभोग को सीमित करने के लिए उत्पादन कम किया तथा कीमतों में वृद्धि की।

सरकार अफीम व अन्य सहायक मादक पदार्थों के उत्पादन व क्रय-विक्रय के ठेके अलग से देती थी। मारवाड़ में अफीम कोटा से मंगवाई जाती थी। सरकार की आय बढ़ने का प्रमुख कारण था - प्रति वर्ष ठेके उन्हें ही दिए जाते थे जो ऊँची बोली लगाते थे। लाईसेन्स जारी करने की भी फीस ली जाती थी साथ ही तस्करी रोकने के सख्त प्रयासों ने भी आय में वृद्धि में सहयोग किया।

आबकारी विभाग के कुल आय के आँकड़े

वर्ष	आय (रूपयों में)
1885-86	27000/-
1890-91	74,246/-
1891-92	78,083/-
1892-93	75,457/-
1894-95	76,508/-
1895-96	99,903/-
1896-97	1,11,678/-

इस प्रकार हम देखते हैं कि मारवाड़ दरबार द्वारा इन वर्षों में प्रशुल्क, आबकारी व नमक विभाग में कई नवीन व महत्वपूर्ण सुधार व नियम लागू किए गए जो जनता की सुविधा व राज्य की आय बढ़ाने में सहायक बने व अप्रत्यक्ष रूप से मारवाड़ के विकास में योगदान दिया। इन प्रशासनिक रिपोर्टों से हम तत्कालीन मारवाड़ की आर्थिक स्थिति का भली-भाँति अध्ययन व विवेचन कर सकते हैं।

संदर्भ

1. Administration reports of Marwar - 1885 to 1900, राज्य अभिलेखागार जोधपुर शाखा।

मारवाड़ के सिक्के - एक अध्ययन

डॉ. तेजेन्द्र वल्लभ व्यास

सिक्कों के वैज्ञानिक अध्ययन से अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है। इनसे न केवल राजनीतिक व आर्थिक स्थिति का पता चलता है वरन इनसे धार्मिक तथा कलात्मक स्थिति का भी बोध होता है। इन सिक्कों पर कई प्रकार के चिन्ह होते हैं। जिनसे सिक्के चलाने वाले समुदाय या व्यक्ति की कई अज्ञात बातें सामने आती हैं, इसी तरह सिक्कों के अध्ययन से वंशक्रम का बोध तो होता ही है वरन उनसे शासकों की सम्पन्न अवस्था को भी आंका जा सकता है। कम तोल वाले मिलावट वाले तथा छोटे आकार के सिक्कों से एक राजा से दूसरे राजा की या एक राज्य की तुलना में आर्थिक स्थिति अवश्य अनुमानित की जा सकती है। कभी-कभी सिक्कों में दो शासकों के नाम मिलते हैं, जिनसे उनके संयुक्त शासन या मैत्री संगठन की व्यवस्था दिखाई देती है। सिक्कों के अंकित चिन्हों मूर्तियों अथवा नामोल्लेखन से उस समय के प्रचलित धर्म का ज्ञान होता है। मुद्राओं से शासकों की रुचि और जीवन की उपलब्धियों का परिचय मिलता है। सिक्कों पर अंकित मूर्तियों की सजावट उस समय की वेशभूषा तथा विदेशी प्रभाव का ज्ञान कराते हैं।

मारवाड़ का राज्य सिक्कों के विचार से बड़ा समृद्ध है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक लाखों की संख्या में साने, चांदी तांबे और सीसे के सिक्के प्राप्त हो चुके हैं। इन पर अंकित लेख, संख्या, आकृति, चिन्ह आदि, ऐतिहासिक तथ्यों को समझने में बड़े उपयोगी हैं। इन सिक्कों के वैज्ञानिक अध्ययन से राजाओं की नामावली, वंश परिचय स्थान विशेष जंहा से सिक्कों का प्रचलन किया गया हो या किसी विशेष घटना को लेकर उन्हे बनवाया गया हो, आदि का समुचित बोध होता है विभिन्न राजाओं की सीमाओं को निर्धारित करने में इन सिक्कों का बड़ा महत्व है। इनके द्वारा तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्थिति का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार तत्कालीन कला के अध्ययन में भी सिक्के बड़े काम के प्रमाणित हुए हैं। अलग अलग समय व में इन सिक्कों के नाम, तोल, आकार आदि अलग अलग रूप से जाने गये हैं। प्राचीन सिक्के विशेष रूप से उत्खनन द्वारा मिले हैं। मध्यकालीन सिक्के प्रचलन में देखे गये हैं, वर्तमान सिक्कों का लेनदेन हमारे समय तक चलता रहा है। इन सभी प्रकार के सिक्कों का अध्ययन हम विभिन्न शीर्षकों में

करेंगे। पूर्व मध्यकालीन सिक्कों का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में भी प्राप्त होता है, इससे इन सिक्कों का महत्व स्थापित होता है।

पूर्व मध्यकालीन मारवाड़ के शिलालेखों में सिक्के

पूर्व मध्यकालीन अभिलेखीय स्रोतों में विशेषकर दान शासनों में द्रम्म, विशोपक रूपक, लोहतिका नामक मुद्राओं का उल्लेख मिलता है -

द्रम्म - मारवाड़ के गोठमण्डलोद स्थान से प्राप्त गुप्त संवत् 289 (608 ई) के अभिलेख में द्रम्म का उल्लेख हुआ है। विक्रम संवत् 1172 के सेवाडी अभिलेख² आल्हणदेव के विक्रम संवत् 1205 ताम्रपत्र³ विक्रम संवत् 1228 के नाडलाई अभिलेख⁴ विक्रम संवत् 1305 के भीनमाल अभिलेख⁵ और समसामयिक ग्रन्थों में द्रम्म का उल्लेख मिलता है। उक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन मारवाड़ में इस सिक्के का बहुत प्रचलन था। विक्रम संवत् 1320 के एक जालोर अभिलेख⁶ में द्रम्माद्ध अर्थात् आधे द्रम्म का उल्लेख हुआ है। सारणेश्वर प्रशस्ति⁷ में द्रम्माद्ध-विशंक अर्थात् द्रम्माद्ध का 1/20 वां भाग निर्देशित है।

रूपक - 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य से विदित होता है। कि जो द्रम्म अजयराज ने प्रचलित किए थे, वे कालांतर में रूपक कहलाये⁸। परन्तु सारणेश्वर प्रशस्ति⁹ में दोनों का पृथक मुद्राओं के रूप में उल्लेख है तदनुसार अल्लत ने मन्दिर के निर्वाह हेतु उधर से जाने वाले प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म तथा घोड़े पर दो रूपक कर लिये जाने की व्यवस्था की थी। रूपक का मूल्य द्रम्म से कम था। हस्तिकुण्डी से प्राप्त विक्रम संवत् 1053 के अभिलेख¹⁰ से ज्ञात होता है कि एक ऊंट की बिक्री पर एक रूपक कर लिया जाता था। नाडोल से प्राप्त विक्रम संवत् 1213 के अभिलेख में भी रूपक का उल्लेख हुआ है।¹¹ बी एन पुरी का मत है कि इसका मूल्य द्रम्म के 1/4 और 1/20 के बीच था।¹² श्रीधर के गणितसार में पांच रूपक का मूल्य एक द्रम्म के बराबर माना गया है।¹³ इसलिये ग्रेन भार के चांदी के सिक्के सम्भवतः रूपक माने जा सकते हैं।¹⁴

विंशोपक - पूर्व मध्यकाल में मारवाड़ में विंशोपक नामक मुद्रा का भी प्रचलन था। भीनमाल से प्राप्त विक्रम संवत् 1239 के अभिलेख के आधार पर इसका मूल्य द्रम्म से बहुत कम प्रमाणित होता है। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार प्रत्येक द्रम्म पर एक 'वि' कर लिया जाता था।¹⁵ डी.आर. भण्डारकर के अनुसार इस ताम्रमुद्रा का मूल्य द्रम्म के बीसवें भाग के मूल्य के बराबर था।¹⁶ ठक्कुर फेरू के गणितसार में 20 विंशोपकों को एक द्रम्म के मूल्य के बराबर बताया गया है।¹⁷ वी.वी. मिराशी के मतानुसार द्रम्म के बीसवें भाग होने के कारण ही इस मुद्रा को विंशोपक कहा गया है।¹⁸ भण्डारकर मिराशी ठक्कुर फेरू के इन अध्ययनों से तत्कालीन मुद्रा का मुद्रामान एवम्

धातुमान ज्ञात किया जा सकता है तथा मुद्रा मूल्य निर्धारण की इकाई का पता चलता है। नाडलाई से प्राप्त विक्रम संवत् 1200 से एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रायपालदेव के शासनकाल में राउत राजदेव ने रथयात्रोत्सव पर अपनी माता और धर्म के नाम पर प्रत्येक धाणक से एक विंशोपक दिये जाने की व्यवस्था की थी।¹⁹ कतीपय अभिलेखों में द्रम्म और विंशोपक दोनों का साथ साथ उल्लेख हुआ है। शाकम्भरी के व्यापारियों ने नमक के प्रत्येक कुटक ढेरी पर एक विंशोपक तथा प्रत्येक घोड़े की बिक्री पर एक द्रम्म मन्दिर के निहित दिये जाने की घोषणा की थी।²⁰ सिक्कों के दान से तत्कालीन धार्मिक स्थिति के बारे में हमें सूचना मिलती है साथ ही घोड़ों की बिक्री पर लिये जाने वाले कर का उल्लेख भी मिलता है।

लोहतिका - भीनमाल अभिलेख में प्रयुक्त शब्द 'लौ' का तात्पर्य 'लोहतिका' ही प्रतीत होता है।²¹ श्रीधर के गणितसार के अनुसार चार लोहतिका का मूल्य एक रूपक के बराबर होता था।²² भण्डारकर ने लोहतिका का मूल्य विंशोपक के बराबर माना है अर्थात् लोहतिका द्रम्म के बीसवें भाग के बराबर निश्चित होता है।²³ 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' नामक साहित्य में लोहतिका का उल्लेख मिलता है। एक उल्लेखानुसार यद्यपि नागड ने जालोर पर आक्रमण किया था तथापि क्षतिपूर्ति के रूप में उसे एक लोहतिका भी प्राप्त नहीं हुआ था।²⁴ इस सूचना से युद्ध क्षतिपूर्ति प्राप्त की जाती थी। साण्डेराव के विक्रम संवत् 1238 के एक अभिलेख²⁵ से ज्ञात होता है कि केलहणदेव की रानी जालहणदेव ने अपना भवन पार्श्वनाथ को भेंट दिया था और उसमें रहने वालों को चार द्राएला प्रतिवर्ष प्रदान करने की आज्ञा जारी की थी।

कर्ष तथा पण - 'कर्ष' एक प्राचीन नाम था। चरक इसे लगभग एक तोले के बराबर मानते हैं उसके अनुसार चार कर्ष एक पल के बराबर होता है।²⁶ मनुस्मृति ने एक कर्ष (80 रती) तांबे के सिक्के को पर्ण कहा गया है।²⁷ सम्भवतः कुवलयमाला के लेखक उदद्योतनसुरि के समय कर्ष शब्द तोल एवं मुद्रा दोनों के लिये प्रयुक्त होता था।²⁸ इस तथ्य की पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से भी होती है। मण्डौर से प्राप्त नवी शती के एक अभिलेख में स्थानीय केशव मन्दिर को एक कर्ष तेल देने का उल्लेख हुआ है।²⁹ दूसरी तरफ हस्तिकुण्डी अभिलेख³⁰ से ज्ञात होता है कि जुआरियों तथा पान और तेल विक्रेताओं से एक कर्ष वसूल किया जाता था। स्पष्टतः यहां कर्ष नाम मुद्राओं को कर के रूप में भी प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। ओसियां के विक्रम संवत् 1236 के एक अभिलेख में भी देवी मन्दिर में कार्यरत भोजक को पारिश्रमिक रूप प्रतिदिन दो अंजलि मूंग और एक कर्ष देने का वर्णन है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मन्दिरों को धार्मिक दान दिए जाते थे तथा पारिश्रमिक का भुगतान अनाज के

साथ साथ नकद रूप में भी होता था। साथ ही राज्य द्वारा जुआरियों, पान विक्रेताओं तथा तेल के व्यापारियों से कर लिया जाता था, उसकी जानकारी मिलती है तथा मुद्रा का विनिमय मूल्य भी ज्ञात होता है।

कौड़ी - मारवाड़ के अभिलेखों में कौड़ी का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः यहां इसका प्रचलन व्यापक रूप से नहीं था। किन्तु साहित्य ने विनिमय माध्यम के रूप में कौड़ी का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में गणितसार की निम्न तालिका उल्लेखनीय है -

- 5 कौड़ी - 1 पाविसा
- 4 पाविसा - 1 बिसा
- 5 बिसा - 1 लोहतिका
- 4 लोहतिका - 1 रूपा (रूपक)
- 5 रूपा - 1 द्रम्म

इसी प्रकार द्रव्य परीक्षा³¹ में निम्नलिखित तालिका दी गई है -

- 20 कौड़ी - 1 ताम्र कांकिणी
- 4 कांकिणी - 1 ताम्र पण
- 16 पण - रजत मुद्रा (द्रम्म)

उक्त विवरण से आभासित है कि कौड़ी का व्यवहार दैनिक जीवन में अवश्य होता था।

उत्तर मध्यकालीन मारवाड़ के सिक्के

मध्यकालीन मारवाड़ में सोने के सिक्के प्रमुखतया व्यापारियों द्वारा निर्मित करवाये जाते थे, परन्तु तांबे के सिक्के अब राज्य की तरफ से बनते थे। नागौर, जोधपुर, पाली, सोजत, मेड़ता इत्यादि प्रमुख टकसालाओं में विभिन्न प्रकार के सिक्कों को ढाला जाता था। मारवाड़ की अशफ़ी (मोहर) शुद्ध स्वर्ण³² की बनती थी और इसका तौल 169.9 ग्रेन (9 माशे³³ और 6 रती) होता था। यह भी कहा जाता है कि यह सिक्के पहले पहल विक्रम संवत् 1838 (1781 ई.) में विजयशाही रूपये के विक्रम संवत् 1818 (1761 ई.) के ठप्पे से छापे गये थे, परन्तु इसके बाद मोहरों के लिये जुदा ठप्पे (बाला और पाई) तैयार किये जाने लगे। आवश्यकता होने पर इन्ही ठप्पों से तौल के हिसाब से आधी, पाव और दो अन्नी मोहर की छाप ली जाती थी। मोहरें बनाने का काम जोधपुर की टकसाल में होता था। विक्रम संवत् 1916 (1859 ई.) में महाराजा तखतसिंह जी के समय नाजर हरकरण ने सोजत की टकसाल में करीब 1 विजयशाही

रूपये (चांदी) ऐसे छापे थे, जिनका तौल 175 ग्रेन (10 माशा) था, और इनमें खोट का भाग भी कुछ अधिक मिलाया गया था।³⁴ इन सिक्कों पर दासेगा का निशान ला बना था जो उसके पंथ के आचार्य लाल बाबा के नाम का पहला अक्षर था। ये सिक्के ला अक्षर के कारण लुलुतिया या 'लुलुशाही' कहलाते थे। वि.सं. 1923 (1866 ई.) में महाराजा तखतसिंह के समय ही अनाड़सिंह ने जोधपुर की टकसाल में कुछ विजयशाही रूपये ऐसे ही बनवाए थे जिनमें खोट मामूली से अधिक डाला गया था। इन रूपयों पर उसने अपना निशान 'रा' रखा था जो उसकी रावणा राजपूत जाति का पहला अक्षर था, और इसी से ये रूपये 'रूरूरिया' के नाम से प्रसिद्ध हुए। मारवाड़ की मुद्रा ढलाई की प्रक्रिया एवम् कला पर इस जानकारी से पूर्ण प्रकाश पड़ता है। तथा मुद्रा के प्रकार का का विवरण भी। मुद्रा में खोट की मात्रा अथवा धातु शुद्धता की मात्रा तत्कालीन राज्य की आर्थिक स्थिति का द्योतक था। मारवाड़ के उतर मध्यकाल की प्रारम्भिक अवस्था में सिक्कों की ढलाई दारोगा की अनुमति से व्यापारियों द्वारा की जाती थी, तथा व्यापारियों द्वारा सोने के सिक्के ढाले गये। ये व्यापारियों की आर्थिक समपन्नता का प्रतीक थे साथ ही राज्य स्वयं की ढलाई न करके दारोगा के निरीक्षण में व्यापारियों द्वारा करवाया जाता है, इससे राज्य की मौद्रिक नीति का पता चलता है तथा दारोगा के प्रशासनिक अधिकारों की जानकारी भी मिलती है।

पूर्व में सोने के सिक्के प्रचलित रहे किन्तु धीरे-धीरे चांदी तथा तांबे के सिक्कों का उपयोग भी होने लगा। विजयसिंह के काल में खोट की मात्रा कम होती थी लेकिन तखतसिंह के काल में खोट अधिक मात्रा में मिलती है। मारवाड़ का विजयशाही पैसा भारी होने से ढब्बूशाही भी कहलाता था। महाराजा भीमसिंह के समय (विक्रम संवत् 1850 से 1860 अर्थात् 1763 से 1809 ईसवी) तक इसका वजन दो माशा और बढ़ा दिए जाने से उस समय का पैसा 'भीमशाही' कहलाने लगा। 35 परन्तु बाद में महाराजा मानसिंह के समय इसका वजन वापिस घटा दिया गया, तब फिर यह ढब्बूशाही कहलाने लगा। ऐसे टके 1 मन (मण) तांबे में चौदह हजार के करीब बनते थे। इन पैसे का वजन 310 से 320 ग्रेन तक करीब 18 माशे मिलता है। इसके बाद विक्रम संवत् 1963 (1906 ई.) में यहां के पैसे का वजन करीब 158 ग्रेन का या बर्धे पैसे से आधा कर दिया गया और पहले लिखे अनुसार विक्रम संवत् 1971 (1914 ई.) तक यह हल्का पैसा जोधपुर की टकसाल से बनता रहा, परन्तु उसके बाद विक्रम संवत् 1923 (1936 ई.) में बन्द रहकर फिर बनना प्रारम्भ हुआ।

मारवाड़ के सिक्कों पर झाड और तलवार का निशान राज्य चिन्ह के तौर पर बनाया गया था। इस झाड में 9 या 7 शाखाएं मिलती हैं, परन्तु 9 शाखाओं वाला झाड असली बिजैशाही या 'लुलुतिया' रूपयों पर ही मिलता है। महाराजा तखतसिंह ने इस झाड को तुरें (मस्तक पर बांधे जाने वाले आभूषण) का रूप दिलवाया था। इसी से

मारवाड़ के लोग इन चिन्हों को खांडा (एक प्रकार की तलवार) और तुर्रा कहते थे। यहाँ के किसी-किसी सिक्के पर पाँच पती के फूल, स्वास्तिक, त्रिशूल और तीर के चिन्ह भी बने मिलते हैं। ये ठप्पे में खाली जगह को भरने के लिए बना दिए जाते थे³⁶। सिक्कों पर ज्ञात होने वाले सांस्कृतिक धार्मिक मान्यताओं की सूचना देता है।

मारवाड़ में पहले ये सोने चांदी और तांबे के सिक्के व्यापारी लोग ही बनवाया करते थे। एकसाल का दारोगा उनके लिए हुए सोने और चांदी की जांच कर सिक्के बनवा देता था। इसके लिये व्यापारियों को मजदूरी के अलावा नियम राज्य कर भी देना पड़ता था। यह राज्य की भिन्न-भिन्न एकसालों में भिन्न था। जोधपुर में प्रत्येक मोहर (अशफ़ी) पर पौने दो आने, प्रति 100 रूपयों पर छै आने और मन भर तांबे पर तीन रूपये थे। सोजत में 100 रूपयों पर ग्यारह आने और मेड़ता में 100 रूपये पर तेरह आने लगते थे। वि.सं. 1956 (1899 ई.) के भीषण अकाल के कारण मारवाड़ में लाखों रूपयों का अनाज और घास बाहर से मंगवाना पड़ा। इसी से यहाँ के चांदी के सिक्के की दर बहुत गिर गई। इस संकट को दूर करने के लिए यहाँ पर भी अंग्रेजी रूपया जारी करना पड़ा। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मारवाड़ में प्राप्त इन मुद्राओं में तत्कालीन मारवाड़ की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

सन्दर्भ

1. एपिग्राफिका इण्डिका, 11 प. 299
2. वही, 2 प. 119
3. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1975
4. एपिग्राफिका इण्डिका, 11 पृ. 48
5. बोम्बे गजेटियर, 1 पृ. 476
6. पूर्णचन्द नाहर, जैन लेख संग्रह, कलकता 1918 1, पृ. 238
7. बोम्बे गजेटियर, 2 पृ. 67-68
8. डा. श्याम प्रसाद व्यास, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, जोधपुर 1982, पृष्ठ - 166
9. बोम्बे गजेटियर, 2 पृ. 67-68
10. एपिग्राफिका इण्डिका, 10 पृ. 20
11. पूर्वोक्त, संख्या 28, पृ. 166
12. बी.एन. पुरी, दी हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारज, बम्बई 1957 पृ. 136
13. लल्लन जी, गोपाल, द इकॉनोमिक लाइफ ऑफ नॉर्दन इण्डिया, पृ. 206
14. पूर्वोक्त, पृ. 166
15. बोम्बे गजेटियर, 1 पृ. 47

16. एपिग्राफिका इण्डिका, 10 पृ. 19
17. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय संस्करण, पृ. 319
18. कार्पस इन्स्क्रिप्सनस् इण्डिकेरम, 4, पृ. 189
19. एपिग्राफिका इण्डिका, 3 पृ. 363
20. वही 2, पृ. 121-122
21. बोम्बे गजेटियर 1, स. 8 और 16
22. जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया वाराणसी 8, पृ. 208
23. डॉ. एस.पी. व्यास, पूर्वोक्त, पृ. 165
24. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. 50
25. पूर्णचन्द नाहर, जैन लेख संग्रह 1, पृ. 229
26. वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनीकालीन भारत वर्ष वाराणसी, पृ. 229,
27. वही, पृ. 241
28. प्रेम सुमन जैन, कुवलयमाला कथा का सांस्कृतिक अध्ययन 1975 पृ. 197
29. एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दिन आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया 1909, 10 पृ. 100
30. एपिग्राफिका इण्डिका, 10 पृ. 17-20
31. पूर्णचन्द नाहर, जैन लेख संग्रह, 1, पृ. 198
32. यह 11 टंच की होती थी।
33. मारवाड़ में माशा 8 रत्ती का माना जाता है।
34. इनमें 1/27 के स्थान पर 1/25 खोट बतलाया जाता था।
35. पण्डित विश्वेश्वरनाथ रेड, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 643
36. वही, पृष्ठ 639

जोधपुर के अद्भुत समाधि स्मारक : देवल

डॉ. अनिल पुरोहित

राजपूतों की स्थापत्यकला विशेषकर समाधि स्मारकों की कला उत्तम श्रेणी की है। समाधि स्मारकों का स्थापत्य राजपूत समाज की एक महत्वपूर्ण पद्धति एवं रीति है, जो इनकी कला परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है। आर.सी. अग्रवाल के मतानुसार राजपूत स्थापत्य का प्रारम्भ 7वीं सदी से ही हो जाता है।¹ राजपूतों के आगमन के साथ ही समाधि स्मारकों के निर्माण की प्रक्रिया विस्तृत स्तर पर प्रारम्भ हुई। राजपूत आधिपत्य वाले भू-भागों में समाधि स्मारकों की एक बाढ़-सी आ गयी। राजपूतों द्वारा निर्मित इन समाधि स्मारकों की गरिमा एवं सुन्दरता उनके द्वारा ही निर्मित मंदिरों एवं राजमहलों से कम नहीं थी। इस स्थापत्य के बारे में कलामर्मज्ञ फर्ग्युसन का मत था कि, इन समाधि स्मारकों के निर्माण की तीव्र गति का कारण मुसलमानों द्वारा दी गयी प्रेरणा थी। इन स्मारकों के बारे में हैवेल कहते हैं कि, “यद्यपि मुस्लिम मकबरों की शान-शौकत ने राजपूतों को भी एक प्रेरणा प्रदान की, जिसके परिणामस्वरूप वे भी अपने समाधि स्मारकों को रमणीय और महान बनाने लगे, तथापि उनकी स्मारक निर्माण की यह परम्परा अति प्राचीन थी।”² होवार्ड कार्टर इन समाधि स्मारकों का उद्देश्य बताते हुए लिखते हैं कि, “यह कला मृत व्यक्तियों के निरीक्षण के लिए थी, साथ ही यह दिखाने के लिए भी कि, मृतकों को भूला नहीं दिया गया, उनकी स्मृति को स्थायी रखना भी एक उद्देश्य था।”³ जहाँ एक तरफ यह स्मारक मृतकों के प्रति उनकी संतानों की भक्ति के प्रतीक थे, दूसरी ओर उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के प्रयत्न भी थे। फ्रेड होम्स तथा श्रीमती एन.होम्स का मानना है कि, यह समाधि स्मारक मृत आत्माओं को स्वर्गलोक पहुँचाने वाले वाहन हैं।⁴ समाधि स्मारकों का निर्माण एक उन्नत पीठिका पर किया जाता था, जिसके नीचे खोखले भाग में शिवलिंग स्थापित किया जाता था। कई बार छोटी छतरियों एवं स्मारकों में शिवलिंग चबूतरे के मध्य स्थापित किया जाता था तथा इसकी नियमित पूजा-अर्चना की जाती थी।

जोधपुर में समाधि स्मारकों के निर्माण की प्रक्रिया परम्परा के रूप में प्राचीन काल से चली आ रही है। प्रायः यहाँ के प्रत्येक गाँव में हमें इस प्रकार के समाधि स्मारक सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। किसी व्यक्ति की स्मृति में यहाँ तीन प्रकार के भवन बनाये जाते थे - छतरी, थड़ा और देवल। मध्यकालीन मारवाड़ में यह समाधि स्मारक बनाने की रीति प्रचलित थी।

देवल

देवल को समाधि स्मारक भवनों में उत्कृष्ट माना गया है। प्रायः देवल तीन मंजिला होता है। देवल में विभिन्न कक्ष, सीढ़ियाँ और छज्जे निर्मित किए जाते हैं। सम्पूर्ण भवन सुन्दर पच्चीकारी से अलंकृत होता है। इनका निर्माण मन्दिर के समान ही किया जाता है। अन्तर मात्र इतना होता है कि, मन्दिर देवताओं को समर्पित होता है, जबकि देवल उस व्यक्ति को समर्पित किया जाता है, जिसकी स्मृति में उसका निर्माण करवाया जाता है। राव सींहा का देवल उसकी पत्नी पार्वती ने बनवाया था। राव सींहा की मृत्यु बिटु गाँव में सन् 1273 ई. में हुई थी। राव धूहड़ का देवल तृसिंगदी गाँव के तालाब के समीप ही प्राप्त हुआ है।⁵ जोधपुर से लगभग आठ कि.मी. की दूरी पर स्थित पंचकुण्डा में जोधपुर के प्रारम्भिक शासकों राव जोधा और राव गांगा के समाधि स्मारक निर्मित हैं। राव जोधा के समाधि द्वार पर गंगा, यमुना सहित अन्य मातृकाओं का सुन्दर अंकन है। जोधपुर शहर के मण्डोर उद्यान में राठौड़ शासकों के अनेक देवल विद्यमान हैं। यह देवल राव मालदेव से लेकर महाराजा तख्तसिंह तक के हैं। राव मालदेव के समाधि स्मारक का निर्माण मोटा राजा उदयसिंह ने संवत् 1591 में करवाया था।⁶ इसी परम्परा को जारी रखते हुए महाराजा जसवन्तसिंह, महाराजा अजीतसिंह, महाराजा अभयसिंह और महाराजा तख्तसिंह ने अपने पितृ आत्माओं की स्मृति के लिए देवल निर्मित करवाए।

महाराजा अजीतसिंह ने समस्त जीवन राजनीतिक उलझनों में फंसे रहने के बाद भी अनेक सुन्दर तथा कलात्मक स्मारक निर्मित करवाए, जो उनकी कलारूचि के परिचायक थे। अजीतसिंह ने 1718-1719 ईस्वी में अपने पिता महाराजा जसवन्तसिंह की स्मृति में मण्डोर में एक देवल का निर्माण करवाया। यह देवल भूमि से लगभग सात फीट ऊँचे विशाल वर्गाकार चबूतरे पर निर्मित एक तीन मंजिला भवन है। यह देवल विभिन्न स्तम्भों पर आधारित है। देवल प्रमुखतः दो भागों सभामण्डप और भीतर के कक्ष में विभक्त है। सभामण्डप के ऊपर गुम्बज बना है तथा भीतर के कक्ष के ऊपर लम्बा शिखर बना है। बीच की मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं। दूसरी मंजिल के सामने दायीं तथा बायीं ओर सुन्दर छज्जे भी बने हैं। महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र अभयसिंह ने भी अपने पिता की स्मृति में ‘अजीतसिंह देवल’ निर्मित करवाया।⁷ यह देवल लाल पत्थर से निर्मित है, जो मण्डोर के निकट की घोड़ाघाटी की खानों से लाया गया था। देवल में मन्दिरों की भाँति गर्भगृह है, जिसके चार द्वार हैं। देवल के पूर्वाभिमुख द्वार के कपाटाश्रय के कीर्तिमुखों के गले में बंधी घंटिकाएँ अलंकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। द्वार पर गंगा-यमुना स्थानक मुद्रा में है तथा उनके हाथ में लताएँ तथा पुष्प हैं। गर्भ गृह के चार द्वार स्तम्भों पर अष्टमातृकाएँ अपने वाहनों पर आरूढ़ हैं। सभा मण्डप में कृष्ण-लीला के दृश्य हैं। दूसरी मंजिल

पर जाने वाले सोपानों की विशेषता है कि, वे सभी एक ही विशाल प्रस्तर में निर्मित हैं। इसकी दूसरी मंजिल पर भी एक गर्भगृह है, जिसका मात्र एक ही प्रवेश द्वार है। इस गर्भगृह के बाह्य स्तम्भों पर नृत्य तथा आखेट दृश्यों का अंकन है। देवल में विभिन्न देवी-देवताओं यथा उमा, शिव, कुबेर, लोकेश्वर, लक्ष्मीनारायण, गणेश, हरिहर, वायु, यम, अग्नि का अंकन भी हुआ है।⁸

देवल के स्थापत्यकार ने लोक-जीवन के अनेक दृश्यों को भी देवल के स्तम्भों पर उकेरा है। स्थापत्यकार ने देवल में नारी के विभिन्न पक्षों का भी सुन्दर अंकन किया है। काव्य की नायिकाएं तथा रूपक की नृतकियाँ पाषाण में सजीव हो उठी। कहीं वे नृत्य मुद्रा में हैं तो, कहीं वे ढोलक और खड़ताल लिए संगीत विभोर हैं।

देवल की प्रतिमाओं में जो आभूषण देखने को मिलते हैं, उनमें हमें तत्कालीन समाज की कलात्मक अभिरूचि एवं वैभव का ज्ञान होता है। आभूषणों को (कर्णफूल, बोर, कंठहार, कंगन, भुजबंद आदि) देवल की प्रतिमाओं में स्पष्ट दिखलाया गया है। इस 'देवल' से प्रभावित हो कलाविद् एडम्स ने लिखा है कि, "यह समस्त देवलों में महान है। इसमें निर्माण प्रक्रिया की साहसिकता तथा स्थापत्य विशद एवं सौंदर्ययुक्त है।"⁹ देवल की देव-प्रतिमाओं एवं अन्य लोक-प्रतिमाओं में जो आभूषण देखने को मिलते हैं, उनमें हमें तत्कालीन समाज की कलात्मक अभिरूचि एवं वैभव का ज्ञान होता है। आभूषणों में कर्णफूल, कान का महत्त्वपूर्ण आभूषण है। देवल की लगभग प्रत्येक लोक प्रतिमा में कर्णफूल देखने को मिलता है। देव प्रतिमाएं एक विशेष प्रकार का आभूषण कानों में पहने हुए हैं, जिसे आजकल 'कुण्डल' के नाम से पुकारते हैं। कुछ प्रतिमाओं में मोतियों की लड़ियां पुष्ट उरोजों के ऊपर लटकी हुई देखी जा सकती हैं। गले के आभूषणों में कलात्मक विविधता दिखाई पड़ती है। पुरुष प्रतिमाओं के आभूषण कलात्मक रूप से साधारण हैं।¹⁰

स्त्री कलाइयों में कंगन महत्त्वपूर्ण आभूषण है। देवल स्थापत्य में कुछ स्त्रियाँ कंगन कोहनी तक धारण किए हुए हैं। कोई-कोई नारी प्रतिमा भुजबंध भी धारण किए हुए हैं। नृत्य नारी की जन्मजात अभिरूचि है, पर बिना नूपुरों की मधुर ध्वनि के नृत्य सूना है। जब तक नूपुरों और वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनियों का मेल ना हो, नृत्यांगना के पैरों की थिरकन में गति कैसे आएगी? 'अजीतसिंह देवल' के स्थापत्यकार ने स्वयं को इन भावनाओं से दूर नहीं रखा है। एक नृत्यांगना नृत्य करते समय अपने नूपुरों के बंधन को ढीला कर रही है। एक अन्य नृत्यांगना नृत्य करते समय अपने पैरों की गति और नूपुरों को निहार रही है। जिस समय 'अजीतसिंह देवल' का निर्माण प्रारम्भ हुआ, तब तक मारवाड़ की वेशभूषा पर आंकिश रूप से मुगल-प्रभाव पड़ चुका था।

विशेषकर राजदरबार की नृत्यांगनाओं, बांदियों, दासियों की वेशभूषा पर तो इसका प्रभाव पड़ ही चुका था। इसका प्रमाण इस देवल की एक प्रतिमा का पहनावा है। यह नृत्यांगना मुगल-दरबार की नृत्यांगना जैसा पायजामा पहने है। दूसरी ओर दो नृत्य करती हुई नारियों के दुपट्टे मुगल ढंग के हैं। एक नर्तकी अपने वक्ष पर मात्र एक केचुंकी धारण किए हैं।¹¹ इस प्रकार 'अजीतसिंह देवल' मात्र स्मृतिपरक भवन ही नहीं, अपितु ऐसी कलाकृति है, जिसमें तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं, वेशभूषा, आभूषण एवं लोकजीवन के कई पक्षों को स्थापत्यकार ने समाहित किया है।

तत्कालीन जोधपुर एवं समाज में पितृमेध संस्कारों से सम्बद्ध होते हुए ये समाधि स्मारक कल्याणकारी समझे जाते थे। इस स्मारकों में परिवार के सदस्य विविध अवसरों पर पूर्वजों का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु दर्शन एवं अर्चना के लिए आते थे। सन्तामोत्पत्ति, जातकर्म, विवाह, युद्ध के लिए प्रयाण तथा प्रत्यागमन पर इन स्मारकों पर पूजा, चढ़ावा, दान, ब्राह्मण भोजन आदि के अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि, जोधपुर की स्मारक कला जोधपुर में प्रचलित परम्पराओं का संरक्षण एवं दिग्दर्शन किया करती है। जोधपुर की यह कला अद्भुत, समृद्ध एवं सांस्कृतिक धरोहर है।



महाराजा अजीतसिंह का देवल, मण्डोर, जोधपुर



विभिन्न समाधि स्थल देवल, मण्डोर, जोधपुर



महाराजा अजीत सिंह के देवल में अंलकृत की गई देवी प्रतिमाएँ

संदर्भ

1. आर.सी.अग्रवाल, जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, 1957, पृष्ठ 1
2. ई.वी.हैवल, इण्डियन अर्किटेक्चर, नई दिल्ली, पृष्ठ 61
3. होवार्ड कार्टर, दि टॉम्ब ऑफ तुलअंख-आमेन, कैसल एण्ड कोम्प्ट, लंदन, 1927, खण्ड-2, पृष्ठ 7

4. महेन्द्र सिंह 'नगर', मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक धरोहर, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, मेहरानगढ़, जोधपुर, 2001, खण्ड-2, पृष्ठ 458
5. गोरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, विक्रम संवत् 1995, भाग-1, पृष्ठ 154
6. एस.पी.व्यास, जोधपुर की समृद्ध एवं अद्भुत समाधि स्मारक कला, कल्चरल हेरिटेज ऑफ राजस्थान, बनस्थली, 2008 (सम्पादक - वी.के. वशिष्ठ, नमिता व्यास, प्रीति शर्मा), पृष्ठ 72-77
7. 'वरदा', बिसाऊ, वर्ष 18, अंक -3, पृष्ठ 19-26
8. वही, पृष्ठ 22
9. आर्चिबल एडम्स, द वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स, लंदन, 1900, पृष्ठ 102-103
10. 'वरदा', बिसाऊ, वर्ष 18, अंक -3, पृष्ठ 25-26
11. वही, पृष्ठ 26

आधुनिक मारवाड़ में रणिवास के आभूषण

अनुराधा टाक

मारवाड़ राजघराने में विशेषकर रणिवास में श्रंगार के रूप में आभूषण को महत्व विशेष रूप से रहा था। वस्तुतः आभूषण श्री हजूर के साथ ही रानियां आदि पहना करते थे जो कि उनकी प्रतिष्ठा के सूचक कहे जा सकते हैं। रणिवास में रानियों द्वारा पहने जाने वाला आभूषण विशेषकर उनके पीहर पक्ष का हुआ करता था जिसमें अलग-अलग रानियों के अलग-अलग आभूषण की शैली और बनावट उल्लेखनीय थी। जवाहरखाना एण्ड मिंट की बहियों में रणिवास के विभिन्न आभूषणों के प्रकारों पर महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है वहीं सूरज प्रकाश, राजविलास, अभय विलास, नाम मंजरी, बांकीदास की ख्यात, राठौड़ों की ख्यात, मूंदियाड़ की ख्यात, जोधपुर हकीकत बही, दस्तूर कोमवार बही आदि में भी जनाना, मर्दाना आभूषणों के बारे में समुचित जानकारी उपलब्ध कराता है।

सूरज प्रकाश में महाराजा गजसिंहजी द्वारा अपने उमरावों को करघनी एवं कुण्डल वितरित करने का उल्लेख हुआ है। इस ग्रंथ से यह भी पाया जाता है कि चुंपा नामक गहना दांतों में पहना जाता था। आभूषण शारीरिक श्रंगार का माध्यम होने के साथ ही साथ राजघराने में विपत्ति काल में भी आभूषण की भूमिका महत्व रखती थी। मारवाड़ की ख्यात एवं राठौड़ों की ख्यात से जानकारी मिलती है कि जब जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी ने वि.सं. 1797 (1740 ई.) में बीकानेर पर आक्रमण किया तब महाराजा जोरवारसिंह घबरा गया लेकिन नागौर के शासक बख्तसिंह ने बीकानेर महाराजा का पक्ष लेते हुए अपना दूत जयपुर के शासक सवाई जयसिंह के पास भेजा। जयसिंह ने जब जोधपुर आक्रामण करने के लिए प्रस्थान किया तब अभयसिंह भी ससैन्य जोधपुर चले आये और भंडारी रघुनाथ के प्रयासों से दोनों में सन्धि हो गई। सन्धि की शर्तों के अनुसार जोधपुर वालों को 20 लाख रुपये देने पड़े थे जो महाराजा अभयसिंहजी ने अपने राणी कछवाईजी जो सवाई जयसिंह की पुत्री थी उनके आभूषण जो 11 लाख रुपये के थे प्रदान किये। यह वही आभूषण थे जो सवाई जयसिंह ने अपनी पुत्री को महाराजा अभयसिंह के साथ विवाह के अवसर पर दिये थे परन्तु जयसिंह ने यह कहकर स्वीकार किये कि अब वे जोधपुर की निजी सम्पत्ति के हैं। अतएव इन्हें लेने में कोई दोष नहीं बकाया 9 लाख रुपये महाराजा अभयसिंह ने 5 ओसवाल मुसहियों को ओल के रूप में सौंप दिया।

गहणा चिंतवणी आभूषण बत्तिसी में पगपांन, सहेली, नवसरहार, बाजूबंध, पंचलड़ी, कांबी, हथवालडो, हाथ सांकला, गजक, आरसी नाखलो, जेहड़, चंपकली, अकोटा, टीकौ, नकवेसर, रमकोल, सीफूल, चीढ, चंदणहार, सहेलड़ी, मोतीसरी, कनकफूल, घुघरा, मादलियो, माला, नखला, टीकौ, गुजरी, वीछिया मुद्रका, कांकण इत्यादि आभूषणों के बारे में जानकारी मिलती है वही।

अथ गहणा बत्तिसी में भी आभूषणों के नाम्मोलेख, गहणाचिंतवणी के समानान्तर ही मिलते हैं। उपर्युक्त आभूषणों का विवरण इन ग्रंथों में कवित्त के माध्यम से भी दिया गया है। यथा-

नक वेसर मोती नकट। लटकत अधरज आया।।

मानु अम्रत वदनपै। श्रवत चंद सुखदाय।।

वेणी सुख देणी बहूत। फूल नि ग्रंथ अमूलः।।

तिण परिज मितज राव को। सौ हत है सीस फूल।।

उपर्युक्त कवित्त में आभूषणों का बखान किया हुआ मिलता है जिनमें नारी सौन्दर्य के भावों की झलक भी इन कवित्तों से प्रकट हो जाता है।

मारवाड़ में निम्नलिखित आभूषण रणिवास में पहने जाते थे जिनमें बाजू, कलाई और हाथों के गहणे प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं-

बाजू में पहने जाने वाले आभूषणों - चूड़, चूड़ा, बाजूबंद, बाजू, जोसण, बहर खां, भुजबंद, मादलिया, अणंत कातरिया, जंतर इत्यादि।

कलाई में पहने जाने वाले आभूषण- कंगण, कड़िया, गजरा, गोखरू, चमक चुड़िया, पछेलिया, पटा, पाटला, पुणिचिया, मोतीकड़ा, साकफिया।

हाथ में पहने जाने वाले आभूषण - नवरतनी, मुद्रा, हाथफूल, रायफूल, मूंदड़ी, बिटी इत्यादि।

जवाहरखाना एण्ड मिंट की बहिये एवं हथ खर्च की बहियों में आभूषणों के साथ काफी मात्रा में मिलते हैं।

महाराजा मानसिंह कालीन जवाहरखाना की मौजूदायत बही (क्रमांक 501) में आभूषणों के नाम इस प्रकार मिलते हैं-चरण, सिरपेच, दुग्दुगी, चोकड़ा, कंटो, पुणचिया, बीटी, बोर, सीसफूल, चन्द्रमा टीका, बालीया, मोरपटा, करण फूल, टोटीयां, जूमरा, दावणी, जूरणीया, तिमणीया, लड़टासण, हार कड़ा, कांकण, भवरिया, आड इत्यादि।

महाराजा मानसिंह के समय की आभूषणों की खाता बही से ज्ञात होता है कि उन्होंने निम्नलिखित राणियों आदि को सोने के आभूषण भेंट स्वरूप प्रदान किये जिसका उल्लेख बही में (क्र.सं. 324) में इस प्रकार मिलता है-

गुजरियों की जोड़ी, गजरा की जोड़ी, कातरियों की जोड़ी, बाजूबंद की जोड़ी, अणवटां की जोड़ी, मादलयो की जोड़ी, बिछुड़ियों की जोड़ी तिबा की जोड़ी, तोड़ा की जोड़ी, मोवण माला एवं चूप इत्यादि।

महाराजा तखतसिंह की राणी राणावतजी के आभूषण की खाता बही (क्रमांक 400) में राणी राणावतजी के सोने के आभूषणों के नामों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-

तोड़ा, कड़ला, वेड़ियां, दावणियां, डोरा, पोलरियां, अंगुठिया, साटा, कड़ा, चौकिया, चुड़ा की पत्तियां, कातरिया, गुजरिया, मादलिया, टोटिया, दांत के बीलीयों की तीबें, बिछुड़ियां, करणफूल, जवलिया, पग पाना, चूड़िया, बाजूबंद, गोखरू, जुटणिया, मालाएं, सांकले, टूसिया, पायले, छपें, बिठियां, सबियां, कांठले, चौकिया, मुरकिया, फूल, टूपिया, जांजरिया, नोगरियां, बोर, पैरों के कड़े, हासलियां, छड़ा, तिमणिया, डबी, इत्यादि।

महाराजा तखतसिंहजी कालीन सोने रे खाते की बही (क्रमांक 66) में हीरे का उल्लेख भी मिलता है जिनमें हीरा चौखुटा, हीरा सिंगोड़ा, चुनिया हीरा पिरोजिया, हीरा बदामी और हीरा माणक प्रमुख रूप से हैं।

जवाहरखाना की बहिए ने सिर्फ रणिवास के आभूषणों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं बल्कि सोना खरीद, पन्ना खरीद आभूषण बनाने वाले कारगीरों की जानकारी भी प्रदान करते हैं।

महाराजा विजयसिंह के समय सराफ श्री मदनदास, सराफ जीवराज के नाम प्रकाश में आते हैं जिनसे राजघराना सोना खरीद करता था। उस समय सोना का भाव 1 तोला के 17 रुपया था। इनके समय में सुनार धणो आभूषण बनाया करता था।

महाराजा तखतसिंहजी के समय सुनार गोपिया, सुरतराम, सुनार दौलतराम (दिल्ली), अगरचन्द के नाम मिलते हैं।

महाराजा विजयसिंह के समय पन्ने एवं हीरे खरीद भी व्यापारियों से करने के सूत्र बही में मिलते हैं।

पन्ने की खरीद गाजी श्री नवनीत प्रियाजी से और हीरे की खरीद बख्तावरमल, कन्हैया व सवाईराम से की जाती थी। यह हीरे के व्यापारी बीकानेर से थे। महाराजा जसवन्तसिंहजी के समय जौहरी चन्दनमल का नाम प्रकाश में आता है।

इसी तरह वि.सं. 1842 में सुनार सुखराम, सुनार तुलछीराम, सुनार रायचंदद्विसिरोहीरू, वि.सं. 1848 में सुनार नानग, वि.सं. 1830 में चितरदास वि.सं. 1837 में सुनार कुसला और वि.सं. 1912 में सुनार नरसिंह (सिरोही) का नामोल्लेख

सोने की जरी का कार्य करने और नक्काशीदार कला ति बनाने के रूप में बही में होना लिखा पाया जाता है।

गौरतलब है कि सोने, चांदी, हीरे-माणक आदि बहुमूल्य धातुओं की जानकारी देने वाली जवाहरखाना एण्ड मीट की बहियें जो उन सभी आभूषणों का विवरण प्रस्तुत करती थी जो राजपरिवार में धारण किया जाता था। यह बहिये जवाहरखाना के कोठार में रहा करती थी। वहां पर ही इन आभूषणों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बातें बही में लिपिबद्ध की जाती थी। जवाहरखाना के कोठार में जवाहरखाना का दरोगा हुआ करता था जो जवाहरखाने से सम्बन्धित सभी कार्यों द्धसोना, चांदी इत्यादिऋ पर नियुक्त किये जाते थे।

इस प्रकार राजघराने में आभूषणों के विभिन्न प्रकार रणिवास के संदर्भ में मिलते हैं। राणियां अपने जीवनकाल में इन आभूषणों का प्रयोग श्रृंगार वृद्धि के रूप में किया करती थी जो अन्तिम समय तक अपवाद स्वरूप उनके साथी होते थे। मृत्यु के पश्चात् उनके जवाहरात राजकोष में खजाने में पुनः जमा करवा दिये जाते थे।

सन्दर्भ

1. सूरज प्रकाश पत्रांक 32 सं. श्री सीताराम लालस प्रकाशन राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
2. नाम मंजरी छन्द 13
3. नख शीष छन्द 17
4. खेड़ मुल्लांक छन्द 14
5. मारवाड़ ख्यात, पृ. 17, सं. डॉ. हुकमसिंह भाटी प्रकाशन राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर
6. राठौड़ों की ख्यात भाग 2, पृ. 470-471, प्रेम एंग्रिस, महाराजा अभयसिंह, पृ. 31-33 सं. डॉ. हुकमसिंह भाटी प्रकाशन राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
7. बही क्रमांक 102
8. बही क्रमांक 525, 66
9. बही क्रमांक 102, पृ. 29
10. बही क्रमांक 500, पृ. 6 ब
11. जवाहरखाना एण्ड मिंट नं. 12, पृ. 175
12. जवाहरखाना एण्ड मिंट नं. 53
13. सोना रूपा रे जमा खरच की बही क्रमांक 101,
14. कपड़ा रे कोठार रो रोजनावों क्रमांक 55

बीकानेर रियासत के प्रमुख मंत्री व अधिकारी

जगदीश नारायण ओझा

बीकानेर कि स्थापना के पश्चात् योग्य व श्रेष्ठ पदाधिकारियों, मंत्रियों का चयन महाराजा द्वारा किया जाता था। प्रशासनिक सूत्र में जैन मुत्सद्दी का विशेष स्थान था। बीकानेर रियासत के केन्द्रीय शासन में इनकी अहम भूमिका रही। सम्पूर्ण प्रशासन 4-5 मंत्रियों द्वारा संचालित किया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर शासक इनकी संख्या बढ़ा या घटा सकता था। प्रमुख पदाधिकारियों में दीवान, मुख्तियार, मुसाहिब, शिकदार, बख्सी, वकील आदि थे।

वकील का पद रियासत के लिए महत्त्वपूर्ण था। वकील का मुख्य कार्य पड़ौसी राज्यों व मुगलों के साथ कूटनीतिक राजनीतिक संबंध बनाए रखना था। जिन राजपूत शासकों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार की वे अपने प्रतिनिधि मुगल दरबार में रखते थे। ये प्रतिनिधि वकील कहलाते थे। कालान्तर में अंग्रेजी साम्राज्य के स्थापित होने पर भी अंग्रेजी सरकार के यहां राजपूत शासक वकील के रूप में अपना प्रतिनिधि भेजते थे। वकील अपनी सूझबूझ से मुगल तथा अंग्रेजी सरकार का समर्थन प्राप्त कर राज्य प्रशासन व साम्राज्य की वृद्धि करता था।

बीकानेर रियासत के नगराज नामक मंत्री ने इस पद (वकील) की नींव रखी। यह नगराज की राजनीतिक उपलब्धि थी। मारवाड़ के शासक मालदेव द्वारा बीकानेर राज्य में आक्रमण के समय मंत्री नगराज ने मालदेव के विरुद्ध दिल्ली के शासक शेरशाह सूरी से संधि की तथा कल्याणमल को शेरशाह से टीका दिलवाया। नगराज ने शेरशाह के सैनिक अभियान में सहयोग किया। ठीक इसी प्रकार बीकानेर के महाराजा दलपतसिंह के विरुद्ध राजकुमार सूरसिंह को गद्दी दिलाने के लिए जैन मुत्सद्दी कोचर उरजा ने पुरोहित लिखमीदास के साथ मिलकर कूटनीतिक सफलता प्राप्त की तथा सूरसिंह के पक्ष में बादशाह जहांगीर का सहयोग प्राप्त किया।

बीकानेर के महाराजा कर्णसिंह ने औरंगजेब के ईरान अभियान के समय अटक में नावों को तुड़वा दिया था। कर्णसिंह के इस कार्य से औरंगजेब क्रुद्ध हो गया। तत्पश्चात् कर्णसिंह को दक्षिण भेजा गया। साथ ही उनका मनसब जब्त कर लिया गया। इस विकट घड़ी में बादशाह की नाराजगी को दूर करने के लिए महाराजा अनूपसिंह को गद्दी दिलवाने में मुत्सद्दी कोठारी जीवनदास और वैध राजसी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अंग्रेजों की 1818 की संधियों के समय बीकानेर महाराजा सूरतसिंह थे। उस समय सरदारों व डाकूओं का आतंक चारों तरफ था। ऐसी स्थिति में महाराजा की आज्ञा से मेहता अबीरचन्द दिल्ली जाकर शर्तों के अनुसार विद्रोहियों को विरुद्ध अंग्रेजों से सैनिक सहायता प्राप्त की। राज्य की ओर से दिल्ली, अजमेर और आबू में वकील पद पर मुख्य रूप से जैनों के वैद मेहता परिवार के मुत्सद्दियों की नियुक्ति की गई तथा राजा व साम्राज्य की रक्षा की। बीकानेर और शेखावटी के बीच सीमा विवादों में अंग्रेज अधिकारी मेजर थोर्सवी की मदद की गई।

महाराव हिन्दूमल के पुत्र राव जसवंत को राजमाता भटियाणी के द्वारा डूंगरसिंह की गद्दी के लिए पैरवी की। जैसी ब्रुक के पास वकील आबू भेजा गया तथा अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। परिणामस्वरूप महाराजा डूंगरसिंह ने उसे राव का खिताब प्रदान किया तथा आबू की वकालत प्रदान की। महाराजा सरदारसिंह के समय महाराव हरिसिंह अंग्रेजी सरकार के पास था। महाराजा ने सीमा विवाद के समय मेहता छोगमल को मि. एल्नूर भेजा। इस कार्य में वह सफल हुआ तथा महाराजा ने पुरष्कृत किया।

इस परिवार के राव छतरसिंह और अभयसिंह समय-समय पर आबू तथा जोधपुर में वकील बनाकर भेजे गये तथा दत्तक पुत्र गोपालसिंह भी आबू में वकील नियुक्त हुआ। दूसरी तरफ जैनों के कोचर एवं सुराणा गोत्र के मुत्सद्दियों की भी वकील पद पर नियुक्ति हुई। 1837 के बीकानेर सीमा विवाद के समय जालमचन्द कोचर को अपना प्रतिनिधि बनाया। शेखावटी और बीकानेर के बीच सांरबू इलाके के सन्दर्भ में केसरीचन्द सुराणा मेहता छोगमल बैद बीकानेर के वकील थे।

राज्य प्रशासन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये अनुभवी तथा राजनीतिज्ञ थे। लक्ष्मीचन्द कोचर को जयपुर तथा हिसार में वकील बनाकर भेजा गया। सम्पूर्ण राजपूताने में आबू का वकील बनना सम्मानजनक था क्योंकि यहां मुत्सद्दी 500/- से लेकर 1000/- तक मासिक वेतन प्राप्त होता था। जबकि उदयपुर व जयपुर का वकील 100/- मासिक तथा हिसार का 72/- रु. मासिक था।

इस प्रकार इन पदाधिकारियों ने मुगल दरबार एवं अंग्रेजी सरकार में अपने साम्राज्य का नेतृत्व किया तथा सीमा विवाद और पड़ोसी राज्यों के आक्रमण के समय राज्य के सामन्त भी विद्रोह कर देते थे। इन सभी समास्याओं के समाधान हेतु राज्य के वकील, सैनिक तथा कूटनीतिक सहायता प्राप्त करते थे। 1818 की संधि के पश्चात् अंग्रेजों से भी सैनिक सहायता प्राप्त करता था।

मुगल बादशाह की सहानुभुति के लिए वकील प्रभावशाली मुगल अमीरों से सम्पर्क बनाते कभी-कभी स्वार्थसिद्धि के लिए घूस भी देते थे। युवराज की घोषणा से

पूर्व दिल्ली स्थित सर्वोच्च सत्ता जैसे मुगल या ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी से रियासतों के राजाओं को अनुमति लेनी पड़ती थी। रियासतों के राजा वकील के माध्यम से सर्वोच्च शक्ति से अनुमति प्राप्त करता था जिससे उत्तराधिकारी को सर्वोच्च सत्ता से अनुमति मिलती। राजस्थानी में इस परम्परा को 'टीका देना' कहा जाता था।

बीकानेर के इतिहास में सीमा सम्बन्धी तथा पड़ोसी राज्यों से युद्ध तथा विवाद के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं लेकिन इनका निपटारा वकीलों द्वारा किया जाता था। इन्होंने परिस्थिती को भांपते हुए उचित समाधान भी किये। इस सन्दर्भ में हिन्दूमल जो अजमेर में वकील नियुक्त था इसके कार्यों से प्रसन्न होकर महाराव की उपाधि से विभूषित किया गया तथा दीवान के पद पर नियुक्त किया गया। हिन्दूमल ने अपनी योग्यता साबित कर बताई। यही कारण है कि बीकानेर शासक के अलावा अन्य राजपूत शासक इनसे लाभान्वित होते थे। इस प्रकार हिन्दूमल वह स्थान प्राप्त हुआ जो कोटा के झाला जालमसिंह ने प्राप्त किया यही इनकी उपलब्धियां थी।

आधुनिक झालावाड़ जिला जागीर के रूप में झाला जालमसिंह के परिवार को मिला था। ठीक इसी प्रकार बीकानेर शासक ने हिन्दूमल को जागीर प्रदान की। भारत-पाक सीमा पर हिन्दूमल कोट आज भी उनका स्मरण करवाता है। अंग्रेजी सरकार के समय एक नया तथ्य सामने आया कि जो गतिविधियां आबू व अजमेर में होती थी गुप्त रूप से उसकी सूचनाएं एकत्रित करके महाराजा के पास पहुंचाते थे।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण राजपूताने में जब खतरा मण्डरता था तब उसकी भनक राजा व अधिकारियों को मिल जाती थी तथा राजनीतिक व कूटनीतिक के विशेषज्ञों की नियुक्ति कर समस्या का समाधान किया जाता था तथा बीकानेर महाराजा इनसे सूचना प्राप्त कर साम्राज्य की रक्षा करते थे।

संदर्भ

1. परवाना बही वि.सं. 1800 वृ. 77-130 रा.रा.अ.बी.
2. जी.बी.शर्मा - एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ऑफ राजपूत पृ. 19
3. बही कामदारों व वकीलों रे रोजगार री वि.सं. 1753नं. 206 रा.रा.अ.बी.
4. कर्मचन्द वंशोकीतकं काव्यम् श्लोक 205-18
5. वही श्लोक 221-25
6. दयालदास ख्यात, भाग-2 (प्रकाशित) पृ. 143
7. वीर विनोद भाग-2, पृ. 497
8. पाउलेट गजेटियर ऑफ बीकानेर स्टेट पृ. 79
9. थोर्सवी के पत्र महाराव हिन्दूमल के नाम फाइल नं. 28, 33, 35
10. फाइल नं. 31 के वैद संग्रह रा.रा.अ.बी.

11. खांप वैद मेहता, बस्ता नं. 1 वैद संग्रह रा.रा.अ.बी.
12. वैदा मेहता फाइल नं. 16 रा.रा.अ.बी.
13. दायाल ख्यात जिल्द-2 पृ. 32-33, पाउलेट 83
14. फाइल 27,33 राव गोपालसिंह वैद संग्रह रा.रा.अ.बी.
15. महकमा खास, रिजेन्सी कौंसिल बीकानेर, राजस्व विभाग बण्डल न. 5 , फाईल न. 89-97 रा.रा.अ.बी.
16. खांव वैद मेहता बस्ता नं. 1, वैद संग्रह, रा.रा.अ.बी.
17. महकमा खास रिजेन्सी कौंसिल बण्डल नं. 5 फाइल नं. 89
18. कर्मचन्द वंशोकीर्तनकं काव्यम श्लोक 207-20
(जैतसी - मालदेव - शेरशाह का वर्णन)
बीकानेर - जोधपुर - दिल्ली
19. वैद मुहता अबीरचन्द ने जनरल एलनर से मिलकर राज्य के लिए सैनिक सहायता प्राप्त की । ओ.बी.ई.भाग-2, पृ. 402
20. दयालदास री ख्यात भाग-2 , पृ. 200
(मोहता दीवान, जैन मुत्सद्दी जीवणदास, वैद राजसी से मुगल दीवान हसल खां को पलारस रु. देकर समर्थन प्राप्त किया।)
21. मंत्री नगराज ने शेरशाह से राजकुमार कल्याणमल को टीका दिलवाया - कर्मचन्द श्लोक 221-22
22. डा. रामप्यारी शास्त्री - जालमसिंह झाला पृ. 217-54
23. फाइल नं. 49, बस्ता नं. 3 राव गोपालसिंह वैद संग्रह रा.रा.अ.बी.

राष्ट्रीय आंदोलन के गैर पारम्परिक स्रोत- जनकाव्य (अलवर के विशेष संदर्भ में)

डॉ. अनुराधा माथुर

अभी तक राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित लेखन में परम्परागत ऐतिहासिक स्रोतों को ही महत्व दिया जाता रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन में अभिजन के सकारात्मक योगदान की जानकारी के लिए आवश्यक है कि हम स्थानीय जैसे जनकाव्य को प्रयोग में लेकर असली इतिहास को पहचानें। उल्लेखनीय है कि उपाश्रयी इतिहासकारों में रणजीत गुहा, ज्ञानेंद्र पांडे आदि ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जन चेतना के निर्माण में जनकाव्य के माध्यम से राष्ट्रवाद को समझने का प्रयास किया है तो क्या हम आंचलिक इतिहास को जानने के लिए जनकाव्य को एक स्रोत के रूप में प्रयोग लेकर लोकप्रिय चेतना के निर्माण का साधन नहीं मान सकते।

राष्ट्रीय आंदोलन में गांधीजी का आगमन आम जनता को भी राजनीति की मुख्य धारा से जोड़ने लगता है और एक नव चेतना का उदय भारतीय राष्ट्रवाद के क्षितिज पर होता है जिसकी ओर यह कविता संकेत करती है -

मुक्ति का आधार दैवी, शक्ति का भंडार तू है।

शांति का अवतार तू है।'

अलवर में राजनैतिक चेतना का प्रथम चिन्ह 1987 में कांग्रेस की स्थापना है। 1938 के पश्चात प्रजामंडल के निर्माण के साथ ही जनकाव्य के माध्यम से निर्मित जनचेतना राष्ट्रवाद को नया अर्थ एवं उत्साह प्रदान करती है। अलवर रियासत में स्वाधीनता संघर्ष अंग्रेजों के पिड्डू शासकों और जागीरदारों की निरंकुश शक्ति, उनके दमन और शोषण के विरुद्ध प्रस्फुटित हुआ। प्रजामंडल ने निरंकुश सरकार गरीबी पिछड़ापन और सामाजिक आर्थिक चुनौतियों जैसे ज्वलंत प्रश्नों पर जनता को सशक्त योगदान के लिए तैयार किया। निश्चय ही इसमें महात्मा गांधी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। गांधीजी के रचनात्मक कार्यों जैसे अहसयोग करन देना, सत्याग्रह, शिक्षा, खादी के प्रचार आदि को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध का आधार बनाकर उत्तरदायी शासन की मांग को अलवर के नेताओं ने जनता के सम्मुख रखा जिससे वे सार्वभौमिक अधिकार और स्वराज को पा सके। विश्वामित्र ने सार्वभौमता के स्वामी के नामक कविता में व्यक्त किया।

यदि उखड़ गयी आधार शिला, भारत को पूर्ण स्वराज्य मिला ।
हम बैठेंगे दृढ़ बांध किला, जिसको न सकेंगे कभी हिला ।¹

असमान करो, लागबाग और जबर्दस्ती की लगान वसूली के लिए जागीरदारों और अलवर के शासक के विरुद्ध सत्याग्रह के लिए प्रजामंडल ने आमजन को प्रेरित किया ताकि वे अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा कर सकें। राजगढ़ की जनता ने सरकार को नोटिस दिया कि 'सरकार स्वयं गलती पर है जिसने हमें हमारे स्वशासन, हमारे उद्योग, हमारी खेती, हमारी कला और शिल्प से वंचित कर रखा है और हमारे पर अवांछित और भारी कर लाद रखे हैं जिसने हमें गरीब बना दिया है। इसलिए बेहतर है कि हम सत्याग्रह करें, पूर्ण स्वराज मांगें या इस प्रयत्न में अपनी जान दे दें बजाय इसके कि हम उनके खेतों में जुटे रहें'³ अगिया बेताल ने इसे कविता में व्यक्त कर जन भावना को ललकारा—

बैरगिया नाला जुल्म जोर, जहाँ रहत साधु के भेष चोर ।
कुछ वकील पुजारी माफीदार, बैठे नाले में रंगे स्यार ।⁴

जागीरी इलाकों में जनता ने मांग रखी⁵ कि (1) रिश्वत बंद हो। (2) बिस्वेदारी का हक किसानों को दिया जाये। (3) डाबरी प्रथा बंद हो। (4) उत्तरदायी शासन हो। (5) जनता का राज, जनता द्वारा जनता के लिए है। इन मांगों को लेकर जनता ने 25.03.1941 को राजगढ़ में जागीर माफी सम्मेलन आयोजित किया। जगह-जगह पर किसान आंदोलन हुए मगर जब इससे भी प्रशासकीय नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं आया तो रेवेन्यू मंत्री श्री बहादुर सिंह के गांव खेड़ा मंगलसिंह में एक विराट किसान सम्मेलन 03.02.1946 को बुलाया गया। हालांकि सरकार ने सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया परंतु इसका प्रभाव आठ दिन की पूर्ण हड़ताल के रूप में सामने आया। इस दौरान पान, हलवाई और नाई की दुकानों तक बंद रही।⁶ सरकार द्वारा किए गए आश्वासन थोथे ही रहे क्योंकि कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाया गया जो किसानों को राहत देता।

थोथे आश्वासन के बल पर हम बहुत रहे भूखे प्यासे ।
है बहुत खा चुके जीवन में, ऐसे कोरे कोरे झांसे ।⁷

उत्तरदायी शासन की अवधारणा में प्रशासन में जनता की भागीदारी, मौलिक अधिकार और कानून के समक्ष समानता की उम्मीद थी जिसमें जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों में समस्त शक्ति निहित होती है। राजकोष पर नियंत्रण होता है और वे शासक के प्रति सीधे उत्तरदायी होते हैं। जनता समझ चुकी थी कि सभी बुराईयों का एकमात्र ईलाज उत्तरदायी शासन है।⁸ परंतु अलवर में प्रशासन तंत्र के प्रभावशाली तत्वों पुलिस और सीआईडी के साथ मिलकर दबदबा कायम कर रहा था जिससे प्रशासन असंवेदनशील और पक्षपाती हो गया था। आमजन की कोई हिस्सेदारी नहीं थी जो इस पति-पत्नी संवाद माध्यम से श्री अंजान ने स्पष्ट करी हैं —

पति— चुपकी बैठी रह नेक बख्त अफसर का मुँह से नाम न ले ।
यह राज काज की बातें है डरता हूँ कोई फाँद न ले ।।
तू वक्त देख बाबा हमको तो इसी शहर में रहना है ।
वह दिन में दिखाये जो तारे तो हाँ जी हाँ जी कहना है ।⁹

स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी थी कि मेव लोग हिंदुओं के घर और स्त्रियों को लूट रहे थे। त्रिजारा हरसौली किशनगढ़ निजामत में इस प्रकार की घटनाएं तथा धाड (लूट) के माल के लिए गांव वालों और राज कर्मचारियों में झगड़ा रोजाना का हो गया था।¹⁰ प्रशासन की कमियों को श्री अंजान ने एक अन्य संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है —

पति— कैसे समझाऊं हाय प्रिय जो जो कर लाये कमाई हैं ।
वे या तो खुद है पुलिस फौज में या उनके मामा, साले हैं ।।
या सांझी अफसर के बनकर हिम्मत से तोड़े ताले हैं ।¹¹

प्रशासनिक कमजोरियों और नौकरशाही को उजागर कर जनकाव्य ने सुधार की नई लहर अलवर में ला दी। जनमानस ने अलवर के प्रधानमंत्री और ब्रिटिश प्रशासक मि. वायली के निरंकुश शासन को रोकने की शिकायत जयपुर में ब्रिटिश रेजिडेंट से कर हस्तक्षेप की प्रार्थना की।¹² अलवर का आमजन स्वशासन के रूप में सुशासन की आशा करता था। जहाँ भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी न हो, जनता पर महंगाई का मार न पड़े और रोजगार के अवसर उपलब्ध हो परंतु गैर जिम्मेदार नौकरशाही और कजोर प्रशासन तंत्र बढ़ती महंगाई को रोक न सके। अयोध्या प्रसाद ने अपनी कलम से सरकार पर आक्षेप करते हुए लिखा —

ईश्वर से विनती तेज, 'चंद्र' की रख लेना टेक ।
है फिर पुरानी साल भेज, ऐसी मन में आई है ।¹³

जनता का आक्रोश बढ़ती हुई महंगाई के प्रति तो था ही पर द्वितीय विश्व युद्ध के कारण आवश्यक सामान—चीनी, मिट्टी का तेल, कपड़ा, कोयला आदि का कंट्रोल हो गया था। न तो यह जनता को आसानी से उपलब्ध था। ऊपर से इसे प्राप्त करने के लिए रिश्वत-खोरी सरे आम हो रही थी। सिविल सप्लाई की अवस्था से परेशान हो। जनता ने 'गैर जिम्मेदार मंत्री कुर्सी छोड़ो' और सक्रिय प्रतिरोध के रूप में असहयोग और सत्याग्रह के प्रयोग का आह्वान किया। आठ दिन में 300 लोगों ने गिरफ्तारी दी।

प्रजामंडल की सभी मांगें मंजूर करने के वादे पर सत्याग्रह रोक दिया गया और सत्याग्रहियों को 02.09.46 को जेलों से रिहा कर दिया गया। जनकवि उमराव सिंह बारहठ ने अपनी कविता में सिविल सप्लाई की सच्चाई और सरकारी की नीयत कर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर जनचेतना को जागृत किया।

चोखी भगवान गैल छुडाई, छोड़ी मरी सिविल सप्लाई,
सत्याग्रह से पिंड छुडाने को तुमने यह जाल रचा था ।¹⁴

विभाजनके दौरान अलवर की जनता भी हिंसा और दंगों में लिप्त नजर आती है। केन्द्र में अंतरिम सरकार के बनते ही मुस्लिम लीग का रुख बदल गया। सीधी कार्यवाही दिवस के प्रस्ताव ने देशभर में दंगों और हिंसा को न्यौता दे दिया। अलवर भी इससे अछूता नहीं रहा। नारनोल, भरतपुर, तिजारा, रामगढ़, गोविन्दगढ़, लक्ष्मणगढ़, अलावड़ा, नौगांवा, मुबारिकपुर, मुंडावर, बहरोड़, सांप्रदायिक दंगों की चपेट में था। किसी अज्ञात रसिया ने अंग्रेजों की रक्तिम विभाजन की नीति को सुंदर शब्दों में लिखा –

अपना पुरा बल दिखलाकर, पकड़े खिलाड़ी अगुआ।

उन्हें बांध अपने बंधन से, मचली दे दो हमको फुगुआ।¹⁵

अंग्रेजों की नीति ने अपना पूरा रंग दिखाया। हिंसा की आग अलवर सहित सारे देश में भड़की तो गांधी जी ने इसकी आलोचना की और अनशन के बल पर लोगों को शांति के पथ पर चलने की राह दिखाई। यह गांधी का ही करिश्मा था कि जनता ने तुरंत ऐसी स्थिति पर रोक लगाई।

सर हिन्दू सैकड़ों कहते हों, हम तो तुम पर बलिदान हुए।

गांधी तब बोले 'रे ठहरो', तुम क्यों इतने नादान हुए।¹⁶

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता तो मिल गई। परंतु गांधी का प्रयास विभाजन को नहीं रोक पाया। ऐसी स्थिति विभाजन का अवसाद स्वतंत्रता के हर्ष को दबा गया। कवि अखंड भारत की कल्पना ही करता रहा –

विजय के अवसर पर अवसार, आह बर्बरता का उन्माद।

मातृ मंदिर में होंगे खंड, कोटि हृदयों के होंगे खंड।¹⁷

राष्ट्रीय आंदोलन के ये जनकाव्य साम्राज्यवादी शक्ति से सहयोग प्राप्त निरंकुश शासकों के शोषण के खिलाफ सामान्य जन के प्रतिरोध और सबको समान अधिकार वाले समाज के पुनर्निर्माण का प्रयास सिद्ध होते हैं। यह आम जनता का संबंध शोषण मुक्त समाज के साथ एक अच्छी शासन व्यवस्था और पारंपरिक आत्म निर्भर और स्वावलंबी समाज की परिकल्पना को भी उजागर करता है। इन जनकाव्यों में जिस राष्ट्रवाद का स्वरूप उभरकर सामने आता है वहाँ स्वाधीनता और समान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ही प्रमुख माँग के रूप में सामने आती है क्योंकि आम जनता लगान और बेगार से त्रस्त है। जिसका प्रयोग ऐतिहासिक स्रोत के रूप में लिया जा सकता है। उत्तरदायी शासन प्राप्त जो उभरकर सामने आती है कि आम बोलाचाल की भाषा में लिखित ये काव्य जनता की देशप्रेम और भक्ति की भावना को उद्वेलित करने सफल रहा जो देश को स्वाधीनता दिलवाने में महत्वपूर्ण उपादान सिद्ध हुआ।

संदर्भ

1. गुरु बृज नारायणाचार्य द्वारा रचित 'गांधी' स्वतंत्र भारत, 26.1.48 सोमवार, बैग नं. 417 फाईल नं. 3 अ.र.अ. अलवर।
2. विश्वामित्र द्वारा रचित 'सार्वभौमता के स्वामी' स्वतंत्र भारत, 21.4.47 शुक्रवार बैग नं. 417, फाईल नं. अ.र.अ., अलवर।
3. बैग नं. 70 फाईल नं. 13, 9-सी 1939, रमेश चन्द्र दत्त, सैक्रेटरी, प्रजामंडल राजगढ़ के मार्फत जनता के द्वारा अलवर सरकार को नोटिस दिनांक 3.3.1939, अ.र.अ. अलवर।
4. अगिया बेताल द्वारा रचित बैरागिया नाला जुल्म जोर, स्वतंत्र भारत 30.8.47 शनिवार, बैग नं. 417 फाईल नं. 2, अ.र.अ.अलवर।
5. महावीर प्रसाद जैन (स्वतंत्रता सेनानी), अलवर की जागृति का इतिहास, पृष्ठ 90, अखिल भारतीय स्वतंत्रता सेनानी संगठन शाखा, अलवर 2002
6. एस.एस.डाटा, स्मृति के वातायान से रावत पब्लिकेशन जयपुर, पृष्ठ 71-72
7. दुर्गा विशारद द्वारा रचित मौत जिंदगी के पन्ने, अलवर पत्रिका 19.3.48 शुक्रवार, बैग नं. 417 फाईल नं. 3, अ.र.अ. अलवर।
8. बैग नं. 309 फाईल नं. 15, 1.1.1939, अलवर राज्य की साप्ताहिक डायरी, अ.र.अ. अलवर।
9. श्री अंजान द्वारा रचित 'हाँ जी- हाँ जी कहना है' स्वतंत्र भारत, रविवार, 19.10.47 बैग नं. 417, फाईल नं. 2 अ.र.अ. अलवर।
10. स्वतंत्र भारत, 13.09.47, 13.10.47, 19.10.47 बैग नं. अ.र.अ. अलवर।
11. श्री अन्जान द्वारा रचित 'कुछ लाओ कमाकर' स्वतंत्र भारत, 13.9.47 शनिवार बैग नं. 417, फाईल नं. 2 अ.र.अ., अलवर।
12. अलवर के प्रजामंडल के पी.एन.सिंह की जयपुर के रेजिडेंट को याचिका 2.4.1939
13. अयोध्या प्रसाद द्वारा रचित महंगाई, तेजप्रताप 26.3.1939 फाईल नं. 3, बैग नं. 417
14. अलवर राज्य प्रजामंडल के शिक्षण कैम्प, पदमाडा के कवि सम्मेलन में उमरावसिंह जी बारहठ द्वारा 'सिविल सप्लाई' शीर्षक से 28.12.1949 को पठित, स्वतंत्र भारत, बैग नं. 417, फाईल नं. 4.अ.र.अ. अलवर।
15. अन्जान रसिया द्वारा रचित 'विदाई की होली' स्वतंत्र भारत, बैग नं. 417 फाईल नं. 2.अ.र.अ. अलवर।
16. श्री हिन्दुस्तानी द्वारा रचित 'गांधी क्या तुम जादूगर हो', स्वतंत्र भारत, 13.10.47 सोमवार, बैग नं. 417 फाईल नं. 2, अ.र.अ. अलवर।
17. ब्रह्मदत्त दीक्षित ललाम द्वारा रचित 'अवसाद' लोकवाणी के अन्तर्गत, शनिवार, 197.47 बैग नं. 417, फाईल नं. 2, अ.र.अ. अलवर।

Administrative reforms Under Maharana Bupal Singh

Dr. Deepshika Chundawat

SUMMARY (सारांश)

Depiction of Intricate design in rock art of Sanan in District Churu of Rajasthan and Central India : A Comparative Study

Madan Lal Meena & Vineet Godhal

Since the discovery of first rock art site in India in Pre-Independence era, more than 5000 painted rock shelters have been reported from various parts of Indian subcontinent. V. S. Wakankar discovered several hundred painted rock shelters mainly in central India and attempted a broad survey of rock art sites in the country. The state of Rajasthan is situated in the western part of India. From the eastern part of the state, more than 100 rock art sites are explored.

The village of Sanan is located about 35 kilometers away from Sujangarh tehsil in eastern direction in the district of Churu. During the exploration of the village, two painted rock shelters were discovered. The hill in which shelters are located formed of granitic boulders. There is a goddess temple dated 10th -11th century AD is located in the north western direction of the hill. There is so many rock shelters are located but only two bears paintings. It may be possible that some of the shelters may be painted but due to the ecological conditions, painting gave been destroyed.

This paper deals with the intricate pattern depicted in the rock shelter at Sauan and also found in the rock art sites located in the central India. The chronology of the rock art sites is based upon mostly on the comparative study because of lack of techniques regarding the direct dating. Yet we have no idea about the motivation behind the rock art in Indian context, the most disputed subject in study of rock art.

Famous for benevolent activities, Maharana Bupal Singh occupies an important place among the ruler of India. H.H. Maharana Bupal Singh was a fine combination of traditional belief & modernization. Traditional in the sense that he was a sincere believer in religious rites and modern in the stance that he was compassionate administrator & pioneer among the Maharanas in injecting a benign & benevolent spirit into the government. Maharana was born on February 22, 1884. He was the only son of his father Maharana Fateh Singh. Administrative powers were bestowed upon Maharaj Kumar Bupal in 1921. He introduced several reforms during that region only. Maharana Bupal Singh period marks the beginning of the lingering medieval order in the state, heralding the new epoch of democratic urge & mass upsurge.

Mode of living introduced number of positive steps for modernizations of Mewar. With Maharana Bupal Singh's ascension to the throne feudal administration changed into welfare administration. He took number of positive steps to reform & reorganize the state administration during the regime as a result of which the nature and form of the administration of the state of Mewar gained modernity. The administration of the state was divided into Central administration, District administration and local administration.

Maharana Bupal Singh took remarkable decision to modernize the administration. He was a protagonist of new ideas by reorganizing district administration decentralization was introduced which is still prevailing in modern scenario. To keep his ideas of democracy & secularism alive this would perhaps be the best tribute to the Maharana who brought Mewar on the threshold of modernism.

राजस्थान के सांस्कृतिक और व्यापारिक विकास में लोकोत्सव एवं मेलों की भूमिका

डॉ. सुनीता कमल एवं डॉ. वेद प्रकाश

मनोविनोद और आचरण के लिए राजस्थान में बहुत से मेलों का वर्णन मिलता है। इन मेलों में मन बहलाने के अलावा रोजगार का भी अत्यंत महत्व है। राजस्थान का सांस्कृतिक वैभव देश के परिदृश्य में बेजोड़ है। भारत की संस्कृति एक बहती हुई नदी है। न जाने कितने नदी और नाले अपनी अस्मिता खोकर उसमें लीन हो जाते हैं और समुद्र बनकर जन-जीवन में अमृत घोल देते हैं। भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता यह रही है कि उसमें समन्वय की शक्ति है। राजस्थान की गौरवशाली संस्कृति विश्व प्रिय है और यहां के लोकोत्सव और मेले सहसा ही पर्यटक को अपनी तरफ खींचते हैं। राजस्थान राज्य का नाम स्वयं एक सांस्कृतिक एकता का सूचक है, जो प्रारंभ से ही भारतीय परंपरा से जुड़ा हुआ है। राजस्थान परंपराओं का धनी प्रदेश रहा है, परंपराओं के मामले में शेष भारत से यह स्वयं को अलग करता है। यहां के मेले व रीति-रिवाज राजस्थान के लोगों में जीवन्तता प्रदान करते हैं, ताकि भाग-दौड़ की जिंदगी से स्वयं को थोड़ा अलग रख सके व मानसिक तनाव दूर कर सके। राजस्थान ने सांस्कृतिक वैभव के माध्यम से समूचे विश्व में अपनी पृथक पहचान कायम की है।

राजस्थान के बरसों पुराने लोकोत्साव और मेले आज भी लोक जीवन की धड़कन बने हुए हैं। वैसे तो होली, दीपावली, रक्षा बंधन रामनवमी, गणेश चतुर्थी आदि सभी राष्ट्रीय पर्व और त्यौहार प्रदेश में बड़े उमंग और उत्साह के साथ मनाये जाते हैं, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे त्यौहार व मेले हैं जो सिर्फ राजस्थान के अपने कहे जाते हैं। इनसे न केवल मात्र मनोरंजन ही होता है अपितु व्यापारिक गतिविधियों के द्वारा उपभोक्ता की संतुष्टि व रोजगार को भी बढ़ावा मिलता है।

राजस्थान कला एवं संस्कृति का घर है। हर मेला व त्यौहार यहां के लोक जीवन की किसी किवंदती से जुड़ा हुआ है। बरसों बरस बीत जाने के बाद भी लोक आस्था कम नहीं हुयी है बल्कि ज्यादा बढ़ी है। ये मेले व लोकोत्सव हमें सांस्कृतिक के साथ साथ व्यापारिक सूत्रों में भी बांधते हैं।

जल प्रबन्धन एवं अंतर जलीय प्रणाली में मेवाड़ महाराणाओं की भूमिका

डॉ. शिल्पा मेहता

मेवाड़ का अधिकांश भू-भाग जल संकट की विभीषिका एवं समस्या से प्रपीड़ित रहा है। इस समस्या से छुटकारा दिलाने के लिये यहाँ के शासकों ने समय-समय पर अनेक परम्परागत जल स्रोतों का निर्माण कराया है जिनसे जलापूर्ति के सुखद संसाधन जुट सके हैं। मेवाड़ की झीलें और उनके मध्य विकसित अंतर जलीय प्रणाली जलसंचय और जल संग्रहण का अनुपम उदाहरण है। उदयपुर का मुख्य आकर्षण यहाँ की एतिहासिक झीलें हैं जिनमें पीछोला, उदयसागर, फतहसागर, गोवर्धन सागर, बड़ी का तालाब, रंगसागर मुख्य हैं। इन झीलों में सबसे प्रमुख है महाराणा उदयसिंह द्वारा निर्मित उदयसागर झील जिसका निर्माण नव निर्मित उदयपुर शहर के लोगों की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति करना था। पीछोला झील का निर्माण महाराणा लक्षसिंह के काल में हुआ था एवं इसके जल का प्रमुख उपयोग 308 एकड़ भूमि की सिंचाई में किया जाता था, लेकिन 1986 से इस झील के पानी को पेयजल आपूर्ति के लिये सुरक्षित कर दिया गया है। इस झील की कुल भराव क्षमता 136.7 लाख घन मीटर है एवं इस पर स्वरूप सागर, बड़ी पाल एवं दूध तलाई नामक तीन बांध निर्मित हैं। दूसरी प्रमुख झील फतहसागर है जिसको पूर्व में देवाली के तालाब के नाम से जाना जाता था। इसका निर्माण 1687 में महाराणा जयसिंह ने कराया था। वर्ष 1889 में इस झील का पुनर्निर्माण महाराणा फतहसिंह द्वारा किया गया एवं इस बांध की नींव का पत्थर ड्यूक ऑफ कनाट के हाथों रखा गया था। इस झील की कुल संग्रहण क्षमता 120.80 लाख घन मीटर है। गोवर्धन सागर एक अन्य प्रमुख झील है जिसके निर्माण का श्रेय महाराणा स्वरूप सिंह को जाता है। इसका पूर्ण भराव गेज 9 फीट है। महाराणा राजसिंह ने अपनी माता श्री के नाम पर जनासागर तालाब डूबड़ी का तालाबद्ध का निर्माण करवाया जिसका पूर्ण भराव गेज 32.50 फीट है।

महाराणाओं द्वारा निर्मित झीलों और तालाबों के मध्य अंतर संबंध स्थापित किये गये थे जिसके तहत एक नदी बेसिन के जल को दूसरी नदी बेसिन में स्थानान्तरित किया जाता है। मेवाड़ के शासक जल की एक-एक बूंद का महत्व समझते थे इसलिए उनके द्वारा सभी झीलों को लिंक चैनल के माध्यम से एक-दूसरे से जोड़ दिया गया जिससे अतिवृष्टि एवं अल्पवृष्टि में लोगों को राहत मिल सके। इस प्रणाली के अन्तर्गत मुख्य रूप से पीछोला स्वरूप सागर - फतहसागर लिंक चैनल, स्वरूपसागर

गोवर्धन विलास लिंक चैनल, बड़ी तालाब फतहसागर लिंक चैनल, चिकलवास फीडर है, जिनके माध्यम से इन झीलों का ओवरलो आगे जा कर आयड़ नदी में प्रवाहित हो उदयसागर में जाता है। उदयसागर का पानी आगे जाकर बेड़च नदी के रूप में प्रवाहित होता है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मेवाड़ महाराणा अपनी प्रजा के हित चिन्तन में ही लगे रहते थे। मेवाड़ महाराणाओं के जल प्रबन्धन की कीर्ती गाथा का यशोगान करने वाले मूक स्मारक एवं जलाशय आज भी विद्यमान हैं जो उस गौरवशाली अतीत की याद दिलाते हैं।

सांस्कृतिक एवं आर्थिक अध्ययन

गरिमा माथुर

मुगल शासकों की कारखाना, पद्धति के आधार पर राजपूताना में भी कारखानों की स्थापना की गई। कारखाने राजघराने की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले प्रधान उत्पादन केन्द्र थे। रनीवास हेतु, धार्मिक कार्य हेतु, कपड़ों का उत्पादन, जेवरात का उत्पादन आदि किया जाता था। कारखानों में शासन द्वारा कच्चा माल खरीद कर दिया जाता था। जिनमें राजकीय सेवा में युक्त शिल्पकार एवं कारीगर वस्तुओं का निर्माण करते थे। कच्चे माल की जो खरीद की जाती थी, उसका रिकॉर्ड भी बहियाँ' है। ये बहियाँ सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन के बार में साक्ष्य पूर्ण एवं तथ्य पूर्ण जानकारी देती हैं। मैंने अभीलेखागारीक सामग्री के रूप में प्राप्त होने वाली महाराजा विजयसिंह के काल की कोठार की कुछ बहियों को अपने शोध पत्र का विषय चूना है।

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र में हस्तलिखित ग्रंथों के अलावा अलग-अलग विषयों पर 5000 से अधिक बहियाँ भी संग्रहित हैं, जो महाराजा अजीतसिंह से महाराजा उम्मेदसिंह तक मिलती हैं। महाराजाओं के समय की इन बहियों में कपड़ों के कोठार की बहियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण हैं। महाराजा विजयसिंह के समय लिपिबद्ध 'कपड़ों के कोठार री बही' में वर्षा ऋतु के पश्चात् मनाये जाने वाले त्यौहार के रूप में मेहरी प्रबोधरी एकादशी का उल्लेख मिलता है। उस समय राजघराने की ओर से कपड़ों के कोठार से जो कपड़ा जाता था। उसका विवरण भी मिलता है। जिनमें खीनखाब नामक कपड़े का उल्लेख मिलता है।

इस बहि में सैनिकों के कपड़े लिये जाने का उल्लेख भी मिलता है। इसके लिए लाल पट्टे का थान खरीदे जाते थे। बहि में गुलबदन पाग का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि मुलतानी छीट मुलतान से खरीदी जाती थी। नागौर परगने में नागोरण नाम की पजा मशहुर थी, बही मौसमी रंग की पाग का प्रचलन भी ज्यादा था।

पाली की छीट एवं उमरकोट से लोहे की किले एवं पांतिया आने का भी उल्लेख मिलता है। सोने की जरी से युक्त पाधों व अन्य वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है। पाधों के प्रकार निम्न थे- गुरू, पाघ, पाघ, सुकर, तीसरी सोम पाघ, पाघ तासरी सोने री, पाघ सफेद, बुध पाघ, पाघ कसुमल इत्यादि। -(पत्र सं. 6 ब)

सोम पाघ जयपुर से खरीदे जाते थे। बुराघनपुर व मुलतानी छीट का विवरण मिलता है।

श्याम 1 बुरानपुर री छीट री लाल

खरीद ऊदैपुर। -(पत्र सं. 11 अ)

बही में विभिन्न वस्त्रों पर सोने की जरी का कार्य होता था।

विजय सिंह जी की बहियों में वस्त्रों की कीमत व खरीद की जानकारी भी मिलती है। जिसमें व्यापारियों के नाम व खरीद का स्थान पता चलता है। उदाहरण- सोने की पट्टी जड़ीत, लाल किरमची वाली 5 साड़ीयाँ उदयपुर से हस्ते जेसी नंदु द्वारा खरीदी गई। -(पत्र सं. 106)

इस बहि में हमें वस्त्रों के प्रकार का भी पता चलता है। देवस्थान व राजघराने के लोगों के उपयोग में लिए जाने वाले किमती वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है व साफो का भी वर्णन मिलता है। बहि में निम्न अवसरों पर पाघो को भेंट करने का उल्लेख भी मिलती है-

1. वर्ष गांठ के अवसर पर केसरिया रंग की पाघ देने का वर्णन है।

-(पत्र सं. 3)

2. जनानी ड्योढ़ी के अधिकारियों को त्यौहारों के अवसर पर दी जाने वाली पाघो का भी वर्णन किया गया है। उदाहरण- के रूप में नाजर को पाघो इनायत करने का उल्लेख मिलता है।

मोलियो (साफो) का भी वर्णन मिलता है। यथा-

1. मुहनोत सवाईराम जोधपुरी से एक कसुमल सफेद लैरदार राजशाही के लिए खरीदे गए थे। (पत्र सं.- 5 ब)

2. एक मोलियों डूसाफेऋ जोधपुर से लोकड़ माईदास के वगसी धीरजमल जोधपुरी को भेजने के लिए खरीदा गया था। -(पत्र सं. 5 ब)

श्री ठाकुर जी की सेवा में बागा (सिर से पाव तक) चढ़ाने का उल्लेख है व देवीजर माताजी के भी कीमती वस्त्र भेंट करने का उल्लेख मिलता है। यथा-

आसोजीदार द्वारा श्री देवीजर माताजी के देवस्थान में घाघरा, कांचली, टमारू भेंट दिए। -(पत्र सं. 101 आ) राजघराने की धाय को भी कीमखाप नामक वस्त्र का लहंगा प्रदान किया जाता था। -(पत्र सं. 201) मेड़ता के रेशमी वस्त्र खरीदे गए।

तीणमाय की जरी वाली महाराज कंवर श्री फतेसिघ जी को भेट किया। -(पत्र सं. 227 ब) बही में कपड़ों के कोठार के प्रत्येक वस्तु की गिनती का भी उल्लेख है

2 फसालो 1 किस्मची

2 फसालो 1 जोमरदी

2 फसालो 1 स्हा

2 फसालो 1 लाखो -(पत्र सं. 1)

बही में कपड़ों के रंगो का भी वर्णन मिलता है जैसे- कसुबल रंग, सबज, तोरूफल, सोसनी, एवं गुलाबी रंग। मन्दिरों में उत्सवो पर पुजारीयों के लिए कपड़े, केसर, कपूर आदि राजघराने की ओर से भेजे जाते थे। -(कु. से. 155)

वस्त्रों के प्रकार - थीरमों, धीरमो का दुसाला, रेशम, रेजो, पाग, सेला, मुलमुल, गुलबदन, कीमखाप, मुलतान की छोट खीनखाप आदि। चारण व अन्य जमीदारों एवं अधीन कर्मचारियों को सिरोपाव पाग भेग की जाती थी। महिलाओं के लिए दुपट्टा व मलमल का 'ओरणा' व पुरुषों के लिए 'धोती' व पाग का प्रचलन है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कपड़ो के कोठार की बही से हमें तत्कालीन मारवाड़ के राजघरानों में उपयोग में लिए जाने वाले विभिन्न प्रकार के किमती, वस्त्रों, सोने की जरी युक्त कपड़े, विभिन्न प्रकार के पाघे, बागा, सीरोपाव, दुशाला आदि वस्त्रों की जानकारी मिलती है। वस्त्रों की खरीद का भी उल्लेख है। समकालीन होने से इन बहियों का स्तर विशिष्ट श्रेणी का रहा है व इनकी भाषा राजस्थानी है।

राजस्थान में महिला नेतृत्व : ऐतिहासिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य

दिव्या सिंह

आधुनिक राजस्थान में महिला नेतृत्व-प्राचीन इतिहास के अतिरिक्त आधुनिक इतिहास में भी महिला नेतृत्व के उदाहरण देखे जा सकते हैं। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में राजस्थान की महिलाओं के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। अक्टूबर 1947 में राजस्थान सरकार द्वारा प्रकाशित 'देश के दीवाने' नाम से राजस्थान के स्वाधीनता सेनानियों की कीर्ति कथाओं के द्वितीय संस्करण में राज्य के प्रमुख स्वाधीनता सेनानियों में सुश्री कालीबाई भील, रास्तापाल (डूंगरपूर), श्रीमती नगेन्द्रबाला (कोटा), श्रीमती दुर्गा देवी तथा चेचरी (झुंझुनू) का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त विमला देवी चौधरी, कोकिला देवी, कमला देवी, कुंवर बाई लूणिया,

सुशील त्रिपाठी, षान्ता त्रिवेदी, रानी देवी राव, श्रीमती नारायणी देवी वर्मा, इन्दुबाला सुखाड़िया, सुशीला दीक्षित, प्रियवंदा चतुर्वेदी, फूलकुंवर बाई चौरड़िया, रमाबहिन देषपाण्डे, दुर्गादेवी शर्मा, सुमित्रा खेतान, सरस्वती पाण्डे, भारती देवी वाजपेयी, डा. उजला अरोड़ा, श्रीमती इन्दिरा माया राम, राजमाता गायत्रीदेवी, श्रीमती रतन शास्त्री, सुन्दरादेवी आजाद, शिवदेवी अग्रवाल, फूलादेवी, कल्याणी, श्रीमती धारदा भागव, गरिजादेवी 'बा', गबरी देवी, नांगीदेवी, रामप्यारी देवी शर्मा, डा. कमला बेनीवाल, श्रीमती सुमित्रा सिंह, श्रीमती श्यामलता व्यास, सुकीर्तिदेवी गुप्ता, शकुन्तला त्रिवेदी, वीरांगना रमादेवी जोशी, अंजना देवी चौधरी, श्रीमती सत्यवती अग्रवाल इत्यादि ऐसे नाम हैं, जिनका भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में उल्लेखनीय योगदान रहा है। ब्रिटिश भारत में अपनी प्रतिक्रिया के रूप में राजस्थान की महिलाओं ने भी स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय सहभागिता की।

अजमेर ब्रिटिश प्रशासनिक प्रदेश था जो कि विभिन्न आन्दोलनों के लिए अधिक चर्चा में था। 1930 के नमक सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान वहाँ की छात्राओं ने बड़े उत्साह के साथ हिस्सा लिया और धरने दिये। अन्य स्वयं सेवकों सहित महिला स्वयंसेवकों ने केन्द्रीय बालिका विद्यालय अजमेर, नगरपालिका स्कूल अजमेर, डी. ए. वी. विद्यालय और राजकीय महाविद्यालय अजमेर के समक्ष धरना दिया। सोफिया हाई स्कूल अजमेर की प्रेमलता भार्गव और राजरानी भार्गव ने सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व किया और इस कारण उन्हें स्कूल से निश्कासित कर दिया गया। यह राजस्थान के इतिहास में पहला अवसर था, जब युवा स्कूली छात्राओं ने ब्रिटिश विरोधी आन्दोलनों में भाग लिया और सजा पाई। बाद में आन्दोलन का नेतृत्व श्री चन्द्रकरण शारदा की पत्नी श्रीमती गोमती देवी ने किया। उन्होंने लोगों को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा विदेशी दुकानों के समक्ष धरने के लिये तैयार किया। उन्होंने शहर के बाजारों में प्रतिदिन प्रदर्शन किये और देश में ब्रिटिश कानून के विरुद्ध नारे लगाये। जमना लाल बजाज की पत्नी श्रीमती जानकी देवी बजाज और श्रीमती सत्या देवी कलान्ची ने वर्ष 1928 के दौरान अजमेर में अखिल इण्डिया महिला मण्डल की बैठक का आयोजन किया और राजस्थान के राजकीय प्रान्तों में महिलाओं के लिए मताधिकार की माँग की। श्रीमती केशर कंवर देवी ने महिलाओं को जाग्रत होने तथा स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने के जोशपूर्ण अपील की।

अलवर में लगान वृद्धि के विरुद्ध किसानों को संगठित करने में ठाकुर कुशल सिंह शेखावत, भूरजी, जमना बनिया तथा निमूचना गाँव के रघुनाथ किसान की बेटी सीता देवी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। श्रीमती त्रिपाठी ने अपने पति श्री लक्ष्मणस्वरूप त्रिपाठी के साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। उदयपुर में जन आन्दोलन

में कुमारी जजिया तहसीन, श्रीमती शान्तिदेवी त्रिवेदी, श्रीमती रानीदेवी राव, श्रीमती नारायणदेवी वर्मा, श्रीमती इन्दुबाला सुखाड़िया, श्रीमती गंगाबाई, श्रीमती चन्द्रकला, श्रीमती लक्ष्मी चूड़ावत, श्रीमती उर्मिला काटिया तथा श्रीमती माणक कंवर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सामन्तशाही के विरोध के कारण 4 अप्रैल 1948 को हुए पुलिस लाठी-चार्ज में घायल होने के बाद भी श्रीमती शान्ता त्रिवेदी सामन्तशाही के विरुद्ध नारे लगाती रही। महिलाओं को जाग्रत करने के उद्देश्य से राजस्थान महिला परिशद की स्थापना की। राजस्थान के प्रमुख स्वतन्त्रता सेनानी मणिक्यलाल वर्मा की जीवनसंगिनी श्रीमती नारायणी देवी वर्मा ने वर्ष 1938 व 1942 के असहयोग आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया। जिसके कारण उन्हें गिरतार कर दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी गई। 1944 में स्वतन्त्रता सेनानी श्री रमेश चन्द्र व्यास के सहयोग से इन्होंने भीलवाड़ा में महिला आश्रम की स्थापना की।

कोटा क्षेत्र में जन आन्दोलन में श्रीमती रानी भार्गव, श्रीमती सुशीला दीक्षित, श्रीमती प्रियंवदा चतुर्वेदी, श्रीमती प्रेमकुमारी, श्रीमती नागेन्द्रबाला तथा श्रीमती कमला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। राजस्थान की जुझारू नेत्री श्रीमती रानी भार्गव का जीवन प्रखर संघर्ष का जीवन्त उदाहरण है। उनकी अद्भूत नेतृत्व क्षमता के कारण ही पाली जिले में 351 महिलाओं ने राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। यह प्रदेश के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। 1931 में जयपुर में प्रजामण्डल की स्थापना में श्रीमती रतन शास्त्री का उल्लेखनीय योगदान रहा। उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध प्रजा की भूमिगत गतिविधियों में सहयोग किया और आन्दोलनकारियों को वनस्थली में आश्रय प्रदान किया। 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के समय उन्होंने अंग्रेजी शासन की परवाह न करते हुए वनस्थली विद्यापीठ के अनेक कार्यकर्ताओं एवं छात्राओं को अन्य प्रदेशों में जाकर आन्दोलन में सम्मिलित होने की छूट प्रदान की।

जोधपुर की प्रथम महिला क्रान्तिकारी गीरजादेवी जोशी 'बा' 1942 के आन्दोलन से प्रेरित होकर घर की दहलीज लांघकर सत्याग्रहियों के साथ सड़क पर निकल पड़ी। जोधपुर की रचनात्मक महिला कार्यकर्ता नारंगदेवी चरखा एवं सूत-कताई के माध्यम से महिलाओं के स्वालम्बी बनने का प्रषिक्षण देती थी तथा उन्हें प्रजामण्डल आन्दोलन से जोड़कर स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रियता के लिए प्रेरित करती रहती थी। वर्ष 1939 में प्रजामण्डल आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। स्वतन्त्रता सेनानी की सुपुत्री होने तथा सुप्रसिद्ध महिला शिक्षा संस्थान वनस्थली विद्यापीठ की छात्रा होने के कारण श्रीमती कमला 11 वर्ष की आयु से ही स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ गयी। सन् 1938 में वनस्थली विद्यापीठ की बालिका स्वयंसेवी टीम की कप्तान के रूप में

प्रजामण्डल के प्रथम अधिवेशन का नेतृत्व किया। इस प्रकार राजस्थान में जन-जनगरण की शुरूआत देशी राजाओं के विरुद्ध चलाए गए किसान आन्दोलनों से हुई। इन आन्दोलनों में प्रदेश की महिलाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा।

संस्कृति की धरोहर हैं- राजस्थानी लघुचित्रकला

डा. बीना कौशिक

प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति चित्रकला के माध्यम से करता आया है। धीरे-धीरे मानव समाज के विकास ने चित्रकला को नये-नये मोड़ दिये और आज उसका चित्ताकर्षण रूप हमारे बीच विद्यमान है। राजस्थान में प्राचीन काल से ही चित्रण अवषेश हमें गुफाओं में प्राप्त हुये हैं। इन गुफाओं में मानव की सृजनात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है। सिन्धु सभ्यता से लेकर वर्तमान तक राजस्थान में चित्रकला का विकास निरन्तर होता रहा है। लोक-संस्कृति एवं सामंती परिवेश में पनपी राजस्थानी चित्रकला न तो किसी एक स्थान पर विकसित हुई और न ही किसी एक व्यक्ति द्वारा परिपोषित हुई है। वास्तव में तो राजस्थान में जितनी भी रियासतें रहीं, वहाँ की राजधानियों, प्रमुख नगरों, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों में यह कला समय-समय पर पल्लवित हुई है। जिसके समग्र स्वरूप के आधार पर इसे राजस्थानी चित्रकला के नाम से जाना जाता है। भौगोलिक और सांस्कृतिक धरातल के आधार पर राजस्थानी लघुचित्रकला मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती, ढूँढ़ाड़ और अनेक उपशैलियों में विभाजित रही है। राधा- कृष्ण की विभिन्न लीलाओं, नायक-नायिका भेद, राग-रागिनी, बारहमासा, ऋतु-वर्णन, दरबारी जीवन, उत्सव, शिकार, राजा रानियों का चित्रांकन लोक-कथाएँ आदि अनेक विशयों में राजस्थानी चित्रकला का परिपोषण हुआ है।

समय के अनेक उतार-चढ़ावों के बावजूद चित्रकला की संघर्षमय यात्रा आज भी अनवरत जारी है। राजस्थानी लघुचित्र हमारे अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर हैं जो सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक थाती की ऐतिहासिक गाथा अपने आप में समेटे हुए हैं। यह कलात्मक वैभव संरक्षण चाहता है। यदि इसे बचाने का प्रयास नहीं किया गया तो इस कला की केवल स्मृतियाँ ही पेश रह जायेंगी। कलाकृतियों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय निरन्तर बढ़ रहा है। विष्व में इन मूल्यवान लघुचित्रों की मांग बढ़ी हुई है। अतः हमारी सांस्कृतिक धरोहर को बचाना वर्तमान की सबसे बड़ी जरूरत है।

वैदिक संस्कृति एवं राजस्थानी संस्कृति की वस्त्र-आकल्पन कला में समानताएँ

डॉ. किरन सरना एवं कु. अभया राज

संस्कृति की प्रगति के साथ ही वस्त्र विन्यास का महत्व शरीर को सजाने की दिशा में विशेष रूप से दिखाई देता है। वस्त्र विन्यास के द्वारा सुन्दर बन जाने की कला को मानव ने सुदूर प्राचीन काल से ही अपनाया है। सुन्दरता की दृष्टि से रंग-बिरंगे चित्रित, स्वर्ण जड़ित, भली भाँति कटे छंटे और सिले हुए विविध प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों की विशेषता रही है। ऐसे वस्त्र मानव की अपनी वैभव सम्पन्न और सुरुचि का अन्य नागरिकों के मन पर प्रभाव डालते हैं। वस्त्रों को रंगकर उनको अपने शरीर के रंग से मेल मिला देना कला थी। जो सुसंस्कृत नागरिकों को पसन्द आती थी। स्त्री और पुरुष दोनों ऐसे रंगीन वस्त्र पहिनने के प्रति विशेष अभिरूचि रखते थे। रंगे वस्त्रों को धारण करने की योजना मनः स्थिति और अवसरों के अनुकूल थी।

यह वस्त्र आकल्पन कला का रंगीन स्वरूप राजस्थानी परिधान में विशेष रूप से दिखाई देता है। मध्योत्तर काल से प्रायः पचासों तरह के रंगों एवं रंगीन कपड़ों के नाम मिलते हैं जैसे- काला, सुरमई, नीला, फालसाई, आसमानी, आबी, कपासी, सब्जकपासी, लाजवर्दी, जाफरानी, नाफरमानी, लाल, गुलेअनार, कसूमल, गुलाबी, वसन्ती, केसरिया, नारंगी, तोरू-फूली, सुआपंखी, बादामी, अमोआ, मांसी, मूंगिया, किशमिशी, ऊदा, अंगूरी, जंगाली, सब्ज, काही, सरदई, शरबती, साँभरी, तूसी अब्बासी, उन्नाबी, फाख्ताई, खाकी, फीरोजी, सब्जकाही, कासनी, ककरेजी, कपूरी, करंजी, दूधिया करंजी, कोकई, चम्पई, मटिया, चन्दनी, बोतली, मलागिरी, अबीरी, आबलहर, अमरसी, फागण्यां, जोगिया, पंचरंग, मोतिया, समदरलहर, सिंगरफी, बैंगनी इत्यादि। ऊनी और रेशमी वस्त्र प्रायः इन रंगों में रंगे जाते थे। लाजवर्दी, जाफरानी, आसमानी, बनफशाई, फाख्ताई, सुरमई, सोंसी, तूसी, कपूरी, सकरी, संदली, बादामी, भटिया तुरंजी, नारंगी, सोंथली, गुलाबी, शफतालू, उन्नाबी, लाखी, किरमची, कासनी, अगरबानी, चम्पई, कपासी, जोजियां, बासपाली, पिशतई, जुमरदी काही, अम्बुआं इत्यादि।

ये सभी देशी रंग नदी-पर्वतों की मिट्टी, धूल, कंकड़ों, पत्थरों, जल, घास-फूस, फूलों, पत्तों, बीजों, वृक्षों की छालों और जड़ों आदि से बनते थे। पतंग की लकड़ी, के सूले के फूलों, आल, अजीठ, लाख, सिंगरफ, महावर, मेहन्दी, हिरमच और हींगलू आदि से लाल रंग तैयार किया जाता था। हरसिंगार की डांडी, पिसी हुई हल्दी, पलाश

फूल और पीली मिट्टी आदि से पीला रंग तैयार किया जाता था। इसी प्रकार लील (नील) लाजवर्द और हरे-पीले संयोग से नीला रंग बनाया जाता था। इन तीन मुख्य रंगों को विभिन्न अनुपातों में मिश्रित करके अन्य अनेक प्रकार के रंगों का निर्माण किया जाता था। गहरे और हल्के रंगों को तैयार करने में बबूल और बोरडी के पत्ते, बछल, सूखे आँवले, अनार के छिलके, लोके का बुरादा, काकड़ासींगी, चूना, साजी (सज्जी), सुहागा, फिटकरी, अमचूर, छाछ, दही, और नींबू का भी उपयोग होता था। हिंगलू, हरताल, गोगोली, कोयले व लाख तथा चीये द्धमली के बीजकृ के पानी से चित्रों के लिए रंग बनते थे।

रंगों की विविध प्रकल्पनाओं के अतिरिक्त वस्त्रों की सजावट के लिए और भी बहुत सी कलाओं का प्रयोग होता है- यथा कसीदा, कलमकारी, छापा, जरदोजी, बंधेज, लहरिया, मुकसी और ढाढक आदि। राजस्थान में कसीदाकारी के कई रूप हैं जो एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। हर कसीदाकारी की अपनी अलग विशेषता रहती है और एक जातीय समूह को प्रस्तुत करती है। हर कसीदाकारी में भरने का काम रहता है इस कारण इसे 'भरत काम' कहा जाता है। राजस्थान की कसीदाकारी को तीन वर्गों में बाँटा जाता है। (1) लोक कसीदाकारी, (2) धार्मिक कसीदाकारी, (3) कोर्ट कसीदाकारी।

राजस्थान में भी अत्यन्त प्राचीन काल से कपास का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता रहा है। इस कारण गाँव-गाँव में हैण्डलूम तथा पिट लूम पर मोटा व पतला सूती तथा ऊनी खादी का कपड़ा तैयार किया जाता है। जालोर के खेसले, बीकानेर व टोंक के नमदे, जयपुर के गलीचे जैसलमेर के पट्टू, मांगलोर की मसूरिया साड़ियाँ, जैसलमेर की जरीदार साड़ी, चित्तोड़गढ़ के बिछौने के जाजम, नाथद्वारा की छपी हुई साड़ियाँ तथा जोधपुर की मलमल दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं।

राजस्थान में भी लोहे की बहुत बारीक सुई से बहुत चतुराई पूर्ण काम हुआ करता था। जैसे बखिया, तारकढ़ाई, तंगाई, तागातोड़, गुथाई, फूल-पत्ती आदि। देशी सिलाई में कलाकार दर्जी जामा, पायजामा, चोला, अंगरखी, दोबगली, चौबगली, बारहकस, अठारहकसी और रूई भरे कपड़ों तथा रजाइयों आदि की तंगाई में अपनी कारीगरी दिखाते थे। स्त्रियों की कुर्ती, कांचली (कंचुक), घाघरे कलियों के जोड़े, मगजी और संजाफ की तुरपाई का काम भी बहुत बारीकी से किया जाता था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चाहे रंगाई कला हो या वस्त्र धारण करने की कला, वस्त्रों को सजाने की कला हो या सिलाई कला आदि सभी वस्त्र-आकल्पन कलाएँ उसी प्रकार राजस्थानी संस्कृति में विद्यमान हैं जिस प्रकार वैदिक संस्कृति में थी।

दक्षिणी राजस्थान के उत्खनित पुरास्थल

(मेवाड़ के विशेष संदर्भ में)

आसिफ हुसैन एवं सचिन दीक्षित

संस्कृत शिलालेखों में उदयपुर एवं उसके आसपास के क्षेत्र का नाम 'मेदपाट' मिलता है। जिसे भाषा में "मेवाड़" कहते हैं। इस देश पर पहले मेद अर्थात् मेव या मेर जाति का अधिकार रहने से इसका नाम मेदपाट (मेवाड़) पड़ा। मेवाड़ का एक हिस्सा अब तक मेवल कहलाता है। जो मेवों के राज्य का स्मरण दिलाता है। चित्तौड़गढ़ से सात मील उत्तर में माध्यमिका नाम की प्राचीन नगरी के खण्डहर हैं, जिसे इस समय 'नगरी' कहते हैं। यहाँ से प्राप्त तीसरी शती ई.पू. के ताँबे के सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि में 'मझिमिकायशिबिजनपदस्' लिखा मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय मेवाड़ या चित्तौड़ के आसपास का क्षेत्र शिबि जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार वर्तमान मेवाड़ क्षेत्र भिन्न-भिन्न समय में अलग-अलग नामों से जाना जाता था। ई.पू. तीसरी शताब्दी के आसपास इसे शिबि जनपद कहा जाता था। 9-10वीं शताब्दी में प्राग्वट, मेदपाट और मेवाड़ नामक तीन संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। 19वीं शताब्दी में इस प्रदेश को उदयपुर राज्य भी कहा जाने लगा। यही मेवाड़ क्षेत्र भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् उदयपुर संभाग कहलाया। इस संभाग के तीन जिले उदयपुर, चित्तौड़ तथा भीलवाड़ा प्राचीन मेवाड़ के मुख्य भाग थे। शेष दो जिले डूंगरपुर तथा बाँसवाड़ा मेवाड़ क्षेत्र की भौगोलिक सीमा में नहीं आते हैं।

राजस्थान का यह मेवाड़ क्षेत्र (दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान) प्राचीन समय से ही सभ्यताओं का निवास स्थल रहा है। यहाँ पर प्राचीन समय से ही नदियों के किनारे सभ्यताओं का पल्लवन हुआ। मेवाड़ क्षेत्र में पाषाण कालीन, कांस्य कालीन और लौह कालीन पुरास्थल बड़ी संख्या में हैं। इन पुरास्थलों की खोज एवं इनके बारे में जानकारी प्राप्त करने का श्रेय दक्कन कॉलेज पूना (Deccan College, Pune), भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण (ASI), राजस्थान राज्य पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, इन्स्टिट्यूट ऑफ राजस्थान स्टडीज, जे.आर.एन. राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर को जाता है।

डेनमार्क के कोपन हेगन के राष्ट्रीय संग्रहालय के अध्यक्ष सी. जे. थॉमसन (1788-1865) ने 1816 में Three Age System का प्रतिपादन किया- (1) पाषाण काल (Stone age), (2) ताम्र-कांस्य काल (Copper-Bronze age) एवं (3) लौह काल (Iron age) (पाण्डेय 2000:178)। इस आधार पर मेवाड़ क्षेत्र में जो भी पुरास्थल हैं उनको मोटे रूप में हम दो भागों में बांट सकते हैं- (1) उत्खनित

पुरास्थल (Excavated Sites) और (2) सर्वेक्षण में प्राप्त पुरास्थल (Explored Sites)। मेवाड़ में जो पुरास्थल उत्खनित हुए हैं उनमें मध्यपाषाण कालीन, ताम्र पाषाण कालीन और लौह युगीन पुरास्थल हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं-

(1) Stone age or Mesolithic Site

(1) बागोर (Bagor)

बागोर (25° 21' N; 74° 23' E) नामक पुरास्थल एक मात्र पाषाण कालीन उत्खनित पुरास्थल है। इसकी खोज वी. एन. मिश्रा ने 1967 में की एवं इसका उत्खनन भी मिश्रा जी के द्वारा ही 1967 से 1970 के बीच किया गया। यह मध्यपाषाण कालीन पुरास्थल है, जो भीलवाड़ा जिले में कोठारी नदी के बाएँ तट पर स्थित है। यहाँ पर 1.6 मीटर मोटा सांस्कृतिक जमाव है, जिसको तीन चरणों में और पाँच परतों (Layers) में बांटा गया है। सबसे प्राचीन चरण में केवल छोटे पाषाण उपकरण (Microlithics) मिलते हैं। द्वितीय चरण में हाथ से बने मृद्भाण्ड (Hand made Pottery), कुछ ताम्र उपकरण और मानव कब्रें (Human burials) मिले हैं। सबसे ऊपर के चरण में लौह उपकरण एवं चाक पर बने मृद्भाण्ड (Wheel turned Pottery) मिले हैं।

(2) आद्यैतिहास काल (Proto history)

इस काल में ताम्र पाषाणिक एवं कांस्य कालीन पुरास्थलों को रखा जा सकता है। राजस्थान में सबसे ज्यादा जिन पुरास्थलों का उत्खनन किया गया है, वे ताम्र पाषाण कालीन (Chalcolithic) ही हैं, इनमें से भी ताम्र पाषाण काल के प्रमुख उत्खनित स्थल मेवाड़ के क्षेत्र में हैं-

ताम्र पाषाण काल (Chalcolithic)

(1) आहाड़ (Ahar)

आहाड़ पुरास्थल वर्तमान में उदयपुर शहर का एक भाग है। यह आहाड़ नदी के तट पर स्थित है। मध्यकालीन शिलालेखों में इसे आघाटपुर (Aghatpur) कहा गया, जो गुहिल शासकों की राजधानी थी। यहाँ पर 10 मीटर मोटा सांस्कृतिक जमाव है, जो ताम्रपाषाण काल और प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से संबंधित है। सबसे पहले इसका उत्खनन राजस्थान राज्य पुरातत्त्व व संग्रहालय विभाग के आर. सी. अग्रवाल ने सन् 1954-55 और 1955-56 में कराया था। इसके बाद सन् 1961-62 में डेक्कन कॉलेज पूना और राजस्थान राज्य पुरातत्त्व विभाग के संयुक्त तत्वाधान में एच. डी. संकालिया के निर्देशन में किया गया। इस उत्खनन में दो काल के प्रमाण मिले हैं- ताम्र पाषाण कालीन उपकरण, मृद्भाण्ड तथा लौह अथवा प्रारंभिक ऐतिहासिक कालीन प्रमाण आदि।

(2) गिल्लूण्ड

यह आहाड़ संस्कृति का एक बड़ा पुरास्थल है, जो राजसमंद जिले में स्थित है। इसका सर्वप्रथम उत्खनन भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के बी. बी. लाल द्वारा सन् 1959-60 में कराया गया था। सन् 1999 से सन् 2002 के बीच यहाँ पर पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय (Pennsylvania University) के जी. एल. पोसेल (G. L. Possehl) और डेक्कन कॉलेज पूना के वी. एस. शिन्दे ने संयुक्त रूप से पुनः उत्खनन कराया। उत्खनन में मोती (Beads), मृद्भाण्ड, अनाज संग्रह की कोठियाँ एवं साइलोज (Silos) एवं पकी मिट्टी की मुहर अंकित छाप मिली हैं।

(3) बालाथल

यह पुरास्थल उदयपुर से 40 कि.मी. उत्तर-पूर्व में वल्लभनगर तहसील में स्थित है। यद्यपि यह पुरास्थल 5 एकड़ में फैला था, किंतु वर्तमान में 2 एकड़ ही क्षेत्र शेष बचा है बाकि का खेती के कारण नष्ट हो गया है। यहाँ पर सन् 1994 से 2000 के बीच डेक्कन कॉलेज पूना के वी. एन. मिश्रा, वी. एस. शिन्दे, आर. के. मोहन्ती तथा राजस्थान विद्यापीठ के डॉ. ललित पाण्डेय, जीवन सिंह खरकवाल आदि ने संयुक्त उत्खनन कराया था। उत्खनन में दो सांस्कृतिक चरण मिले हैं- 1. ताम्र पाषाण काल एवं 2. प्रारंभिक ऐतिहासिक काल। इस पुरास्थल का मुख्य रूप से लौह कार्य किया गया था।

(4) ओझियाना

ओझियाना (25°53' N; 74° 21' E) नामक पुरास्थल भीलवाड़ा जिले में स्थित है। इसका उत्खनन सन् 1999 से 2001 के बीच भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के बी. आर. मीणा और आलोक त्रिपाठी ने कराया था। यहाँ से आहाड़ संस्कृति के मृद्भाण्ड, पकी मिट्टी के खिलौने एवं अन्य पुरावस्तुएँ मिली हैं।

(5) लछुरा (Lachhura)

लछुरा (26° 24' N; 77° 53' E) नामक पुरास्थल भीलवाड़ा जिले में स्थित है। इसका उत्खनन सन् 1998-99 में बी. आर. मीणा ने किया था। यहाँ पर उत्तर आहाड़ संस्कृति (Late Ahar Culture) एवं 200 ई. तक का सांस्कृतिक जमाव मिलता है।

(3) प्रारंभिक ऐतिहासिक कालीन अथवा लौह युगीन पुरास्थल

मेवाड़ क्षेत्र में उत्खनन किये गए आहाड़ संस्कृति से संबंधित पुरास्थल आहाड़ एवं बालाथल से भी प्रारंभिक ऐतिहासिक कालीन प्रमाण मिले हैं। इसके अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण पुरास्थल नगरी है। जिसका वर्णन निम्न है-

(1) नगरी

नगरी वर्तमान में एक छोटा कस्बा है जो चित्तौड़गढ़ से 18 कि.मी. उत्तर में बेड़च नदी के तट पर स्थित है। इसकी खोज सन् 1871-72 में कार्लाइल (Carlleyle) ने की थी। सर्वे के दौरान यहाँ पर प्रारंभिक ऐतिहासिक कालीन अवशेष मिले थे। तत्पश्चात् इसका उत्खनन सन् 1915-16 में डी. आर. भण्डारकर ने कराया। उन्होंने यहाँ पर हाथी-बाड़ा (Hathi Bada or Elephant Stable) जो कि नगरी गाँव से बाहर था, में तथा महादेव मंदिर टीले की मुख्य गढ़ी पर उत्खनन कराया। हाथी-बाड़ा से चौथी शताब्दी ई.पू. के प्रमाण मिले हैं।

प्राचीन स्थल नगरी का समीकरण शिबि जनपद की राजधानी 'माध्यमिका' से किया गया है। भण्डारकर को यहाँ अनेक लेख युक्त शिलाएँ, मृण्मूर्तियाँ, प्रतिमाएँ, अलंकरण युक्त पुरूष शीर्ष, आहत एवं शिबि जनपद के सिक्के प्राप्त हुए हैं।

सन् 1961-62 में नगरी में के. वी. सौन्दराराजन के द्वारा उत्खनन कार्य किया गया (IAR 1962-63: 19-20)। इसके आधार पर यह जानकारी मिली कि प्राचीन नगरी की मुख्य बस्ती की सुरक्षा हेतु एक दीवार बनाई गई थी। इस दीवार का निर्माण संभवतः ईसा सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में हुआ। कुछ समय के पश्चात् इसे ईंटों के आधार द्वारा मजबूत बनाया गया। कुषाण काल से संबंध रखने वाले चक्रकूप (Ring Well) भी इस खुदाई से प्राप्त हुए हैं। सौन्दराराजन को उत्खनन द्वारा इस स्थान से प्रचुर संख्या में आहत सिक्के, मनके, गुप्त तथा शुंग शैली की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

(2) जावर (Zawar)

एम. एस. विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व एवं प्राचीन इतिहास विभाग के के. टी. एम. हेगडे (K.T.M. Hegde), हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड तथा रिसर्च लेबोरेटरी ऑफ दी ब्रिटिश म्युजियम के संयुक्त तत्वावधान में जावर (जिला उदयपुर) में प्राचीन जस्ता प्रगलन के फर्नेस को समझने हेतु उत्खनन किया गया।

यह प्राचीन जस्ता अयस्क माइनिंग और स्मेल्टिंग पुरास्थल अरावली पर्वत शृंखला में टीरी नदी (Tiri River) के किनारे स्थित है। इस पुरास्थल के आसपास प्राचीन माइनिंग पिट्स, जिंक डेबरीस, रिटोर्ड्स (Retorts), फर्नेस फ्रेगमेंट, राख (Ash) आदि प्राप्त हुए हैं।

इन पुरास्थलों के सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि इन माइंस में 120 मीटर एवं इससे भी अधिक की गहराई तक खनन किया जाता था। ये सभी गहराई में विभिन्न गेलरीज (Galleries) में जाकर खुलती हैं। इन गेलरी में लकड़ी को सहारे के रूप में लगाया गया था, जो लगभग 100 मीटर की गहराई पर मिली हैं, के आधार पर रेडियो कार्बन तिथि पद्धति के द्वारा दो तिथियाँ ज्ञात की गई हैं, ये तिथियाँ हैं-2120 ± 60

और 1920 ± 50 B.P. हैं। जिनके आधार पर जावर में प्राचीन समय में जस्ता माइनिंग और स्मेल्टिंग उद्योग पर प्रकाश पड़ता है।

जावर से प्राप्त जिंक माइनिंग एवं स्मेल्टिंग के प्रमाण, रिटोर्ड्स, फर्नेस आदि के द्वारा हम प्राचीन समय में किस तरह जस्ते का उत्पादन किया जाता था, को समझ सकते हैं।

उपर्युक्त पुरास्थलों के अलावा मेवाड़ में हाल ही में राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर के डॉ. ललित पाण्डेय ने इसवाल, नठारा की पाल (जिला उदयपुर) एवं छतरीखेड़ा का उत्खनन कराया। ये पुरास्थल ताम्रपाषाण काल, प्राचीन काल एवं मध्यकालीन संस्कृति से संबंधित हैं। इन पुरास्थलों की उत्खनन रिपोर्ट अभी प्रकाशित होना बाकी है। उपर्युक्त प्रकार से मेवाड़ क्षेत्र में उत्खनित पुरास्थल हैं।

पुरातत्त्व का पर्यटन में महत्त्व

(राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

आसिफ हुसैन एवं आफताब हुसैन

पुरातत्त्व मानव अतीत के उन पक्षों को उजागर करने का एक सशक्त माध्यम है जिनके संबंध में लिखित साक्ष्यों से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। हिन्दी भाषा में 'पुरातत्त्व' शब्द अंग्रेजी भाषा के आर्कियोलॉजी (Archaeology) शब्द के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता है। आर्कियोलॉजी शब्द यूनानी भाषा के "आर्कियोस" (Archaios) तथा 'लोगोस' (Logos) शब्दों से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है - 'पुरातन ज्ञान' (पाण्डेय, 1992)। सर्वप्रथम पुरातत्त्व का विकास पाश्चात्य जगत् में यूनान व रोम के अतीत की खोज के साथ प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् पुरातत्त्व का विकास विभिन्न देशों में हुआ। भारत में भी विभिन्न विश्वविद्यालयों, संस्थाओं एवं भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के कार्यों से पुरातत्त्व का समुचित विकास हुआ है। प्रारंभ में पुरातत्त्व के अन्तर्गत उन्हीं अवशेषों अथवा वस्तुओं को लिया जाता था जो पुरातात्विक उत्खनन (Excavation) में प्राप्त होती थीं। किंतु कालांतर में पुरातत्त्व के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनसे मानव के सांस्कृतिक आचरण का अध्ययन किया जा सके।

पुरातत्त्व को पर्यटन से अलग नहीं रखा जा सकता है। क्योंकि इतिहास एवं पुरातत्त्व एक-दूसरे के परस्पर पूरक हैं और पर्यटक मुख्यतः ऐतिहासिक स्थलों पर भ्रमण को जाता है। वह ऐतिहासिक वस्तुओं एवं स्मारकों के माध्यम से अतीत से एक

रोमांचकारी संबंध जोड़ता है। भारत में आने वाले विदेशी पर्यटकों में प्रत्येक तीन में से एक पर्यटक राजस्थान केवल इसी कारण से आता है कि यहाँ पर भरपूर ऐतिहासिक सम्पदा है। पर्यटन पर शोध कार्य कर रहे विभिन्न लेखकों ने ऐतिहासिक इमारतों को मोन्यूमेण्टल हेरिटेज (Monumental Heritage) कह कर चार श्रेणियों-बौद्ध स्मारक, हिन्दू स्मारक, भारतीय-इस्लामिक स्मारक एवं वे स्मारक जो यूरोपियन एवं ब्रिटिश संस्थाओं से जुड़े हुए हैं, में बाँटा है। इतिहासकार इन्हें प्राचीन भारत, मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत के स्मारक कहते हैं (व्यास, 2008)। अतः पर्यटन के क्षेत्र में पुरातत्त्व का काफी महत्त्व है। वर्तमान में ग्रामीण एवं क्षेत्रीय पर्यटन को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रमुख नगरों एवं ऐतिहासिक स्थलों के अलावा किसी भी क्षेत्र के आंतरिक भागों के इतिहास व संस्कृति का परिचय प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। यदि हम पुरातत्त्व को इस विषय से जोड़े तो विभिन्न क्षेत्रों में किये गये पुरातात्विक सर्वेक्षणों (Archaeological Survey) एवं उत्खननों (Excavations) को इसमें रखा जा सकता है। राजस्थान में आने वाला पर्यटक यहाँ की पुरातात्विक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक धरोहर को देखकर अभिभूत हो जाता है। राजस्थान प्रागैतिहासिक दृष्टि से समृद्ध है। यहाँ प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष कई स्थानों पर पाये गए हैं।

विजयदान देथा के कथा-साहित्य में लोक-संस्कृति

अनीता

साहित्य में समाज की अंतरात्मा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। समाज में जो कुछ भी घटित होता है या हो रहा है, उसकी अनुगूँज, उसकी अनुकृति, उस समाज के साहित्य यानि लोक-कथा में व्यक्त होती है। समाज का ये लोक साहित्य उस समाज के लोक विश्वास, लोक-आस्था और लोक-श्रद्धा की जीवन्त और अनुपम अभिव्यक्ति होते हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी युगो-युगों से मानव समाज में अपने अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

विजयदान देथा के कथा साहित्य में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का अस्तित्व सर्वोपरि है। लोक कथाओं के माध्यम से देथा ने राजस्थान साहित्य में प्रवेश किया। उन्होंने लोक प्रिय कथाओं की विषयवस्तु का संबंध समाज की सामूहिक अनुभूतियों एवं क्रिया-कलापों से स्थापित किया। देथा में सामाजिक जीवन, राजनीतिक जीवन, आर्थिक जीवन और सांस्कृतिक जीवन के धनीभूत अनुभवों के माध्यम से जीवन के यथार्थ एवं सत्य को पहचानने की क्षमता थी। देथा ने राजस्थानी ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारतीय जन समाज की लोक संस्कृति को अपनी कथाओं में साकार किया। देथा के रचना संसार में राजस्थान का लोक जीवन और लोक रस बसा हुआ है। देथा ने हिन्दी

और राजस्थानी दोनों भाषाओं में लिखा है। देथा ने लिखना प्रारंभ तो हिन्दी में किया था लेकिन बाद में उन्होंने अपनी लेखनी का माध्यम राजस्थानी भाषा को बनाया। लोक कथाओं के माध्यम से देथा ने राजस्थानी साहित्य में प्रवेश किया। उन्होंने लोक प्रिय कथाओं की विषय-वस्तु का समाज की लोक-संस्कृति एवं क्रियाकलापों से संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है।

‘बातां री फुलवाड़ी’ में विविध विषयक कथाएँ संकलित हैं जिनमें लोक-कथाओं पर आधारित कहानियों में लोक-संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे को जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है। देथा ने राजस्थानी जन-समाज की सांस्कृतिक एवं लौकिक अनुभूति को इन कथाओं में साकार रूप प्रदान किया है। इन कहानियों के अंतर्गत देथा ने लोक-कथाओं की परम्परा में सामंती समाज शोषणवृत्ति, धार्मिक-कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज, सामाजिक जीवन आदि की दुर्व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का सच्चा प्रारूप उभारने का प्रयास किया है। देथा का लगभग सम्पूर्ण कथा साहित्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से लोक-संस्कृति पर आधारित है। देथा ने लोक-संस्कृति में प्रचलित कुप्रथाओं जैसे-दहेज प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, जर्मीदारी प्रथा, अंधविश्वास आदि का वर्णन किया।

देथा की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वे लोक कथा की आत्मा को जीवित रखने के लिए उसका पुनः सृजन करते हैं। देथा लोक जीवन में पूरी तरह से डूबे हुए हैं। देथा की कहानियों की लोक शैली और ग्रामीण तर्ज की बनावट अत्यन्त प्रभावकारी है जिनमें सामंती व्यवस्था का कीचड़ भी मौजूद है। देथा की कहानियाँ राजस्थान के पारम्परिक समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत करती हैं। देथा का कथा साहित्य लोक-जीवन के प्रत्येक पहलू को छूता है। दुविधा, सपनप्रिया, उलझन, दोहरी जिन्दगी, दूजो कबीर, नाहरगढ़ जैसी कई कहानियों में आधुनिक मूल्य बोध और लोक जीवन की विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति की गई है।

देथा के कथा साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी कहानियों में लोकधुन, लोक-संस्कृति, लोकाचारों का चित्रण किया है। कहानियों में लोक-जीवन की विविध छवियाँ अंकित हुई हैं तथा देथा की मूल चेतना लोक जीवन से सम्बद्ध है। उन्होंने अपने कहानी संग्रहों में ग्राम्य संवेदना को पूरी सूक्ष्मता और आत्मीयता के साथ व्यक्त किया है। उनकी कहानियों में गाँव की वेशभूषा, खान पान, रहन-सहन का जीवंत चित्रण प्रकट हुआ है। इनके कथा-साहित्य का निर्माण वास्तव में लोक संपृक्ति से ही संभव हो सकता है। इनकी कहानियों में लोक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति देखते ही बनती है। इनका कथा साहित्य जीवन्त अनुभवों का प्रामाणिक दस्तावेज है। लोक जीवन के परिवेश में मानव और पशुओं के लिए पारम्परिक

सहयोग-भाव, आत्मीयता, प्रेम और श्रम की भूमि है जहाँ पर किसान और बैलगाड़ी, किसान और हल, बैल और हलवाहा, गाड़ीवान, कुदाल और किसान का संबंध अविच्छिन्न है।

इस प्रकार देथा ने लोक-जीवन, परिवेश, संस्कारों आदि के साथ-साथ लोक के यथार्थ को उसके नए-नए अंतर्विरोधों और अंतः संबंधों का चित्रण किया है। देथा ने लोक और संस्कारों के उत्थान के प्रति गहन आस्था प्रकट की है परन्तु इनके नाम पर किए गए आडम्बरों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों का विरोध किया है। इन्होंने लोक संस्कृति के विकास के लिए व्यक्ति के हार्दिक परिवर्तन को महत्व दिया है और इसी परिवर्तन के आधार पर समाज का कल्याण और उन्नति को संभव बताया है। देथा ने दोषपूर्ण व्यवस्था, परम्परा और रूढ़ियों इत्यादि का विरोध करके मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

विजयदान देथा लोक संस्कृति के रूपों में आधुनिक रंग भरते हैं। देथा लोक जीवन के अधिक निकट है क्योंकि ये लोक से उठकर ही साहित्य तक पहुँचे हैं तथा लोक के सभी पक्षों को पूर्ण सजीवता के साथ अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

देथा के साहित्य में सामाजिक जीवन को आधार बनाकर लिखी गई कहानियों का प्राधान्य रहा है, जिनमें समूह जीवन, पारिवारिक जीवन और वैयक्तिक जीवन अर्थात् समष्टि से लेकर व्यष्टि जीवन तक की परिस्थितियों और समस्याओं को भिन्न-भिन्न स्तरों पर छुआ है। “एक घर-गृहस्थ गरीब था। दो-तीन पीढ़ियों से घर की गाड़ी बस जैसे-तैसे घिसट रही थी। बोहरे का पिण्ड छूटता ही न था। तब सुख का साँस आता कैसे! बीस-पच्चीस गायें, साठेक बीघा करसणी जमीन और सौ एक बीघा काँकरिया मगरा। बस, यही उसकी कुछ जायदाद थी।”

देथा के कथा साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन, सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है, इसलिए सुधार एवं निर्माण की भावनाओं को कहानियों में प्रश्रय दिया गया है। देथा ने सामाजिक जीवन में पारिवारिक जीवन के साथ-साथ सम-सामयिक जीवन मूल्यों से उत्पन्न सामाजिक चेतना को भी कहानियों के माध्यम से भाषित करने के प्रयास किए हैं। देथा के समय में समाज विविध वर्णों तथा जातियों में विभक्त था। वर्ण एवं जाति व्यवस्था के स्पष्ट प्रमाण उनके कथा-साहित्य में सरलता से मिल जाते हैं। जातिवाद का जहर इतना अधिक प्रबल था कि उच्च जाति निम्न जाति को अपनी परछाई से भी दूर रखती थी।

देथा ने अपने कथा साहित्य में राजा सामंत एवं सम्पूर्ण शासनतंत्र की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की है। देथा की कृति ‘बातां री फुलवाड़ी’ में वर्णित है कि राजा व

राजकुमार शिकार करने के लिए जाते हैं तो उनके लिए हाथी, ऊँटों, घोड़ों को सजाया जाता है तथा साथ ही उनकी रक्षा के लिए सेना भी भेजी जाती है। देथा ने अपने कथा साहित्य में राजनीतिक जीवन के बारे में विस्तार से लिखा है। उनकी कथा में राजा एवं सामंत, महाजन आदि स्वार्थ के वशीभूत होकर अनीति एवं षड्यंत्र के साथ भोली-भाली जनता पर शोषण, अनाचार, अन्याय करते थे। यद्यपि देथा के लोक जीवन में राजा का महत्वपूर्ण स्थान था। जन सामान्य अपने स्वामी की रक्षा करना अपना कर्तव्य मानते हैं। “ठाकुर क्या था, यम का ही प्रत्यक्ष अवतार। ठाकुर के नाम से नींद में भी प्रजा चौंक-चौंक उठती।”

देथा ने मंत्र, जादू-टोना, इन्द्रजाल, धार्मिक-अनुष्ठान तथा विधि-कर्म, भूत-प्रेत आदि की अभिव्यक्ति भी अपने कथा साहित्य में की है। देथा ने कुछ मुख्य संस्कारों का भी वर्णन किया है जैसे-नामकरण, जातकर्म, निष्क्रमण, विवाह आदि। इसी प्रकार देथा ने विभिन्न प्रकार के पर्वोत्सवों का वर्णन भी अपनी कहानियों में किया है जो उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण का ही परिचायक कहा जा सकता है।

अंत में कहा जा सकता है कि देथा का कथा साहित्य लोक संस्कृति, लोक-मानस एवं लोक तत्वों से मंडित होकर दीर्घ हो गया है। अपने निजी अनुभवों और व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर देथा ने अपने कथा साहित्य में लोक जीवन के विविध पहलुओं, समस्याओं, विसंगतियों तथा दैनिक जीवन में समस्याओं के साथ जूझने का, उनमें हो रहे परिवर्तन आदि का प्रामाणिकता से चित्रण किया है। लोक संस्कृति हमारे अतीत की धरोहर एवं भविष्य की पथ प्रदर्शिका है। इसलिए इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखना चाहिए।

डीडवाना में निरंजनी सम्प्रदाय के प्रमुख स्मारक

डॉ. अरुणा सोनी

राजस्थान में भी प्राचीनकाल से विविध धार्मिक परम्पराओं एवं सम्प्रदायों की आराधना पद्धति प्रचलित थी। दार्शनिक दृष्टिकोण से राजस्थान में निर्गुणवादी एवं सगुणवादी भक्ति की दोनों परम्पराओं में निर्गुणवादी परम्परा की लोकप्रियता अधिक प्रचलित रही है। पूर्व मध्यकाल में धर्म में अनेक परिवर्तन देखने को मिलता है। इसी परम्परा की शृंखला में सन्त सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। राजस्थान में अनेक जाति समुदायों के पृथक-पृथक रीति-रिवाजों नितियों एवं रस्मों ने नूतन संस्कृति को जन्म दिया। इसी नवीन संस्कृति ने सनातन भारतीय संस्कृति की मूल भावना के अनुरूप समस्त विचारों के समायोजन द्वारा नये मौलिक आदर्शों की उदभावना की प्रवृत्ति को

क्रियाशील किया। फलस्वरूप प्रदेश के लोकमानस की सामान्य प्रकृति ही उदारता, सहिष्णुता एवं सामंजस्य परकता से ओत-प्रोत हो गई। इस प्रकार मध्यकालीन राजस्थान की प्रमुखतम सांस्कृतिक विशेषता पूर्वाग्रह रहित होकर सदगुणों की ग्रहणशील प्रवृत्ति और आचरण तथा प्रत्येक पंथ सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण की विद्यमानता रही है। इसी परिप्रेक्ष्य में विशनोई, जसनाथी, निरंजनी, दादूपंथी, लालदासी, चरणदासी आदि विभिन्न संत सम्प्रदायों के अतिरिक्त पूर्ववर्ती सिद्ध नाथ तथा लोक देवता परम्परा के प्रति भी जनमानस का समान रूप से समर्थन संरक्षण प्राप्त हुआ। राजस्थान में मध्यकाल में जो सन्त सम्प्रदाय प्रचलित हुये, जिन महान् सन्तों का इस काल में अवतरण हुआ उन सब ने सामंजस्य, समन्वय, क्रांतिकारी सुधार की भूमिका निभाई।

डीडवाना नगर : आभानगरी के नाम से प्रसिद्ध डीडवाना की बनावट अत्यन्त ही सुन्दर है। नागौर जिले का यह कस्बा गौरवमयी, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, नैसर्गिक एवं आध्यात्मिक आस्था का केन्द्र स्थल है। मध्य काल में यह मारवाड़ के जोधपुर रियासत का एक परगना था। इसमें ब्राह्मण, राजपूत व जाट मुख्य निवासी थे। इसके अधीन अनेक जागीरी ठिकाने जैसे लाडनूँ, बैरी बड़ी, नहवा, लेडी और तोसीना है। डीडवाना में प्राचीन कलात्मक मन्दिर, स्मारक, मठ, नमक की झील एवं सुन्दर ताल-तलैया के अलावा अनेक पुरा महत्व के दर्शनीय स्थल है। यहां के प्राचीन नागौरी दरवाजा, अजमेरी दरवाजा, खिडकी दरवाजा, छापरी दरवाजा मन्दिर एवं सरकी माता का मन्दिर है। मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों की आस्था स्थली के रूप में गुदड़ी बाजार स्थित जामा मस्जिद, ईदगाह और पीर पहाड़ी है। इसी प्रकार डीडवाना अनेक धार्मिक सम्प्रदायों (दादू पंथी, नाथ सम्प्रदाय) का आस्था स्थल रहा है। यह क्षेत्र निरंजन सम्प्रदाय, निम्बार्क पीठ, रामानुज सम्प्रदाय, सनातन, शाक्त, शैव, सैयद, पठान एवं जैन मतावलम्बियों का अनुठा संगम माना जाता है।

यह क्षेत्र प्राचीन काल में संस्कृत शिक्षा में अग्रणी रहने के कारण न केवल आभानगरी के नाम से अलंकृत हुआ बल्कि इसे उपकाशी के नाम से भी अभिमंडित होने का गौरव मिला। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार संवत् 318 बैशाख कृष्ण पक्ष की अष्टमी को शेषराम डीडवानक रखा। प्राचीन शिलालेखों में भी इसका उल्लेख मिलता है। जो वर्तमान नगर से पूर्वी भाग में बसे झील के किनारे के आस-पास का क्षेत्र है। यहां प्राचीन स्थापत्य कला का ‘सरकी माता का मन्दिर’ भव्यता लिये हुये है।

पहले यह सांभर के चौहानों के कब्जे में रहा था। पीछे मुगल बादशाहों के अधिाकार में रहा। तत्पश्चात् कयामखानी नवाब झूझनू के अधिकार में रहा जिससे छीनकर महाराज बख्तसिंह ने विक्रम संवत् 1804 में अपने राज्य में मिला लिया। यहां बादशाह अकबर की एम मस्जिद, श्यामजी व बाराही माता का मन्दिर देखने योग्य है। शहर से एक मील पर वायव्य कोण में गढ़ा नामक स्थान है। जहां बहुत से मन्दिर व मकान

निरंजनी साधुओं के लिए बने हुये हैं। फाल्गुन मास में यहा मेला लगता है। इस पंथ को हरीदास ने वि.सं. 1600 के लगभग चलाया था। महाराजा विजयसिंह के प्रसि) करामाती गुरु साधु आत्माराम इसी पंथ के थे। डीडवाना में प्राचीन ग्रन्थों का अनुठा सन्दर्भ केन्द्र व साहित्य का अनुपम भण्डार 'हिन्दी पुस्तकालय' है, जो महत्वपूर्ण है।

डीडवाना में निरंजनी सम्प्रदाय के प्रमुख स्मारक :

पाढामाता का मन्दिर : हरिसिंह जो कि लूटमार, चौरा, डकैती से अपना एवं अपने परिवार का भरण पोषा करते थे, गोरखनाथ जी के चमत्कार से उनके भीतर ज्ञान का विकास हुआ। विक्रम सं. 1556 में गृह त्याग कर हरिदासजी तीखली डूंगरी नामक स्थान पर गुफा बनाकर उसमें साधना मार्ग में प्रवृत्त हुये। ऐसी मान्यता है कि पाढा देवी के विशेष आग्रह पर हरिदास जी ने देवी को दीक्षित किया मगर हरिदास ने देवी से वचन लिया कि वे अब आगे से पशुबलि ग्रहण नहीं करेगी तब से आजतक यहां पशुबलि पूर्णतया निषिद्ध है। यह मन्दिर डीडवाना के कोट मोहल्ले में स्थित हे इसमें विशेष रूप से भगवती दुर्गा माँ की प्रतिमा है। यह नगर का सबसे प्राचीन मन्दिर है। नवरात्री में पाढा (भैसा) की बलि दी जाती थी मगर अब पशुबलि पूर्णतः निषिध है। मन्दिर के मुख्य द्वार के ऊपर झरोखानुमा खिडकिया बनी है मन्दिर का शिखर अमलाकार है।

पीपली मन्दिर : पाढा माता द्वारा स्वप्न में द्वारकादास (गाठाजी) को आदेश देने उपरान्त, गाठा जी के आग्रह पर जब पहली बार हरिदास जी तीखली डूंगरी से डीडवाना पधारे तब इसी स्थान पर विराजे। उस समय यहां एक चबूतरा था और बिहाणियों के धर थे। आज वहां एक मन्दिर है जिसे पीपली मन्दिर कहते हैं।

गाठाधाम : चार सौ वर्ष पहले हरिदास जी ने इसी स्थान पर समाधि ली थी। इस स्थान पर उनके शिष्य गाढा जी बिहाणी ने वर्तमान देवल बनवाया था। यही स्थल निरंजनी मत का उद्गम स्थल है। फाल्गुन सुदी 6 को हरिदास जी की गुदड़ी के दर्शन होते हैं तथा फाल्गुन सुदी 11 को गाढा जी का निधन तिथि होने से 6 से 11 तक तथा बाद में फूलडोल तक यहां मेला भरता है जिसमें भारत से निरंजनी सन्त भाग लेते हैं। नव निर्मित 'दयाल कीर्ति स्तम्भ सगमरमर का एक दर्शनीय स्तूप है, जिस पर हरिपुरुष (हरिदास जी) की जीवनी, निरंजनी सिद्धान्त एवं शिष्य परम्परा उत्कीर्ण है।

गाढा धाम 20 स्तम्भों से अलंकृत है। मूलतः यह एक चबूतरे पर बना है जिसमें 20 अलंकृत स्तम्भ है तथा मध्य में ऊपर छतरी बनी है। यही वर्तमान में निरंजनी सम्प्रदाय का मेला लगता है। इसी छत्री के निकट निरंजनी सम्प्रदाय का लेख मिला है।

वृद्धावस्था में हरिदास जी डीडवाना ही विराजे तथा फाल्गुन शुक्ल 6 सं. 1600 में 88 वर्ष की अवस्था में अनन्त ब्रह्म में लीन हो गये और यही स्थान गाढा धाम कहलाता है। प्रतिवर्ष मेले में निरंजनी सन्तों का आगमन यहां होता है क्योंकि डीडवाना उनका पुनीत स्थल है। निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त डीडवाना में ही नहीं वरन् पूरे भारत में कई स्थानों में रहते हैं मगर डीडवाना निरंजनी सम्प्रदाय का तीर्थ स्थल, पीठास्थली एवं पुनित स्थली है। इस सम्प्रदाय का उद्गम डीडवाना में होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व और अधिक बढ गया है।

रणछोड़भट्टकत राजप्रशस्ति महाकाव्य की ऐतिहासिकता

गिरिजा कुमारी

सत्रहवीं शताब्दी का समय सांस्कृतिक पुनर्जागरण का समय था। इस समय देश में पुनर्जागृति के अनुरूप विपुल साहित्य का निर्माण विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत हुआ। संस्कृत में साहित्य की उल्लेखनीय समृद्धि और प्रगति भी हुई। सर्वोच्च काव्य-विधा के अन्तर्गत महाकाव्यों का अनल्प लेखन हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के कतिपय कवियों ने अपने आश्रयदाता के जीवनचरित्र को महाकाव्य का मुख्य विषय बनाया है जिसके अन्तर्गत तत्कालीन राजनीति का कहीं यथार्थ चित्रण हुआ है और कहीं उसका उदात्तीकरण प्रस्तुत किया गया है। राजप्रशस्ति महाकाव्य भी इसी श्रेणी का उत्कृष्ट महाकाव्य है जिसकी तुलना राजतरंगिणी से की जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

राजस्थान के उदयपुर नगर के चालीस मील उत्तर की दिशा में महाराणा राजसिंह द्वारा बनवाया हुआ राजसमुद्र नामक एक सरोवर है। सरोवर की लम्बाई चार मील तथा चौड़ाई एक मील है। इसका बांध धनुषाकार तीन मील लम्बा है। बांध का एक भाग नौचौकी कहलाता है, जो संगमरमर का बना हुआ है। इसी नौचौकी घाट में राजप्रशस्ति महाकाव्य शिलालेख के रूप में आज भी विद्यमान है।

इस महाकाव्य को 25 बड़ी-2 शिलाओं में उट्टंकित करवाकर घाट की ताकों में लगवाया गया है। यह काले पत्थर की शिलाओं पर देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण किया गया है। पहली शिला में देवताओं की स्तुति है। शेष चौबीस शिलाओं में प्रत्येक पर एक सर्ग अंकित है। यह भारत का सबसे बड़ा शिलालेख है। मेवाड़ के महाराजाओं की गौरवपूर्ण परम्परा में महाराणा राजसिंह को प्रधान विषय बनाकर रणछोड़ भट्ट ने

इस महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में चौबीस सर्ग हैं। राजसिंह के जीवनजात कार्यकलापों में से राजसमुद्र नामक महातड़ाग के निर्माण कार्य को वस्तु योजना में सर्वाधिक महत्व दिया गया है। कवि ने आश्रयदाता की प्रशस्ति का आधारस्तम्भ वस्तुतः राजसमुद्र को ही बनाया है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में अनेक देवताओं की स्तुति की गई हैं। द्वितीय सर्ग से पंचम सर्ग तक राजसिंह के पूर्वजों की परम्परा का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ आप्पारावल, उदयसिंह, राणा प्रताप आदि कतिपय राजाओं की प्रमुख उपलब्धियों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। तथा सृष्टि के प्रारम्भ तक के अन्य कुलपुरुषों का मात्र नामोल्लेख है। षष्ठ सर्ग से त्रयोविंश सर्ग के प्रारम्भ तक राजसिंह के जीवनचरित्र की योजना है। महाकाव्य के अवशिष्ट भाग में जयसिंह के प्रारम्भिक शासनकाल के वर्णन के पश्चात् राजसिंह की विशेष प्रशस्ति तथा काव्याध्ययन के फलकथन से महाकाव्य की परिसमाप्ति है।

राजप्रशस्ति महाकाव्य प्रधानतया इतिहास ग्रन्थ है। और कविता इस ग्रन्थ का गौण विषय है। कवि ने इसे स्वयं भी महाकाव्य कहा है। इसे प्रशस्ति काव्य भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के महाकाव्य संस्कृत साहित्य में अनेक लिखे गये हैं। राजतरंगिणी की परम्परा में लिखित महाकाव्य राजतरंगिणी से कुछ भिन्न है। राजतरंगिणी में कवित्व भावना विशेष है। जबकि राजप्रशस्ति में ऐतिहासिक सत्य पर निरन्तर केन्द्रित रहती है। प्रशस्तिकाव्य होने के कारण कवि ने आश्रयदाता की प्रशंसा कर अभिष्ट पूर्ति की है। महाराजा राजसिंह ने चरित्र से सम्बद्ध जिन घटनाओं का वर्णन कवि ने इसमें किया है वे सब प्रत्यक्ष सर्वथा वास्तविक घटनाओं हैं। विशेषकर राजसमुद्र के निर्माण कार्य की दुष्करता का। उस पर हुए खर्च का उसके आकार प्रकार तथा प्रतिष्ठा आदि का इसमें यथातथ्य वर्णन हुआ है। इसके साथ-साथ तत्कालिन मेवाड़ की संस्कृति, वेशभूषा, शिल्पकला, मुद्रा, दानप्रणाली, युद्धनीति, धर्म-कर्म इत्यादि अनेकानेक अन्य विषयों पर भी इससे समुचित प्रकाश पड़ता है। महाराणाओं का मुगल बादशाहों तथा अन्य राजाओं के साथ हुए युद्धादि का उल्लेख पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करता है। राणा राजसिंह के पूर्ववर्ती राजाओं का इतिहास इसमें कुछ संदिग्ध हैं। विभिन्न घटनाओं का समयानुसार उल्लेख ग्रन्थ की ऐतिहासिकता को पुष्ट करता है। विभिन्न घटनाओं की तिथियों की उल्लेख इसमें पचास से अधिक स्थलों पर हुआ है। राजप्रशस्ति की ऐतिहासिकता का उल्लेख करते हुए कवि राजप्रशस्ति को काव्यगुणों से पूर्ण, महाभारत के समान ऐतिहासिकता तथा रामायण के समान सूर्यवंश के वर्णन से युक्त बताता है।

कुचबंदिया जन-जाति के विभिन्न व्यावसायिक गौत्र

डॉ. राजशेखर पुरोहित

घुमन्तु जन-जातियों के अन्तर्गत कुचबंदिया समुदाय एक ऐसा समुदाय है जो पूर्णरूप से न जाति कहा जा सकता है और न ही जन-जाति। मूलतः ये अपनी उत्पत्ति राजपूतों से मानते हैं। ये कंजर जाति की उपशाखा के रूप में भी जाने जाते हैं। सम्भवतः आरम्भिक काल में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करने व जंगली क्षेत्रों में रहने के कारण इन्हें जन-जातिय समूह में रखा गया। सामान्यरूप से कुचबंदिया एक व्यावसायिक घुमन्तु जन-जाति के रूप में भी परिचित है। इस जाति के लोग खस व उरई के कूच (पंछा, ब्रष) बनाकर बेचते थे, इसी कारण इन्हें “कूच बांधने वाले” के नाम से जाना गया जो बाद में कुचबंदिया हो गया। वर्तमान समय में इस जाति के लोग कूच बांधने के साथ-साथ सन् की रस्सी व रस्सी से उपयोगी वस्तुएं बनाकर बेचते हैं। इसके साथ ही इस जाति के कुछ लोग षहद बेचने, कच्ची शराब बेचने, सूअर के बाल बेचने का कार्य भी करते हैं।

घुमक्कड़ व्यवस्था के दौरान कुचबंदिया जाति के पास कोई मूल अथवा निश्चित व्यवसाय नहीं था, अतः सर्वप्रथम कूच (पंछा) बनाने का व्यवसाय आरम्भ किया। इसके साथ ही इनके कुछ परिवारों में भिन्न व्यवसाय करने की विशेषताएं भी थीं, जिनके आधार पर विभिन्न समूहों के निर्माण हुए जो आज इनके गौत्र रूप में जाने जाते हैं। भारत में इस जाति के लोग बिहार के कुछ क्षेत्रों तथा मध्यप्रदेश के अन्तर्गत जबलपुर, विलासपुर, भोपाल, सागर रायगढ़, टीकमगढ़ तथा नरसिंहपुर आदि क्षेत्रों में अधिक पाए जाते हैं तथा अपने-अपने पृथक व्यावसायिक गौत्रों के नाम से भी परिचित हैं यथा-

(1) सौदा कुचबंदिया -

कुचबंदियों का एक जातिय समूह निकटवर्ती नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक वस्तुओं को खरीदकर अपने समुदाय में बेचने का कार्य करता था। इसी लिए इन्हें सौदागर कहा गया। इस सौदागर समूह की अपनी एक पृथक विशेषता थी, जिसके कारण यह चार भागों में बंट गए - (अ) बंजारी सौदागर (ब) सियानी सौदागर (स) रारी सौदागर (द) ढिमरेला सौदागर।

(2) सनकत कुचबंदिया -

कुचबंदियों का जो समूह सन् नामक पादप से रस्सी बनाने का कार्य करता था, वह सनकत कहलाया। वैवाहिक कारणों से इनमें भिन्नता आई और कालान्तर में ये भी

चार शाखाओं में विभक्त हो गए - (अ) गौण सनकत, (ब) हडौतिया सनकत (स) कनासिया सनकत (द) वैमण्ड सनकत।

(3) भैंस कुचबंदिया -

कुचबंदिया का एक समूह भैंस पालन व्यवसाय के कारण भैंस कुचबंदिया कहलाया। इसी जाति की मान्यता है कि इनके पूर्वज शारीरिक संरचना में भैंस के सदृश्य होते थे, इसी कारण ये भैंस कुचबंदिया कहलाए। कालान्तर में ये भी चार शाखाओं में विभक्त हुए - (अ) नकफुलिया भैंस कुचबंदिया (नोगजिया) (ब) झलरिया कुचबंदिया (स) लपासिया भैंस कुचबंदिया (द) नगाड़ची भैंस कुचबंदिया।

(4) मरैया कुचबंदिया -

इस शाखा के लोग प्रारम्भ से ही शारीरिक दृष्टि से कमजोर थे, अतः इनकी शरीरगत विशेषताओं के कारण ये मरियल कहलाने लगे तथा बाद में ये मरैया कुचबंदिया के नाम से जाने गए।

(5) चिरकू कुचबंदिया -

इस समूह के सदस्य अपनी व्यावहारिक विपेशताओं अर्थात् चीलम भरने और लड़ाई के कारण चिरकू अथवा रारा कुचबंदिया के नाम से जाने गए।

(6) ऊंटवार कुचबंदिया -

व्यापार एवं आवागमन के लिए ऊंटों का उपयोग करने वाली इस जाति की शाखा ऊंटवार कुचबंदिया के नाम से जानी गई।

(7) पुरबिया कुचबंदिया -

जो कुचबंदिया परिवार व्यवसाय की खोज में पूर्व दिशा की तरफ गए थे, और जब वापस लौटकर आए तो उन्हें पुरबिया कुचबंदिया के नाम से जाना गया।

कुचबंदिया समाज में प्रचलित व्यवसायों के विशय में एक कहावत भी उल्लेखनीय है-

“सौदा, सनकत, भैंस, मरैया, चिरकू रारा चिलम भरैया।।”

संक्षेप में कुचबंदिया समाज के विभिन्न व्यावसायिक गोत्रों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि कुचबंदिया जाति वर्तमान में भले ही एक घुमन्तु जन-जाति के रूप में परिचित है, लेकिन इसकी अन्य शाखाएं आज भी घुमन्तू व्यावसायिक जीवन ही व्यतीत कर रही हैं।

‘गुलाबड़ी’ उपन्यास में लोक संस्कृति

दानचा तोंगलुक

यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास के माध्यम से लोक-संस्कृति को उजागर किया है। इसमें जन-जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, धर्म, परंपराएँ, मान्यताएँ आदि आते हैं। इन्होंने इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में ऐसे अमर पात्रों व जीवन्त परिस्थितियों का सृजन किया है कि इन्हें राजस्थान प्रदेश का प्रतिनिधि कथाकार कह सकते हैं। सामंती संस्कृति के प्रति विद्रोह व दलितों के प्रति आयाम व अभाव की इतनी सजीवता के साथ उजागर किया है कि सम्पूर्ण उपन्यास राजस्थानी लोक-संस्कृति का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत की देहाती दुनिया का प्रमाणिक प्रतिबिम्ब प्रतीत होने लगता है। इसी संदर्भ में कथाकार कमलेश्वर का कथन है कि “राजस्थान के बहाने चन्द्र ने भारतीय यथार्थ को रूपाकृति दी है। उन्होंने लगातार जीवन्त राजस्थान को उत्कीर्ण किया है इसलिए उनकी रचनाएँ अपनी राजस्थानी पहचान के बावजूद आधुनिक भारत की रचनाएँ हैं।” यादवेन्द्र जी की यह विस्तृत संवेदना उनकी व्यापक लोक दृष्टि का परिणाम है।

‘गुलाबड़ी’ उपन्यास के अन्तर्गत यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने बीकानेर जिले के भौगोलिक व ग्रामीण संस्कृति का वर्णन किया है। इस उपन्यास में लोक-देवताओं के प्रति आस्था, लोक-विश्वास, लोक-गीत, रीति-रिवाज, परम्पराएँ मान्यताएँ रहन-सहन, खान-पान आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने इसमें भाषा का प्रयोग भी एक विशिष्ट रूप में किया। इनकी भाषा में आँचलिक भाषा तथा राजस्थान की बोली और जन-जीवन से गहरा संबंध रहा है। इन्होंने ग्राम्य जीवन में बोले जाने वाले सामान्य शब्दों तथा रूढ़िगत लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। क्षेत्रीय भाषा का प्रभाव भी दिखाई देता है। इसके साथ उन्होंने कथा वस्तु, पात्र-योजना, कथोपकथन आदि को भी अत्यंत मार्मिकता के साथ राजस्थान की लोक संस्कृति को परिलक्षित किया है। यह उपन्यास वस्तु व शिल्प दोनों दृष्टि से सफल एक सामाजिक उपन्यास है।

यह उपन्यास राजस्थान जन-जीवन, यथार्थ, विसंगतियों और संघर्षों को दर्शाता है। इसमें एक नारी गुलाबड़ी जो कि संघर्ष व सत्य का प्रतीक है, वह अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए अपनी संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज आदि का अस्तित्व बनाए रखती है। इस उपन्यास में लोक-देवताओं के प्रति आस्था, लोक विश्वास, लोक-गीत, रीति-रिवाजों, परम्पराएँ, मान्यताएँ, रहन-सहन, खान-पान आदि यथार्थपरक के साथ वर्णन किया गया है।

वेश-भूषा की दृष्टि से राजस्थान अपनी अलग पहचान रखता है। यहाँ के लोगों में पगड़ी दुसाफाऊ क विशेष रिवाज है। वह व्यक्ति की शान समझी जाती है। सामंत लोगों के लिए पगड़ी बांधना शान का प्रतीक है। यहाँ के पुरुष धोती, अंगरखी, कमीज, पगड़ी आदि पहनते हैं तथा पाँवों में जूतियाँ दूमोचड़ीऊ पहनते हैं। महिलाएँ घाघरा, काँचली, कुर्ती पहनती है तथा ओढ़नी ओढ़ती है। हवेली में जब वैरतणी का हवन शुरू होता है तो पंडित को देने के लिए सामान रखा जाता है जिसमें “ आँगन के समीप जो सालकी थी, उसमें स्त्री-पुरुष के पाँच वस्त्रों में पुरुष की धोती, गंजी, पगड़ी, कुर्ता, और जूतियाँ, स्त्री के लिए साड़ी, ब्लाऊज, लहंगा, ओढ़नी और पगरखी। सोने के गहनों में सुहाग चिन्ह, सिर का बोरिया, नाक का काँटा, पाँव की उँगलियों की मच्छियाँ चाँदी की थी। काजल की डिबिया और बिन्दी लगाने वाली हिंगलू की शीशी भी रखी हुई थी।” अतः ‘चन्द्र’ जी ने राजस्थानी लोक-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है तथा राजस्थानी लोक के पहनावे पर प्रकाश डाला।

राजस्थान के लोगों का जीवन साधारण होता है। कच्चे घर फिर उस पर मिह्नी का लेप, ऊपर छप्पर और पूरा परिवार एक ही सालकी में दूकमरे में रहता है। ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास की नायिका गुलाबड़ी के रहन-सहन का वर्णन ‘चन्द्र’ जी ने इस तरह किया - “वह भीतर सालकी में गई। सारा घर कच्चा था। कच्ची ईंटें और उस पर गेरूए रंग की मिट्टी का पलस्तर। सालकी में दो आले थे। एक बाँस की एक अलगनी बनाई हुई थी। उस पर गुलाबड़ी और गोपने के कपड़े टँगे हुए थे। दो कमीजें, एक जीर्ण-शीर्ण पगड़ी।”

किसी भी प्रदेश के जन-जीवन का यथार्थपरक वर्णन करने के लिए वहाँ के लोक-विश्वास, रीति-रिवाजों, लोक-जीवन आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास में राजस्थान की लोक-संस्कृति को सहज रूप से चित्रित किया है। राजस्थान में विवाह के लिए अनेक रिवाजों को अपनाया गया है जैसे- बहु-विवाह, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि। ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास में ‘चन्द्र’ जी ने बाल-विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है - “गंगा माली जाति की बामणी थी पर उन खानदानों से सम्बन्धित थी, जो सट्टा किया करते थे। . . . गंगा का विवाह भी सात वर्ष में हो गया था।”

इन सब रीति-रिवाजों के मध्य व्याप्त कुरीतियों को चन्द्र जी ने इस उपन्यास के माध्यम से उजागर किया। इसलिए इसमें लोक-जीवन पूरी मुखर उठा है। प्रत्येक समाज की अपनी मान्यताएँ तथा आचार-विचार होते हैं जो संस्कृति को उजागर करते हैं। राजस्थानी समाज की अपनी अलग मान्यताएँ हैं इन मान्यताओं में शकुन-अपशकुन, पितृ पूजा, जादू-टोने, झाड़ू-फूक, अंधविश्वास आदि आते हैं। तार्किकता से दूर यह

लोक समाज वैज्ञानिक युग में भी अपनी मानस के मन में गहराई से बैठ गई है। यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास के माध्यम से इन शकुन-अपशकुन आदि विश्वासों पर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया है। “घर से निकलते ही आटा, घी, दूध, खाली घड़ा, विधवा स्त्री, बिल्ली सामने आ जाए तो अशुभ मानते हुए यात्रा स्थागित कर दी जाती है। इसके विपरित दही, पानी से भरा घड़ा, सुहागिन, नारियल, पुत्रवती, कुँवारी कन्या और हरिजन सामने आ जाए तो अच्छे शकुन मानें जाते हैं।” अंधविश्वासों का भी ‘चन्द्र’ जी ने अत्यंत बखूबी के साथ प्रस्तुत किया - “यह मत समझना कि हमने इजाल में कोई कमी रखी है। खूब इलाज कराया। झाड़ागर को भी बुलाया। मैंने कई बार सुना था कि कुछ सपेरे पूँगी बजाकर जो साँप काटता है उसे वापस बुला लेते हैं और वह साँप वापस आकर अपना जहर मृतक के शरीर से चूस लेता है। तब मरा हुआ आदमी वापस जिंदा हो जाता है. . . .”

अतः कहा जा सकता है कि यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास के माध्यम से राजस्थान की लोक-संस्कृति को अत्यंत सजीवता के साथ उद्घाटित किया है। इन्होंने राजस्थान के रीति-रिवाजों, लोक विश्वास, पितृ पूजा, अंधविश्वास, लोक-गीतों आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसी तरह कथानक के माध्यम से निम्न वर्ग के रहन-सहन, खान-पान, व्यवस्था, आवास आदि का यथार्थपरक वर्णन किया। राजवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ने सरल व सटीक संवादों को अवलोकित किया है तथा लोक भाषा के माध्यम से राजस्थान की लोक-संस्कृति को वर्णित करने का सफल प्रयास किया है। अर्थात् अपने ‘गुलाबड़ी’ उपन्यास के माध्यम से लोक-संस्कृति का चित्रण करने में पूरी तरह सफल हुए हैं।

प्रतापगढ़ क्षेत्र का सांस्कृतिक विकास, विहंगावलोकन निधी कोमल

प्रतापगढ़ जिला राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में स्थित अपने उज्ज्वल अतीत के लिए प्रसिद्ध है। प्रतापगढ़ जिला उदयपुर संभाग में स्थित है। प्रतापगढ़ जिला उदयपुर संभाग में स्थित है। नया जिला प्रतापगढ़ 23° 40' उत्तरी अक्षांश व 74° 10' 74° 94' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। प्रतापगढ़ राज्य राजपूताना रियासत के दक्षिण छोर पर स्थित था, तब उसे काँठल के नाम से जाना जाता था।

प्रतापगढ़ शहर की स्थापना डोडेरिया खेड़ा नामक स्थान पर 1699 ई. में महारावत प्रतापसिंह ने की थी। यह राज्य 889 वर्ग मील में फैला हुआ था जिसके उत्तर

में ग्वालियर, दक्षिण में रतलाम, पश्चिम में उदयपुर एवं बाँसवाड़ा, पूर्व में जावरा राज्य में मन्दसौर व नीमच जिले स्थित थे।

रियासतकाल में प्रतापगढ़ को कांठल नाम से जाना जाता था। मालवा के प्रसिद्ध पठार का वह अत्यन्त उर्वरक भू-भाग जो चम्बल, शिवना जाखम, गंभीरी, रेतम और माही नदियों से घिरा हुआ है, कांठल कहलाता है। राणा कुम्भा का छोटा भाई क्षेम कर्ण कुम्भा से युद्ध टालने के लिए मालवा की ओर निकल गया। उसने अपने तलवार के बल पर नवीन राज्य की नींव डाली जिसे कांठल कहा जाता है। कांठल की राजधानी प्रतापगढ़ थी। जिसकी स्थापना प्रतापसिंह ने 1699 ई. में की थी। प्रतापगढ़के विलुप्त हुए गौरव को बरसों बाद सन् 2008 में वसुंधरा सरकार ने उसका राजस्थान का 33वाँ जिला बनाकर लौटाया। प्रतापगढ़ में उपखण्ड, पाँच तहसील व पाँच पंचायत समितियाँ हैं। प्राकृतिक सुषमा का धनी प्रतापगढ़ जिला बाँसवाड़ा, चित्तौड़, नीमच, रतलाम और मंदसौर जिलों से मिला हुआ है इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि यहाँ की आदिवासी-संस्कृति परम्परा पर न केवल राजस्थान बल्कि मध्यप्रदेश की भाषा, वेशभूषा, बोलियाँ और संस्कृति की भी छाप है। मध्यप्रदेश से प्रतापगढ़ की सरहदें लम्बाई में करीब 60 प्रतिशत हिस्से से मिलती हैं और भौगोलिक दूरियों के कम होने के कारण आज भी प्रतापगढ़ में बेटे-बेटियों का ब्याह करने के लिए मध्यप्रदेश की ओर क्षेत्रवासी जाते हैं।

प्रतापगढ़ में सभी धर्मों, मतों, विश्वासों और जातियों के लोग सद्भावनापूर्ण निवास करते हैं। पर यहाँ की जनसंख्या का मुख्य घटक 60 प्रतिशत मीणा आदिवासी है जो राज्य में 'अनुसूचित जनजाति' के रूप में वर्गीकृत है। जीवन-यापन के लिए मीणा परिवार कृषि, मजदूरी, पशुपालन और वन उपज पर आरक्षित है। मीणा जाति के रीतिरिवाज, लोकगीत, लोक नृत्य, वार त्यौहार और शादी ब्याह के तौर तरीके अलबेले हैं। मीणा जन जाति राज्य में सबसे ज्यादा नगरों में रहने वाली जनजाति है। मीणा जाति के शादी के मौके पर कोई भी आदिवासी स्टील की थाली और गिलास कन्यादान में भेंट देना नहीं भूलता। हर शादी में लकड़ी वालों के पास बड़ी संख्या में गिलास व थालियाँ जमा हो जाती हैं। जाति का सहभोज 'मौसर' हर शादी में आयोजित होता है। पहली पत्नी के जिंदा रहते हुए दूसरी या तीसरी शादी करना आदिवासी जाति बुरा नहीं मानती इसलिए इनमें बहुपत्नी विवाह लोकप्रिय है। विवाह के अवसर पर आदिवासियों में देशी शराब का प्रचलन है।

बाल विवाह कुप्रथा इस आदिवासी जाति में प्रचलित नहीं है। यहाँ एक जनजातीय परम्परा है वनदेवी पूजन जिसके अन्तर्गत निसंतान दम्पति छोटी पूजा करके अकेले वन में जाकर एक पेड़ को गुपचुप आग लगा देते हैं और यह मानते हैं कि इस

अग्निकांड से वनदेवी प्रसन्न होकर उनकी गोद भर देगी इस अन्धविश्वास के कारण सीतामाता अभ्यारण में बड़े पैमाने पर वृक्षों को जलाया जा रहा है। यहाँ एक विशिष्ट परम्परा प्रचलित है मौताणा, जो पूरे उदयपुर संभाग में खास कर आदिवासी जिले-प्रतापगढ़, बाँसवाड़ा, डूंगरपुर में प्रचलित है। इस परम्परा के अनुसार दुर्घटना में या अप्राकृतिक परिस्थितियों में मौत हो जाने पर सारी आदिवासी आबादी दोषी का तब तक घेराव रखती है। जब तक दोषी के द्वारा नकद मुआवजे और सारे समुदाय का देसी दारू का इंतजाम नहीं कर दिया जाता। मौताणा की रकम तय होने तक शव का अंतिम संस्कार नहीं किया जाता है। जुमाने की रकम कुछ सौ से कुछ लाख तक भी हो सकती है। प्रतापगढ़ में आदिवासियों जातियाँ पहाड़ की ऊँचाई पर केलु की छतों वाले कच्चे मकान बना कर निवास करती हैं जिसे कि अजनबियों को दूर से ही देखा जा सके। यहाँ पर ग्रामीण घरों में खिड़कियाँ नहीं बनाते हैं। मेहमानों का ढोल बजाकर स्वागत करना व साफा बाँधना यह रस्में इनकी पुरानी रस्में हैं। आदिवासी औरतों का मुख्य पहनावा सूती घाघरा, छपी हुई गहरी लाल-भूरी ओढ़नी और ब्लाउज है। स्त्रियाँ गहने प्रायः चाँदी के पहनती हैं। शादी में भी चाँदी के गहने भेंट स्वरूप दिए जाते हैं। स्त्रियाँ सिर पर बोर, पाँवों में कड़ी, बाँहों में बाजूबंद, उंगलियों में अंगूठियाँ और नाक में नथ धारण करती हैं। आदमी अक्सर साफा, पगड़ी, सूती कमीज या अंगरखा कुर्ता पहनते हैं। जनजाति के अलावा यहाँ पर मुस्लिम समुदाय, गुर्जर, बलाई, ढोली, राजपूत, ब्राह्मण, महाजन सुनार, लुहार, चमार, नाई, तेली, धोबी, कुम्हार आदि विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं।

प्रतापगढ़ की सर्वप्रचलित भाषा हिन्दी है, पर 'काण्डली बोली' स्थानीय ग्रामीण बोली है। जिसमें मेवाड़ी, मालवी, गुजराती और बागड़ी बोलियों के शब्द हैं। प्रतापगढ़ में होली पर फागोत्सव एवं दूँढोत्सव का आयोजन होता है। दशमाता पर्व पर गैर नृत्य ढोल की थाप पर किया जाता है। भादो शुक्ल दशमी पर रामदेव की शोभायात्रा निकाली जाती है। शीतला सप्तमी पर रात्रि में ढोकले बनाकर सुबह ठण्डा खाने की प्रथा है। यहाँ पर धुलेड़ी पर होली नहीं खेली जाती, होली के 13 दिन बाद 'रंग तेरस' पर रंग गुलाल लगाने की परम्परा है। गंगोज और रात्रि जागरण यहाँ के ग्रामीण अंचलों में हमेशा आयोजित होता है। देवरा पूजन करके 'देवरेक की पाती भी मांगलिक अवसरों पर अक्सर ली जाती है। हिन्दू त्यौहारों के अलावा ईद, बारावफात, मुहर्रम लोहड़ी, चेटीचंड, आदि भी मनाया जाता है।

प्रतापगढ़ में आदिवासियों का तीर्थ गौतमेश्वर स्थित है जो अरनोद में कुछ ही दूर एक सुरम्य पहाड़ी की तलहटी में है जहाँ चौथी-पाँचवीं शताब्दी के प्राचीन मंदिर हैं। हर बरस यहाँ मीणा समाज का मेला भरता है। यहाँ का मंदाकिनी कुंड भारत की

सबसे पवित्र और पूजनीय मानी जाने वाली गंगा की सी मान्यता रखता है। कहा जाता है कि त्रेता युग में महर्षि श्रृंग ने इस स्थल पर रह कर कठोर तपस्या की थी जिनके प्रताप से यहाँ 'गंगा' की भूमिगत धारा प्रकट हुई। स्थानीय लोगों का विश्वास से ऋषि गौतम ने गौ-हत्या के पाप से यहाँ मंदाकिनी कुंड आकर मुक्ति मिली थी। इस कुंड में स्नान करने व गौतमेश्वर महादेव के दर्शन करने से सारे पाप मिट जाते हैं। आदिवासियों की ऐसी मान्यता है। इस धार्मिक स्थल पर बनी हुई आदिवासियों की पुरानी कचहरी औपचारिक तौर पर छपा हुआ व मोहर लगा हुआ 'पाप मुक्ति-प्रमाणपत्र' भी जारी करती है। हिन्दुओं के दूसरे लोकप्रिय धार्मिक स्थानों में छोटी सादड़ी में स्थित भंवरमाता मंदिर का निर्माण आज से लगभग 1240 साल पहले 'मान्वायनी गोत्र' के एक राजा गौरी ने करवाया था। राजकवि सोम के द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख से यह जानकारी मिलती है। भंवरमाता मंदिर वर्षा ऋतु में प्राकृतिक झरने बहने के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ 200 साल पुराना दीपेश्वर महादेव मंदिर जिसका निर्माण महाराज दीपसिंह ने करवाया था स्थित है। इसके अलावा शंखेश्वर पार्श्वनाथ मंदिर मेवाड़-मालवा पंचतीर्थों में अद्वितीय स्थान रखता है। एक दंत कथा के अनुसार सैकड़ों साल पहले आकाश मार्ग से उड़कर यह मंदिर कहीं ले जाया जा रहा था। तब प्रतापगढ़ में विराजमान यति महाराज ने तांत्रिक शक्ति से इस मंदिर को प्रतापगढ़ में प्रतिस्थापित किया केशवराय मंदिर भी प्रतापगढ़ का मुख्य मंदिर है। यहाँ जलझूलनी एकादशी व विजयादशमी पर भगवान केशवराय की विशाल रथ यात्रा निकलती है।

प्रतापगढ़ की प्रसिद्धि का कारण यहाँ पर की जाने वाली थेवा कला है। काँच पर मीनाकारी के आभूषण बनाने की हस्तशिल्प थेवा कला कहलाती है। थेवा कला के आविष्कारक पुराने जमाने के नाथूजी सोनी है। इस हस्तकला में हरे, लाल, पीले, नीले और हरे काँच की परत पर सोने की परम्परागत नक्काशी और चित्रांकन किया जाता है। प्रतापगढ़ की इस विशिष्ट कला का उल्लेख इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका के 'पी' खंड में किया गया है।

प्रतापगढ़ राजस्थान की संस्कृति का परिचायक बन कर उभर रहा है। यहाँ की थेवा कला विदेशों में राजस्थानी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है। यहाँ के धार्मिक स्थल स्वदेशी पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। गोतेमेश्वर महादेव राजस्थान पर्यटन का एक प्रमुख स्थल के रूप में उभर रहा है। प्रतापगढ़ में विभिन्न धर्म के लोगों के रहते हुए भी यह विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण कर रहा है जो राजस्थान संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए अग्रसर हो रही है।

सांगानेर का ऐतिहासिक वस्त्र छपाई उद्योग

ममता रोकाना

वस्त्र को आरम्भ से ही मानव की बुनियादी आवश्यकता माना गया है। वस्त्र विन्यास की भारतीय परम्परा प्रत्येक क्षेत्र विशेष के भू-भाग, पर्यावरण व जलवायु से प्रभावित रही है। वस्त्र निर्माण व वस्त्र रंगाई-छपाई की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी की स्वयं मानव के इतिहास की कहानी है। सिंधु सभ्यता हो या वैदिक काल, मानव निर्मित वस्त्रों के कातने-बुनने और रंगने-छापने के उदाहरण हर काल में मिलते रहे हैं। धीरे-धीरे वस्त्र एक बुनियादी आवश्यकता के साथ ही अपनी विविधता व विकसित तकनीकों के साथ एक उद्योग बन गया है जिसने भारतीय जन जीवन के सदृढ़ आर्थिक आधार का रूप ले लिया। भारतीय वस्त्र उद्योग की समूचे विश्व में एक अलग ही पहचान है। भारतीय रंगाई-छपाई की विविधता सभी का मन मोह लेती है। भारतीय वस्त्रों की गुणवत्ता, रंग विन्यास व उनके प्राकृतिक रंगों से सजे बेल बूटें सभी को हर युग में आश्चर्य चकित करते हैं।

भारतीय हस्त निर्मित वस्त्र उद्योग में राजस्थान के सूती वस्त्रों को विशेष महत्व मिला है। राजस्थान के बहुरंगी वस्त्रों में बंधेज व रंगाई छपाई का सर्वोत्कृष्ट कार्य देखा जा सकता है। हाथ से छपे वस्त्रों में लकड़ी के ठप्पे (ब्लॉक) से छापे जाने वाले वस्त्र राजस्थान के बगरू व सांगानेर में स्थानीय जन जीवन के स्वावलम्बन को सुदृढ़ करते रहे हैं।

जयपुर के वस्त्र उद्योग को एक सार्थक पहचान सांगानेर एवं बगरू की छपाई ने प्रदान की है। इन दोनों केन्द्रों के छपे वस्त्र अपनी अनूठी अलंकारिक भांतों एवं रंग योजनाओं के कारण विश्वभर में लोकप्रिय बन गये हैं। सर जार्ज वाट ने 1904 की भारतीय कला की इंडियन आर्ट एट देहली (1904) में प्रदर्शनी में सांगानेर के छपे वस्त्रों की प्रशंसा करते हुए कहा जहां तक कलात्मक कल्पनाओं और तकनीक का संबंध है, जयपुर रियासत के सांगानेर कस्बे को भारत के वस्त्र शिल्प की राजधानी समझना चाहिए। गत सदी के आरम्भ में की गई यह टिप्पणी आज भी उतनी ही सार्थक व सटीक है। आज तो सांगानेर में और इसके चारों ओर छपाई के कारखाने लग गये हैं जिनमें छापे गये वस्त्र विश्वभर में विभिन्न देशों में जा रहे हैं। साड़ियाँ, सिली-सिलाई पोशाकें, चादरें, तकिये की खोलियां, परदे और फर्निशिंग के अन्य सामानों के रूप में यह वस्त्र खूब पसन्द किये जा रहे हैं। सांगानेरी छपाई कला की विशेषता है इसके लुभावने रंग और अर्थपूर्ण सानुपातिक और कमनीय बूटियां। कहा जाता है कि छपाई में प्रयुक्त अभिप्रायों में धतूरे के फूल, रुद्राक्ष की मणियाँ और आकड़े के साथ बिल्व पत्र के बूटों के छपे वस्त्र शंख औ कमल पुष्पों से अंकित वस्त्र वैष्णव जन को सुहाते थे। राजपरिवारों और सामंतों के लिए सांगानेर में पीले,

लाल, हरे, गुलाबी रंग के आकर्षक डिजाईन बनते आये हैं जो जन सामान्य के लिए काले एवं लाल रंगों के वस्त्र छापे जाते रहे हैं। सांगानेर छपाई कला के विश्व विख्यात है। अब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार सुलभ होने पर इस छपाई उद्योग को नये आयाम मिले हैं और वस्त्रों की छपाई भी यह समृद्ध परम्परा अत्यधिक निर्यातान्मुखी होती जा रही है फिर भी इससे जुड़ी शिल्पकारिता का परम्परागत स्वरूप आज भी यहां के शिल्पियों ने बनाए रखा है।

झालावाड़ राज्य के सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण में पं. रामनिवास शर्मा सौरभ का योगदान अर्चना द्विवेदी

19-20वीं शताब्दी का सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण समाजीकरण की वह विशिष्ट प्रक्रिया थी जिसके माध्यम से मानवतावाद पर आधारित नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना हुई। मानवमात्र की समानता भ्रातृत्व की भावना ने समाज में नये मानदण्ड स्थापित करने का प्रयास किया। जब आधुनिकीकृत समाज, सामन्तवादी समाज के मानदण्डों एवं मूल्यों को ध्वस्त कर रहा था तथापि उनके सामाजिक मूल्यों एवं व्यवस्थाओं को कुरीतियों के रूप में परिभाषित कर उनके उन्मूलन की प्रक्रिया को, जिस उमंग से पूरा किया उसे सामाजिक जागरण का नाम दिया गया। सामाजिक जागरण में समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं बुराईयों के खिलाफ हम न केवल आवाज उठाते हैं अपितु सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जागृत व्यक्ति अन्तिम सांस तक लड़ता है। जबकि सांस्कृतिक जागरण में हमारी चेतना स्पन्दित होती है, और एक चेतन मन के साथ जीवन की समस्त गतिविधियों को हम देखते हैं। देशी रियासतों के दमन चक्र में जब राजनैतिक जनजागृति को कुचला तब सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की दिशा में यहां प्रगति हुई। समानता भाई-चारे एवं बन्धुत्व की दिशा में सामाजिक संगठन बनने लगे। जनतंत्र का प्रसार सामाजिक जागरण के माध्यम से होने लगा। सामाजिक सांस्कृतिक जागरण में साहित्य, संस्कृति एवं कला को नये तथ्य, कथ्य एवं सत्य की बुनियाद मिली।

सामन्तवाद से जकड़े समाज को सामाजिक जागरण के माध्यम से गतिशील बनाया गया। इस सामाजिक जागरण में राष्ट्रीय चेतना एवं नई आर्थिक व्यवस्था के सूत्र शामिल थे। झालावाड़ राज्य ब्रिटिश आदर्शों से पूर्ण पोषित था। यहां के अनेक शासकों ने यूरोप की यात्राएं की थी। जिनके परिणामस्वरूप वे यूरोपीय समाज के पुर्नजागरण से प्रभावित थे। अतः उन्होंने अपनी रियासत में सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण को सकारात्मक सहयोग ही नहीं दिया, अपितु इसके अगुवा भी बने। क्योंकि यह रियासत ईस्ट इण्डिया

कम्पनी के पूर्ण सहयोग से स्थापित हुई थी। अतः ब्रिटिश शासन ने यहां के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर गम्भीर प्रभाव छोड़े, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्धिक विकास के लिए अनुकूल स्थितियां उत्पन्न हुई। यद्यपि यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि यहां का सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण पूर्णतः पश्चिमी उत्तरवादी चिन्तकों एवं भारत में पश्चिमी दिशा के प्रसार का ही परिणाम था, अथवा पाश्चात्य उपनिवेशवादी शासन का प्रतिफल। सामाजिक जागरण के प्रारम्भ के बीज ब्रिटिश शासन एवं ईसाई मिशनरियों में थे किन्तु उसका विस्तार एवं पल्लवन स्वदेशी, आर्य समाज, मित्र मण्डल, बाल मण्डल में था। झालावाड़ राज्य के सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण में जिन व्यक्तियों का विशिष्ट स्थान था उनमें एक ओर पत्रकार, साहित्यकार हैं तो दूसरी ओर सामाजिक कार्यकर्ता। पं. रामनिवास शर्मा दोनों वर्गों में शामिल किये जा सकते हैं।

मालव सिक्कों द्वारा प्रदर्शित पूर्व कालिक राजस्थान के सामाजिक धार्मिक जीवन के पहलू डॉ. यशवीरसिंह

पुरातत्व विषयक वस्तुएँ इतिहास को सुगम रूप से लिखने में सदा सहायक रही हैं। इन वस्तुओं में उत्कीर्ण लेखों के बाद मुद्रा का स्थान आता है। सिक्के राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रसंग में कहना न होगा कि सिक्कों का उद्भव दैनिक आवश्यकताओं की आपूर्ति के निर्मित, लेने देने, क्रय विक्रय में विनमय के सरल एवं सुविधाजनक उपकरण के रूप में हुआ था। उनका आविष्कार जब भी हुआ हो और जिन लोगों ने भी किया हो, वे उनके रूप में अनचाहे, अनजाने ऐसा उपकरण प्रस्तुत कर गए हैं, जिसने अपने समय में अपने उद्देश्य की पूर्ति तो की ही, साथ ही उनमें वे अपने जीवन, संस्कृति और अपने कार्य-कलाप की अमिट छाप छोड़ गए। आज वे अपने काल के साक्ष्य बनकर हमारे व इतिहास निरूपण में ताने-बाने का काम करते हैं। भारतीय इतिहास के कितने ही काल ऐसे हैं जिनका सम्पूर्ण ज्ञान तत्कालीन सिक्कों से मिलता है। ईसा सम्बन्ध के प्रारम्भ से 2-3 सदी पूर्व काल व 2-3 शदी बाद के काल में देश के विभिन्न भागों में पनपने वाले गणराज्यों व जनपदों व निगमों के इतिहास की जानकारी केवल सिक्कों से ही होती है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से ईसा संवत् की प्रारंभिक सदियों के राजस्थान के इतिहास के सामाजिक व धार्मिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर मालवा सिक्कों की सहायता से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

अन्त में कहा जा सकता है कि मालव सिक्के व अन्य पुरातात्विक सामग्री ईसा की प्रारंभिक शालियों के पूर्वी राजस्थान का विशेष रूप से एक समूचे उत्तरी पश्चिमी भारत का सामान्य रूप से सामाजिक-धार्मिक इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यद्यपि अन्य गणों की भांति मालव सिक्कों पर स्पष्ट रूप से किसी देवी-देवता व राजा-रानी का अंकन नहीं मिलता जिससे हम सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं जैसे वस्त्र, आभूषण, खान-पान, नैतिकता आदि का स्पष्ट उल्लेख करने में असमर्थ हैं फिर भी अन्य सामग्री के अभाव में मालव, सिक्कों एवं पुरातात्विक सामग्री का आलोचनात्मक मूल्यांकन, राजस्थान के पूर्वकालीन इतिहास का वर्तमान के साथ संबंध एवं निरन्तरता बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

अमर शहीद श्री सागरमल गोपा

डॉ. श्रीमती सुमेर पटेल

अमर शहीद सागरमल गोपा का जन्म जैसलमेर में 3 नवम्बर 1900 ई. को एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका बचपन जैसलमेर में ही बीता। उनकी शिक्षा दीक्षा भी वहीं हुई। श्री सागरमल गोपाल के पिता का नाम श्री अखेराज था। गोपाजी राजकीय सेवा में अच्छे पद पर थे। लेकिन उस अच्छे पद की स्थिति में बालक गोपा के व्यवहारके कारण राजकीय दरारे पड़ने लग गई। सागरमल के पिता अखेराजजी जैसलमेर के महारावल के साथ दिल्ली दरबार में भी गये थे। अखेराज एक जनपरायण व्यक्ति थे, उनमें निःस्वार्थता कूट कूट कर भरी थी।

जैसलमेर के महारावल जवाहरसिंह नये युग की नाड़ी को नहीं पहचान सके। वह अपनी प्रजा के प्रति रूढ़ और दकियानूस बने रहे नतीजा यह हुआ कि कई जागरूक परिवार जैसलमेर छोड़कर चले गये। अखेराजजी ने तो अपने लड़कों को यहाँ तक कहा कि मेरी राय मानो तो जैसलमेर स्टेट की नौकरी कभी मत करना। अतः एवं सागरमल अपने बाल बच्चों सहित नागपुर जाकर बस गये।

लेकिन गोपा परिवार जैसलमेर को नहीं भुला सका। वे जैसलमेर के राजनैतिक आन्दोलन का साथ नहीं छोड़ सके। जैसलमेर के महारावल जवाहरसिंह ने अपने चपारों ओर चापलूस और खुदगर्ज लोगों की फौज इकट्ठी कर रखी थी।

मॉडल गाँव के कतिपय अप्रकाशित ताम्र-पत्र

डॉ. जे.के. ओझा एवं डॉ. प्रियदर्शी ओझा

मेवाड़ राज्य के प्रमुख आय के स्रोत वाले गाँवों के मॉडल भी एक विशेष आय प्रदान करने वाला गाँव रहा है। यहाँ पर बने एक विशाल तालाब एवं उसकी लम्बी चौड़ी हरी भरी पाल के कारण मनोरम प्राकृतिक छटा बरबस ही मोहित कर लेती है। यही कारण है कि मुगल काल में यह गाँव एक प्रमुख थाने के रूप में प्रसिद्ध रहा वहीं महाराणा जयसिंह ने 24 जून 1681 ई. को औरंगजेब के साथ संधि करते हुए मेवाड़ के पुर, बदनोर के साथ मांडल का परगना भी जजिया के बदले में मुगलों को दिया था। बाद में भी महाराणा ने मांडल को सदैव खालसा के रूप में ही अपने पास रखा था ताकि यहां की आदमनी सीधे मेवाड़ के राजकोष में जमा होती रहे। इससे यहां की आर्थिक समृद्धि को सहज ही समझा जा सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में मांडल गाँव के कतिपय अप्रकाशित ताम्र पत्र जो समय समय पर मेवाड़ के शासकों द्वारा प्रदत्त किए गए थे उनका ऐतिहासिक स्रोत की दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास किया गया है। ताम्र-पत्रों की नकले मांडल गाँव के बड़े मन्दिर के पंडाजी (पुजारी) श्री कंवरलाल पाराशर के निजी संग्रह से दिनांक 07 जुलाई 2009 ई. को प्राप्त की। परिशिष्ट संख्या 1 में दिया गया प्रथम पत्र दिनांक 20 जुलाई 2009 ई. को प्राप्त की। परिशिष्ट संख्या 1 में दिया गया प्रथम पत्र दिनांक 20 जून, 1835 ई. रविवार (आषाढ़ बदी 11, वि.सं. 1891) का है। इस पर श्री रामोजयति, श्री गणेशाय प्रसादातु, श्री एकलिंगजी प्रसादातु लिखा हुआ है तथा सही व भाला का निशान बना हुआ है। यह ताम्र-पत्र मूलतः महाराणा जगतसिंह द्वितीय, महाराणा अरिसिंह एवं महाराणा भीमसिंह द्वारा मांडल गाँव के नीलकंठ महादेव के देवरा के पुजारी गुसाई कासीपुरी शंकरपुरी को 30 बीघा जमीन दान में दी गई उससे सम्बन्धित है। किन्तु पुजारी का इस जमीन पर अधिकार था वह जाता रहा। अतएव महाराणा जवानसिंह ने पहले दी गई जमीन का पुनः निर्धारण कर शिवालय को दान में दी गई जमीन का नया ताम्र पत्र दिया, जिससे स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि इस पर किसी भी प्रकार की लागत-बिलगत (व्यय, खर्च, मूल्य, परम्परा), कुआ, निवाण (जलाशय) रूख (पेड़, पौधा), वृक्षों सहित जिसका अब तक उपयोग कर रहे थे वैसे ही करते रहें। यह श्री जी (महाराणा) का पुण्य है। राज्य में जो लागत (व्यय, खर्च, खपत) लगती आई है, वह ली जावेगी और कोई नई लागत नहीं लगाई जावेगी। पुरानी लागत समाप्त नहीं होगी। 14 बीघा पीवल (सिंचित) जमीन है जिसकी पिलाई (सिंचाई) मोरी (नहर) से होगी तथा 16 बीघा जमीन गोरमा (गाँव की सीमा से लगी कृषि भूमि अथवा खेत) में है जिसकी पिलाई बावड़ी से होगी। इस प्रकार कुल 30 बीघा जमीन दी गई है। दो टका प्रतिदिन का मिलता रहेगा और गोलक (पैसे

इकट्ठे करने का छोटा मुंह का पात्र) से धर्म खाता में खर्च के लिए लेते रहे। मेहता उम्मेदसिंह ने यह ताम्र-पत्र जारी किया तथा पंचोली सूरतसिंह नाथूरामोत ने इसे लिखा।

परिशिष्ट संख्या 2 का दूसरा ताम्र-पत्र दि. मंगलवार, 10 नवम्बर 1835 ई. (मगसर बदी 5, 1892 वि.सं.) को दिया गया था। यह ताम्र-पत्र कर्नल जेम्स टॉड के गुरु यति ज्ञानचन्द्र के शिष्य (चेला) यति शिवचन्द्र को महाराणा बड़ा जगतसिंह के समय 18 बीघा जमीन दान में दी गई, उससे सम्बन्धित है किन्तु इसका अधिकार-पत्र (कबज), दंगे (झगड़े) में गुम हो गया। अतएव महाराणा जवानसिंह ने पुनः निर्धारण कर, नया ताम्र-पत्र जारी करते हुए 18 बीघा जमीन मांडल गांव के उपासरा (उपाश्रय) की सेवा सुश्रुषा के लिए दी गई है, जिसका उपभोग करते रहे। कुआ, निवाण रूख, वृक्ष, लागत-बिलगत सहित खाते पीते रहे। पहले राज्य में जो लागत लगती थी, वह तो ली जावेगी किन्तु इसके अलावा किसी बात की गड़बड़ी या परेशानी (खेचल) नहीं होगी। नई बात कुछ भी नहीं होगी तथा पुरानी मिटेगी नहीं। यह पुण्य तो श्री जी (महाराणा) का है तथा यह जमीन उपासरा के साथ है। 18 बीघा पीवल जमीन तालाब के पछोर में दी गई है जिसकी पिलाई तालाब से होती रहेगी। मेहता उम्मेदसिंह द्वारा जारी किया गया यह ताम्र-पत्र की एक नकल ओर मिलती है जो परिशिष्ट संख्या 3 में दी गई है। महाराणा जवानसिंह ने यतिज्ञानचन्द्र के शिष्य यति शिवचंद्र को ताम्र-पत्र दिया कि मांडल गांव में यति को 50 बीघा मीन श्री दाजीराज ने उपासरा के निमित्त दान में दी थी जिसकी कबज नजर (खो गई) हो गई। अतः अभी उसका पुनः निर्धारण कर, पूर्व में जमीन दान में दी गई उसे इनके चे ले खाते पीते रहेंगे। तभी यह ताम्र-पत्र साबत रहेगा और कुआ, निवाण, रूख, वृक्ष लागत-बिलगत सभी के साथ इसका उपभोग करते रहना। पूर्व में राज द्वारा जो लागत ली जाती थी वह तो ली जावेगी परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होगी। पुरानी मिटेगी नहीं यह तो श्रीजी का पुण्य है। जमीन की विगत 50 बीघा जमीन पल्या जासी प्रत दुवे मेहता उम्मेदसिंह तथा लिखने वाला पंचोली सूरतसिंह नाथूरामोत है।

परिशिष्ट संख्या 4 का ताम्र-पत्र दि. मंगलवार, 29 दिसम्बर 1835 (पोस सुदी 10, वि.सं. 1892) का है। यह ताम्र-पत्र भी महाराणा जगतसिंह द्वारा प्रदान किया गया था किन्तु सही का यह ताम्र-पत्र झगड़े में (दंगा में) खो गया था। अतः महाराणा जवानसिंह ने पुनः निर्णय कर, सेवग (सेवा करने वाला) स्वरूपा नवला नंदा जाति पुष्करणा व्यास को मांडल गाँव में ठाकुरजी श्री शेषसहायजी के मंदिर को डोली (माफी की कृषि भूमि) में 55 बीघा जमीन लागत-बिलगत, रूख, वृक्ष, कुआ, निवाण सहित उदक आगाट श्री रामअर्पण (दान में दी गई माफी की जमीन) कर दी गई, जिसे खाते पीते रहें। राज में जो लागत लगती हो वह तो ली जावेगी। किन्तु नई लागत नहीं लगेगी। किसी तरह की परेशानी (खेचल) नहीं होगी तथा पुरानी (लागत) मिटेगी नहीं और नई (लागत) लगेगी

नहीं। यह पुण्य श्रीजी महाराणा का है जो ठाकुरजी के मंदिर की सेवा करेगा वह उसका उपभोग करता रहेगा। 15 बीघा पीवल जमीन तथा 40 बीघा पड़त जमीन रासींगपुरा के रास्ते पर है, उसकी तालाब से सेदव की भांति पिलाई होती रहे। इस भांति कुल 55 बीघा जमीन पुण्यार्थ दी गई है। ताम्र पत्र जारी करने वाला मेहता उम्मेदसिंह तथा लिखने वाला पंचोली सूरतसिंह नाथूरामोत है।

इस प्रकार इन ताम्र-पत्रों से मेवाड़ के शासकों की धार्मिक उदारता एवं दान-पुण्य की प्रवृत्ति की जानकारी मिलती है, वहीं यह भी ज्ञात होता है कि पूर्व के शासकों द्वारा दान में दी गई जमीन का ताम्र-पत्र यदि गुम हो गया तो भी तत्कालीन महाराणा उस ताम्र-पत्र का नवीनीकरण करके जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जमीन दी गई थी वह उसी रूप में उस वंश के व्यक्ति विशेष के पुनः बहाल की गई है। मांडल गाँव में बड़ा तालाब होने के कारण तालाब व नहर से सिंचित होने वाली जमीन अधिक दी गई है ताकि पड़त जमीन का उपयोग व उपभोग हो सके। गोरमा (गाँव की सीमा से लगे खेत) की जमीन नीलकंठ महादेव के पुजारी को दी गई है, जो पर्याप्त उपजाऊ होती है। स्पष्ट है कि मंदिर से लगी जमीन कृषि कार्य हेतु दी गई जिसकी सिंचाई वहीं बनी बावड़ी से होगी ताकि शिवालय की त्रिकाल आरती, पूजा-अर्चना आदि समय समय पर होती रहे। यों नीलकंठ महादेव मंदिर के गुंसाई, उपासरा के यति व 36 कौम के पंचायतन मंदिर श्रीशेषसहायजी के पंडे-पुजारी को दी गई जमीन से महाराणा की धार्मिक सहिष्णुता का पता लगता है कि शैव, जैन एवं वैष्णव धर्म के प्रति महाराणा का एक शासक के रूप में समभाव था। साथ ही इस जमीन पर किसी भी प्रकार की नवीन लागत आदि नहीं लगेगी। जमीन पर लगे रूख, वृक्ष, कुआ, जलाशय आदि का वह व्यक्ति उपभोग कर सकेगा परन्तु पूर्व से परम्परागत लागतें जो राज्य में जमा कराते रहे हैं वे उसी तरह यथावत रहेगी। जमीन की किस्म पीवल, गोरमा, पड़त, नहरी आदि की जानकारी भी होती है। मेवाड़ राज्य के अधिकारियों में मेहता खानदान के उम्मेदसिंह व कायस्थ परिवार के पंचोली सूरतसिंह द्वारा ताम्र-पत्र जारी करने व लिखे जाने का उल्लेख भी हमें प्राप्त होता है। इसमें हमें बिना किसी जातिगत भेदभाव के मेवाड़-शासन प्रणाली की कुशलता का बोध भी होता है। इस प्रकार ताम्र-पत्र तत्कालीन मेवाड़ के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को लिखने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं।

परिशिष्ट संख्या - 1

।। श्री गणेशाय प्रसादातु ।। श्री रामोजयति ।। श्री एकलिंगजी प्रसादातु
सही भालो

महाराजाधिराज महाराणा श्री जवानसिंह जी आदेशातु मांडल रो गुसाई कासीपुरी संकरपुरी कस्य गाम मांडल रहे महादेव श्री लीलकठजी रे देवरा लारे जमी वीगा 30) तीस

आगे महाराणा श्री जगतसिंघजी महाराणा श्री अरसीजी महाराणा श्री भीमसिंघ रो दि दो दत्त जीरी कबज जाति रही तीरो नीरधार करे पाछी ऊदक आगाट श्री सीवाए अरपण करे ताबा पत्र करे दीवाणो होर लागत बीलगत कुडा नीवाण रुष, ब्रषासुदा सो हाल चलुषाता पावतो व्हे सो षासी पाया जासी ओ पुन श्री जीरो है राज म्हे लागत लागती व्हेगा सो लेवाएगा नवी तो व्हेगा न्ही जुनी मटेगा न्ही वीगत 14) पीवल मोरी थी पीवे बावड़ी ।रुरु 16 वेत गोरमो ज्मे ध्रती वीगा 30) तीस ने टका 2 दोय दीन प्रत को सररा च्लु पावे गोलक थी धम्र षाता म्हे पाया जासी सवदत्रा परदत्रा वाजे हरती वसुध्र ब्रष्टी ब्रष सहसाणी वीसदा सजा ऐते क्रमा प्रत दुवे म्हेता ऊमेदसीघ लीषता पंचोली सुरतसीघ नाथुरामौत समत 1891 रा असाड वीद 11 रवऊ

परिशिष्ट संख्या 2

।। श्रीगणेशाय प्रसादातु ॥ श्री रामोजयति । ।। श्रीएकलिंगजी प्रसादातु
सही भालो

महाराजाधिराज महाराणा श्री जवानसिंघजी जवानसिंघजी आदेसातु जति सीवचन्द चेला ज्ञानचन्द कस्य गाम मॉडल म्हे ध्रति विगा 18 अठारा आगे महाराणा श्री बड़ा जगतसिंघजी दीदो उदक जीरी कबज दंगा में जाती रही तीरो अवार नरधार कर पाछो ताबा पत्र कर उदक आधाट श्री रामाअरपण कर दवाणो सो इरा च्लु खाता पीवता वेगा जेरे साबत रहेघा जीरो कुडो निवाण रूख वृख लागत वलगत सरब सुदी सो थारी षाया पीयो जाज्यो आगे राज में लागत लागति वेगा सो लेवागयगा सवाय कोई बात री खेचल वेगा नही नवी वेगा नहीं ने जुनी मटेगा नहीं यो पुन्य श्रीजी रो हे...या जमिन उफासरा री लार हे..... जमिरी वीगत.... 18 पीवल वीगा अठारा तालाव री पछोर में जमि विगा 18 अठारा तलाव सू पीवे पल्या जासी सबदत्रा परदत्रा वाजे हरती वसुनधरा प्रवेस्टी वर्षे सहेस राणीवीस जायते क्रमी महेता उम्मेदसिंघ पंचोली सूरतसिंघ नाथुरामोत समत् 1892 वर्षे मीर्गसर बुद 5 भोमे

परिशिष्ट संख्या 3

।। श्रीगणेशाय प्रसादातु ॥ श्री रामोजयति । ।। श्रीएकलिंगजी प्रसादातु
सही भालो

महाराजाधिराज महाराणा श्री जवानसिंघ जी आदेसातू जाति सवध चेला गानचंदरा कस्य गाम मॉडल म्हे जति वीगा 50) पचास रो ऊदक श्री श्री दादजी राज रो दीदो दत्त जी री कबज नजर वेगई तीरो अवार नरधार कर पाटौ ताबा पत्र कर ऊदक आगाट श्री रामा अरपण कर देवाणी ह सो ईरा चेला षाता पीवता जावेगा जरे साबत रहेगा जीरो कूडो नीवाण रूष वृष लागत बलगत सरब सुदी यारी थु षाया पीजा जो आगे राज म्हे लागत लागेति वेगा सो लेवागा सवाय कोई वातरी षेचल वगा नहीं नेवी जूनी मीटेगा नहीं यो पुन्य

श्री जीरोहे..... जमी री वीगत.....50) वेहेत वीगा पचास..... जमीवर्ती वीगा 50) पचास पल्या जा सी सवदत्र परदत्रा वायजे हरती बसूनधरा प्रठी ब्रष सहेस हेस राणी वीसटाय जायेती क्रमी प्रत दुवे मेहता ऊमेदसीघ लीषता पंचोली सुरतसीघ नाथूरा तो संबत् 1892 वर्षे मर्गसर वीद 5 भोमे

परिशिष्ट संख्या 4

।। श्रीगणेशाय प्रसादातु ॥ श्री रामोजयति । ।। श्रीएकलिंगजी प्रसादातु
सही भालो

महाराजाधिराज महाराणा श्री जवानसिंघजी आदेसातु सेवग सरुपा नवला नंदा जात पोषरा ब्रस गाम माडल म्हे ठाकुर श्री शेषसाहेजी र मदरा लार डोली री ध्रती वीगा 55) पचावन वुदक महाराणा श्री जगतसिंघ जी बड़ा रो सही से ताबा पत्र हो जो दंगा मोह जातो रओ सो अबार नरणे कर पाछो नवो ताबा पत्र कर लागत बीलगत रुष ब्रष कुवा नीवाण सुदी वुदक आधाट श्री रामाअरपण कर दी दी सो हसब नु षाता पीता बोगा ईम थे य्यारी षाआ पीआ जाजो राज म्हे लागत लागती वेगा जा लब वगा स बा लु षेच होगा नही जुनी मट नही नवी नवही ओपुन श्री जीरो ह श्री ठाकुरजी से म्न्वा करेग जो आजमी षाआ जावगा जमी री वीगत 15) पीवल 40) पत् पीचला वप्रसिंघपुरा रे गेला ऊप्र तलाव सुपीव सदाबंद जम बी 55) पचावन सवदत्रा प्रदत्रा बापे जे दर तीबसुनध्रप्रसही ब्तपस देस राणी ब्रोपरा ज्योयेते कना प्रत दुवे महेता ऊमेदसीघ लीषता पंचोली सुरतसीघ नाथुरामो समत 1892 रा पोस सुद 10

राजस्थान में अनुसूचित जातियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रधा कुमारी

राजस्थान राज्य को वीरों की रणभूमि कहा जाता है। राजस्थान भारत के पश्चिम में स्थित गौरवशाली राज्य है। राजस्थान एक विशाल प्रदेश है, जो प्राचीन काल से ही भारतवर्ष के गौरवमय इतिहास का सृजन करता आया है।

7वीं शताब्दी से पूर्व राजस्थान में वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक जीवन का मूल आधार थी। वर्णाश्रम शब्द दो शब्दों 'वर्ण' तथा 'आश्रम' से मिलकर बना है। वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम ये दोनों ही वर्णाश्रम में सम्मिलित हैं। लेकिन महाकाव्य काल में वर्ण को जन्मज माना जाने लगा। जो व्यक्ति जिस वर्ण में जन्म लेता था, वह उस वर्ण के अन्तर्गत ही रहता था। इस प्रकार वर्ण वंशानुगत होते गए। विदेशी जातियों के यहाँ आने और यहीं बस जाने से समस्या यह उत्पन्न हुई कि इन विदेशियों को किस प्रकार वर्ण-

व्यवस्था के अन्तर्गत लाया जाए। इन विदेशियों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के कारण समाज में अनेक नए-नए समूह उत्पन्न हो गए। इन्हीं से जातियों का सिलसिला आरम्भ हुआ। जब वर्ण व्यवस्था जटिल और कठोर होकर लुप्त हो गई तब इनका स्थान जाति-प्रथा ने ले लिया। जाति सामाजिक विभाजन को प्रदर्शित करती है। जाति एक सामाजिक व्यवस्था है जिसमें कुछ नियंत्रणों के अधीन प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन बिताना पड़ता है। संस्कृत शब्द जन् से बना है। जन् का अर्थ जन्मदाता होता है। अतः जाति जन्म से ही व्यक्ति को एक विशेष सामाजिक स्थिति मिल जाती है। प्रत्येक जाति को एक दूसरे से अलग बतलाने के लिए विवाह, खान-पान, धार्मिक क्रियाकलाप, मिलने-जुलने आदि के विषय में कुछ बन्धन होते हैं जिससे विभिन्न जातियाँ एक दूसरे से कुछ सामाजिक दूरी रखती है। कुछ जातियों का स्थान उच्च होता है और कुछ का निम्न। उनमें व्यक्तिगत योग्यता और कुशलता का कोई महत्व नहीं होता है। मजूमदार तथा मदान बतलाते हैं कि 'जाति एक बन्द वर्ग है जिसमें व्यक्ति की स्थिति में परिवर्तन होने की कोई गुंजाइश ही नहीं होती है। एक जाति का सदस्य आजीवन दूसरी जाति का सदस्य नहीं बन सकता है।'

अनुसूचित जातियों में उन जातियों को माना जाता है जो प्राचीनकाल में शूद्र व अवर्णों को वर्ण व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था। वे अत्यज माने जाते थे और उन्हें गांव की आबादी के बाहर रहना पड़ता था। उनकी सबसे बड़ी परेशानी इस कारण थी कि इस जाति के लोगों को गन्दा माना जाता था और उनसे घृणा की जाती थी और उनके साथ युगों तक सामाजिक तथा आर्थिक भेदभाव रखा जाता था।

राजस्थान में निम्न जातियाँ अनुसूचित जातियों में मानी जाती हैं - (1) आदिधर्मी (2) अहेरी (3) बादी (4) बागरी (5) बैरवा (6) बाजगर (7) बलाई (8) बांसफोड़ (9) बावरी (10) वर्गी (11) बावरिया (12) वेडीया (13) भाण्ड (14) भंगी (15) वीदाकिया (16) बोला (17) चमार (18) चण्डाल (19) डबगर (20) घानक (21) धाणकिया (22) धोबी (23) ढोली (24) डोम (25) गण्डिया (26) गरंचा (27) गरो (28) गवारिया (29) गोधी (30) जीणागर (31) कालबेलिया (32) कामड़ (33) कंजर (34) कामड़िया (35) खानगर (36) खटीक (37) कोली (38) कूचबन्द (39) कोरिय (40) मदारी (41) महर (42) मेघवंशी (43) मजहबी (44) मेगा मातंगा मिनीमादिग (45) मांग गरोडी (46) मेघ (47) मेहर (48) नट (49) पासी (50) रावल (51) साल्वी (52) सांसी (53) साटिया (54) सरभंगी (55) सरगरा (56) सिंगीवाला (57) थोरी (58) तीरगर (59) तूरी।

बीकानेर राज्य में रेल यातायात का विकास (1887-1943 ई.)

डॉ. (सुश्री) बिन्दु भसीन

महाराजा गंगासिंहजीने यह अनुभव किया था कि बीकानेर राज्य का भविष्य सिंचाई और रेल यातायात के विकास पर निर्भर करता है। जहाँ तक सिंचाई सुविधाओं का प्रश्न था, उसमें अनेक कठिनाईयाँ थी। बीकानेर राज्य की अपनी कोई नदी नहीं थी, रेगिस्तानी क्षेत्र में नहर-निर्माण भी सरल कार्य नहीं था, यह योजना अन्य पड़ोसी राज्यों की दया पर निर्भर थी अतः उन्होंने परिस्थितियों को भाँपते हुए रेल उद्योग के विकास पर बल दिया। बीकानेर के लिए रेल उद्योग एक स्थाई और लाभकारी विनियोजन है जो यहाँ के निवासियों को रोजगार के अवसर प्रदान करेगा और बीकानेर राज्य की जनता को उनकी एक स्थाई समस्या अकालों की भीषण विभीषिका से राहत दिला सकेगा अतः जोधपुर राज्य के तकनीकी अनुभवों का लाभ उठाने के लिए 13 जुलाई, 1889 ई. को जोधपुर महाराजा के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार -

1. बीकानेर और जोधपुर महाराजा ने जोधपुर को रेल लाईन से जोड़ने की स्वीकृति प्रदान की। यह रेल लाईन जोधपुर बीकानेर रेलवे कहलाएगी तथा पूर्ण रूप से दोनों राज्यों की सम्पत्ति होगी। दोनों राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में रेलों की आय के स्वामी होंगे।

2. रेल लाईन बिछाने, उसके रख-रखाव एवं अन्य व्यय के लिए बीकानेर राज्य धन उपलब्ध कराएगा।

3. बीकानेर राज्य जोधपुर राज्य को 20 लाख रुपये 4 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर उधार देगा जिसकी अदायगी 3 लाख रुपये वार्षिक किश्त के रूप में जोधपुर राज्य करेगा।

4. रेल लाईन बिछाने पर अनुमानित व्यय का ब्यौरा दोनों राज्य भारत सरकार को देंगे।

5. रेल लाईन बिछाने और देखभाल करने का कार्य जोधपुर रेलवे का मैनेजर अस्थाई तौर पर करेगा एवं रेल लाईन बिछाने का कार्य जोधपुर से आरम्भ किया जाएगा।

6. रेल कर्मचारी एवं पुलिस आदि की व्यवस्था मैनेजर के अधीन होगी। बीकानेर राज्य के क्षेत्र में यह व्यवस्था बीकानेर महाराजा की स्वीकृति से होगी।

7. बीकानेर क्षेत्र की रेल लाईन पर दीवानी और फौजदारी का अधिकार बीकानेर महाराजा का होगा।

8. भारत सरकार की स्वीकृति से यह रेल लाईन बिछाने का कार्य शुरू होगा एवं उसका प्रतिनिधि इस रेल लाईन का निरीक्षण कर सकेगा।

9. रेल लाईन के साथ-साथ लाईन बिछाई जाएगी जिसका उपयोग दोनों राज्य करेंगे। दोनों राज्य अपने-अपने क्षेत्र में तार लाईन का व्यय भी वहन करेंगे। तार लाईन के उपयोग में भारत सरकार के रेल-तार नियम लागू होंगे।

जोधपुर महाराजा ने 30 जुलाई, 1889 ई. को और वासयराय द्वारा 27 अगस्त 1889 ई. को उपर्युक्त समझौते को स्वीकृति प्रदान की। यह समझौता राज्य के सीमित साधनों को देखते हुए रेलवे से आय बढ़ाने हेतु बुद्धिमतापूर्ण कार्य था। इसने राज्य के व्यापारिक मार्गों को पुनः रेलवे के माध्यम से जीवित करने का कार्य कर दिया।

8 अप्रैल 1891 ई. को जोधपुर से मेड़ता तक 16 अक्टूबर 1891 ई. को मेड़ता से नागौर तक एवं 9 दिसम्बर 1891 ई. को नागौर से बीकानेर तक रेल लाईन को यात्रियों और माल ढोने के लिए खोलकर बीकानेर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर दिया गया।

बीकानेर राज्य की संस्कृति के तत्व :

प्रमुख त्योहार व मेले (1818-1949)

राजेश पंवार

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने राजस्थान की संस्कृति में मेले व उत्सव के महत्व का अंकन करते हुए लिखा है कि “सामाजिक जीवन और उससे सम्बन्धित संस्थाओं से लाकोत्सव का महत्वपूर्ण स्थान है। स्थानीय संस्कृति की अभिव्यक्ति लोकोत्सवों में स्पष्ट देखी जा सकती है क्योंकि उनके साथ प्राचीन परम्पराएं व विचारधाराएं जुड़ी रहती हैं। ये विचारधाराएँ व परम्पराएँ धार्मिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक होती हैं। जब-जब लोकोत्सवों का आयोजन होता है। देश हो या प्रान्त के सांस्कृतिक पहलू के एक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। इन उत्सवों, ऋतुओं एवं विशेष अवसरों को ऐसा संयोजित किया जाता है कि जन भावना में नैसर्गिकता दिख पड़ती है। इन्हीं लोकोत्सवों में नए जीवन का संचार हो जाता है। इन अवसरों में गाए जाने वाले लोकगीतों अथवा कहीं जाने वाली लोक वार्ताओं में धार्मिक निष्ठा तथा ऐतिहासिक तथ्य छिपे पड़े हैं। जो राजस्थानी संस्कृति का द्योतक है। राजस्थान में विभिन्न रजवाड़ों सामन्तों व जाति पंचायतों तथा कुल विशेष में विभिन्न उत्सवों व मेलों व त्यौहारों को अपनी आन-बान का प्रतीक बना लिया था। इनमें राजस्थान की नानाविध सांस्कृतिक तत्व वेशभूषा, खान-पान, नृत्य संगीत, गीत स्वांग लोक कलाएँ एवं इन सबसे अधिक प्रत्येक पहलू को उजागर करते हैं।

विविध संस्कृति भाषाओं और भावनाओं वाली बीकानेर रियासत में अपनी प्रकृति व भौगोलिक कारणों से यहां अपनी विशिष्टताओं को इन मेलों, त्यौहारों उत्सवों द्वारा लोगों में उत्साह व उमंग का संचार सदियों से होता रहा है। बीकानेर राज्य की संस्कृति में ये त्योहार उत्सव रियासतों की एकता व अखण्डता के प्रतीक हैं। इनके माध्यम से बुरे कार्यों को छोड़कर आमजन को नेककर्म बनने की शिक्षा व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संस्कृति व संस्कारों का हस्तान्तरण होता है।

उन जीवन में विभिन्न भावों उदाहरणार्थ रति, विरह, शौर्य भक्ति आदि को संचारित करके खेल-तमाशों, अखाड़ों, मेहन्दी पकवानों, माण्डना, बुन्दनवारों एवं अलंकरणों का प्रदर्शन इन उत्सवों-मेलों की विशेषताएं बन जाती हैं।

महान कूटनीतिज्ञ जालिमसिंह झाला (1739 ई. से 1824 ई.)

डॉ. पीताम्बर दत्त शर्मा

जालिमसिंह झाला जाति का राजपूत था जिसके पूर्वज सौराष्ट्र के ठिकानेदार थे। झाला जालिमसिंह का जन्म अपने पिता पृथ्वीसिंह की मृत्यु के बाद 1739 ई. में हुआ था। 1758 ई. में जालिम सिंह 18 वर्ष की आयु में कोटा राज्य का फौजदार बना था। नान्ता गांव (कोटा से 3 मील पश्चिम में) इसकी पैतृक जागीर थी। जब जालिमसिंह कोटा राज्य का फौजदार बना तो उसने अपने ऊपर स्थित अखराम पंचोली की कूटनीति से अपदस्थ करवाकर शासन का सम्पूर्ण कार्य अपने हाथों में ले लिया। 1761 ई. में जयपुर के विरुद्ध लड़े गए भटवाड़े के युद्ध ने तो उसकी प्रतिष्ठा में चार चांद लगा दिया था। इस युद्ध में उसने न केवल 21 वर्ष की आयु में कोटा की सेना का नेतृत्व किया अपितु विजय श्री भी प्राप्त की। तब से लेकर आगामी 50 वर्षों तक वह एक प्रतिष्ठित कूटनीतिज्ञ बना रहा और राजस्थान के इतिहास पर छाया रहा। कोटा के महाराज गुमानसिंह से जब उसका मनमुटाव हो गया तो वह मेवाड़ महाराणा की शरण में चला गया जहाँ अपनी योग्यता से महाराणा का मुख्य सलाहकार बन गया। महाराण अरिसिंह ने ही उसे राजराणा का खिताब दिया। तब से लेकर स्वतंत्रता तक उसके उत्तराधिकारी इस खिताब का इस्तेमाल करते रहे। मेवाड़ में रहते हुए जालिमसिंह अपनी कूटनीतिक योग्यता से महाराण अरिसिंह के पक्ष को मजबूत बनाता रहा। जब विरोधी सरदारों ने महादजी सिंधिया की सहायता प्राप्त करके रत्नसिंह के पक्ष को सशक्त बनाया तो जालिमसिंह ने पेशवा से सैनिक सहायता प्राप्त कर महाराणा अरिसिंह की स्थिति सुदृढ़ बनाई। इन्हीं दिनों कोटा राज्य की स्थिति बड़ी

संकटग्रस्त हो गई थी। इस संकटमय स्थिति में महाराव ने जालिमसिंह को मराठा वकील लालाजी बल्लाल के माध्यम से कोटा बुला लिया। कोटा आने के बाद महाराव गुमानसिंह ने उसे अपना प्रतिनिधि बनाकर मराठों से समझौता करने भेजा जहाँ अपनी कूटनीतिक योग्यता से मराठों को कोटा राज्य से बाहर चले जाने के लिए राजी कर लिया। कुछ समय बाद जब महाराव गुमानसिंह मृत्युशैया पर थे तब महाराव ने अपने 10 वर्षीय पुत्र उम्मेदसिंह का संरक्षक झाला जालिमसिंह को नियुक्त किया। जालिमसिंह अब न केवल कोटा राज्य का फौजदार था बल्कि वह कोटा राज्य और राजा दोनों का संरक्षक भी था।

अतः 1761 ई. से 1824 ई. तक कोटा राज्य पर जालिमसिंह का एकछत्र शासन रहा। वह बड़ा वीर, साहसी, चतुर और अपने समय का माना हुआ कूटनीतिज्ञ था। उसने कोटा के हाड़ा सामंतों को शक्तिहीन कर दिया और वहाँ राज्य में शांति और कानून की व्यवस्था बनाए रखने में पूर्ण रूप से सफल रहा। उसने मराठों और पिंडारियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रख कर साम दाम और भेद की नीति अपना कर कोटा राज्य की रक्षा की। उसने कोटा और बूंद से पारिवारिक संबंध स्थापित कर लिए थे। उसका मेवाड़ की राजनीति में दबदबा रहा। जब अंग्रेजी शक्ति का राजस्थान में अभ्युदय हुआ तो वह अंग्रेजों का सहयोगी हो गया। इस प्रकार वह एक सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुआ।

18वीं शताब्दी के हाड़ौती अंचल के मेलों का धार्मिक व सांस्कृतिक महत्व

डॉ. ज्योत्सना श्रीवास्तव

हमारा आद्योपांत जीवन पर्व, उत्सव मेलों से ओतप्रोत है। इसी संदर्भ में हाड़ौती संभाग जिसका ब्राह्म रूप ही सशक्त नहीं है अपितु आध्यात्मिक संस्कृति अन्तःस्थल भी उतना ही सबल और गौरवान्वित करने वाला है। उल्लेखनीय यह है कि 18वीं शताब्दी के दौर में भी यही काव्यमय संस्कृति मेलों में परिदृश्य होती है, जिसकी समीक्षा हम तात्कालिक कोटा भण्डार बहियों से करते हैं।

संभाग में अनेक मेले अत्यंत धूम-धाम से मनाए जाते हैं। हिंदू व मुसलमान दोनों धर्मों के विभिन्न त्यौहारों पर मेलों की व्यवस्था थी। इनकी व्यवस्था मेले के स्थान विशेष के कर्मचारियों द्वारा की जाती थी जो मंदिर के पुजारी अथवा मस्जिद के मौलवी होते थे। मेले में व्यवस्था संबंधी परम्परागत नियम प्रचलित थे, जिनका स्वभावतया ही पालन होता है। मेला शब्द का पारिभाषिक अर्थ मिलना होता है। अतः ग्रामीण लोग वर्ष की निश्चित तिथियों पर पर्व मनाया करते थे, जिन्हे मेला कहते हैं। कोटा के विभिन्न बस्तों में

मेलों का उल्लेख है जैसे मेला चांद खेड़ी, मेला उम्मेदगंज, पौष मेला आदि।

बूंदी हरा-भरा क्षेत्र है और वर्ष भर यहां मेलों की बहार रहती है। फाल्गुन में शिवरात्रि, चैत्र में शीतलाष्टमी श्रावण में चामुण्डा माता का मेला लगता है। ये मेले सर्वथा धार्मिक हैं परंतु कुछ संत पुरुषों की तिथियों पर भी मेले का आयोजन होता है, जैसे तेजाजी का मेला। तेजाजी राजस्थान के प्रसिद्ध संत हुए हैं। एक गूजरी की गायों की रक्षा करते हुए वह अत्यधिक घायल हो गए और सर्पदंश से उनकी मृत्यु हो गई। यही कारण है कि सर्पदंश से उनका जुड़ाव हुआ। कहते हैं कि यदि सांप काटे हुए व्यक्ति के दाएं पांव में तेजाजी का तांता बांध दिया जाए तो उसे विष नहीं चढ़ता। तेजाजी की पुण्य तिथि को बूंदी जिले में कई स्थानों पर मेला लगता है। कुछ मेले उत्सव ऋतुओं से ही सम्बद्ध है उदाहरणार्थ सावन के महीने में जब चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है, बूंदी निवासी सूसिया सोमवार का उत्सव मनाते हैं। सावन के पहले दो सोमवारों को मेला लगता है - पहले सोमवार को जैतसागर पर और दूसरे को देवपुरा में लोग घर से ही भोजन बनाकर ले जाते हैं, मेले में घूमते हैं, सावन की हरियाली का आनंद लेते हैं बाग में बैठकर भोजन करते हैं और संध्या समय घर वापस लौटते हैं। वर्षा ऋतु का आनंद लेने का यह एक सुन्दर तरीका सभी स्थानों पर कार्तिक मेला और बैसाखी मेला दोनों झालरापाटन में सम्पन्न होते हैं। यह धार्मिक महत्व के साथ-साथ पशु मेले के रूप में भी काफी प्रसिद्ध है। इन मेलों में राजस्थान के विभिन्न भागों से व मध्यप्रदेश तथा मुम्बई के व्यापारी भी भाग लेते थे। अन्य दो मेले भवानीमंडी व बसंतपंचमी का मेला तथा गंगाधर का यशवंत नवरात्रि का मेला, काफी लोकप्रिय था। कार्तिक मेले का धार्मिक महत्व है जो चन्द्र भागा नदी में पूर्णिमा को स्नान के साथ प्रारंभ होता है। गौतमी सागर तालाब तथा मुंडलिया तालाब भी देखने योग्य स्थान है। पुरानी एवं नई नसियां के पास ठाकुर साहब की बावड़ी पर लोग गोठ करने जाते थे। यहां तक कि तेजाजी के मेले का धार्मिक महत्व भी है क्योंकि मोठपुर में दस्तकारी की चीजें अच्छी बनती थी। भादों सुदि 7 को जब तेजाजी का मेला लगता था तब कहा जाता है कि इसका भी आर्थिक महत्व है क्योंकि दस्तकारी चीजों के कारण इनकी बिक्री भी थी। चन्द्र भागा मेला का भी धार्मिक महत्व के साथ आर्थिक महत्व भी है। चन्द्र भागा नदी के किनारे कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को पशुओं का क्रय-विक्रय होता था। विश्वास यह किया जाता है कि परमार वंश के राजा चन्द्रसेन के इस पावन नदी में स्नान करने से श्वेत कुष्ठ रोग का निवारण हुआ था। मेले में भाग लेने वाले यात्रियों में से अधिकतर महिलाएं एवं कन्याएं होती थीं जो सभी कार्तिक स्नान करने के पश्चात् धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न करती थी। मेले में हाड़ौती अंचल एवं मालवा क्षेत्र के लगभग एक लाख से भी अधिक यात्री एकत्र होते थे। यह मेला जनजीवन के आकर्षण का महत्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था।

मालानी के धार्मिक पर्यटन-स्थल

डॉ. सन्तोष कुमार

‘मेघ धारू थॉरी निर्झर वाणी ।

धारी रावलमाल रूपादे मालानी ।।’

इस दोहे से स्वयं को आल्हादित करने वाली इस पवित्र पावन मरुधरा का जितना बखाना किया जाए वह कम है। यह राजस्थान के बाड़मेर जिले का पश्चिमी सीमान्त भाग है, जो कि पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त से सटा हुआ है। मालानी इतिहास, स्थापत्य, लोक-कला, लोक-संगीत की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। रावल मल्लीनाथ के नाम पर इस क्षेत्र का नाम मालानी पड़ा है। यहां पर अनेक धार्मिक स्थल हैं, जो कि इसके प्राचीन इतिहास, कला एवं संस्कृति के परिचायक हैं। ये स्थल इस क्षेत्र की धरोहर ही नहीं अपितु इतिहास प्रेमियों, पुरातत्व जिज्ञासुओं एवं देशी-विदेशी पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। इन स्थलों की ओर सभी का ध्यान आकर्षित करने के लिए यहां पर समय-समय पर विभिन्न प्रकार के मेलों का थार महोत्सव का आयोजन भी होता रहा है। इसी पहाड़ी की तलहटी में सुईयां नामक स्थल स्थित है जहां पर पोष माह की ‘सोमवती अमावस्या’ के साथ-साथ मूल नक्षत्र एवं व्यतिपात योग इन पांचों के मिलने पर यहां जग प्रसिद्ध सुईयां मेला भरता है। इसे ‘मरुकुम्भ’ भी कहते हैं। इस दिन झरने से निकलने वाली पानी की धारा को गंगा के समान पवित्र एवं पावन माना जाता है। वे व्यक्ति जो हरिद्वार नहीं जा सकते हैं वे यहीं पर आकर धार्मिक क्रिया-कर्म पूर्ण करते हैं।

रतनगढ़ हवेलियों के भित्तिचित्रों में पाश्चात्य

संस्कृति—एक ऐतिहासिक धरोहर

कविता दाधीच

चुरू जिले का एक उपखण्ड रतनगढ़ 27.5 उतरी अक्षांश व 74.39 पूर्व देशान्तर के बीच दिल्ली-बीकानेर राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 11 पर स्थित है। बीकानेर राज्य के अन्तर्गत चारणों, पुरोहितों, सिद्ध सन्तों व व्यापारियों के महत्वपूर्ण योगदान से रियासत के राजा सूरतसिंह जी के द्वारा अपने पुत्र रतनसिंह के नाम पर विक्रम संवत् 1855 में कोलासर व राजियासर नामक दो ढाणियों को एक स्वरूप देते हुए रतनगढ़ कस्बे की स्थापना की

गयी। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में यह नगर सदैव अग्रणीय रहा है। आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में कल्याण के सम्पादक भाई जी श्री हनुमान प्रसाद पौदार ने अपने महिमामय जीवनसे इस क्षेत्र को अनुपम गौरव प्रदान किया है। शिक्षा के क्षेत्र में रतनगढ़ लघुकाशी के नाम से जाना जाता है। वहीं सांस्कृतिक क्षेत्र में रतनगढ़ की हवेलियाँ अपने स्थापत्य एवं भित्तिचित्रों के लिए चुरू जिले में विशिष्ट स्थान रखती हैं।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में निर्मित हवेलियाँ अपने गगनचुम्बी विशाल स्थापत्य व स्थानीय कलाकारों द्वारा निर्मित भित्तिचित्रों से रतनगढ़ संभाग को राजस्थान में एक वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। सन् 1947 से पूर्व निर्मित प्रायः सभी हवेलियों में अनगिनत आकर्षक चित्र बनाए गए हैं जिनमें धार्मिक, सामाजिक एवं लोकानुभव के साथ अंग्रेजी शासन की गतिविधियों को प्रदर्शित करने वाले चित्र भी हैं।

साथ ही राजस्थान व चुरू संभाग के राजाओं व सामन्तों द्वारा विदेशी यात्राओं पर जाने से भी इन सभ्यताओं को निकट आने में सहायता प्राप्त हुई। राजा के स्वयं द्वारा विदेश यात्रा होने पर संभाग में विदेशी यात्रियों का भ्रमण के लिए यहाँ आना व यहाँ के नागरिकों द्वारा विदेश यात्रा पर जाने से भी एक-दूसरे की सभ्यता व संस्कृति का परिचय हुआ। साथ ही विदेशी यात्रियों के भ्रमण पर आने से आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण साबित हुआ। इस प्रकार ये भित्तिचित्र पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के ही दर्शन नहीं करवाते बल्कि राज्य में हुए नए परिवर्तनों की तरफ संकेत करते हैं। अतः यह भित्तिचित्र हमें 18वीं 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश सभ्यता के बारे में जानकारी प्रदान करने के साथ-साथ तात्कालीन ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विषय संबंधी विवरण प्रदान करते हैं जिसे हमें आधुनिक या ब्रिटिशकालीन राजस्थान के इतिहास एवं संस्कृति को समझने में महत्वपूर्ण सहायता मिलती है। विभिन्न हवेलियों में बने विविध ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भित्तिचित्र इस दिशा में ज्ञान का एक प्रमुख स्रोत हैं।

18वीं सदी में बीकानेर राज्य के चर्मकारों की स्थिति

जीवन एवं उनका सामाजिक आर्थिक योगदान

भावना शर्मा

मध्यकाल के बीकानेर की सामाजिक व्यवस्था प्राचीन काल की वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था पर आधारित थी। जिसमें ब्राह्मण, राजपूत तथा महाजन ऊँची पायदान पर खड़े थे किन्तु शूद्र वर्ग जिसमें दस्तकार, चर्मकार शामिल थे निम्न स्तर पर

स्थित थे। तत्कालीन बीकानेर में निम्न जाति की विभिन्न जातियाँ जिनमें भांभी, मोची, रैगर, दुबगर, खटीक, चमार जातियाँ अपनी सेवाएँ उच्च जातियों को प्रदान कर रही थी।

समाज की उच्च जातियों के समान अस्पृश्य चर्मकार जातियाँ अपने निर्धारित कार्यों में संलग्न थी। उदाहरणस्वरूप देढ़ (मेघवाल) मृत मवेशी को घसीटते तथा खाल उतारने का कार्य करते थे। खटीक मांस को बेचने का कार्य, हिरन तथा अन्य जानवरों की खाल पकाने का कार्य करते थे। किन्तु गाय, ऊँट, घोड़े व बैल की खाल नहीं पकाते थे। इसके अलावा भेड़ पालन तथा ऊन से कई उत्पादों का निर्माण करते थे।

मोची जाति का मुख्य व्यवसाय जूते बनाने का था। डबगर जाति, चमड़े को गलाकर तेल, घी रखने के कुप्पे व तराजू में पलड़े बनाने तथा नक्कारे और मृदंग भी मढ़ते थे रैगर जाति, खालों को रंगने का कार्य करते थे। चमार जिन्हें बीकानेर में बलाही कहकर सम्बोधित किया जाता था, चमड़े का कार्य करते थे। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के बीकानेर में चर्मकार जातियों को चमड़े का कार्य करने के कारण अस्पृश्य समझा जाता था।

इस सम्पूर्ण विषय के अध्ययन के पश्चात् महत्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तथ्य चर्मकारों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति हेय थी। समाज का उच्च वर्ग इनके द्वारा निर्मित उत्पादों का तो प्रयोग कर रहा था। किन्तु इनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करता था। वीरत व्यवस्था से यद्यपि उन्हें कुछ आर्थिक संबल प्राप्त हुआ था। परन्तु वह अपर्याप्त था। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य, चर्मकारों का बीकानेर राज्य प्रशासन में स्थान नगण्य था। वह केवल सेवकों के रूप में उच्च वर्ग के यहां कार्य करते थे।

राज्य द्वारा इनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति को सुधारने हेतु सकारात्मक प्रयास नहीं किया गया। तीसरा महत्वपूर्ण तथ्य जो दृष्टिगत हुआ कि 100 वर्षों के इतिहास में चर्मकार जातियों में उच्च वर्ग की जातियों के समान जातिगत स्तरीकरण आ गया था। जो निम्न जातियाँ चमड़े से सम्बन्धित कार्य नहीं करती थी, वह चमड़े का कार्य करने वाली जातियों से उच्च हो गई थी अर्थात् निम्न जातियों में आपसी भेदभाव की भावना उत्पन्न हो गई थी।

चौथा महत्वपूर्ण तथ्य महिलाओं की समाज में दयनीय स्थिति से सम्बन्धित था। चर्मकार जाति की महिलाओं को खरीदा व बेचा जाता था। यद्यपि उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार था, फिर भी पुरुषों के समक्ष उनके अधिकार सीमित थे। अतः स्पष्ट है कि चर्मकार जातियों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति संतोषप्रद नहीं थी।

बीकानेर राज्य में स्वायत्तशासी काल एवं विकासशील काल की अपराध दर का तुलनात्मक विश्लेषण

अमृतपाल कौर

राजपूताने के उत्तरी भाग में थार रेगिस्तानी क्षेत्र में विस्तारित पूर्व बीकानेर राज्य अपनी विषम भौगोलिक स्थिति के कारण सदैव ही महत्वपूर्ण रहा। सन् 1488 ई. में प्रादुर्भव के कुछ समय पश्चात् ही सन् 1570 ई. में मुगलों के संरक्षण को स्वीकार कर लिया था। तदन्तर 1750 ई. तक मुगल साम्राज्य के अवसान तक उसका एक महत्वपूर्ण भाग रहा। परन्तु 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुगल साम्राज्य के अवसान और विखण्डन ने बीकानेर राज्य के सामने एक चुनौतीपूर्ण स्थिति खड़ी कर दी और राजपूताने की अन्य रियासतों की भांति मुगल उत्तराधिकारी बीकानेर राज्य से भी स्वायत्त राज्य की तरह व्यवहार कर रहे थे।

इसी कारण बीकानेर राज्य के स्थानीय शासक भी अपनी रियासतों के पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन में रत थे। परन्तु बीकानेर राज्य की सामाजिक और आर्थिक स्थिति अन्य राज्यों की तुलना में रेगिस्तानी क्षेत्र होने के कारण भिन्न रही।

अतः 1750 से 1818 ई. तक अर्थात् मुगलों से विलग होकर और अंग्रेजी संरक्षण के आने से पहले तक के काल को स्वायत्तशासी काल कह सकते हैं। क्योंकि इस काल में शासक केन्द्रीय संरक्षण से विलग होकर स्वायत्ता से शासन कर रहे थे। यद्यपि यह पूर्णतः सामंती दौर था और सामंती व्यवस्था की सारी बुराईयाँ भी प्रचलित थी। परन्तु यह काल राज्य में पुनर्संगठन और पुनर्निर्माण का काल था। शासन भी इस काल में राज्य को संगठित करने में सक्रिय थे।

यह स्वायत्तशासी काल लगभग 68 वर्ष का रहा। तथापि दूसरी ओर बीकानेर के इतिहास में महाराजा गंगासिंह (1887-1943 ई.) के काल का एक विकासशील काल था। अंग्रेजी संरक्षण और मित्रता से राज्य लाभान्वित था तथा प्रगति और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गतिमान थी। पुलिस प्रशासन भी विस्तारित और संगठित था। इसलिए गंगासिंहजी के शासनकाल को जो 56 वर्षों का रहा, को विकासशील काल माना जाता है।

चित्तौड़ दुर्ग में वर्चस्व का संघर्ष एवं शक्तियों का ध्रुवीकरण

अरविन्दसिंह तेजावत

मीरां को मेवाड़ की कुलवधू बनाना महाराणा सांगा की राजनीतिक जरूरत थी। सांगा यह जानता था कि राठौड़ों की सहायता के बिना उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो सकती है। राठौड़ों का समर्थन सांगा के लिए महत्वपूर्ण था किन्तु राठौड़ राव रणमल की हत्या के बाद से ही मेवाड़ राजकुल से नाराज थे। सांगा के पिता महाराणा रायमल ने राठौड़ों से सम्बन्ध सुधारने के क्रम में छः राठौड़ राजकुमारियों से विवाह किया था। परन्तु रायमल के ये प्रयास अपर्याप्त थे। सांगा ने राठौड़ों के प्रति एक नई नीति का अनुसरण किया था। सांगा की यह नीति भेद-विभेद एवं मित्रता की नीति कही जा सकती है। जिसके अनुसार उसने मेड़तिया राठौड़ों को जोधपुर से स्वतंत्र राज्य की स्थापना के लिए प्रेरित किया एवं जोधपुर तथा मेड़ता दोनों राज्यों से स्वतंत्र तथा अलग-अलग सम्बन्धों की स्थापना पर ध्यान दिया। सांगा ने मेड़ता को जोधपुर से स्वतंत्र माना एवं मेड़ता को अपने पड़ोसी राज्यों से सुरक्षा प्रदान की। मीरां का कुंवर भोजराज से विवाह इसी रणनीति का परिणाम था। यही वजह थी कि सांगा जैसे मेवाड़ के शक्तिशाली महाराणा ने अपने ज्येष्ठ कुंवर भोजराज का विवाह रत्नसिंह जैसे मारवाड़ के एक छोटे से सामंत की बेटी मीरां से किया था। महाराणा सांगा तथा मीरां के पिता रत्नसिंह की राजनीतिक हैसियत के विशाल अंतर का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि महाराणा सांगा का प्रथम श्रेणी का सामंत ही सैकड़ों गांवों के राजस्व का उपभोग करता था वहीं मीरां का पिता रत्नसिंह केवल 12 गांव की जागीर का जागीरदार था। सांगा यह जानता था कि राठौड़ों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला मेवाड़ के लिए सम्भव नहीं है अतः उसने राठौड़ों में परस्पर मतभेद को बढ़ावा दिया। मेड़तिया राठौड़ों के लिए भी जोधपुर के महाराजा का नेतृत्व स्वीकार करने की तुलना में मेवाड़ के महाराणा की अधीनता अधिक लाभदायक थी क्योंकि इस स्थिति में मेड़तिया राठौड़ जोधपुर के जोधा राठौड़ों से समानता का दावा कर सकते थे एवं साथ ही मेवाड़ राज्य की ओर से उन्हें विस्तृत जागीरें मिलने की उम्मीद भी रहती थी। महाराणा सांगा ने इस प्रकार बड़ी चतुराई से राठौड़ों की एकता में एक ऐसी दरार पैदा कर दी थी जिसे कभी भी भरा नहीं जा सका।

मीरां का कुंवर भोजराज से विवाह इस बात की गारंटी थी कि मेड़तिया कभी भी मेवाड़ के विरुद्ध किसी अन्य शासक की सेवा में नहीं जाएंगे। इस प्रकार मीरां व कुंवर भोज के विवाह गठबंधन के संभावित खतरे से भी स्वयं को सुरक्षित कर लिया था। अनुमान लगाया जा सकता है कि मीरां का कुंवर भोजराज से विवाह मेवाड़ राज्य के लिए

कितना महत्वपूर्ण रहा होगा। यही वजह थी कि मीरां को चित्तौड़ दुर्ग एवं मेवाड़ राजकुल में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

काचरिया पीठ की स्थापना एवं उसका सांस्कृतिक स्वरूप

डॉ. नीलम शर्मा

किशनगढ़ स्थित निम्बार्क काचरिया विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है, जो धर्म एवं समाज के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ रहा है। इस पीठ की स्थापना महाराजा बहादुर सिंह के समय में हुई। श्री भगवान देवाचार्य को किशनगढ़ से दक्षिण की ओर 5 कि.मी. दूर स्थित काचरिया ग्राम का ताम्रपत्र विक्रम संवत् 1830 को प्राप्त हुआ, इसकी सीमाएं सिलोरा, छोटा उदयपुर, बरणा इत्यादि गांवों से जुड़ी हुई है।

किशनगढ़ स्थित हवेली का पट्टा विक्रम संवत् 1823 से ही भेंट कर दिया गया। काचरिया पीठ की आचार्य परम्परा मूलतः (सलेमाबाद) किशनगढ़ से जुड़ी रही है। वर्तमान स्वरूप में यह मौलिक रूप से महाराजा बहादुरसिंह के समय में आई। काचरिया पीठ के संस्थापक श्री भगवान देवाचार्य श्री हरिव्यास देवाचार्य के द्वादश शिष्यों में से छठे शिष्य श्री परशुराम देवाचार्य की परम्परा में सलेमाबाद के पीठाचार्य श्री वृंदावन देवाचार्य के वरिष्ठ शिष्य थे, जो स्वैच्छा से पीठासन के दायित्व से विमुक्त होकर ब्रजधाम कामां में विराजते थे। श्री भगवान देवाचार्य से महाराजा बहादुरसिंह ने न्याय शास्त्र का अध्ययन भी किया था और उन्हें निम्बार्काचार्य पद से विभूषित किया।

महाराजा बिड़दसिंह उत्कृष्ट कोटि के संस्कृत के विद्वान थे। वे श्री भगवान देवाचार्य के पास भगवत वार्ता के लिए काचरिया आते थे। गद्दी पर विराजने से पूर्व श्री बिदड़ सिंह के द्वारा भगवान देवाचार्य को लिखा पत्र दृष्टव्य है - 'स्वस्ति श्री समस्तानन्द मन्दिर मुकुन्द पदारविन्द। भजनानन्दितेषु वैष्णव तंत्र सिद्धान्तसार विचार परिणेषु।' श्री भगवान देवाचार्य का समय राजपूताने के नाजुक दौर का समय था जहाँ एक और सत्ता लगभग पतन के अन्तिम कगार पर पहुंच चुकी थी, वहीं दूसरी तरफ इस शून्यता को भरने के लिए मराठे कोशिश कर अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। इस समय मराठे राजपूताने के आन्तरिक कलह का फायदा भी उठा रहे थे, इसी दौर में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन राजपूताने की समकालीन परिस्थितियों में हो रहा था - धर्म के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन। इस पीठ में हस्तलिखित ग्रन्थों का अपार भण्डार है। इन ग्रंथों में कई संस्कृत एवं हिन्दी के ग्रंथ भी देखे जा सकते हैं : जैसे रोग निदान, तंत्रमंत्र, औषधि साहित्य इत्यादि के

दस्तावेज संग्रहालय में उपलब्ध है। इस पीठ के आचार्यों की विशेषता थी कि हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रहण के अतिरिक्त वे कलकारों एवं दस्तकारों को भी पूर्ण सहयोग एवं संरक्षण प्रदान करते थे। इनके ग्रन्थकारों में सुरक्षित चित्र-चित्रकारों के प्रति उनकी दृष्टि का परिचायक है। चित्रकारों को पीठ के आचार्यों से भावनात्मक संरक्षण प्रदान किया। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों ने साथ भी भावनात्मक सम्बन्ध रहे जैसे - ठठेरा, सुनार, बड़ई, दर्जी, रंगरेज, बुनकर, इत्रदार, बनजारे इत्यादि काचरिया पीठ के संग्रहालय पुष्टि करते हैं। अपनी स्थापना के समय से ही किशनगढ़ में काचरिया का अखाड़ा सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि ख्याल से प्रस्तुतिकरण में काफी प्रसिद्ध रहा है, जो कि वर्तमान मनोरंजन के साधनों से लुप्त हो रहा है, लेकिन काचरिया के अखाड़े में ख्याल मंथन करने वाले कई कलाकार आज भी मौजूद हैं। संक्षेप में मन्दिर जहाँ एक उच्च कोटि का पूज्य स्थल हैं, वही उच्च शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए शोध और अनुसंधान का केन्द्र भी है, जहाँ की उपलब्ध सामग्री के आधार पर कई लघुशोध ग्रन्थ लिखे गए हैं और कई लिखे जा रहे हैं।

सांस्कृतिक इतिहास लेखन में परम्परा का योगदान

जसवन्त शर्मा

हमारे देश ने स्वाधीनता के पश्चात् नई करवट ली। नवगठित सरकार और स्वयंसेवी संगठन जागरूक हो उठे। शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात हुआ वहीं अनुसंधान कार्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित होने से साहित्य, संस्कृति और इतिहास विषयक आधारभूत प्राचीन ग्रन्थों की खोज के साथ प्राच्य विद्या ज्ञान राशि को संजोने-संवारने के सार्थक प्रयासों के प्रति उत्सुकता बढ़ने लगी।

ठा. भैरूसिंह जी खेजड़ला और नारायणसिंह जी भाटी के अथक प्रयासों से 22 अगस्त 1955 ई. को चौपासनी शिक्षा समिति द्वारा राजस्थानी शोध की स्थापना हुई।

इस संस्थान द्वारा शोध पत्रिका 'परम्परा' का प्रकाशन किया गया। यह संस्थान की त्रैमासिक शोध पत्रिका है। इस शोध पत्रिका की मुख्य विशेषता यह है कि इसका प्रत्येक अंक विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ है जिससे इसके सभी अंक संग्रहणीय हैं। इसके अनेक विशेषांक यथा- डिंगल कोश, राजस्थानी साहित्य का आदिकाल, राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, लोकागीत, ऐतिहासिक बातें आदि विश्वविद्यालय के संदर्भ ग्रन्थ के तौर पर स्वीकृत किए गए हैं, और कुछ अंक पाठ्यक्रम में भी स्थान पा चुके हैं।

'परम्परा' के अंकों का अवलोकन एक प्रकार से राजस्थानी साहित्य व संस्कृति का अवलोकन है और उसकी प्रामाणिकता राजस्थान के सम्बन्ध में शोध कार्य की एक

पुख्ता और विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करने में सक्षम है। वर्तमान समय तक इसके लगभग 159 भाग प्रकाशित हो चुके हैं।

'परम्परा' पत्रिका के स्तर पर प्रामाणिकता के विषय में देश के प्रसिद्ध आलोचक प्रोफेसर नामवरसिंह का यह कथन बिल्कुल उपयुक्त है कि 'परम्परा' जैसी उच्च स्तरीय शोध-पत्रिका का अविच्छिन्न प्रकाशन संस्थान की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। कोई भी शोधकर्ता इस संस्थान के बिना राजस्थान की भाषा, साहित्य और संस्कृति के किसी पक्ष पर कार्य सम्पन्न न कर सकेगा। मैं इस राष्ट्रीय महत्व की संस्था के उत्थान के लिए मंगल कामना करता हूँ।

शोध पत्रिका 'परम्परा' में सांस्कृतिक तत्व सहज रूप से सहेजे संवारे गए हैं जिनकी ओर यदि ध्यान दिया जाए तो यह एहसास होगा कि 'परम्परा' न केवल साहित्य व इतिहास की शोध पत्रिका है अपितु वह सहज ही में यहाँ की संस्कृति का संवाहिका भी बन गई है। 'परम्परा' पत्रिका न केवल राजस्थानी साहित्य व इतिहास की शोधात्मक पत्रिका है, अपितु वह वास्तविक-सहज रूप से विविध उपादान व साहित्य संस्कृति की चेतना को अक्षुण्ण बनाए रखती है। लोक साहित्य व शिष्ट साहित्य के विविधता में प्रामाणिक प्रस्तुती से ही परम्परा पत्रिका में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति का कार्य सम्पन्न हुआ।

List of Members

Founder Members

Late Dr. A.L. Srivastva
 Late Dr. S.P. Srivastva
 Late Shri R.S. Kapur
 Shri L.P. Vaisya
 Late Dr. M.S. Jain
 Late Rao Narayan Singh Of Masooda

Late Shri N.R. Khadgawat
 Late Dr. Dasharatha Sharma
 Late Shri N.N. Acharya
 Late Prof. G.N. Sharma
 Dr. R.P.Vyas

Patrons

Shri G.C.Kanungo, Managing Director, Alcobex Ltd., Jodhpur
 Shri S.R. Mehta, Mehta Vanaspati Products, Chittorgarh
 Shri Hemendra Singh, Banera, District Bhilwara
 Dr. S.S. Bhandawat, Bhandawat Foundation, Manak Chowk, Jodhpur
 Dr. Nagendra Singh, Justice, International Court Of Justice, The Hague
 United Books Traders, Ratanada, Jodhpur

Life Members

The Bank Of Rajasthan(Ltd.), Jaipur
 Shri K.K. Purohit, Jodhpur
 Dr. Manohar Singh Ranawat, Natnagar Sodh Sansthan, Sitamau
 Professor Mananori Sato, Faculty Of Economics, Asia University, Tokyo-Iso-
 (Japan)
 Professor D.C.Shukla, 'Parijat' c-38, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur
 Shri Om Prakash Mohta House, 29-Srand Road, Calcutta
 Shri Mullapudi Timmragugaru, Tanuka { Andhra Pradesh }
 Shri Prasanna Mal Mohnot, 67, Mahaveer Nagar, Pali
 Shri C.P. Mathur, E-27, Chanakya Place (I), Pankha Rad, New Delhi-110059
 Shri Sajjan Singh Ranawat, Udaipur
 Dr. V.K. Trivedi, 26, Shanti Nagar, Sirohi
 Dr. Arvind Parihar, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur
 Dr. B.L. Upmanyu, Lecuter In History, SD Govt. College, Beawar
 Dr. Girish Nath Mathur, 1 Gh 41, Gayatri Nagar, Hiran Magri, Sector-5, Udaipur
 Dr. Iswar Singh Ranawat, Research Officer, Pratapsodh Pratisthan, Udaipur
 Dr. J.K. Ojha, Near Post Office, Kanore, Udaipur
 Dr. M.R. Choudhary, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur

Dr. Manoramaupadhyaya, 128, Nehru Park, E Road, Sardarpura, Jodhpur
 Prof. Meena Gaur, 19-Gokul Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
 Dr. Mohabat Singh Rathore, Research Office, Pratap Sodh Pratisthan, Udaipur
 Dr. Mrs. Shashi Arora, Head, Dept. Of History, Govt. College, Kota
 Dr. N.K. Upadhyay, Lecturer In History, Govt. College Ajmer, Ajmer
 Dr. Pramila Singhvi, Pranjal, Sector 3, Hiran Margi, Udaipur
 Dr. S.C. Agarwal, 99, Shatri Nagar, Ajmer
 Prof. S.K. Purohit, Behind Bannath Temple, Sukhanand ki Bagechi, Siwanchi
 Gate, Jodhpur
 Prof. S.P. Vyas, Asop ki Pole, Near Juni Mandi, Jodhpur
 Dr. S.S. Bais, C-217, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur
 Prof. Vinita Parihar, B-16, Shatri Nagar, Jodhpur
 Dr. Mrs. Digvijay Bhatnagar, E 27, University Qtrs., Durga Nursury Road,
 Udaipur
 Dr. Mrs. Usha Purohit, Lecturer In History, Mahila Mahavidyalaya, Jodhpur
 Mr. C.S. Sharma, Lecturer In History, Govt. College, Sheoganj
 Mr. Dinesh Rathi, Hariom Bhawan, Bada Bas, Mathania, Jodhpur
 Mr. F.K. Kapil, Secretary, Jaya Kapil Poort Nyas, Pakon Ka Bas, Jodhpur
 Dr. Raju Ram, V & P Rarod, Via Asop, Jodhpur
 Mrs. Kamla Jain, 26, Sharda Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
 Mrs. Pawan Maru, C/O Manish Agency, Kala Khet, Mandsoore, Mandsoore
 (M.P.)
 Mrs. Shashi Kala, C-71, Dharam Narayan Ka Hatha, Paota, Jodhpur
 Prof. G.S.L. Devra, 10 G 8, 'Parijat', SFS Mahaver Nagar, Extn. III, Kota
 Prof. V.K. Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
 Prof. Nilima Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
 Dr. Usha Shah, Govt. College Pali, Pali-Marwar
 Dr. Shobhagya Goyal, C/O Ram Goyal, Advocate, H.M. Mohalla, Ghaseti Bazar,
 Ajmer
 Dr. Hukum Chand Jain, 19, Basant Vihar Special, Kota
 Prof. K.G. Sharma, Deptt. Of History, University Of Rajasthan, Jaipur
 Mrs. Tara Jain, W/O U.C. Jain, G-34, Shastri Nagar, Jodhpur
 Dr. Seema Garg, Opp. 107, Vallabhbari, Kota
 Dr. Usha Vyas, 1 Gha Sabarmati Clny., Kota
 Mrs. Nidhi Sharma, D-299, Ktps, Sakatpura, Kota
 Mrs. Seema Gupta, A-9, Gayatri Vihar, Police Line, Kota
 Dr. Karuna Joshi, 150, Pwd Quarter, New Colony, Dungarpur
 Dr. Shankar Goyal, 41, Sardar Club Scheme, Jodhpur
 Dr. Anila Purohit, 'Kamla Kunj', 5th D/76, Hudgo, J.N. Vyas Colony, Bikaner

Dr. Meghna Sharma Paliwal, Asst.Prof. Deptt. Of History, Maharaja Ganga Singh University, Bikaner
 Dr. Neelam Sharma, Near Water Works, Old City, Kishangarh
 Dr. Satish Kumar Trigunayat, B 48 A, Jawahar Nagar, Bharatpur
 Dr. Pushpa Dullar, 52- Arvind Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Basasthali
 Ms. Urmila Parihar D/O Shri Mool Chand, Behind Adarsh Vidya Mandir, Sheoganj, Sirohi
 Dr. Alok Kumar Gupta, Lecturer In History, R-398, Padam Vilas, Bharatpur-321001
 Dr. Sharda Sharma, E-47, Khaturia Colony, Bikaner
 Dr. Meenakshi Sharma, Shri Ram Swaroop Bohra, 12- Inder Nagar, Sunderwas, Udaipur
 Ms Iti Mograkaran Singh Mogra, C/O Phool Chand Mehta, 382/B, Ashok Nagar, Moksh Marg, Udaipur
 Dr. Neelam Gaur, Near Govt. Hospital, Von Girls College, Hanumangarh Town
 Dr. Anita Kwadia, Meera Girls College, Udaipur
 Ms Pratibha, A-342, Chandvardai Nagar, Ajmer
 Dr.(Mrs.) Nirmal Kashyap, House No. 30, Type III, MD university, Rohtak
 Dr. Sushila Shaktawat, 21 Ghati magri, Penariyon ki Madri, Holi Chowk, Udaipur
 Avinash Parek, Savitri Villa, Kishan Hostel, Sardarsaheer, Churu
 Dr. Aashish Chouhan, Aashish Sadan, Godon Ka Chowk, Jodhpur
 Ms Shikha Choudhary Charan Singh Girls Hostel, Tilak Nagar, Bikaner
 Dr. Anju Suthar, 3/46, New Officer's Colony, Opp. Police Line, Barmer
 Mahendra Chudhary, Stadium Road, Nehru Nagar, Barmer
 G.S. Gupta, 4/267, Malviya Nagar, Jaipur-302017
 Dr. Dinesh Bhargava, R-399, Padam Villa, 1 G.P. Office, Bharatpur-321001
 Sowrabh Sharma, 8-Bapuji Marg, opp.State Motor Garge, 22-Gogam, Jaipur-01
 Kailash Songara, 2 Sa 35, UIT Colony, Pratap Nagar, Jodhpur
 Om Prakash Bhati, D-137, Kirti Nagar, P.Mandore Mandi, Jodhpur
 Dr. Aruna Soni, 'Aashirwad', Near Ladnun Bus Stand, Naya Bas, Sujangarh
 Dr.Mukesh Harsha, Harsho ka Chowk, Bikaner
 Dr. Mahendra Purohit, Joshiwada, Bikaner
 Dr. V.N. Singh, south Extn. Pawanpuri, Bikaner
 Rajshekhar Purohit, 3/18, Mukta Prasad Nagar, Bikaner
 Dr. Jagdish Narayan Ojha, Barah Guward Ka Chowk, Nahtaniyo ki Saray Ke Pas, Bikaner
 Mrs. Champa Agarwal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
 Dr. Prabhat Swami, N.M.P.G. College, Hanumangarh
 Gyarsi Swami, Vill.Tedi via Jaswantgarh, T.Ladanun, Nagaur

Dr. Nayna Acharya, 72-Amarnath Bhawan, opp. M.G. Hospital, Jodhpur
 Mrs. Sonal Purohit, C/o Sunil Bora, Near Tapi Baori, Nathawaton Ki Gali, Jodhpur
 Dr. Nidhi Srivastava, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
 Dr. Vikram Singh Gundoj, 160, Teacher's Colony, Chopasani, Jodhpur
 Mrs. Santosh Vyas, Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
 Ms. Asha Bhargava, Vice-Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
 Dr. Anju Jain, w/o Jatan Kumar Jain, Mertawari, Nagaur
 Mrs. Darshana Joshi, Rai Bahadur Gali, Daga Chowk, Bikaner
 Dr. Pradeep Singh Rathore, Govt. College Dhorimanna, Barmer
 Ms Rashami Meena, Asst. Prof., Department of History, JNV University, Jodhpur
 Nand Kishore Bhutra, Jaiselmerion ki Gali, Navchowkiya, Jodhpur
 Dr. T.V.Vyas, Nathawaton ki Bari, Near Nyon-ka-Bar, Navchowkiya, Jodhpur
 Dr. Anil Purohit, C/o Avinash Purohit, Ganesh Chowk, Gandhi Gali, Inside Rakhi House, Jodhpur
 Dr. Sadhna Meghwal, W/o Dr. B.R. Meghwal, IPS, JH-7, Bhaghat ki Kothi Extn. Scheme, Jodhpur
 Dr. Sajjan Poswal, 97-A, Gali No. 3, Krishna Nagar, Bajrang Nagar, Kota
 Vijesh Gandhi, Foz-ka-Bada, Dungarpur-314001
 Ms Anuradha Srivastava, Govt. Girls College Pali, Pali
 Rajni Sharma, C-211, Gautam Marg, Hanuman Nagar, Jaipur
 Dr. Pushpa Sharma, 1262/12, Near Durga Temple, Shastri Nagar, Krukshetra
 Dr. Ramji Lal Kohli, Aman Vihar, Behind Gas Godam, Dausa
 Dr. Sunita Mehta, C/o Rakesh Mehta, C-3, Sir Pratap Colony, 5-Batti Circle, Ratanada, Jodhpur
 Ms Nirmala Meena
 Savita Choudhary
 Reenu Meena, 85, Bhagwati Nagar 1st, Kartarpura, Jaipur
 Dr. Preeti Sharma, 4, Vivekanand Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Dr. Sulekha Shekhawat, opp. Khuchaman College, 13 Venkatesh Nagar, Kuchaman City
 Dr. Neekee Chaturvedi, 3-Da-14, Jawahar Nagar, Jaipur-302004
 Dr. Manju Gupta, 24/59, Swarn Path, Mansarowar, Jaipur
 Dr.(Mrs.) Vibha Upadhayaya, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur-04
 Mrs. Bindu Tiwari, Deptt. Of History, SD Govt. College, Beawar
 Dr. D.P. Goswami, 131, Shastri Nagar, Beawar Road, Ajmer
 Mrs. Minakshi Deviratam, 2, Virendra Nagar, Near Mandore, Jodhpur
 Dr. Ravindra Tailor, 79-B, Munot Nagar, Out Side Nehru Gate, Beawar
 Virendra Sharma, 54-A, Jawahar Nagar, Near Glass Factory, Tonk Road, Jaipur
 Dr. Anita Surana, D-19-B, Meera Marg, Bani Park, Jaipur-302016

- Dr. Anuradha Mathur, C/o Mukesh Bhargav, F/5, Gandhi Nagar, UIT Colony, Ajmer-305001
- Dr. Smita Mishra, 284- Arya Nagar, Scheme No.1, Alwar-301001
- Dr. Rakesh Kumar Sharma, E-327, Ambedkar Nagar, Alwar-301001
- Dr. Satyendra Sharma, H-30, Shastri Nagar, Meerut City(U.P.)
- Mrs. Meera Ambesh, D-79, Hasan Khan Mewat Nagar, Alwar-301001
- Dr. Tafique Hussain, E-26, Civil Line, Shriganganagar-355001
- Surendra D.Soni, Lecturer in History, C/o Prem Khandelwal, Advocate, Shiv Mandir, Naya Bas, Churu 331001
- Dr. Jyotsana Vyas, Plot no. 150, Patrakar Colony, NPH Road, Jodhpur
- Dr. B.N.Benjamin, 934, Faith Cottage, 9th D Road, Sardarpura, Jodhpur
- Yogwati Pareek, 2243-A, Sec-3, Faridabad-121004
- Dr. Alpanas Dubhashe, III, Ganga Nagar, AB Road, Dewas (M.P.)
- Rajesh Panwar, C/o Ambica cosmetics, Shop No. 271, Ganpati Plaza, KEM Road, Bikaner
- Sushil Kumar Moyal, Near Ramdeo Temple, Otside Jassusar Gate, Bikaner
- Gopal Krishna Vyas, Near Samta Bhawan, Chabili Ghati, Bikaner
- Dr. K.R. Motsara, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria
- Dr. Tamanna Singh, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria
- Dr. Shilpa Mehta, R-4, AbhayBagh, Sardarpura, Udaipur
- Dr. Ambika Dhaka, H.No. 67, Bajrang Niwas, Near Durgapura Ral. Station, Jaipur
- Rakesh Kumar Yadava, VPO- Sirohe, The. Khetri, Jhunjunu
- Dr. Pranay Dev, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar
- Sunita Sawmi, Swami Mohalla, Inside Jasussar Gate, Bikaner
- Sharmila Swami, 6 B 04, JNV Colony, Bikaner
- Dr. Suman Dhakha, 224, Dr. Rajendra Prasad Nagar, Near Rani Sati Nagar, 200 Feet Bypass, Ajmer Road, Jaipur
- Dr. Archana Kalra, 56, Pratap Nagar Colony, Near Glass Factory, Tonk Road Jaipur
- Shri Harphool Singh, H.No. 67, Bajrang Vihar, Near Durgapura Rly. Station, Jaipur
- Dr. Rahul Tripathi, 94/4, Agarwal Farm, Mansarovar, Jaipur
- Meena Bhaskar, VPO- Ghassu via Khudi Badi, Sikar
- Sukharam, C/o H.R. Choudhary, 23, Lavkus Nagar 1st, Tonk Fatak, Jaipur
- Dr. Kulwant Singh Shekhawat, A-17, Marudhar Vihar, Khatipura, Jaipur

Members

- Ms Priyanka Khanna, 123/1, Ganga Vihar, Haridwar Road, Dehradun
- Anil Gurawa, 94/96, Kubha Marg, Pratap Nagar, Sanganer, Jaipur
- Ms Snehalata, H.No. 1798/12, Gali No. 5, Kalyan Nagar, Opp. University 2nd Gate, Kurukshetra
- Prof. S.N. Dube, 28, Vijay Nagar Colony, Malviya Nagar, Jaipur-17
- Dr. Mamta Rokna, 165, Gayatri Nagar 1st, Maharani Farm, Durgapura, Jaipur
- Dr. Hareet Kumar Meena, C-382, Mahesh Nagar, Jaipur
- Sunil Sharma, H.No. 69, Gali No. 5, RK Puram, Kunjpura, Karnal
- Sarita Gondwal, H. No. 5274/2, Modern Housing Complex, Mani Najra, Chandigarh
- Gajanand Choudhary, Ratan Building, Jaipur Road, Ajmer
- Dr. Rashmi Agarwal, Mangal Bhawan, Adarsh Nagar, Nathdwara
- Sarita Sarasar,
- Dr. Ashok Kumar Singh Shekhawat, 339, New BJS Colony, Jodhpur
- Namrata Swarnakar, P,29, Bheru Vilas, Opp. Swami Ayappa Temple, Near KV No.1, Jodhpur
- Shyamlal, Gali No.2, Near Shyam Ji Kresar, Ashok Colony, Ram Sagar, Jodhpur
- Rajendra S. Shah, Arunodaya, 35/Dadhich Nagar, Paota C Road, Jodhpur
- Dr. Bhanwar Singh Rathore, President, Godwad Sanskratik Sodh Sansthan, Ghanerav, Pali
- Karan Singh Chouhan, Godwad Sanskratik Sodh Sansthan, Ghanerav, Pali
- Dr. H.J. Mangalani, Jaipur
- Dr. Jaya Mangalani, Jaipur
- Nidhi Komal,
- Deepshikha Lawaniya, Govt. College Ajmer, Ajmer
- Dr. M.K. Pundhir, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
- Amar Pratap Singh, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
- Meena Bhaskar, E-94, Police Path, Nirmal Nagar, Jaipur
- Dr. Vinod Kumar Singh, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
- Dr. Vijay Kumar, Deptt. Of History, MD University, Rohtak
- Dr. Yashvir Singh, JVMGRR College, Ch. Dawlri, Bhiwani
- Dr. Uma Shankar Singh, PGDAV College, New Delhi
- Mayank Gupta, Hanuman Mandir Gali, Jail Wall, Bikaner
- Madhu Mehra, GCK, Kishangarh
- Anurag Sharma, GCK, Kishangarh
- Dinesh Mandot, Shri Pragya College, Bijainagar (MDS)
- M.L. Mandot, Kuchaman College, Kuchaman City
- Anurag Vijay, Govt. College Kota, Kota

Hemant Kumar Dixit, Govt. College Swaimadhpor, Swaimadhpor
 Dr. Sanjay Kumar, VPS Chawandiya
 Dr. Abhimanyu Singh Arha, Kalyan, 88, BGKT, Pali Road, Jodhpur
 Dr. Arvind Singh Tejawat, Brahmaputra, JNU, New Delhi-67
 Dr. Sunita Gahlal, A 309, Panchasheel Nagar, Ajmer
 Ms Sarita Chanwaria, Chandbardai Nagar, Ajmer
 Dr. Rashmi Upadhayaya, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Pooja Choudhary, 5/49, A-17, Prinee Nagar, Aligarh
 Pradeep Kumar Yadav, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Pushpendra Singh, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Naziya Parveen, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Fazeela Shahnawaz, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Fatima Shahnawaz, Deptt. Of Psychology, AMU, Aligarh
 Abdullah Chishti, ASCDOL, Jamia Millia Islamia, New Delhi
 Naiyer Azam, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Ms Babli Parveen, CHS, JNU, New Delhi – 67
 Seema Khan, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Sobiya Riaz, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Tariq Ahmed Sheikh, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Farhat Kamal, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Salim Ansari, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Shamim Bano, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Kanchan Lawania, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Kavita Dadheech, Baasthali Vidyapeeth, Banasthali University
 Dr. R.K. Dubey, BHU, Varanasi
 Dr. Bindu Bhasin, Govt. Dungar College, Bikaner
 Dr. Shilpi Gupta, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Dr. Shikha, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Jalaluddin, SD Govt. College, Beawar
 Dr. Parwej Nazir, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Dr. Jibraeil, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Dr. Mallika Bohra, MadarGali Shastri Colony, Dungarpur
 Dr. Archana Dwivedi, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar
 Rao Ganpat Singh Chitalwana, VPO Chitalwana, Sanchore
 Dr. Sumer Patel, Plot No. 7, Anjana Patel Nagar, Air Force, Jodhpur
 Kiran Shekhawat, Plot No. 181, HB BJS, Jodhpur
 Prof. Shanta Sharma, Dayl Singh College, Lodi Road, Delhi
 Ankush Arora, H. No. 1535/38, Adarsh Nagar, Ajmer
 Ms Deepmala Panwar, Vibha Mansion, Madanganj, Kishangarh

Dr. Anshul , D 2, Goher Marg, Bapu Nagar, Jaipur
 Prof. T.K. Mathur, 156/10, Civil Lines, Ajmer
 Asif Hussain, Behind Takkies, Chhoti Sadri, Pratapgarh
 Sachin Dixit, 44, Basant Vihar, Goverdhan Villas, Udaipur
 Dr. Chandra Prabha Pareek, Govt. College Kishangarh, Kishangarh
 Dr.(Mrs.) Prakash Sirvi, 15, Dwarika, Kundan Nagar, Ajmer
 Dr. Neetu Shrimali, H.No. 1925, Shrimali Bhawan, Sonthali Walon Ka Rasta,
 Chowra Rasta, Jaipur
 Ms Suchita Sengwan, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Radha Kumari, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Divya Singh, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Swati, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Anita, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Poonam Luniwal, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Ms Dancha Tongluk, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Udai Singh Deora,
 Lakhan, Ganesh Pole Nagra, Ajmer
 Jyotsana Srivastava, 1 F 34 A, Malviya Nagar, Jaipur
 Dr. K.L. Mathur, Head, Deptt. Of History, Govt. Dungar College, Bikaner
 Kailash Rai, 93, Manvilla, Gandhi Colony, Bikaner
 Ms Amrit Pal Kaur, Ward No. 3, H. No. 43, Gajsinghpur, Sriganganagar
 Bhawna Sharma, 5-D-54, JNV Colony, Bikaner
 Aftab Hussain, Assistant Archeologist, Red Fort, New Delhi
 Gopal Lal Salvi, VIP Bungalow, Inani Tower Road, Chittorgarh
 Dr. Nilina Bhargav, B-34, Akanksha, Panchasheel, Ajmer
 Dr. Devaram, Govt. PG College, Pali
 Vijayshree, THF-20, VG Gandhi Marg, Jodhpur
 Dr. Santosh Aseri, 83, Section 7, NPH Road, Jodhpur
 Ram Sharma, Vill. Post. Junia-Kekri, Ajmer
 Sandeep Jonwal, Ganesh Pole Nagra, Ajmer
 Kaveri Deshwal, 1096-1-B, New Shivpuri, Hapur (UP)
 Anjana Santoshi, New Vikas Colony, Srinagar Road, Pauri Garhwal
 Dr. Santosh Yadav, 25/22, Kaveri Path, Mansarovar, Jaipur
 Dr. Kulwant Singh Shekhawat, 4/46, Saket Nagar, Udaipur Road, Beawar
 Garima Mathur, Naya as, Behind Krishna Kunj, Manak Chowk, Jodhpur
 Sandeep Prajapat, D-188, Saraswati Nagar, Pali Road, Jodhpur
 R.D. Sagar, Deptt. Of Hindi, JNV University, Jodhpur
 Bhanwar Singh Bhati, Govt. PG College Barmer, Barmer
 Dr. D.C. Choubey, Govt. College Rajgarh, Alwar

राजस्थान इतिहास कांग्रेस - 591

Dr. N.K. Sharma, J-2/1 T, Apna Ghar Shalimar, Alwar
 Jashwant Sharma, H. No. 1 Gha 3, Madhuban Colony, Basni, Jodhpur
 Dr. Phool Singh Shariya, E-195, Amedkar Nagar, Alwar
 Dr. Babulal Khatik, A-210, Vaishali Nagar, Alwar
 Jagat Singh Meena, VPO Dhigaweera, Rajgarh, Alwar
 Dr. P.D. Sharma, A-20, Pratap Nagar, Devpura, Bundi
 Dr. Yakub Ali Khan, VMOU, Kota
 Prof. B.K. Sharma, VMOU, Kota
 Ashok Kumar Bairwa, Alwar
 Dr. R.C. Kanduri, 2, Veer Sawarkar Nagar, Alwar
 Kailash Saini, Khawas Ji Ka agh, Rajgarh, Alwar
 Ms Dimple Prajapat, 16/70, CHB, Jodhpur
 Ms Anuradha Tak, 21/288, CHB, Jodhpur
 Vipin Solanki, Lohakhana, H.No.709, Vinay Sadan, Ajmer
 Vipul Mohan, 9/ Vijay Villa, Mandir Marg, Kundan Nagar, Ajmer
 Paritosh Kandela, 106/32, Kabir Marg, Mansarovar, Jaipur
 Dr. S.K. Bairwa, Shri Ganesh Pole Bairwa Basti, Naserabad Road, Nagra, Ajmer
 Astha Choudhary, O-55, Engineers Colony, Jaipur
 Prof. S.K. hanot, IB-25, JNV Colony, Bikaner
 Ms Kanika Bhanot, IB-25, JNV Colony, Bikaner
 Vijay Prakash Gaur, A, UIT Quarters, Pratap Nagar, Ajmer
 Dr. M.L. Sharma, S.D. Govt. College, Beawar
 Mrs. Sumeshtha, Govt. Dungar College, Bikaner
 Aslam Sher, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
 Dr. Rajesh Kumar, Assistant Director (Research), ICHR, New Delhi
 Rahul Pareek, GHS, Sujangarh, Churu
 Dr. Anita Khurana, GCA, Ajmer
 Ratan Lal Meena, Plot No. 5, Madhav Colony, Madar, Ajmer
 Girija KUMari, Khandelwal Nagar Fort, Tonk
 Tarua Dadhich, 2-G-12, RC Vyas Colony, Bhilwara
 Dr Ananta Mathur, 4/84, SFS, Mansarovar, Jaipur
 Dr. Mritunjai Sharma, 51/1509, Ved Vihar, Loha Khana, Ajmer
 Mrs. Sujeeta Sharma, 51/1509, Ved Vihar, Loha Khana, Ajmer
 Peeyush Bhadviya, D-16, Adarsh Nagar, University Road, Udaipur
 Ms Mamta Malik, K-40, New Roshanpura, Najafgarh, New Delhi
 Neetu Singh Chouhan, P. No. 129, Hanuman Nagar, Housing oard,
 Swaimadhapur
 Sunita Verma, P. No. 129, Hanuman Nagar, Housing oard, Swaimadhapur
 Abhay Raj, 5/32, Banna Devi, Opp. Samrat Lodge, Aligarh

राजस्थान इतिहास कांग्रेस - 592

Pankaj Rani, VPO Shiwala Kalan, Dist. Bijnore (UP)
 Surbhi Goel, Sanwariya Sweets, Main Market, Bundhana (M. Nagar), UP
 Ms Dipti, SC Jain, Indra Sadan, H. No. 19/986, Aligarh
 Ms Pragati Tiwari, 73, Brahm Nagar, Bharthana, Etawah (UP)
 Dr. Asha Sharma, 245 A, Karni Vihar, Hirapura, Ajmer Road, Jaipur
 Dr. Shashi Arora, 403, Soumya, Dhurvi Marg, TilakNagar, Jaipur
 Abdul Salam, 167, SS Hall (North), AMU, Aligarh
 Dr. Shahdev Shastri, 350, Prithiviraj Nagar, Bhagwanganj, Ajmer
 Archana Sharma, Kutir No. 711, Ram Krishna Niwas, Banasthali Vidyapeeth
 Dr. M.R. Gadhveer, AD-7, Mahaveer NGR, Barmer
 Ashok Gadi, VP Dabla, Distt- Jaisalmer
 Dr. Deepshikha Chundawat, TH-5, University Campus, MLS University, Udaipur
 Dr. Meena Sharma, Shahpura, Govt. College Bhilwara, Bhilwara
 Dr. Jagurati Upadhayaya, 128, Nehru Park, Sardarpura E Road, Jodhpur
 Deepak Choudhary, A-58-59, Nandpuri Colony, 22 Gowdown, Jaipur
 Hamendra Choudhary, Deptt. Of History, JRN Vidyapeeth, Udaipur
 Riyanka Dhundhwal, VPO Kuleri, Hisar-125047
 Meenakshi Choudhary, 192, Gandhi Nagar, Amroha Road, Dhanoura,
 JP Nagar (UP)
 Parveen Devi, GCA, Ajmer
 Dr. S.D. Mishra, J-4, Gandhi Nagar, Naka Madar, Ajmer
 Vijayshree Mishra, J-4, Gandhi Nagar, Naka Madar, Ajmer
 Dr. Kiran Sarna, 602, Ram Krishan Niwas, anasthali Vidyapeeth, Banasthali
 Dr. Vimlesh Rathore, Deptt. Of History, JNV University, Jodhpur
 Dr. S.K. Harit, Govt. College Nagaur, Nagaur
 Dr. Tanuja Singh, L-2-A, Rajasthan University Campur, Jaipur
 Dr. Neelam Azad, Azad Bhawan, Adarsh Nagar, Dungarpur-314001
 P.R. Arya, 0/350, Chopasni Housing Board, Jodhpur
 Aidan Singh Rajpurohit, Post Falna, Teh. Bali, Pali Marwar
 Suresh Kumar, SANDU, Govt. College, Merta City, Nagaur